सब तरहके पत्रव्यवहारका पता—

"गंगा"-कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर

लेख-मालिका

चित्र-सूची

(२) जिस ग्राहकका जवाबी कार्ड या टिकट नहीं आवेगा, उसके पत्रका उत्तर नहीं दिया जायगा।

(३) तीन-तीन बार जाँचकर यहाँसे "गङ्गा" भेजी जाती है, इसलिये जिसे "गङ्गा" नहीं मिले, उसे अपने डाकखानेसे ही जाँच-बूझ करनी चाहिये। कार्यालय किसीको दो बार "गङ्गा" नहीं भेज सकेगा, इसलिये कार्यालयमें पत्र भेजनेकी जरूरत नहीं। हाँ, यदि कोई सज्जन हमसे उस महीनेकी "गङ्गा" लेना चाहें, तो उतने मूल्यके टिकट हमारे पास अवश्य भेजें, जितने मूल्यकी उस महीनेकी "गङ्गा" हो।

(४) जो ग्राहक अपना ग्राहक-नम्बर नहीं लिखेंगे, उन्हें जवाबी कार्ड या टिकट भेजनेपर भी हम कोई उत्तर नहीं दे सकेंगे।

(५) "गङ्गा" के जिस एजेण्ट या प्रचारकने "गङ्गा"-कार्यालयकी मुहर किये हुए आर्डर-फार्म या रसीद लिये बिना यदि कोई सज्जन, एजेण्ट या प्रचारकको, वार्षिक मूल्य या अन्य प्रकारके रुपये देंगे, उन्हें हम "गङ्गा" नहीं दे सकेंगे।

विशेष नियम

कमसे कम १००) वार्षिक देनेवाले सज्जन "गंगा" के संरक्षक, २५) वार्षिक देनेवाले पृष्ठ-पोषक और १०) वार्षिक देनेवाले सहायक कहे जायँगे और इन तीनों प्रकारके सज्जनोंके नाम "गंगा" में प्रकाशित कर दिये जायँगे।

प्रकाशकोंके लिये

(१) समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तककी दो प्रतियाँ कार्यालयमें भेजनी चाहिये। एक प्रति भेजनेपर किसी पुस्तककी समालोचना नहीं की जायगी।

विज्ञापनदाताओंके लिये

(१) आधे पेजसे कमका विज्ञापन छपानेवालोंको "गंगा" नहीं भेजी जायगी।

(२) विज्ञापनकी छपी हुई दरोंमें किसी प्रकारकी कमी नहीं की जायगी, इसलिये व्यर्थकी लिखा-पढ़ी नहीं करनी चाहिये।

(३) विज्ञापनकी छपाई हर हालतमें पेशगी ली जायगी।

विज्ञापनकी निश्चित दर—प्रति मास

कवरका दूसरा या तीसरा पृष्ठ	२५)	रंगीन चित्रके पहले या सामने अथवा	
" " " आधा पेज	१५)	कवरके तीसरे पृष्ठके सामनेका पृष्ठ	२१)
" चौथा पेज	१०)	" " आधा पेज	१२)
" आधा पेज	२०)	लेख-सूचीके नीचेका आधा पेज	१२)
पाठ्य विषय और कवरके दूसरे पृष्ठके		साधारण एक पृष्ठ	२०)
सामनेका पृष्ठ	२२)	" " आधा पेज	१०)
" " " आधा पेज	१२)	" " चौथाई पेज	६)

मैनेजर, "गंगा", सुलतानगंज, भागलपुर

यजुर्वेदके आविष्कारक महर्षि याज्ञवल्क्यका आश्रम

सचित्र हिन्दी-मासिक पत्रिका

प्रवाह २ | पौष, संवत् १९८८; जनवरी, सन् १९३२ | तरंग १ पूर्ण तरंग १३

अग्निदेव

पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय

(बालपुर, चन्द्रपुर, बिलासपुर, सी० पी०)

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

(ऋग्वेदका प्रथम मन्त्र

अग्निरूप है, परम पुरोहित, हितकारक जो स्वयं प्रकाश ।
स्तुति मैं उस विभुकी करता हूँ, जो है शुभ्र ज्ञान-आवास ॥
यज्ञ-देवता ऋत्विक होता, वह सर्वेश जगत्-आधार ।
सूर्य आदि लोकोंका धारक है जो दिव्य रत्न-भाण्डार ॥

वेद-वाद

साहित्यरत्न प० अयोध्यासिंह उपाध्याय

(प्रोफेसर, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)

[शार्दूलविक्रीड़ित]

छाया था जब अन्धकार भवमें, संसार था सुप्त-सा।
ज्ञानालोक-विहीन ओक सब था, विज्ञान था गर्भमें॥
ऐसे अद्भुत कालमें प्रथम ही जो ज्योति उद्भूत हो।
ज्योतिर्मान बना सकी जगतको, है वेद-विद्या वही॥१॥

नाना देश अनेक पन्थ-मतमें है धर्म-धारा बही।
फैली है समयानुसार जितनी सद्वृत्ति संसारमें॥
देखे वे बहु-पूत-भाव, जिनसे भूमें भरी भव्यता।
सोचा तो सब सार्वभौम हितके सर्वस्व हैं वेद ही॥२॥

मूसाकी वह दिव्य ज्योति, जिसमें है दिव्यता सत्यकी।
सच्चिन्ता जरदस्तकी, सदयता उद्बुद्धता बुद्धकी॥
ईसाकी महती महानुभवता पैगम्बरी विज्ञता।
पाती है विभुता-विभूति जिससे, है वेद-सत्ता वही॥३॥

नाना धर्म-विधानके बिलसते उद्यान देखे गये।
फूले थे जितने प्रसून उनमें स्वर्गीय सद्भावके॥
फैली थीं जितनी सुनीति-लतिका, थे बोध पौधे लसे।
जाँचा तो श्रुति-सार-सूक्ति-रससे थे सिक्त होते सभी॥४॥

देखे ग्रन्थ समस्त पन्थ-मतके, सिद्धान्त बातें सुनीं।
नाना वाद-विवाद पुस्तक पढ़ी, संवाद-वादी बने॥
जाँची तर्क-वितर्क-नीति-शुचिता, त्यागा कुतर्कादिको।
तो जाना सर्वज्ञता जगतकी है वेद-भेदज्ञता॥५॥

वेद, वेदार्थ और वैदिक देवता

आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव एम० ए०

(प्रो-वाइस-चान्सलर, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

जो वेद 'विद्' धातुसे बना है, वह मूलमें ज्ञानवाचक है, शब्दवाचक नहीं; अर्थात्, उसका अर्थ ज्ञान होता है, अमुक शब्द-राशि नहीं। वह 'शब्दानुपूर्वी'का वाचक तब हुआ, जब काल-क्रमसे हम वेदसे इतने दूर हो गये कि, सर्वज्ञानके भाण्डाररूपसे और ईश्वरके शब्दरूपसे उसे पूजने लगे। ऐसी पूजा करना स्वाभाविक है। आर्य-पूजाका ही नहीं, बल्कि मनुष्य जातिका यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है और भारतवर्षके धार्मिक इतिहासके सभी तत्त्व इसमें, बीजरूपसे, विद्यमान हैं।

आगे चलकर इसके लिये 'श्रुति' शब्द प्रयोगमें आया। इस शब्दसे यह सूचित होता है कि ऋषियोंने यह ज्ञान अपनी बुद्धिसे नहीं उत्पन्न किया; किन्तु साक्षात् परमात्मासे इसे 'श्रवण' किया। परन्तु परमात्मा सामने खड़े हुए मनुष्यकी भाँति हमसे संभाषण नहीं करता; वह तो परिदृश्यमान जगत्का और हमारे हृदयका अन्तर्यामी है तथा इस रूपसे वह जो कुछ कहता है, वह अन्तरमें रहकर ही कहता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि, यह आन्तरिक ध्वनि किसी भाषा-विशेष (संस्कृत, जन्द, अरबी आदि) में नहीं होती। भाषा तो ध्वनिके प्रकट करनेकी प्रणाली मात्र है। यह बात विचार और उत्पत्तिसे स्पष्ट है और इसकी पुष्टि आर्य-भाषाओंके इतिहाससे भी होती है। संस्कृत 'विद्' धातु, जिससे वेद शब्द बना है, वह लैटिन भाषाका (Videre=to see) शब्द है और अँग्रेजी Idea शब्द भी उसी धातुसे निकला है। इसलिये, वेद शब्दके लिये, यदि हम यथार्थ अँगरेजी शब्द ढूँढ़ें, तो Vision—दर्शन, Idea, ध्यान और ध्येय मिलता है। इसी कारण जिन महापुरुषोंको यह महान् दर्शन हुआ, उन्हें हम 'ऋषि' अर्थात् द्रष्टा कहते हैं।

जब उन 'साक्षात्कृतधर्मा' द्रष्टाओंका युग व्यतीत हो गया, तब पीछेके पुरुषोंने उन पूर्वजोंके वाक्योंका प्रेम और आदरसे स्मरण करके समय-समयपर जो ग्रन्थ बनाये, वे 'स्मृति' कहलाये। कई लोग वेदके मुखपाठपर ऐसे मुग्ध हो गये कि, शब्दकी महिमामें अर्थकी महिमाको भूल गये और वेद मंत्र अर्थबोधके लिये नहीं हैं; किन्तु यज्ञमें यथाविधि उच्चारण करनेके लिये हैं, ऐसा मानने लगे। निरुक्तकार यास्कने कौत्स नामक ऋषिका, इस मतके आचार्यरूपसे, उल्लेख किया है। कौत्स कहते हैं—'अनर्थका हि मन्त्राः।' किन्तु पाश्चात्य और अन्य विद्वान् समझते हैं कि, इस उक्तिका तात्पर्य यह नहीं है कि, वैदिक शब्दोंसे कुछ अर्थका बोध ही नहीं होता। जिन शब्दोंसे कुछ अर्थ नहीं निकलता, उनका तो उसने निर्देश करके परिगणन किया ही है। कौत्सका तात्पर्य केवल इतना ही है कि, वेदके मन्त्र अर्थबोधके लिये ही नहीं हैं; किन्तु यज्ञमें उच्चारणके निमित्त भी हैं। वेदके शब्दोंसे अर्थ-बोध होता है, इसका विरोध न कौत्स ही करते हैं और न अन्य कोई कर सकता है। कारण, कौत्सको उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं—'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' अर्थात् जिन शब्दोंका लौकिक संस्कृतमें प्रयोग होता है, वे ही शब्द वेदमें भी हैं। निःसन्देह कई शब्दोंका अर्थ हमारी समझमें नहीं आता; परन्तु उनको समझनेके लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये।

"नैषः स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।" वेदमें कई शब्द ऐसे हैं, जिनका अर्थ हम बिलकुल नहीं जानते, कई ऐसे हैं, जिनका अर्थ ढूँढ़-ढाँढ़ कर धात्वर्थसे, वा विकृतरूपसे, वा वाक्यमें स्थान देखकर, अथवा जिन-जिन वाक्योंमें उनका प्रयोग हुआ हो, उनकी तुलना करके, निश्चित किया जा सकता है। परन्तु ऐसे शब्द छोड़कर वैदिक शब्दोंका ऐसा बड़ा समूह रहता है, जिसका अर्थ यास्कके उक्त कथनानुसार, 'शब्दसामान्यात्', हम निश्चयपूर्वक जानते हैं अथवा उनका अर्थ, निर्वचन द्वारा, निर्णीत कर सकते हैं।

इसके पश्चात् यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, भारतवर्षमें बहुत-सा ज्ञान परम्परासे चला आता है। यदि इस परम्परा-प्राप्त अर्थके विरुद्ध यथेष्ट कारण मिलें, तो विरोध करना अनुचित नहीं है। परन्तु आधुनिक विद्याके दर्पमें उन्मत्त होकर 'Los Von Sayana' (सायणका बहिष्कार करो') पाश्चात्य विद्वानोंका यह कहना सायणाचार्य जैसे बहुश्रुत और सम्प्रदायविद्के सामने सत्यके प्रति द्रोह न भी हो; तथापि मूर्खता तो अवश्य है। वस्तुतः मैक्समूलरने सायणको 'अन्धेकी लकड़ी' (Blind man's stick) बतलाया है। यह बिलकुल यथार्थ है। यह आक्षेप उचित नहीं है कि, सयणाचार्य वेदके हजारों वर्ष पीछे हुए; इसलिये उनका किया हुआ अर्थ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। सायणाचार्यसे पूर्व वेदपर लिखी गयी टीका उपलब्ध है। इससे संभव है कि, वेदार्थका सम्प्रदाय अविच्छिन्न-रूपसे चला आया हो। सायणाचार्य उन यास्क आदि प्राचीन मुनियोंके साम्प्रादायिक अर्थका आश्रय लेते हैं, जो वेद-प्रणयन-कालके बहुत वर्ष पीछे हुए थे। उनको वेदका मूल अर्थ सम्प्रदाय-प्राप्त था। यह इतनेसे ही सिद्ध हो जाता है कि, वेदके कई ऐसे शब्दोंका, जिनका लौकिक संस्कृतमें स्पर्शलेश भी नहीं है, वैसा ही अर्थ किया गया है, जैसा प्राचीन समयको अन्य आर्य-भाषाओंके शब्दानुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ, वैदिक 'दमः' शब्दका गृह अर्थ लौकिक संस्कृतसे किसीको कभी न सूझेगा; परन्तु लैटिन (Domus) शब्दकी सहायतासे 'गृह' अर्थ सहज ही निश्चित हो जाता है।

वेदके सामान्य शब्दोंका अर्थ करनेमें कुछ कठिनाई नहीं है: परन्तु वैदिक धर्म क्या है, वेदके देवताओंका क्या अर्थ है इत्यादि धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर देना कठिन है। इसका कारण यह है कि, सामान्य शब्दोंके अर्थ इतने शीघ्र नहीं बदलते, जितने शीघ्र जनताके धर्म-सम्बन्धी विचार बदलते हैं। यास्कके पूर्व वेदके सामान्य शब्दोंका अर्थ करनेमें ऐसी कठिनाई नहीं थी, जैसी यास्कके समय वेदका धर्म समझनेमें उत्पन्न हो गयी थी। देवों और उनकी आख्यायिका-सम्बन्धी पूर्वाचार्योंके जो विविध मत यास्कने दिये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है।

याज्ञिकोंके मतानुसार यज्ञमें जिन-जिन देवताओंका नाम लेकर हवि दी जाती है, वे पृथक्-पृथक् देवता माने जाते हैं। मन्त्र शब्दका मूल अर्थ 'मनन' भूलकर उन लोगोंने उसे जादूकी शब्दावली बना डाला और वैसे ही यज्ञमें उसका उपयोग भी करने लगे। इस प्रकार याज्ञिकोंका एक समुदाय बना और सम्प्रदान-वाचक चतुर्थीका प्रत्यय जिसमें लगे, वही देवता (जैसे 'इन्द्राय स्वाहा' इसमें इन्द्र देवता) माना जाने लगा। धर्मकी इस भावनासे प्रायः शून्य शब्द-पूजा तथा क्रिया-पूजा शुरू हुई। किन्तु पूर्वोक्त वेद और लोक-भाषाके शब्द एक ही होनेके कारण उन शब्दोंका अर्थ प्रतीत हुए विना रह ही नहीं सकता; इसलिये इन याज्ञिकोंके साथ-ही-साथ और भी बहुत प्रकारके विचारक हुए, जिनका मत वेदके देवताओंके विषयमें भिन्न था। ऐसा एक वर्ग ऐतिहासिकोंका था। उनके मतमें देव वेदके मन्त्रोंके विनियोगार्थ कल्पित सत्त्व नहीं हैं, प्रत्युत् ऐतिहासिक अर्थात् 'इति ह आस' यज्ञसे स्वतन्त्र, वास्तविक व्यक्ति हैं। दूसरा वर्ग नैरुक्तोंका था। उनका कथन है कि, प्रकृतिके भिन्न-

भिन्न दृश्योंमें जहाँ-जहाँ चैतन्यके प्रकाशके (अर्थात् धात्वर्थमें 'देव') दर्शन हुए, उसे तत्-तत् दृश्यके अनुसार नाम दिया गया है। नैरुक्तोंने प्रकृतिके दृश्योंके आधारपर स्थान-भेदके अनुसार देवोंके तीन वर्ग बनाये—(१) पृथ्वी-स्थानके, (२) अन्तरिक्ष-स्थानके, (३) द्यु-स्थानके। वर्ग बनानेके बाद प्रत्येक स्थानमें एक-एक तेजोरूप पदार्थ देखकर इन तीनों मण्डलोंका तीन देवोंमें समावेश कर दिया गया। (१) पृथ्वीका तेजःपदार्थ अग्नि—इसलिये पृथ्वीका देव अग्नि; (२) अन्तरिक्षका तेजःपदार्थ विद्युत्—अतः वृष्टिका अधिष्ठाता वायु वा इन्द्र—अन्तरिक्षका देव इन्द्र, (३) द्युस्थानका तेजःपदार्थ सूर्य—अतः द्युस्थानका देव सूर्य। इस प्रकार नैरुक्तोंने देवत्रयीका सिद्धान्त बनाया। वस्तुतः जिस निर्वचन-पद्धतिसे वेदका अर्थ करनेके कारण वे 'नैरुक्त' कहलाते थे, उनका देवत्रयीके सिद्धान्तके साथ कुछ तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है। निर्वचन-पद्धतिसे वेदार्थ करते हुए भी हम एक देववाद मान सकते हैं। भेद इतना ही है कि, निर्वचन करनेवाले प्राचीन नैरुक्तोंने सारे देवोंका तीन देवोंके रूपोंमें निरूपण किया है। यास्क मुनिने एक प्रश्न यह उठाया है कि, जब वेदमें इतने अधिक देवताओंके नाम मिलते हैं, तब 'देवता तीन ही हैं' ऐसा हम कैसे मान सकते हैं? इस प्रश्नका उत्तर नैरुक्त पक्षकी ओरसे दिया गया है कि, "तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति"—देव ऐसे महाभाग्य हैं कि, वे एक होकर भी अनेक नामवाले होते हैं। जैसे कर्म-भेदसे एक ही व्यक्ति कई यज्ञोंमें होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता बन जाता है, उसी प्रकार एक ही देव तत्तत्कर्मानुसार भिन्न-भिन्न नामसे पुकारा जाता है। परन्तु यह असंख्य देवोंका तीन देवोंमें समावेश करनेका उदाहरण है। और, उसी दृष्टान्तके अनुसार सभी देवोंका एक ही देवमें समावेश हो सकता है। इस प्रकारकी विचार-श्रेणीमें आगे बढ़नेपर देवोंका भेदाभेद, एकानेकका सिद्धान्त निकलता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु, परस्पर सम्बद्ध होनेके कारण, जैसे एक ही हैं, वैसे ही देव भी तीन होते हुए भी एक ही हैं। इसका दूसरा उदाहरण यास्क देते हैं, "नर-राष्ट्रमिव"। जैसे असंख्य मनुष्य तत्-तत् व्यक्ति-रूपसे भिन्न होते हुए भी राष्ट्र-रूपसे एक ही हैं, वैसे ही प्रकृतिके असंख्य दृश्योंमें परमात्माका विविध-रूपसे प्रकाश हो रहा है; तथापि सभी दृश्य मिलकर एक ही प्रकृति-रूप हैं और इसमें एक ही परमात्माका वास है। उपनिषत्में कहा है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।'

इस भेदाभेद वा एकानेकके सिद्धान्तको स्पष्ट करनेसे यह फलित होता है कि, भेद और अभेद—एक और अनेक इस प्रकारका द्वैत नहीं है; किन्तु भेदमें अभेद, एकमें अनेक ऐसा अद्वैत है। इससे भी अधिक शुद्धरूपसे कहें, तो भासमान भेदमें वास्तविक अभेद और भासमान अनेकतामें वास्तविक एकता है। यह सिद्धान्त अध्यात्मविदोंका था। यह मायावाद जो भेदाभेदके सिद्धान्तमें गर्भित है, यास्क मुनिको स्फुट रूपसे अभिव्यक्त नहीं था। इसलिये सत्य-मिथ्याकी परिभाषाके स्थानमें सामान्य भाषामें यास्क मुनि अध्यात्मविदोंका सिद्धान्त प्रकट करते हुए कहते हैं—'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति, अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति।' अर्थात् परमात्माके एक होते हुए भी अनेकरूपोंमें उसकी स्तुति की जाती है। एक ही आत्माके अन्य देवता भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं; एक ही प्रकृतिकी तत्-तत् पदार्थ-रूपसे अनेकताको लेकर ऋषि लोग इनका बहुरूपमें स्तवन करते हैं; यद्यपि वस्तुतः यह एक अखण्ड है।

अब पूर्वकी एक बातका स्मरण करें। हमने कहा था कि, वेदके मंत्र वस्तुतः ऋषियोंके विश्वविषयक मननके उद्गार हैं। इसके सिवा जो उनको केवल अर्थ-हीन साँप-बिच्छूके मन्त्रोंकी भाँति, यज्ञमें केवल उच्चारण करनेके निमित्त, शब्दावली मात्र मानते हैं, उनकी दृष्टि प्रायः धर्मके

तत्त्वसे रहित है। यहाँ 'प्रायः' कहनेका हमारा आशय यह है—हमारा मानना है कि, जो लोग देवमें आस्तिक्य-बुद्धि रखकर यज्ञ करते हैं, वे धर्मकी सीढ़ीके प्रथम सोपानपर भी तो नहीं पहुँचे हैं; तथापि धर्मके आँगनमें अवश्य खड़े हैं। जो लोग प्रभुके मन्दिरके अभिमुख खड़े हैं, वे किसी दिन उस मन्दिरमें प्रवेश करेंगे और सीढ़ियोंपर भी चढ़ेंगे, यह आशा की जा सकती है। याज्ञिकोंने ऐसी शंका की है कि, 'अनादिष्ट देवता' वाले मन्त्रोंका देवता कौन है? तात्पर्य यह है कि, जिस स्थलमें देवता-विशेषका उल्लेख वा सम्बोधन उपलब्ध होता है, वहाँ उस देवताको मन्त्रका देवता मान सकते हैं; किन्तु जहाँ ऐसा कुछ चिन्ह उपलब्ध नहीं होता, वहाँ देवताका निर्णय किस तरहसे हो? इसका उत्तर देना तो सरल है कि, जिस देवताके यज्ञ वा यज्ञांशमें उस मन्त्रका विनियोग हुआ हो, वह उसका देवता है; किन्तु जिन मन्त्रोंका यज्ञमें उपयोग नहीं होता, उनका देवता कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें याज्ञिक लोग कहते हैं कि, ऐसे मन्त्रोंका देवता 'प्रजापति' है। ऐसा मान लेनेके कारण याज्ञिकोंने, ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित, एक विशिष्टरूपका एकेश्वर-वाद स्वीकृत किया है, जिसमें प्रजापति सामान्य यज्ञके देव-रूपसे और भिन्न-भिन्न देवता प्रजापतिसे उत्पन्न की हुई विशिष्ट शक्तियोंके रूपसे पूजे जाते हैं। इस कारण याज्ञिकोंको हम सर्वथा धर्म-हीन नहीं कह सकते।

'अनादिष्ट देवता'के मन्त्रोंके सम्बन्धमें नैरुक्तोंका मत ऐसा है कि, वे मन्त्र 'नाराशंस' हैं। 'नाराशंस' के विविध अर्थ किये गये हैं। एक अर्थ है—नरों (मनुष्यों) की स्तुति (प्रशंसा जिनमें की गयी हो,) वे मन्त्र; किन्तु इस प्रकृत स्थलमें यह अर्थ नहीं लग सकता; क्योंकि यदि अमुक मनुष्यकी स्तुति की गयी हो, तो वहाँ उस मनुष्यको मन्त्रका देवता मान लिया जाय; किन्तु इसका यज्ञमें कुछ प्रयोजन नहीं। इस कारण अन्य टीकाकारोंने इस अर्थको नापसन्द किया है; परन्तु मनुष्य मात्रके विराट् स्वरूपको (Humanity) जातिके अर्थमें 'नर' वा 'नार' कहें, तो 'नाराशंस' का अर्थ मनुष्य-जाति, मनुष्य-समष्टिकी पूजा इस मतमें विवक्षित है; यह कल्पना हो सकती है तथा ऋग्वेदके पुरुष-सूक्तके अनुसार यह अर्थ करना अनुचित भी नहीं है। अन्य टीकाकार 'नाराशंस' का अर्थ 'अग्नि' वा 'यज्ञ' करते हैं। वहाँ यज्ञ अर्थात् विष्णु, यह विशेष अर्थ किया गया है। सारे देवोंमें मुख्य होनेके कारण 'अनादिष्ट देवता' वाले सभी मन्त्र अग्निके हैं, यह कहा जाता है। अग्नि 'नाराशंस' इस कारणसे है कि, मनुष्य मात्र अग्निकी स्तुति करते हैं। यज्ञ-पुरुष विष्णु है; इसलिये यज्ञकी पूजा ही विष्णुकी पूजा है; और ,विष्णु-पूजा सूर्यकी पूजा है; क्योंकि सूर्य विष्णुका प्रतीक है। इस रीतिसे एक पक्ष अग्नि-पूजाका (Fire-worship) और दूसरा सूर्य-पूजाका (Sun-worship) हुआ। ये दोनों, अग्नि और सूर्य, मनुष्यजातिके मूल 'देव' हैं; इसलिये उन्हें 'अनादिष्ट देवता' के मन्त्रोंके देवता मानना युक्त है।

उक्त रीतिसे प्राचीन विद्वानोंके वेदके देवतासम्बन्धी मतको हमने दिखलाया। अब हमें जानना चाहिये कि, अर्वाचीन विद्वान् इस मतसे कहाँतक सहमत हैं। हम पहले देख चुके हैं कि, नैरुक्त निर्वचन-पद्धतिसे शब्दोंका अर्थ करते हैं और वैदिक देवताओंके विषयमें अपने विचार प्रकट किये हैं। वे प्रकृतिमें (Nature) परमात्माके दर्शन करते हैं। प्रकृतिके तीन खण्ड हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु। तदनुसार वे तीन देवता मानते हैं। वेदमें इन्द्र और वृत्रका जो युद्ध वर्णन है, वह अमुक वास्तविक असुर और इन्द्रके बीचमें चला हुआ युद्ध है। ऐतिहासिकोंके इस मतसे भिन्न नैरुक्तोंका मत है। नैरुक्त समझते हैं कि, यह 'युद्ध' अन्तरिक्षसे होनेवाली वृष्टिका आलंकारिक वर्णन है। यास्क कहते हैं, "तत् को वृत्रः? 'मेघ' इति नैरुक्ताः,'त्वाष्ट्रः असुरः' इति ऐतिहासिकाः, अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्ष-कर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति।"

(यह वृत्र कौन ? 'मेघ', यह नैरुक्त कहते हैं। 'त्वष्टाका पुत्र एक असुर', यह ऐतिहासिकोंका मत है। जल और तेजके मिश्रणसे वृष्टि होती है, उसका ही उपमा-रूपसे युद्ध वर्णन किया गया है।)

इसपर टीकाकारने लिखा है कि, वायुसे वेष्टित इन्द्र-रूप विद्युत्‌की ज्योतिसे जब जल तप्त होता है, तब वह बहकर पृथ्वीपर गिरता है अथवा विद्युत् रूपी वज्रसे वृष्टिके देव इन्द्र जब मेघको देह चीरते हैं, तब वृष्टि होती है। अन्यत्र मेघरूपी दुर्गमें वृत्र द्वारा बाँधी हुई गौ-रूपी जल-धाराओंको इन्द्रने छुड़ाया, ऐसी कल्पना भी की गयी है। इसको पाश्चात्य विद्वान् 'Storm myth' कहते हैं। लोकमान्य तिलक महोदय इस युद्धको 'Dawn Theory' से उषा : वर्णन-रूपसे निर्वचन करते हैं। सविता, विष्णु, मित्र, वरुण आदिके सूर्य-वाचक होनेके कारण वेदके वर्णनोंको 'Solar myth' बतलाकर अन्य विद्वान् अर्थ करते हैं और पश्चात् तारक पूजा (Star-worship), सूर्य-चन्द्र-पूजा (Sun & Moon worship), ऋतुपरिवर्तन (Change of seasons) इत्यादिसे वैदिक कथाओंकी व्याख्या की गयी है। प्राचीन ऐतिहासिकोंसे मिलता हुआ एक 'Anthropological school' है, जो मानता है कि, वीर मनुष्य तत्-तत् देवताओंके नामसे पूजे गये थे। वास्तवमें अधिकांश मत आसीरिया, खाल्दिया आदि प्राचीन पाश्चात्य देशोंके धर्मके इतिहासके विचारानुसार अर्वाचीन विद्वानोंने प्रतिपादित किये हैं; किन्तु वे इसमें दो-तीन बातें भूल जाते हैं। एक तो यह ध्यानमें नहीं रखा जाता कि, धर्मके बीज एक नहीं, अनेक हैं। दूसरी यह बात विस्मृत हो जाती है कि, धर्म केवल मानस विकार नहीं है; किन्तु सत्यका प्रकाश है। इसलिये किन-किन पदार्थोंको देखकर मनुष्यके चित्तमें धर्मको वृत्तिका उदय हुआ, यह प्रश्न नहीं है; किन्तु ठीक प्रश्न यह है कि, किन-किन पदार्थों द्वारा मनुष्यने सत्यके दर्शन किये। अतएव सूर्य-पूजा, अग्नि-पूजा, तारक-पूजा और वीर-पूजा, ये सब सूर्य आदिके तत्-तत् प्रतीकों द्वारा परमात्माकी ही पूजा है; सूर्य, अग्नि आदि केवल प्रतीकोंकी पूजा नहीं है। इतना ही है कि, शब्द बचानेके लिये 'सूर्यके द्वारा परमात्माकी पूजा' कहनेके बदले 'सूर्य-पूजा', इस संक्षिप्त शब्दका हम प्रयोग करते हैं।

(अनुवादक, प्रोफेसर गङ्गाप्रसाद महता एम० ए०)

शङ्का

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४।१)

अनुवाद—

बिचरत जागत दशा माहिं मन दूर-दूर जो नित ही
सुप्त अवस्थाहूँ महँ जो मन भ्रमत रहत अविरत ही।
ज्योतिपुञ्जकी ज्योति अपूरब, दूरगमन गुनधारी
निकट तथा दूरस्थ विषयको संतत चिन्तनकारी ॥
अति चञ्चल जो है स्वभावसों, सो मन प्रभु ! तुम चेरो
शिव सङ्कल्प विधाननमें हरि ! ताको रति नित फेरो ॥

—पं० कौशलप्रसाद पाण्डेय

वेदकी व्याख्या और उसकी परम्परा

प्रिन्सिपल विधुशेखर भट्टाचार्य एम० ए०

(आचार्य, शान्तिनिकेतन, बोलपुर, बीरभूम)

वेद-मंत्रोंकी व्याख्याएं कहां तक मंत्रद्रष्टा ऋषियोंके भावोंको स्पष्ट करनेमें समर्थ हुई हैं, इस बातको समझनेके लिये एक जीवित कविका ही उदाहरण लीजिये। विश्व-विख्यात कवि रवीन्द्रनाथकी एक रहस्य-वादकी कविताको यदि भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न प्रकारकी रुचिके विद्वानोंको व्याख्या करनेके लिये दिया जाय, तो नाना प्रकारके अर्थ प्राप्त होंगे। कोई भी अर्थ दूसरे अर्थके साथ सम्पूर्णरूपसे मेल नहीं खायगा। यह सम्भव है कि, एक व्याख्याका कुछ अंश अन्य व्याख्याके कुछ अंशसे मिल जाय, परन्तु विभिन्नता कुछ-न-कुछ रहेगी ही। अब यदि कल्पना की जाय कि, प्रत्येक व्याख्याकार अपने-अपने शिष्योंको अपनी-अपनी व्याख्या पढ़ावे और वे शिष्य भी उसी व्याख्याको अपने शिष्योंको पढ़ाते जायँ, तो अन्तमें जाकर एक ही कविताकी अनेक व्याख्याएँ, परम्परा-क्रमसे, चल पड़ेंगी, जिनमें कोई भी किसीसे कम प्राचीन नहीं कहलायगी। परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि, कविका भाव वही है, जो अमुक व्याख्याकारने लिखा है, या वे सभी हैं, जो सभी व्याख्याताओंने बताये हैं।

यह जरूरी नहीं कि, कोई कवि अपनी कविताकी व्याख्या भी कर दे। कविका काम कविता कर लेनेके बाद समाप्त हो जाता है। परन्तु कल्पना कर भी ली जाय कि, किसी कविने अपनी कविताका भाव अपने साथियोंमें प्रकट कर दिया, तो यह सम्भव नहीं कि, सुननेवाले शब्दशः उसे समझ लें। और यदि समझ भी लिया, तो दूसरी बार उसी भावको व्याख्याके रूपमें, शिष्यको उपदेश करते समय, सम्भव है कि, बहुत कुछ उसे भूल जाय। उसका शिष्य अपने शिष्यको उपदेश देते समय भी कितनी ही बातें भूल कर अन्य कितनी ही नयी बातोंका सम्मिश्रण कर सकता है। इस प्रकार कविका प्रकट किया हुआ एक ही भाव नाना आकार धारण कर सकता है। पर क्या जोर देकर कहा जा सकता है कि, अमुक व्यक्तिने जो समझा है, वही कविका ठीक तात्पर्य है; क्योंकि समझनेवालेके गुरु या दादागुरुने कविके मुँहसे उस व्याख्याको सुना है? कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी कविताके बारेमें सचमुच ही ऐसी बात हुई है। कविने अपनी कविताका जो भाव बताया था, सुननेवालोंने उसे विभिन्न रूपोंमें ग्रहण करके विभिन्न व्याख्याएँ की हैं।

कौन कह सकता है कि, वेदके मंत्रोंके बारेमें यही बात ठीक नहीं है? जब एक जीवित कविके बारेमें उक्त प्रकार-की घटनाएँ घट सकती हैं, तब कैसे मान लिया जाय कि, मंत्रद्रष्टाओंके भावोंके विषयमें हजारों वर्ष बादकी लिखी गयी व्याख्याएँ ठीक ही हैं?

बातको स्पष्ट करनेके लिये हम कुछ मंत्र उपस्थित करते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि, ऋग्वेद (१०।७१।४) में स्वयं इस कठिनाईके बारेमें कहा है—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।"

"इस वाणीको देखकर भी कोई नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता।"

स्वयं यास्क (निरुक्त १।२०)की बातोंसे ही यह बात स्पष्ट होती है कि, ऐसे ऋषि थे, जिन्होंने स्वयं धर्मका साक्षात्कार किया था; पर बादके आचार्योंने, जिन्हें एक

व्याख्याकारने 'श्रुतर्षि' कहा है, परम्परागत व्याख्याओंको सुनकर व्याख्या की है। 'श्रुतर्षि' पदसे जाना जाता है कि, ये ऋषि मंत्रोंका साक्षात्कार नहीं कर सके थे, बल्कि उनकी व्याख्याओंको, पुराने आचार्योंके मुँहसे, सुना भर था। 'पुरुर्वावद्या' के अनित्य होनेके कारण यह एक दम स्वाभाविक था, जैसा कि, यास्कने स्वयं प्रकट किया था।

ऋग्वेदके 'अस्यवामीय' सूक्तके एक मंत्रका उदाहरणार्थ यहाँ दिया जाता है। यह सूक्त उक्त वेदके प्रथम मण्डलका १६४ वाँ सूक्त है। उसका ३२ वाँ मंत्र इस प्रकार है—

> "य ईं चकार न सो अस्य वेद
> य ईं ददर्श हिरिगुन्नु तस्मात्।
> स मातुर्योना परिवीतो अन्त-
> बहु प्रजा निऋर्तिमाविवेश॥"

"यह, जिसने उसे बनाया, उसके बारेमें कुछ नहीं जानता; जिसने उसे देखा, वह उसकी नजरोंसे बाहर है; वह माताके गर्भमें आकर बहुत सन्तान उत्पन्न करके "निऋर्ति"में प्रवेश कर गया।'

इस मन्त्रके चतुर्थ चरणमें जो 'निऋर्ति' शब्द है, उसके दो अर्थ हैं– दुःख और पृथ्वी। अब देखना है कि, व्याख्याकार इसका क्या अर्थ करते हैं। कुछके मतसे मन्त्रका भाव है कि, जिसकी अनेक सन्तानें है, वह दुःखमें पड़ता है। पर अन्य लोगोंका मत है कि, यह मंत्र वर्षा ऋतुको लक्ष्य करके कहा गया है। पहले प्रकारके व्याख्याकार हैं परिव्राजक-गण—यानी घूमनेवाले सन्यासी। और दूसरा मत है नैरुक्तोंका (निरुक्तके जाननेवालोंका)। यास्कने दोनोंके मतोंको दिया है (निरुक्त २।८)।

एक दूसरा रहस्यवादका मंत्र है (ऋ० ४।५८।३)—

> "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
> द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
> महादेवो मर्त्याँ आविवेश॥"

'चार इसकी सींगें हैं, तीन इसके चरण हैं, दो इसके सिर हैं और सात इसके हाथ हैं। तीन तरहसे बँधा हुआ यह बलवान (अर्थकी वर्षा करनेवाला) जोरसे चिल्ला रहा है; महादेवने मरणधर्मा (वस्तुओं) में प्रवेश किया।'

यह महादेव कौन है? निरुक्त परिशिष्ट (१३।७) के अनुसार किसीका मत है कि, वह यज्ञ है। चारों वेद उसकी चार सींगें हैं, तीन पैर तीनों 'सवन' (सोमका रस निकालनेके तीन समय) हैं; दो सिर हैं, दो हवन और सात हाथ सातों छन्द हैं। 'तीन तरहसे बँधा' का अर्थ है कि, वह मंत्र, ब्राह्मण और कल्पसे नियमित किया गया है।

दूसरोंका मत है कि, वह सूर्य है। चार सींगें चारों दिशाएँ हैं, तीन पैर तीनों वेद हैं; क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१२।९।१) के अनुसार सूर्यकी गतिका सम्बन्ध तीनों वेदोंसे है; दो सिर हैं, दिन और रात, सात हाथ हैं, सूर्यकी सात किरणें; 'तीन तरहसे बँधा है' का अर्थ या तो तीन प्रदेश (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक) है या तीन ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा और शीत) है।

यहाँपर महर्षि पतञ्जलिके उस मतका उल्लेख कर देना भी हम उचित समझते हैं, जो उन्होंने पाणिनीय सूत्र (१।१।१) पर भाष्य लिखते समय, लिखा है। उनके मतसे इस मन्त्रका महादेव 'शब्द' है। चार सींगें चार प्रकारके शब्द हैं (नाम, आख्या, उपसर्ग और निपात); तीन पैर तीन काल हैं (वर्तमान, भूत, भविष्य); दो सिर हैं दो प्रकारकी भाषाएँ, नित्य और कार्य; सात हाथ हैं सात विभक्तियाँ और 'तीन तरहसे बँधा है' का अर्थ है कि, शब्द तीन अंगोंसे उच्चारित होता है—हृदय, गले और मुखसे।

इसके सिवा यदि आप सायणकी व्याख्याको देखेंगे, तो उसमें अन्य भी कई तरहकी व्याख्याएँ देखनेको मिलेंगी। अवश्य ही सबके लेखक सायण ही नहीं हैं।

इस प्रसंगमें एक और मन्त्र हम उद्धृत करना चाहते हैं—

> "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
> तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"
(ऋ. १।१६४।४५)

'वाणीको चार भागोंमें विभक्त किया गया है; मनीषी ब्राह्मण इसको जानते हैं। इनमेंसे तीनको तो गुहामें रखा गया है; केवल चौथे विभागकी वाणीको ही मनुष्य बोलते हैं।'

अब सवाल यह है कि, ये चार विभाग कौनसे हैं। अगर आप निरुक्त-परिशिष्ट (१३।६) तथा सायणको देखेंगे, तो विभिन्न सम्प्रदायोंकी सात व्याख्याएं पायेंगे। एक व्याख्या स्वयं महाभाष्यकार पतञ्जलि (पा० १।१।१) ने की है।

यहीं तक नहीं, वेदके किसी भी शब्दतकपर इसी प्रकारकी नाना व्याख्याएं हैं। उदाहरणार्थ 'अश्विनौ' को ही लीजिये। यास्क (१२।१) कहते हैं कि, ये 'अश्विनौ' कौन हैं? स्वः और पृथ्वी, यह एक मत है; दिन और रात, यह दूसरा मत है; सूर्य और चन्द्रमा, यह तीसरा मत है; और, ऐतिहासिकोंका कहना है कि, ये दो धर्मात्मा राजा थे।

यास्कने कम-से-कम ८, ६ मतोंकी चर्चा की है। इनमें वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि हैं। साथ ही कम-से-कम डेढ़ दर्जन विभिन्न पन्थोंके समर्थक आचार्योंका नाम भी लिया है। कोई कारण नहीं है कि, इन विभिन्न-मतवादी आचार्योंमेंसे किसीके मतको हम अप्रामाणिक कह सकें। उदाहरणके लिये 'अश्विनौ' शब्दके 'स्वर्ग और पृथ्वी' अर्थको लीजिये। यह मत शतपथ-ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और इसी जगह उसके मतका समर्थन भी पाया जा सकता है, जिसे स्वयं यास्कने लिखा है।

गलत हो या सही, काल्पनिक हो या यथार्थ, निरुक्तकी बहुत-सी व्याख्याएँ ब्राह्मणोंके आधारपर हैं। निरुक्त (२।१७) में 'वृत्र' शब्दकी जो व्याख्या दी गयी है, वह ब्राह्मणोंमें उसी प्रकार आयी है।

जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि, ये सभी व्याख्याएँ परम्परा-प्राप्त हैं। पर सवाल यह है कि, क्या बिना 'ननु नच' के स्वीकार कर लिया जाय कि, ये सभी व्याख्याएँ ठीक हैं; क्योंकि परम्परासे प्राप्त हैं? ऋषिने, जिन्होंने उक्त मन्त्रको साक्षात् किया था, क्या ये सभी भाव समझे थे? निश्चय ही उनका मतलब किसी एक ही अर्थसे होगा। बादरायणके ब्रह्म-सूत्रकी केवल एक ही व्याख्या उनको अभीष्ट होगी—वह द्वैत-वादकी हो, अद्वैत-वादकी हो, द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैतकी हो या अन्य किसी वादकी हो। पर यह नहीं कहा जा सकता कि, उन्होंने सभी वादोंको प्रकट करना चाहा था और न यही कहा जा सकता है कि, उन्होंने इन सभी मत-वादोंका समन्वय करना चाहा था। हमारा लक्ष्य सत्य अर्थको प्राप्त करना है। पर ऐसी परिस्थितिमें सत्य अर्थको बाहर कर लेना कुछ हँसी-खेल नहीं है। अस्तु। हमें कोशिश करनी चाहिये कि, जहांतक हम सत्य अर्थके नजदीक जा सकें, जायें।

इस प्रकारके प्रयत्नमें निरुक्त कुछ दूरतक हमारी सहायता कर सकता है। उसी 'अस्यवामीय सूक्त' (ऋ० १। १६४।३६) पर तीन प्रकारकी व्याख्याएं (देवता, यज्ञ और आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाली) देकर निरुक्त कहता है (१३।१२)—

'अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः।'

'मन्त्रका यह विचार परम्परागत अर्थके श्रवण और तर्कसे निरूपित किया गया है।'

'न तु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः।
प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः ॥'

'मन्त्रोंकी व्याख्या पृथक्-पृथक् करके न होनी चाहिये, बल्कि प्रकरणके अनुसार होनी चाहिये।'

'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।'

'जो मनुष्य ऋषि भी नहीं, तपस्वी भी नहीं, वह इन मन्त्रोंमें अर्थका साक्षात्कार नहीं कर सकता।'

"पारोवर्य वित्सु तु खलु वेदितृषु
भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात् ॥"

'यह पहले ही कहा गया है (निरुक्त १।१६) कि, परपरागत ज्ञान प्राप्त करनेवालोंमें वही प्रशस्त (श्रेष्ठ) है, जिसने ज्यादा अध्ययन किया है।'

इसके बाद निरुक्तकार ब्राह्मणसे उद्धृत इस अंशको लेकर तर्ककी आवश्यकता सिद्ध करते हैं—

"मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न
ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं
प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् ॥
तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति ॥"

'ऋषियोंके चले जानेपर मनुष्योंने देवताओंसे पूछा कि, हम लोगोंका ऋषि कौन होगा ? उन्होंने उन्हें मन्त्रार्थका विचार करनेके लिये, इस तर्क-(रूप) ऋषि × को दिया; इसलिये वेदज्ञ मनुष्य जो कुछ निश्चय करता है, वह आर्ष ही होता है।'

इस प्रकार तीन साधन हैं, जिनके द्वारा वेदोंका अर्थ जाना जा सकता है। (१) श्रुति —आचार्योंके मुखसे परम्परासे सुना हुआ ज्ञान या इस प्रकारके ज्ञानके स्वरूप-ग्रन्थ (ब्राह्मण आदि), (२) तर्क और (३) तपः, जिसका अर्थ हमारी समझमें Severe meditation (गम्भीर ध्यान) × करना चाहिये। सूत्रने पहलेसे ऐसा ही किया भी है।

अवश्य ही इन साधनोंके लिये वेदाङ्गों (ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दः) का आवश्यक ज्ञान जरूरी है।

यहाँतक हमने वेदके विभिन्न व्याख्याताओंके मत-भेद देखे। पर यह बात वेदको ही लेकर नहीं है। संसारके सभी देशोंमें और सभी कालोंमें ज्ञान-विज्ञानकी प्रत्येक शाखाको लेकर ऐसा ही मतभेद पाया जाता है। इस प्रकारके विभिन्न व्याख्यानोंसे अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट हो उठता है। पर क्या इससे ज्ञानकी विभिन्न शाखाओंकी उन्नति नहीं होती ? ज्ञानका विकाश ही जीवनका चिह्न है और जीवन स्वयं परिवर्तनमें रहता है। जहाँ परिवर्तन नहीं, वहाँ जीवन कैसा ? इन भिन्न-भिन्न व्याख्याओंके क्रमिक विकाशसे देखा जाता है कि, 'ब्राह्मण' का सम्प्रदाय, जिसने विद्याकी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया था, सर्वत्र सक्रिय है। माना कि, विद्या हर हालतमें अपने मौलिक रूपमें नहीं रह सकी है। वह सदा जीवन-धर्मके अनुसार बाहरसे परिवर्तित होती रहती है; पर उसका भीतरी रूप निःसन्देह ज्यों-का-त्यों है। हम लोगोंको उसका मूल रूप प्राप्त करनेके लिये कुछ कष्ट अवश्य सहना पड़ेगा। साथ ही हमको याद रखना चाहिये कि, बहुत कम मंत्रोंके बारेमें हमें तरद्दुद उठानी पड़ती है। अधिकांशके बारेमें निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि, यास्कतकके सभी प्रकारके व्याख्यान मौलिक रूपमें सुरक्षित हैं। यास्कके बादकी क्रमबद्ध व्याख्यानमाला भी हमको प्राप्त है।

× इस स्थानपर बुद्धदेवका एक वचन स्मरण हो आता है (महापरिनिब्बान सुत्त ६।१)—"भगवान्‌ने आयुष्मान् आनन्दसे कहा—'आनन्द, सम्भव है कि, तुम लोगोंमेंसे कुछको सन्देह हो सकता है कि, भगवान्‌के उपदेश अब समाप्त हुए और अब हम लोगोंको उपदेश देनेवाला कोई नहीं रह गया !·····सत्य और संघके नियम ही, जिन्हें मैंने तुम सब लोगोंके लिये बनाया है, अबसे तुम लोगोंके उपदेशक रहेंगे।" (भावानुवाद)

सिक्खोंके अन्तिम गुरु, गुरुगोविन्द सिंहके मृत्युकालीन शब्दोंको भी, जिनके द्वारा उन्होंने अपनी मृत्युके बाद 'ग्रन्थ साहब' को गुरु माननेका उपदेश किया था, यहाँपर स्मरण किया जा सकता है।

× इस अर्थके समर्थनमें माण्डूक्य उपनिषद (१।१।९) का निम्नाङ्कित वाक्य उद्धृत किया जा सकता है—'यस्य ज्ञानमयं तपः।' (छान्दोग्य ४।२।३) के 'ऐक्षत' पदको भी यहाँ तुलनार्थ उपस्थित किया जा सकता है।

परम्पराके बारेमें एक और बात आपके सामने रखी जाती है। वेदान्तिकोंके अनुसार तीन प्रस्थान हैं, जिनके द्वारा अर्थ-निर्णय किया जाता है। वे हैं—श्रुति, स्मृति और सूत्र। जब कोई वेदान्त-वाक्य श्रुति (वेद) और सूत्र (बादरायण-वेदान्तसूत्र) से निश्चित नहीं किया जा सकता, तब स्मृति (परम्परा-प्राप्त अर्थ) की सहायता ली जाती है। यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं कि, वेद-वाक्योंके अर्थ भी स्मृतिकी सहायतासे किये जा सकते हैं। उदाहरणके लिये वाजसनेय-संहिताकी ईशोपनिषद्को ही लीजिये—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥"

'कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे। इस प्रकारसे ही तुम्हारी सिद्धि होगी, अन्यथा नहीं। कर्म मनुष्यमें लिप्त नहीं होता।'

इस पद्यकी व्याख्या कहाँ है? क्या यह समूचे कर्म-तत्त्वके साथ स्मृति (भगवद्गीता) के निम्नाङ्कित श्लोक-को याद नहीं दिला देता?

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥"

'कर्म मुझे लिप्त नहीं करते और कर्म-फलमें मेरी स्पृहा (इच्छा) भी नहीं रहती। मुझे ऐसा जो जानता है, वह कर्म-बन्धनमें नहीं बँधता।'

बृहदारण्यक (४।४।७) और कठ उपनिनिषदों (४।१४) का एक अन्य वाक्य लीजिये—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते॥"

'जब इसके हृदयमें स्थित सभी कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मरण-धर्मा (यह मनुष्य) अमृत (अमर) होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है।'

यहाँ भी हमें श्रीमद्भगवद्गीता (२।७१) का निम्नाङ्कित श्लोक स्मरण हो आता है और इससे उक्त मंत्रकी व्याख्यामें आसानी पड़ती है—

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥"

'जो मनुष्य सभी कामनाओंको छोड़कर निस्पृह भावसे ममता और अहङ्कार छोड़कर आचरण करता है, वही शान्ति पाता है।'

दूसरी तरहसे विचार करके भी अगर हम देखें, तो देख सकते हैं कि, एक ही सत्य 'एकमेवाद्वितीयम्' वेद और उपनिषदोंसे गुजरता हुआ 'दुर्गा-सप्तशती' (मार्कण्डेय पुराण) के निम्न लिखित श्लोकसे प्रकट हुआ है—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट! मय्येव विशन्ति मद्विभूतयः॥"

'इस संसारमें एक मात्र मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कौन है? रे दुष्ट, देख, ये सारी मेरी विभूतियाँ मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं।'

इस स्थानपर स्मृतिमें या तो हम वेदोंके भाव ही विकसित रूपमें पाते हैं या वेदोंके परम्परा-प्राप्त अर्थ ही यहाँ प्रकट हुए हैं।

वेद और इसके बादके साहित्यके इस सम्बन्धको लेकर विशेष तर्क बढ़ाना व्यर्थ है। मतलब कहनेका यह है कि, पुराण, धर्मशास्त्र आदि परम्परा-प्राप्त अर्थोंके भाण्डार हैं और उनसे वेदकी व्याख्याके बारेमें यथेष्ट सहायता ली जा सकती है। पर दुर्भाग्यवश, भारत और विदेशोंके कुछ विद्वान्, इस सम्बन्धकी उपेक्षा करते हैं। स्मृतिकी सहायता वेदोंके अर्थ जाननेके लिये ठीक वैसी ही है, जैसी लौकिक संस्कृतकी सहायता वेदोंकी भाषा समझनेके लिये। जिस प्रकार हम वैदिक और अवैदिक आर्यभाषाका मूल-स्थान एक ही मानते हैं, वैसे ही वेद और पीछेके साहित्यका एक ही मूल-स्थान मानना पड़ेगा। एक उदाहरणसे इसको समझा जाय।

संस्कृत-पाठशालाके एक नितान्त आरम्भ करनेवाले विद्यार्थीसे, जिसने अमरकोष पढ़ा है, आप पूछिये, तो वह कितने ऐसे शब्द कह जायगा, जो केवल वेदोंमें ही प्रयुक्त

हुए हैं। वह 'मरुत्वत्' (मरुतोंसे युक्त), शक्र (शक्तिशाली), शचीपति (शक्तिका स्वामी), शतक्रतु (सौ शक्तियों-वाला), वृत्रहन् (वृत्रको मारनेवाला), 'पुरन्दर' जो 'पूर्भिद्' (दुर्ग-भञ्जक) से बना है, और वज्रभृत् (वज्रधारी) शब्दोंको इन्द्रके अर्थमें व्यवहृत बतायगा। इसी तरह 'वैश्वानर', 'जातवेदस्', तनूनपात्' और 'आशुशुक्षणि' शब्दोंको अग्निके अर्थमें प्रयुक्त बतायगा। वायुके अर्थमें 'मातरिश्वन्' शब्दको बतायगा। अधिक उदाहरण बढ़ानेकी अवश्यकता नहीं। सार यह है कि, इस जगह हम आंशिक रूपमें पाठशालामें वेदोंके अर्थका संरक्षण पाते हैं।

वेदोंकी व्याख्यामें इण्डो-यूरोपियन भाषाओंके तुलनात्मक भाषा-विज्ञानको न तो भूला जा सकता है, न गौण स्थान दिया जा सकता है। पर कभी-कभी भाषा-विज्ञानके झोंकमें इस शास्त्रका विद्वान् जरूरतसे ज्यादा आगे बढ़ जाता है। वह सम्भावनाओंके ऐसे दलदलमें फँस जाता है कि, उस प्रकारकी अवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिको सावधान रहना चाहिये। मेरे विचारसे भाषा-विज्ञान और परम्पराको एक दूसरेके शोधकके रूपमें रखना चाहिये। पर दुर्भाग्य-वश, कभी-कभी दृढ़ तर्कसे समर्थित परम्पराको भी भाषा-विज्ञानकी वेदीपर बलि दे दिया जाता है। इस बातको एक उदाहरण देकर दिखाया जाता है। यह सवाल बहुत पुराना है और कई विद्वान् इसपर अपना विचार प्रकट कर चुके हैं कि, वेद-कालमें लिङ्ग-पूजा थी या नहीं। प्रश्न उठनेका कारण है, ऋग्वेदमें दो जगह (७।२१।५, १०।९९।३) आया हुआ 'शिश्नदेव' शब्द। इसका परम्परागत अर्थ है अब्रह्मचारी। सायण और यास्क, दोनोंने इसका अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। इस अर्थको अस्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। 'देव' शब्द यहाँ आलङ्कारिक अर्थमें (देव जैसा) व्यवहृत हुआ है। वेदके 'पितृदेव', 'मातृदेव' आदि अनेक शब्द इसी श्रेणीके हैं। पर क्या उनका अर्थ माताको पूजनेवाला या पिताको पूजनेवाला है? तैत्तिरीय उपनिषद् (१।२) में 'पितृदेवो भव' इस अर्थमें नहीं आया। वहाँ उसका मतलब है कि, पिताको देवताकी तरह मानो। अन्य शब्दोंका भी ऐसा ही अर्थ होना चाहिये। भगवान् शङ्करका कहना है कि, "देवतावद् उपास्या एते इत्यर्थः।"

एक और शब्द है 'श्रद्धादेव', जो तैत्तिरीय उपनिषद् तथा कई ब्राह्मणोंमें पाया जाता है। "Sanscrit Worterbuch" के लेखकके मतसे इसका अर्थ है देवताओंपर विश्वास करनेवाला। यह समझना कि, यह शब्द 'भरद्-वाज' की श्रेणीके समयके अन्तर्गत आवेगा, आवश्यकतासे अधिक आशा रखना है; क्योंकि 'भरद्-वाज' का प्रथम पद शतृप्रत्ययान्तका रूप है। हमारी समझमें यह भी नहीं आता कि, Eggeling ने (S. B. 1. 1. 4. 5) इसका God-fearing (देव-भीरु) अर्थ कैसे किया। भाष्यकारोंने इसका अर्थ प्रायः श्रद्धालु ही किया है। इसका ठीक अर्थ सायणने तैत्तिरीय-संहिता (७।१।८।२) में किया है। उनके मतसे इसका अर्थ है, 'श्रद्धा है देवता जिसकी, वह।' इसके बाद वे इतना और जोड़ देते हैं कि, 'मतलब यह कि, जैसा देवतामें आदर होना चाहिये, वैसा ही जिसका आदर श्रद्धामें हो।'

इस व्याख्यासे 'शिश्न-देव' शब्दका अर्थ हुआ कि, 'शिश्न' ही है देवता जिसका (अब्रह्मचर्य)। अर्थात् यास्कका अर्थ ही ठीक है।

विदेशी विद्वानोंको इस शब्दसे भ्रम हो सकता है; पर भारतीय विद्वान् इस प्रकारके शब्दोंसे परिचित हैं। उदाहरणार्थ 'शिश्नोदर-परायण' शब्दको ही लीजिये। 'शिश्नोदरतृप', 'शिश्नोदरम्भर' शब्द इसी अर्थके हैं। अब परायण शब्दको देखिये। इसका अर्थ है 'अन्तिम शरण।' अब 'नारायण-परायण' (नारायणका भक्त) और 'कामक्रोध-परायण' (काम, क्रोधमें गर्क) शब्दोंके साथ इसकी तुलना कीजिये।

भाषा-विज्ञानपर कभी-कभी अत्यधिक अवलम्बित रह कर परम्पराको भुला दिया जाता है। हम ऋग्वेद (१०।१२१) के तथाकथित अज्ञात देवको, जिसके लिये बार-बार आया है कि, 'कस्मै देवाय हविषा विधेम', उदाहरणार्थ लेते हैं। विद्वानोंने नाना प्रकारसे इसपर विचार किया है और 'कस्मै' का प्रश्नवाचक अर्थ (किसके लिये ?) किया है। पर हम पूछते हैं कि, परम्परा-प्राप्त अर्थ, जो 'क' को प्रजापतिका पर्याय बताता है, किस बुनियादपर अस्वीकार किया जाता है? 'कस्मै' पदकी पूर्तिके लिये 'तस्मै' पदका अध्याहार सायणकी भांति क्यों न कर लिया जाय? जब कि, ऋग्वेद-के अनेक स्थलों (१, ८४, १, ४; ७, ३३, ४, ६; ३९, ५, ८८. ७; ६१, ६; १०४, ८) पर (यत्) के लिये 'तत्' का अध्याहार किया गया है। संहिताओं और ब्राह्मणोंमें अनेक जगह 'क' शब्द प्रजापति और प्रश्न-वाचक, दोनों रूपोंमें आया है और ब्राह्मणके ऋषियोंके अनुसार दोनों ही 'अनिरुक्त' (जिनकी व्याख्या नहीं की गयी है) हैं। मतलब यह कि, दोनों ही निश्चित रूपसे नहीं जाने जाते हैं कि, 'यह' ही (इदम्) है या 'इसके समान' (इदक) है।

जिस प्रकार प्रश्नवाचक 'क' (किम्) की निरुक्ति नहीं हो सकती, वैसे ही प्रजापतिके बारेमें भी 'इदम्' या 'इदक' नहीं कहा जा सकता। जब हम इस बातका विचार करते हैं कि, वे किस प्रकार विचार प्रकट करते थे कि, 'क' और 'प्रजापति', एक ही अर्थमें व्यवहृत हुए हैं, तब ये अर्थ बिल्कुल ठीक जंचते हैं।

किसी शब्दकी व्युत्पत्तिपर अधिक जोर देना बड़ी भारी भूल है, विशेषतः जब कि, हम कितनी ही व्युत्पत्तियोंके बारेमें अब अनिश्चितसे हैं। एकाध उदाहरण लेकर देखा जाय।

"ब्रह्मैव ऋत्विक् कुरूनश्वाभिरक्षति।" (छान्दोग्य ४।१७।१०) यहाँ भाषा-विज्ञानियोंके प्रसिद्ध आचार्य Bohtlingk और Roth 'अ-श्वा' शब्दमें 'न' (या 'अ') का अर्थ 'सादृश्य' करके इस पदका अर्थ 'कुत्तेकी तरह' (Wie-ein Hund) करनेमें जरा भी आगा-पीछा नहीं करते ! हम भी कहते हैं कि, इसका अर्थ और कुछ नहीं, बल्कि सीधे 'अश्व' शब्दके तृतीया एकवचन 'अश्वा' (अश्वेन) का जो अर्थ है, वही है।

परम्परा-प्राप्त अर्थ या भावको छोड़कर शाब्दिक अर्थका अनुसरण करना खतरनाक है। उदाहरण लीजिये। Rahder, जो न केवल संस्कृतके ही, बल्कि तिब्बती, चीनी, मंगोलियन आदि भाषाओंके विद्वान् हैं, 'दशभूमिक सूत्र' नामक बौद्ध ग्रन्थ (Introduction, Acta Orientalia, Vol IV, P. 218) में प्रसिद्ध बौद्धशब्द 'ब्रह्म-विहार' का अर्थ करते हैं Brahma-hall! इस शब्दका अर्थ है मनकी अत्युत्कृष्ट शान्त अवस्था, जो कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाकी भावनामें होती है।

पर हमलोगोंको विशुद्ध भाषा-विज्ञानकी पद्धतिकी ओरसे एकदम आंख नहीं मूंद लेनी चाहिये। हम यहाँ Dr. L. D. Burnett के अनुवादमें गीताके दो शब्दोंकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं। 'हृषीकेश'-का अर्थ आपने किया है 'खड़े-खड़े बालोंवाले' और 'गुडाकेश' का अर्थ 'लटवाले बालोंवाले'। 'हृषीक' शब्द इन्द्रिय अर्थमें संस्कृतमें आया है सही, पर खूब ही विरल; पर, 'गुडाका' शब्द 'निद्रा' अर्थमें हमने तो कोशके अतिरिक्त कहीं नहीं देखा।

स्वीकृत और प्रचलित अर्थ धातु-प्रत्यय-योगजात अर्थ-से कहीं अधिक आवश्यक है (रूढ़िर्योगाद् बलीयसी)। पर व्युत्पत्ति हमको उस भावका स्मरण कराती है, जो शब्दके पीछे लगी हुई है और प्रचलित अर्थ उसके व्यवहारका सूचक है। नदी (नदन=आवाज करनेवाली) और धुनी (ध्वनिसे बना हुआ) का प्रथम प्रयोग इसके आवाज करनेके कारण ही हुआ होगा; पर आज हम जब इस शब्दका व्यवहार करते हैं, तब मूल अर्थपर बिल्कुल ध्यान नहीं जाता।

जब शब्द सर्व-साधारण द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तब उसका मूल (यौगिक) अर्थ अप्रधान हो जाता है। 'अग्नि' शब्दका अर्थ हम लोग आग ही समझते हैं, चाहे वह अग्र+नी, अग्नि या अग्र (अज्)+नि से ही बना हो या लैटिन Ignis या लिथुएनियन Ugnis या स्लेव Ogry से संबद्ध हो। स्कूल-कालेजोंके ९० फी सदी लड़के 'पश्यति' को 'दृश' धातुका ही रूप बतायेंगे, हालां कि, उसका सम्बन्ध 'स्पृश' से है। सभी देश और सभी साहित्यमें शब्दोंका इस प्रकारका उपयोग होता है, जिनके मूल अर्थ किसीके ध्यानमें नहीं रहते। ऐसी अवस्थामें यह क्या आवश्यक नहीं कि, व्युत्पत्ति-जन्य अर्थका ग्रहण करनेके लिये पद-पदपर सावधानीसे काम लिया जाय ?

वेदकी अपौरुषेयता

महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा एम० ए०, डा० लिट्
(वायस-चान्सलर, विश्वविद्यालय, प्रयाग)

जबसे वेदका अध्ययन और अध्यापन प्रवृत्त हुआ, तभीसे 'वेद पौरुषेय है या अपौरुषेय' इसका विवाद चला आता है। ऐसी बातमें तो विवादकी कोई जगह नहीं होनी चाहिये थी; क्योंकि जो ग्रन्थ 'पौरुषेय' है, उसका रचयिता 'पुरुष' अवश्य ही ज्ञात रहता है। वेदके रचयिताका नाम कोई नहीं जानता। इससे इसे 'पौरुषेय' कहनेकी युक्ति ठीक नहीं हो सकती। 'ऐसे वाक्य-सन्दर्भ अपौरुषेय नहीं हो सकते', यह भी नहीं कहा जा सकता। मुण्डन-उपनयन-विवाह आदिके अवसरपर जो गीत गाये जाते हैं, उनका रचयिता कौन है, कोई कह सकता है ? चिर कालसे ये गीत चले आये हैं, इनका आरम्भ कब हुआ, कोई नहीं कह सकता। इसी तरह वेदमें जो वाक्य-सन्दर्भ है, उसका रचयिता कोई नहीं है, चिर कालसे वह इसी रूपसे चला आया है। जो स्थिति मिथिलामें प्रसिद्ध भगवतीके गीत- 'आनन्दरूप भवानी' का है, ठीक वैसी ही स्थिति मन्त्र---'अम्बे अम्बिके' का है। इन्हीं कारणोंसे वेदकी नित्यता या अपौरुषेयतामें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वेदाविर्भावपर मतवाद

विद्यावाचस्पति प० मधुसूदन ओझा
(दरबार—जयपुर, राजपूताना)

मीमांसक कहते हैं कि, वेद किसीके द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ है; क्योंकि वेद शब्दमय है और शब्द नित्य है। हाँ, ऋषियोंने इसे अवश्य देखा या पाया है; परन्तु बनाया नहीं। इस कारण वेद अकर्तृक, अपौरुषेय और नित्य है। सांख्यकारका कथन है कि, प्रकृतिके नियमानुसार जैसे सूर्य—चन्द्र, लता—गुल्म आदि उद्भूत हुए हैं, वैसे ही वेद भी हुआ है। इसके बनानेवाले नहीं ज्ञात होते, अतः यह अपौरुषेय है और स्वयमुत्पन्न है। हाँ, अनित्य अवश्य है। नवीन नैयायिक कहते हैं कि, जब वर्णों की ही नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती, तब सिलसिलेवार वर्णोंके समूहरूप पदोंको नित्य कैसे कहा जाय! वेद आदिपुरुष-निर्मित है; अतः पौरुषेय होकर भी अतुलनीय होनेके कारण अपौरुषेय है। महर्षियोंने इसे केवल देखा है। किन्तु प्राचीन नैयायिकोंका कहना है कि, लौकिक शब्दोंकी तरह ही वैदिक शब्द हैं। यद्यपि वेदके ये शब्द कूटस्थ नित्य नहीं हैं; तथापि प्रवाह-नित्य अवश्य हैं। आप्तका सर्वत्र प्रामाण्य होता है। जैसे आयुर्वेद आप्त है और उसका प्रत्यक्ष प्रामाण्य भी, वैसे ही वेदका भी; क्योंकि दोनोंके रचयिता आप्त महर्षि हैं। इसी कारण इनके विचारमें वेद पौरुषेय है। इसी मतसे मिलता-जुलता वैशेषिक शास्त्रका सिद्धान्त है कि, शब्दस्वरूप (जिसका पारायण होता है) वेद, तो अनित्य और पौरुषेय है; परन्तु अर्थरूपमें जो विद्याएँ निहित हैं, वे नित्य और अपौरुषेय हैं। वैयाकरण कैयट और पतञ्जलिको भी यही मत स्वीकार है। किन्तु नास्तिक और अँग्रेजी भाषा-भाषी लोग कहते हैं कि, वेद साधारण मनुष्योंके द्वारा बनाया गया है। वह प्राचीन है सही; पर साधारण-सा काव्य है। ब्राह्मण आदि जो उसे अपौरुषेय कहते हैं, वह केवल पूज्यता-बुद्धिसे या प्राचीनताके खयालसे।

दार्शनिकोंके ये छः मत प्रधान हैं। इन्हींके आधारपर और भी बहुतसे मत हैं। उन्हें भी क्रमशः पढ़िये—नित्य-सिद्ध वेद ईश्वरसे अभिन्न है; क्योंकि ईश्वर और वेद दोनों ब्रह्म हैं, दोनोंका वाचक ॐकार है और दोनोंसे ही जगत्‌की सृष्टि मानी जाती है। पर दूसरा सिद्धान्त है कि, वेद नित्य है; परन्तु ईश्वरके समान है। एक शब्द-ब्रह्म है, दूसरा पर-ब्रह्म। शब्द-ब्रह्मका विवर्त वेद है तथा पर-ब्रह्मका विवर्त अर्थ है, जो प्रतीयमान और प्रमेय है। दोनों अविनाशी हैं और अनादि भी। यह भी निर्द्धारित किया गया है कि, वेदके अनुसार ही सृष्टि होती है।

किसीका कहना है कि, वेद ईश्वरका निःश्वास है। मनुष्य जैसे साँस लेकर भी निःश्वासका निर्माता नहीं होता है, वैसे ही वेदका निर्माता ईश्वर भी नहीं है। इसीसे वेद अकर्तृक, नित्य और स्वयं प्रादुर्भूत है। कोई कहता है कि, ईश्वरीय कृपासे सृष्टि करनेके लिये नित्य वेदको सर्व-प्रथम ब्रह्माने पाया था। इसके लिये ब्रह्मा या हिरण्यगर्भको कुछ प्रयास

नहीं करना पड़ा था। वेदके अनुसार ही उन्होंने सृष्टि की। यहाँ दूसरा सिद्धान्त भी मिलता है कि, सृष्टिके पहले ब्रह्माने भले ही असीम वेद रचा हो; परन्तु आज हमें जो वेद उपलब्ध है, उसे, ईश्वरके अनुग्रहसे, महर्षियोंने पाया है। यह ईश्वर-प्रदत्त होनेके कारण अपौरुषेय है। लेकिन, एक दूसरा पक्ष कहता कि, नित्य-सिद्ध वेदको सर्व-प्रथम, अजपृश्नि ऋषिने, तपस्याके द्वारा, ईश्वरसे प्रसाद-रूपमें पाया है। कहीं यह भी मिलता है कि, इसे सर्व-प्रथम अथर्वाङ्गिराने पाया है। और, इस मतकी पुष्टिके लिये तो बहुत-से प्रमाण हैं कि, नित्य-सिद्ध वेद स्वयं ईश्वरका वाक्य है। ईश्वरने सृष्टिके आरम्भमें ही वेदको कहा है—"नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।"

ये विचार भी पुराणोंमें मिलते हैं कि, नित्य-सिद्ध वेद ब्रह्माका वाक्य है। जैसे पुराणोंके सम्प्रदाय-प्रवर्तक वेदव्यास हैं, रचयिता नहीं, वैसे ही ब्रह्माने केवल वैदिक सम्प्रदायको स्थिर किया है, वेदको बनाया नहीं है। कहीं यह भी देखा जाता है कि, नित्य वेदके सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषिगण हैं। ऋषियोंने वेदको समझकर बखाना है, बनाया नहीं है। यह भी जनश्रुति प्रचलित है कि, कोई भी खास ऋषि वेद-निर्माता नहीं है।

कई श्रुतियोंमें ऐसा वर्णन मिलता है कि, नित्य वेदके तात्पर्यानुसार ईश्वरने जगत्को बनाया है। प्रत्येक पदार्थ और जीव-जन्तु पूर्वकल्पके अनुकूल ही दूसरे कल्पमें बनाये जाते हैं। और तो क्या, ऋषि आदिके नाम तथा उनके ज्ञानतकमें पार्थक्य नहीं रहता। इसलिये वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जो अविनाशी है। वेदान्तियोंका कहना है कि, नित्य-सिद्ध वेदके शब्दोंसे ईश्वरने जगत्को बनाया है; यह सब कुछ शब्दोंसे ही बना है; शब्दोंसे ही अनेक रूपोंमें संनिविष्ट है, और, शब्दोंसे ही इसका पृथक्-पृथक् विभाग किया गया है।

वेदान्तके आचार्योंका कथन है कि, जैसे सोनेके समय लोग पहले दिनकी बातें भूल जाते हैं और जगनेपर जैसे उनके वे ज्ञान फिर स्फुरित होने लगते हैं, वैसे ही कल्पान्तके बाद ईश्वरको भी तिरोहित वेदका ज्ञान हो जाता है; परन्तु वेद ईश्वरका बनाया हुआ नहीं है।

पुराणोंमें एक मत यह भी है कि, वेद न ईश्वर है, न उसके समान है; क्योंकि ईश्वर नित्य, शरीरहीन और अनादि है और वेद प्रतिकल्पके आदिमें उसी प्रकार ईश्वरके द्वारा बनाया जाता है, जैसे और-और वस्तुएँ बनायी जाती हैं—'प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।" एक श्रुति ऐसी भी है—"स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृज्यत।" अर्थात् शब्द नित्य है और उन्हींसे ईश्वरने वेद और जगत्को बनाया। जैसे परमाणुओंकी नित्यता रहती हुई भी उनके संयोगसे बने बाग-बगीचे अनित्य हैं, उसी प्रकार वेदके वाक्य-विश्लेषण भी हैं। उपनिषदोंमें ऐसा भी मिलता है कि, वेद और जगत्को ईश्वरने अपनी इच्छाके अनुसार बनाया है। इन्हें बनाते समय ईश्वरमें सर्व-शक्तिमत्ता होनेके कारण उसे न नित्य शक्तिकी जरूरत पड़ी और न परमाणुओंकी। ईश्वरकृत अपौरुषेय पर्वतोंसे और समुद्रोंसे बहुतेरे स्तूप तथा सरोवर जैसे बनते हैं; वैसे ही वैदिक शब्दोंके संग्रहसे बहुतेरे पौरुषेय ग्रन्थ बने हैं।

अब श्रीमद्भागवतकी भी एक बात सुनिये—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।' यानी ईश्वरने वेदको बनाया और ब्रह्मा आदि ऋषियोंके द्वारा उसे प्रकाशित कराया; क्योंकि, ईश्वर तो निराकार है और किसी शरीरी विशेषके हृदयमें आये विना वेद लोकमें नहीं आ

सकता था। और भी सुनिये, ईश्वर दो प्रकारका है; एक निर्गुण और दूसरा सगुण। इसी सगुण ब्रह्मा या हिरण्यगर्भने वेद को बनाया है; यह मत महाभारतीय है। माननीय मणिकारका मत है कि, वेद मत्स्य भगवान्का वाक्य है।

श्रुतियोंमें ऐसा भी मिला है कि, प्रत्येक वस्तुके एक-एक अभिमानी देव होते हैं, जोकि शरीरधारी और चेतन हैं। इन्हीं देवोंमें अग्नि, वायु और सूर्य देवता हैं, जो कि साक्षात् ईश्वरके अवतार या ईश्वरीय विभूति हैं; ये ही वेदके रचयिता हैं। किन्तु यास्कके निरुक्त-परिशिष्टमें, एक जगह लिखा है कि, वेदोंकी उत्पत्ति खासकर सूर्यदेवसे हुई है। वायु और अग्निकी उत्पत्ति भी पीछे इन्हींसे हुई है। ये देवता ईश्वरकी प्रधान विभूति हैं; अतः इनके बनाये वेदको ईश्वर-का ही बनाया मानना चाहिये।

छान्दोग्योपनिषत् और ऐतरेय ब्राह्मणके अग्नि, वायु और सूर्यके अभिमानी चेतन देवोंसे नहीं, बल्कि अधिष्ठात्री देवतासे तीनों वेदोंकी उत्पत्ति हुई है; क्योंकि वेदमें इन्हें तीनों लोकोंका रस कहा गया है। यास्क-परिशिष्टके वचन-प्रमाणसे आकाशके देदीप्यमान सूर्य ही वेदके कारण हैं। अथर्व-संहिताकी एक ऋचासे यह भी सिद्ध होता है कि, अग्नि, वायु, सूर्य और वेद एक ही वस्तु है अर्थात् ये तीनों वेद-स्वरूप ही हैं। इनकी निन्दासे वेदकी निन्दा और वेदकी निन्दासे इनकी निन्दा होती है; किन्तु नारायणोपनिषत् बतलाती है कि, सारे वेदमें केवल एक सूर्यका ही तत्त्व निर्दिष्ट है; अतः सूर्यको ही वेद समझना चाहिये। जब ब्रह्माण्डमय सौर जगत्की विद्याका नाम ही वेद है, तब वह सूर्यसे कब पृथक् हो सकता है?

परन्तु पुरुषसूक्तके अनुसार वेदकी उत्पत्ति यज्ञ भगवान्से हुई है। कहीं ऐसा भी है कि, वेदमें केवल यज्ञकी ही चर्चा है; अतः यज्ञ ही वेद है और वेद ही यज्ञ है। ऋग्वेदीय एक ऋचाके अनुसार हम यह भी कह सकते है कि, यज्ञसे ही वेदकी उत्पत्ति हुई है, जिसे ऋषियोंने पाया और आम्नाय-भेदसे संसार-के कोने-कोनेमें प्रकट किया।

अथर्ववेदकी एक ऋचासे यह भी प्रमाणित होता है कि, काल चक्रसे प्रभावित होकर प्रजापतिसे लेकर सम्पूर्ण-जगत्-प्रपञ्च और वेदकी उत्पत्ति हुई है। शतपथ ब्राह्मण और कपिलका मत है कि,— सृष्टिके आदिमें वेद स्वयं उत्पन्न हुआ है; क्योंकि जिस वेदमें अलौकिक विद्याएं भरी पड़ी हैं, उसे कभी भी कोई मनुष्य नहीं बना सकता। जैसे समुद्र-पर्वतादि पदार्थोंका निर्माण मनुष्य-शक्तिके परे है, वैसे ही वेदकी रचना भी है। ईश्वर तो क्लेश, कर्म और विपाकाशयसे अपरामृष्ट (बे-लाग) है। सूर्य, चन्द्र, वेद आदि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। संसारमें तीन प्रकारके पदार्थ हैं; नित्य, प्रकृति-जात और पुरुष-जात। आकाश आदि नित्य, सूर्य आदि प्रकृतिजन्य और घट-पट आदि मनुष्य निर्मित है। यदि विराट् बुद्धिसे विचार किया जाय, तो सब प्रकृति-जन्य हैं; वेद भी निःसन्देह प्रकृति-सिद्ध पदार्थ है, जो सृष्टिके आदिमें द्युलोक आदिके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न हुआ है। जैसे तीन लोक हैं, वैसे ही तीन छन्दः, तीन स्तोम और तीन सवन भी हैं। प्रथमसे ऋक्, द्वितीयसे यजुः और तृतीयसे सामकी उत्पत्ति हुई है।

वेद महर्षियोंकी कृति है। इस विषयमें माधवाचार्य कहते हैं कि, अग्नि, वायु और सूर्य नामके तीन ऋषि थे, जिन्होंने वेदको बनाया है। श्रुतिके अनुसार पृश्नि नामक ऋषि इसके रचयिता हैं अथवा कहीं अथर्वाङ्गिरा ऋषि हैं। महाभारतमें एक जगह ऐसी

कथा भी मिलती है कि, वेद ऊर्ध्व-रेता ऋषियोंका वाक्य है। पहले गृहस्थ-ऋषियोंकी संख्या पचास हजार और आबाल ब्रह्मचारियोंकी अट्ठासी हजार थी। ये सांसारिक सुख-सामग्रीको छोड़कर तत्त्वानुसन्धानमें ही अहर्निश व्यस्त रहते थे। इन्हींकी कृपासे आज हम अद्भुत ग्रन्थ वेदको पाते हैं। कहीं मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, कश्यप और विश्वामित्रके वाक्य वेद हैं, ऐसा भी मिलता है। इनमें मत्स्यको छोड़कर बाकी सभी वेदोंके प्रवर्तक ये तो ख्यात वंश हैं। वेदोंमें इनकी चर्चा खास तरहसे है। लोक-परम्परा-व्यवहारसे हमलोग यह भी जानते हैं कि, वेद ऋषियोंके भिन्न-भिन्न आम्नाय-वचनोंसे संगृहीत हैं। ये आम्नाय-वचन सत्य हैं; क्योंकि इनकी सत्यताके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता। महाभारतसे कुछ पूर्व समयतक ये वचन, बड़ी सावधानीसे, संगृहीत हुए और संहिता-रूपमें लाये गये। एक मत यह भी है कि, वेदके नामसे इन दिनों संहिता और ब्राम्हण, दोनों अभिहित हैं। परन्तु संहिता-भागको ही वेद मानना चाहिये; क्योंकि वही ईश्वर प्रोक्त है और ब्राम्हण-ग्रन्थ तत्-तत् ऋषियोंके द्वारा बनाया गया है। यह मत शास्त्र-सिद्ध नहीं है; इसके पोषक कोई जबर्दस्त प्रमाण भी नहीं है।

एक मत यह भी है कि, वेद पुरोहितोंके वाक्योंका संग्रह है। सुप्रबन्ध करनेके लिये, कार्य-विभाग करनेके लिये, वेद बना है। इसी तरह और भी अनेकानेक मत हैं।

इन सब मतोंके ऊपर श्रुति-स्मृति, और पुराण-इतिहास आदिके पर्याप्त प्रमाण हैं, जो केवल विस्तार-भयसे ही छोड़ दिये गये हैं।

वेद

विश्वके ऐ आदिम इतिहास,
स्वर्णयुगके ऐ नित्य प्रकाश!
सुरक्षित तुममें संचित है,
हृदयका सबसे प्रथम विकाश ॥१॥

राग-अनुराग, द्वेष-विद्वेष
और भय-विस्मयके ये भाव!
तुम्हींसे ज्ञात हमें होते
सृष्टिके पहले भावाभाव ॥२॥

प्रकृतिके रूप देव-आराध्य,
अग्नि, सविता, मारुत या वरुण;
इन्द्र, अश्विन्, ऊषा या सोम;
तुम्हारी स्तुतियाँ सुनते. अरुण ॥३

अन्न, गौ या अश्वोंकी प्राप्ति
विभव--बल-विद्या-बुद्धि-विकाश
दूर देशोंमें झंझा बहे,
प्रार्थना या हो रिपुका नाश ॥४॥

पापक, क्षमा, दयाकी भीख,
सोम दो हमें शक्ति-भाण्डार;
अग्नि दो हटा वरुणका कोप,
प्रार्थनाएँ ये विविध प्रकार ॥५॥

प्रार्थना विद्युत्से हो लोप,
वनस्पति करें प्रेम उत्पन्न।
अग्नि कर दे मायाका नाश,
शाप या कर दे छिन्न विछिन्न ॥६॥

रहे नूतन गृह रक्षित सदा,
मंत्रसे रोग दूर भागें,
युद्धमें शत्रु-शीस कट गिरे,
और सौभाग्य सदा जागे ॥७॥

विश्वके ऐ आदिम इतिहास!
स्वर्ण-युगके हे नित्य प्रकाश।
सुरक्षित तुममें संचित है
हृदयका सबसे प्रथम विकाश ।८।

---बा० बालकृष्ण बलदुवा बी० ए०

वेद और विदेशी विद्वान्

डा० हरदत्त शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०

(प्रोफेसर, सनातनधर्म कालेज, कानपुर)

सन् १८२२ में जर्मनीके सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा संस्कृतभाषाके सबसे पहले जर्मन प्रोफेसर August Wilhelm von Schlegel ने संस्कृत-साहित्यके विषयमें जो कहा है, वह अक्षरशः ठीक उतरा है। उन्होंने लिखा है—"क्या अंग्रेज लोग भारतीय साहित्यके अनन्यसाधारण अधिकारका अभिमान कर सकते हैं? अब यह सम्भव नहीं है। दालचीनी और लौंग भले ही वह रख लें; किन्तु भारतवर्षके विचाररूपी रत्न समस्त शिक्षित संसारकी पूंजी हैं।" क्या ही उच्च विचार हैं! दुःखकी बात तो यह है कि, हम लोग न केवल दालचीनी तथा लौंग ही गँवा बैठे; अपितु इन विचार-रत्नोंको भी ऐसे भूल बैठे कि, पता ही नहीं चला कि, कब हमारे रत्न हमारे हाथोंसे निकल गये! भारतवर्षके गेहूँ यहाँसे विदेश जाकर वहाँसे डब्बोंमें भर-भर कर फिर हमारे ही खानेके लिये जिस प्रकार आते हैं, उसी प्रकार हमारी विद्या, हमारा ज्ञान यहाँसे जाकर फिर विदेशी ग्रन्थोंमें भर-भर कर हमारे पाठ्यग्रन्थ तथा मान्य विचार होकर लौटते हैं। विश्वविद्यालयोंमें, कालेजोंमें तथा स्कूलोंमें, जहाँ देखिये, वहीं, विदेशी ग्रन्थ ही पाठ्यक्रममें नियत मिलते है। निम्नलिखित पंक्तियोंसे पाठकोंको भली भाँति विदित हो जायगा कि, विदेशियोंने कुल १२५ वर्षके अन्दर एक ही विषयपर कितना विचार तथा सूक्ष्म विवेचन कर डाला है।

अठारहवीं शताब्दीके मध्यकालमें एक फ्रांसीसी ईसाईने लैटिनमें Ezour Vedam नामक ग्रन्थ लिखा, जो कि, बादमें, एक कल्पित सिद्ध हुआ। किन्तु इसीके आधारपर सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् Voltaire ने ब्राह्मणोंके ज्ञानकी प्रशंसा "Essai sur les Moers et l' Esport des Nations" नामक लेखमें की। वेदके सम्बन्धमें सबसे पहला आभास Colebrooke नामक अंग्रेज विद्वान्के "Religious Ceremonies of the Hindus" (7th Volume of the Asiatic Researches, 1801) लेखमें पश्चिमको मिला है। इस लेखमें Colebrooke ने प्रसंगतः वेदांग, ज्योतिष् तथा वैदिक-काल-निर्णयका उल्लेख किया है। किन्तु वेद सम्बन्धी निश्चयात्मक विवरण Colebrooke के "Essay on the Vedas" (8th Volume of the Asiatic Researches, 1805) नामक लेखसे पश्चिमको प्राप्त हुआ।

किन्तु उस लेखको पढ़नेसे यह प्रतीत होता है कि, Colebrooke को वेदका महत्त्व नहीं समझ पड़ा। अपने लेखके अन्तमें उसने लिखा है—"वेदोंका इतना विस्तार है कि, उनका सम्पूर्ण अनुवाद करनेकी चेष्टा व्यर्थ ही है और उनके अध्ययनसे अनुवादकका क्या, पढ़नेवालेका भी परिश्रम सफल

नहीं हो सकता! उनकी भाषा अत्यन्त प्राचीन तथा दुरूह है। तथापि प्रशंगवश उनका अवलोकन संस्कृतके विद्वानोंको अवश्य करना चाहिये।' किन्तु इससे पाश्चात्य विद्वान् विगतोत्साह नहीं हुए और जर्मन विद्वान् Friedrich Rosen ने, कुछ हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर, ऋग्वेदके प्रथम अष्टकको छापनेका उद्यम किया। दुर्दैववश पुस्तकके छपनेसे पहले ही इसको कराल कालने अपना कवल बना डाला और यह पुस्तक उसकी मृत्युके एक वर्ष बाद, १८३८ में, लैटिन अनुवादके सहित "Rigveda Samhita liber primus, Sanskrite it latine" नामसे छपी। छपते ही इस पुस्तकने हलचल मचा दी। इस ग्रन्थके आधारपर पश्चिममें जो चर्चा हुई, उसका परिणाम Max Muller कृत ऋग्वेदका संस्करण हुआ। इसकी कथा, मैं Max Muller के ही शब्दोंमें उद्धृत करता हूँ।

"सन् १८४१ में, जब मैं College de France में प्रोफेसर Eugene Burnouf के पास पढ़ता था, तब मेरे चित्तमें विस्तृत भाष्यके सहित ऋग्वेदको छापनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। मुझको अब भी उन उत्सुक विद्यार्थियोंके मुख-मण्डलका स्मरण हो आता है, जो उस मेजको घेरकर बैठा करते थे, जिसपर प्रोफेसर Burnouf अपनी अनुपम प्रतिभा, अगाध ज्ञान तथा अतुलनीय उत्साहसे पढ़ाया करते थे। उन विद्यार्थियोंमेंसे बहुतसे आज वेदके सुप्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। मैं उनमेंसे कुछके नाम उद्धृत करता हूँ Dr. Goldstucker और Abbate Bardelli,—जो अब इस संसारमें नहीं हैं—Gorresis, Neve तथा Rudolph Roth, उन विद्यार्थियोंमें सबसे छोटा मैं ही था और यद्यपि मैं हितोपदेशका अनुवाद कर चुका था; तथापि मेरा संस्कृत-साहित्यका ज्ञान कालिदास, महाकाव्य, दर्शन तथा उपनिषदोंतक ही परिमित था। मैंने Schelling के लिये कुछ उपनिषदोंका अनुवाद किया था और मेरा विचार उपनिषदोंपर ही विशेष कार्य करनेका था। परन्तु जब मैंने Burnouf को यह कहते सुना कि, वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मणोंकी अपेक्षा उपनिषदोंका महत्त्व बहुत थोड़ा है, तब मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। Burnouf, उस समय, Friedrich Rosen के लिखे हुए ऋग्वेदके प्रथमाष्टकको पढ़ा रहे थे। मेरे पास अब भी उनके लेक्चरोंके नोट मौजूद हैं। मैंने उस समय सायण-भाष्यके अंशोंको भी उद्धृत किया तथा निरुक्त और उसकी टीकाके कुछ भागोंको भी लिख डाला। ये ग्रन्थ यूरोपमें उस समय उपलब्ध न थे। कुछ समयके अनन्तर Burnouf ने वेदकी अपनी प्रति मुझको दी और उसको लिख डालनेके लिये प्रोत्साहित किया। बहुत निराशा तथा हृदय-दौर्बल्यसे कई बार आक्रान्त होनेपर भी मैंने उद्यमको नहीं छोड़ा। इसलिये मैं इंगलैण्ड गया और बहुतसी कठिनाइयोंके अनन्तर मैंने East-India House के पुस्तकालयमें प्रवेश किया। यहाँ मैंने न केवल ऋग्वेदकी तथा सायण-भाष्यकी हस्तलिपियाँ पायीं, अपितु और जो अत्यन्त आवश्यक ग्रन्थ थे, उनकी भी हस्तलिपियाँ यहाँ देखीं। यहाँ मैंने कार्य-प्रारम्भ किया और East-India Company का आश्रय पाकर पहला भाग, १८४९ में, छापा।" (Preface to the Sixth Volume of the first Edition of the Rig veda, Oxford 14 September, 1874.) सन् १८७४ तक सम्पूर्ण ऋग्वेद, सायण-भाष्य-सहित, छपकर तैयार हो गया।

इस ऋग्वेदके संस्करणके समाप्त होनेके पूर्व

है। एक और जर्मन दिग्गज विद्वानने ऋग्वेद छापा। इनका नाम है Theodor Aufrecht, यह ऋग्वेद रोमनलिपिमें १८६१—१८६३ पहली बार छपा और इसका दूसरा संस्करण १८७७ में Bonn से निकाला गया। इधर भारतवर्षमें भी बम्बईमें Max Muller के संस्करणकी एक प्रतिलिपि छापी गयी। इसपर Max Muller ने अभियोग चलाया; और, तब उसके टाइटिल पेजपर Max Muller का नाम छापा गया। लगभग १८९१ में बम्बईके प० राजाराम शास्त्री बोड़स तथा प० शिवराम शास्त्री गोरे नामक दो प्रसिद्ध वैदज्ञाने सायणभाष्य-सहित ऋग्वेदका संस्करण निकाला। Max Muller ने ऋग्वेदके द्वितीय संस्करणकी भूमिकामें उक्त शास्त्री महोदयोंके संस्करणकी प्रशंसा की है। इस संस्करणमें Dr. M. Winternitz (अब प्रोफेसर) ने Max Mullar की बड़ी सहायता की। बम्बईके संस्करण की तुलनात्मक समालोचना Dr. Winternitz Journal of the Royal Asiatic Society (Vol. XXIII, P. 173-182) में की है तथा सब पाठ-भेदोंकी सूची Max Muller के संस्करणमे दी है। Max Muller का द्वितीय संस्करण १८९२ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करणमें जो हस्तलिखित प्रतियाँ नयी मिलीं, उन सबका पाठभेद समाविष्ट है। द्वितीय संस्करणके छपनेके समय Elphinstone College, बम्बई, के संस्कृताध्यापक Peter Peterson ने भी "Hymns from the Rigveda" नामक कुछ सूक्तोंका संग्रह सायण-भाष्य, अंग्रेजी अनुवाद तथा अपनी व्याख्या-सहित, १८८८ में छपाया। इस पुस्तकका द्वितीय संस्करण १८९७ में छपा। स्वर्गीय श्रीयुत एस० आर० भाण्डारकरने इसी पुस्तकका संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण १९०५ में छापा। अस्मत्पूज्यपाद आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव (Pro-Vice-Chancellor, Benares Hindu University) ने, जो उस समय गुजरात कालेज, अहमदाबादमें संस्कृतके अध्यापक थे, १९१७ में Peterson की पुस्तकका और भी संशोधित तथा संवर्द्धित संस्करण छापा। यह ग्रन्थ बहुत-से विश्वविद्यालयोंमें एम०ए० के लिये पाठ्य-पुस्तक नियत है। यहाँपर एक और भारतीय उद्योगका उल्लेख करना उचित है। स्वर्गीय पण्डितवर श्रीशङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डितने आधुनिक रीतिसे वेदके ऊपर भाष्य करनेका प्रयत्न किया था। उन्होंने मराठी तथा अंग्रेजी अनुवाद-सहित अपनी 'वेदार्थयत्न' नामक ऋग्वेद-व्याख्याका प्रकाशन करना प्रारम्भ किया। परन्तु तीसरा मण्डल समाप्त होनेपर कराल कालने उन्हें धर दबाया और वे इस संसारसे चल बसे। अभाग्यवश उनका यह ग्रन्थ अबतक भी अपूर्ण है और किसी भी विद्वानने अभी इस कार्यको अपने हाथमें नहीं लिया है।

ऋग्वेदके खिल सूक्तोंका भी पृथक् संस्करण तथा प्रकाशन हो चुका है। इसके प्रकाशक जर्मन-विद्वान I. Scheftelowitz हैं, जिनका ग्रन्थ Die Apokryphen des Rigveda, १९०७ में, Breslau से प्रकाशित हुआ है।

ऋग्वेदका विदेशी भाषाओंमें अनुवाद बहुत प्राचीन कालमें प्रारम्भ हो चुका था। सन १८५० से पूर्व ही Rev. Dr. Stevenson तथा Dr. Roer ने प्रथम अष्टकके कुछ अंशोंका अनुवाद कलकत्तेसे छपाया। १८३८ में प्रथम अष्टक सम्पूर्णतया लैटिन अनुवाद-सहित Dr. F. Rosen ने प्रकाशित किया। ऋग्वेदका फ्रांसीसी भाषामें अनुवाद

M Langlois ने किया। किन्तु अंग्रेजीमें सम्पूर्ण ऋग्वेदका अनुवाद सबसे पहले Professor H. H. Wilson ने १८५० में प्रकाशित किया। Dr. Rosen का अनुवाद अक्षरशः वैदिक मन्त्रोंका अनुसरण करता है। उसमें भावार्थ तथा व्याख्याका अभाव है। M. Langlois का अनुवाद (Livre des hymnes. 4 Vols, Paris, 1848-51) बिलकुल इसके विपरीत है। उन्होंने कठिन-कठिन वैदिक अंशोंका सरल तथा प्रसादगुण-युक्त भाषामें अनुवाद किया है। परन्तु उसमें दोष यह है कि, उन्होंने स्थान-स्थानपर मूलपाठका आशय छोड़ दिया है। M. Langlois ने वेदका अनुवाद, हस्तलिखित प्रतियोंसे किया है। उनके सामने छपी हुई वेदकी पुस्तक न थी। अतः उनका कार्य निश्चय ही प्रशंसनीय है; किन्तु दोष उसमें, जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है, मूलपाठका अतिक्रमण करना है। Professor Wilson का अनुवाद बहुत कुछ सायणभाष्यका अनुसरण करता है। Wilson सायणके बड़े पक्षपाती थे और उनका यह सिद्धान्त था कि, वेद जिनका ग्रन्थ है, वे ही भारतवासी उसका ठीक-ठीक अर्थ प्रतिपादित कर सकते हैं। किन्तु कुछ विद्वानोंने इस सिद्धान्तको नहीं माना। जर्मनविद्वान् Rudolf Roth तथा उनके अनुयायियोंका यह कथन है कि, सायण वेद-निर्माण कालसे कम-से-कम २००० वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ था। तब वह वेदोंके अर्थको कैसे ठीक-ठीक समझ सकता है? उसकी अपेक्षा तो, यूरोपीय विद्वान् ही ठीक अर्थ कर सकते हैं; क्योंकि यूरोपीय विद्वानोंको तुलनात्मक भाषा-शास्त्रका ज्ञान है। अतः ऐतिहासिक रीतिसे, प्रत्येक शब्दका, जहाँ-जहाँ वह ऋग्वेदमें आया है, वहाँ-वहाँ, प्रसंगवश, क्या-क्या, अर्थ हो सकता है, इस प्रकारकी विवेचनात्मक सरणिसे वेदका जो अर्थ किया जायगा, वह सायणकी अपेक्षा अधिक मान्य होगा। इसी दृष्टिकोणको सामने रखते हुए H. Grassmann नामक Roth के शिष्यने, २ खंडोंमें, सम्पूर्ण ऋग्वेदका छन्दोबद्ध अनुवाद, १८७६-७७ में, Leipzig से प्रकाशित किया। सायणके ऊपर पक्षपात करनेवाले एक और भी फ्रांसीसी विद्वान् हो चुके हैं। इनका नाम M. Ad. Regnier है। इन्होंने "Etude sur l'idiome des Vedas et les origines de la Langue Sanscrite" नामक अपने ग्रन्थमें सायणसे किस प्रकारकी सहायता लेनी चाहिये, इसका प्रतिपादन किया है तथा संस्कृत-भाषाका किस प्रकार उद्गम हुआ, इसका विवेचन किया है। इस ग्रन्थका प्रथम भाग, १८५५ में, Paris में छपा है। इधर Roth के सिद्धान्तानुयायी Karl Geldner तथा Adolf Kaegi ने ७० सूक्तोंका अनुवाद Tubingen से, १८७५ में, प्रकाशित किया (Siebenzig Lieder des Rgveda, uebersetzt von Karl Geldner and Adolf Kaegi, Mit Beitragen von R. Roth)।

Roth की सरणि सर्वथा दोष-शून्य नहीं है। हमें भारतवासियोंकी विचार-सरणिको बिलकुल ही हीन न समझना चाहिये। उनकी परम्परा-प्राप्त विचार-धारा अविच्छिन्न है; अतः सायण इत्यादिके अर्थोंको भी पूर्णतया देख लेना चाहिये। जहाँ हम उससे सहमत हों, वहाँ उसके अर्थोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकारकी दृष्टि रखनेवाले विद्वानोंका एक नया मार्ग चला। इस मध्यम मार्गके सबसे बड़े प्रतिनिधि Alfred Ludwig नामक जर्मन विद्वान् हुए हैं। ये Prague की

जर्मन यूनिवर्सिटीके संस्कृतके अध्यापक थे। इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदका जर्मन-भाषामें अनुवाद किया है तथा बड़ी विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। यह अनुवाद तथा भाष्य, ६ खंडोंमें, १८७६-१८८८ में, Prague से छपा है। सम्पूर्ण ऋग्वेदका अंग्रेजीमें छन्दोबद्ध अनुवाद, काशीके Govt. Sanskrit College के प्रोफेसर R. T. H. Griffith ने भी, १८८९-९२ में, प्रकाशित किया है। ऋग्वेदके भागोंका अनुवाद तो, बहुतसे विद्वानोंने किया है। नीचे उनके ग्रन्थोंकी सूची दी जाती है—

Vedic Hymns. By Max Muller, Sacred Books of the East Series, Vol 32. अंग्रेजीमें।

Vedic Hymns. By H. Oldenberg; Sacred Books of the East series, Vol 46. अंग्रेजीमें।

Religionsgeschichtliches Lesebuch में Geldner कृत जर्मनभाषामें अनुवाद। Tubringen, 1908.

Lieder des Rgveda by A. Hillebrandt, Gottingen, 1913. जर्मनमें।

A Vedic Reader for Students by A. A. Macodenell; Oxford, 1917, अंग्रेजीमें।

Hymns from the Rgveda (Heritage of India Series) by A. A. Macdonell. अंग्रेजीमें

Vedic Hymns (Wisdom of the East Series) by E J. Thomas. London 1923. अंग्रेजीमें

प्रोफेसर Geldner ने सम्पूर्ण ऋग्वेदका जर्मन भाषामें एक नया अनुवाद करना प्रारम्भ किया था। इसका पहला भाग Quellender Religions geschichte नामक ग्रन्थावलिमें, १९२३ में, Gottingen से प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर Geldner ने Vedismus and Brahmanismus (वैदिक धर्म तथा ब्राह्मण-धर्म) नामका एक और ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ प्रोफेसर Geldner की मृत्युके कुछ ही महीने पहले प्रकाशित हुआ है। प्रोफेसर साहबने ९ फरवरी, १९२९ में, मारबुर्गमें इस नश्वर शरीरका त्याग कर दिया। शोक है कि, उनका कार्य अधूरा ही रह गया।

संस्कृत-साहित्य, विशेषकर वैदिक साहित्यके अध्ययनका फल एक यह भी हुआ कि, Rudolph Roth तथा Otto Bohtlingk नामक जर्मन विद्वानोंने मिलकर संस्कृत तथा वैदिक साहित्यका एक वृहत्कोष तैयार किया। Sanskrit Worterbuch या St. Petersburg Dictionary नामक इस कोषका पहला भाग, १८५२ में, Petersburg से छपा और शेष ६ भाग भी १८७५ तक छपकर प्रकाशित हो गये। यह जर्मन-परिश्रम तथा विद्वत्ताका एक अद्वितीय नमूना है। इसमें वेदसे लेकर काव्य-साहित्यतक जितने भी शब्द आये हैं, केवल उनका अर्थ ही नहीं दिया गया है; अपितु उन स्थलोंको भी उद्धृत किया गया है, जहाँ उन शब्दोंका प्रयोग हुआ है। Grassmann नामक जर्मन विद्वानने ऋग्वेदका एक कोष तैयार किया। इस Worterbuch zum Rigveda (Leipzig, 1873-1875) में ऋग्वेदके प्रत्येक शब्दका अर्थ तथा जिस-जिस मण्डलमें उसका उपयोग हुआ है, उसका उल्लेख तथा ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ भी वह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उन

सब स्थलोंका भी उद्धरण किया है। A. kaegi नामक जर्मन विद्वान्ने भी ऋग्वेदके महत्त्वयुक्त प्रश्नोंपर The Rigveda, the oldest literature of the Indians (अंग्रेजी अनुवादकर्ता, Arrowsmith, Boston, 1886) नामक ग्रन्थमें विचार किया है। Pischel और Geldner, दो जर्मन विद्वानोंने मिलकर ऋग्वेदकी खूब छानबीन की है। प्रत्येक शब्दका अर्थ तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंसे उसका इतिहास खोजकर निकाला है। इनका ग्रन्थ Vedische Studien, जो कि, जर्मन भाषामें लिखा है, तीन बड़े-बड़े खण्डोंमें प्रकाशित हुआ है (Stuttgart, 1889–1901); किन्तु जर्मनीके सुप्रसिद्ध विद्वान Hermann Oldenberg ने तो वैदिक समालोचनाकी पराकाष्ठा कर डाली है। इन्होंने Metrische und textgeschichtliche Prolegomena (Berlin, 1888) नामक ग्रन्थमें छन्द तथा मूलपाठका इतिहास, इन दो विषयोंका विस्तृत विवेचन किया है। इनका ऋग्वेदपर भाष्य अद्वितीय है तथा यूरोपमें अबतक सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यह भाष्य Rigveda, Textkritische und exegetische Noten नामसे दो भागोंमें छपा है (I—VI, Berlin 1909; VII-X, Berlin 1912)। वैदिक विवेचनमें इनका उतना ही मान है, जितना कि, वेदान्तमें शङ्कराचार्यका।

ऋग्वेदके अंश-विशेषको लेकर उनपर व्याख्या करनेवाले बहुतसे विद्वान् हो गये हैं। वेदोंका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नका विवरण Geldner ने Der Rigveda in Auswahl, I Glossar, II kommentar, Stuttgart, 1907-1909 ग्रन्थमें तथा Zeitschrift der Morgenlandische Gesellschaft नामक पत्रिका (Vol 71, 1917, पृ० ३१५ इत्यादि) में किया है। इसी विषयको लेकर निम्न लिखित विद्वानोंके लेख भी उल्लेख योग्य हैं—Bloomfield Journal of the American Oriental Society, Vol. 27, 1906, पृ० ७२ इत्यादि।

E. W. Fray—J. A. O. S. Vol. 27, 1906, पृ० ४०३ इत्यादि

A. B Keith—Journal of the Royal Asiatic Society, 1910, पृ० ६२१ इत्यादि।

M. Bloomfield नामक अमेरिकन विद्वान्ने ११०२ पृष्ठोंकी Vedic Concordance (Harvard Oriental Series, Vol. 10, Baltimore, 1906) नामक एक बृहत् वैदिक सूची तैयार की, जिसमें चारों वेदोंके प्रत्येक मन्त्रकी प्रतीक दी है तथा उनके पाठ-भेद भी दिये हैं। इन्हीं महाशयने एक और ग्रन्थ तैयार किया है। इसका नाम है Rigveda Repetitions (Vols. 20 and 24. Harvard Oriental Series, 1916)। इस ग्रन्थमें जितने वैदिक मन्त्र या मन्त्र-भाग एक बारसे अधिक आये हैं, उनकी सूची तथा उनपर तुलनात्मक टिप्पणी भी है।

ऋग्वेद-कालीन सामाजिक अवस्थापर H. Zimmer नामक जर्मन विद्वान्का Altindisches Leben (Berlin, 1879) नामक ग्रन्थ-विशेष आदरके साथ उल्लेख करने योग्य है। H. Brunhofer नामक जर्मन विद्वान् तो वेदसे इतने प्रभावित हुए कि, उन्होंने Ueber den Geist der indischen Lyrik (Leipzig, 1882) नामक लेखमें वैदिक कवियोंकी कविताकी उपमा भारद्वाजपक्षी (Lark) के उषा-कालके गायनसे दी है।

Macdonell तथा उनके शिष्य Keith, इन

दोनों अंग्रेज विद्वानोंने "Vedic Index" (2 Vols, 1912) नामक एक बड़ी महत्त्वपूर्ण सूची बनायी है। इसमें प्रत्येक कठिन शब्दका अर्थ दिया है और जितने देवताओंके अथवा स्थानोंके नाम हैं, उन सबका पूर्ण विवरण दिया है। वैदिक गवेषणाके लिये यह भी एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है।

किन्तु वैदिक साहित्यके अनुशीलनसे जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, वह दो नये शास्त्रोंका आविष्कार—Comparative Philology अर्थात् तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा Comparative Mythology अर्थात् तुलनात्मक देवता विज्ञान है। तुलनात्मक देवता-शास्त्र-विज्ञानपर सबसे मार्केका ग्रन्थ A. Hillebrandt का "Vedische Mythologie" (3 Volumes, Breslau, 1891-1902) है। वैदिक ग्रन्थोंसे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि, किस प्रकार प्राकृतिक शक्तियाँ (अग्नि, जल, वायु इत्यादि) देवता-स्वरूपमें परिणत हो गयीं। इसी विषयपर फ्रेंच विद्वान् L. de la Vallee Poussin का La Vedisme (Paris, 1909) नामक ग्रन्थ है। Keith ने भी इनके मतका J. R. A. S. (1909, पृ० ४६९ इत्यादि) के एक लेखमें समर्थन किया है। Macdonell ने देवता-शास्त्रपर बहुत पहले ही अंग्रेजीमें Vedic Mythology (Strassburg, 1897) नामक ग्रन्थ लिख डाला है। निम्न लिखित विद्वानोंके ग्रन्थ भी इसी विषयका या इसके किसी अंश-विशेषका प्रतिपादन करते हैं—

E. Arbmann—Rudrawntersuchungen zum altindischen Glauben und Kultus, Uppsala, 1922. जर्मनमें।

E. Meyer का लेख, जो Sitzungsberichte erd k. preussischen Akademie der Wissenshaften, 1908. जर्मनमें छपा है।

Oldenberg का लेख, जो J. R. A. S. 1909 में अंग्रेजीमें छपा है।

Sten Konow—The Aryan Gods of the Mitani People, Kristiana, 1921. अंग्रेजीमें।

वैदिक धर्मपर लिखनेवाले विद्वानोंकी संख्या अधिक है। इन सबमें अत्यन्त उच्च कोटिका ग्रन्थ Hermann Oldenberg का Religion des Veda (Berlin, 1894) जर्मनमें है। कुछ लेखकोंने तो ऐतिहासिक तथा गवेषणात्मक दृष्टिसे इस प्रश्नपर विचार किया है; परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने ईसाई धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन ही अपना उद्देश रखा है। पहली श्रेणीमें उपर्युक्त Oldenberg तथा निम्न लिखित विद्वान् हैं—

Abel Bergaigne—La religion vedique dapres les hymnes du Rgveda. 3 Vols, Paris, 1878-83. फ्रेंचमें।

Bloomfield—The Religion of the Veda, Newyork, 1908 अंग्रेजीमें।

Auguste Bartu—The Religions of India (अंग्रेजी अनुवाद) Boston, 1882. अंग्रेजीमें।

Paul Deussen Allgemeine Geschichte der Philosophie, Voel, pt. 1., Philosophie des Veda, Leipzig, 1894. जर्मनमें।

E. Hardy—Die Vedische-brahmanische Periode der Religion des alten Indiens, Munster, i. w. 1893. जर्मनमें।

E. W. Hobkins—The Religions of India, Boston, 1895. अंग्रेजीमें।

L. Von Schroeder—Mysterium und Mimus in Rigveda, Leipzig, 1908. जर्मनमें।

H. W. Wallis—Cosmology of the Rigveda, London, 1887. अंग्रेजीमें।

L. Schermann—Philosophische Hymnen aus der Rig—und Atharva-Veda-Sanhita, Strassburg, 1887. जर्मनमें।

W. Caland—Die altindischen Toten-und Bestattungsgebrauche, Amsterdam, 1896. जर्मनमें।

प्रोफेसर Keith ने, १९२५ में, Harvard Oriental series में The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads (2 Vols. 716 pages) नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपाया है। वैदिक धर्मपर अबतक जितनी गवेषणाएँ हो चुकी हैं, उन सबका संग्रह तथा साधक-बाधक प्रमाणों सहित अपने पक्षका समर्थन किया है। इसी विषयपर भारतीय विद्वान् V. K. Rajwade का लेख भी (Proceedings of the Indian Oriental Conference, II, pp I ff) देखने योग्य है। सन् १९२६ की Oriental Conference की इलाहाबादवाली बैठकमें श्रीक्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्यायजीने Indra in the Rigveda and the Avesta and Before नामक जो लेख पढ़ा था, वह भी उपादेय है। लाहोरवाली १९२८ की बैठकमें वैदिक विभागमें जो-जो लेख पढ़े गये हैं (देखिये प्रथम खण्ड—Proceedings of the Fifth Oriental Conference), वे भी यहाँ उल्लेख-योग्य हैं।

पक्षपातपूर्ण वैदिक धर्मका प्रतिपादन करनेवाले विद्वानोंके नाम तथा उनके ग्रन्थोंकी सूची नीचे दी जाती है। इनमें Weber तथा Macdonell के शिष्य H. D. Griswold ने जो The Religion of the Rigveda (Mangalore, 1923) नामक अपने ग्रन्थमें अन्तिम वाक्य लिखे हैं, उनसे इन मिशनरियोंके दृष्टिकोणका पता चल जाता है—

If the hymns to Varuna proclaim real truth, then the teaching and the death of Jesus exhibit to the whole world the full truth on these mighty themes. In the light of the Cross, in the most touching scene in the whole world's history, we may repair the disaster of the tragedy of Varuna—can India, then, afford to do without the crucified Jesus? (पृ० ३७४-५)

जिस समय विद्वत्तापूर्ण गवेषणामें पक्षपातकी गन्ध आ जाती है, उस समय वह उपादेयके स्थानमें हेय हो जाती है। Griswold महोदयका ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रम तथा योग्यताका परिचायक है; किन्तु 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।' इस श्रेणीके ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

J. N. Farquhar—Crown of Hinduism, London, 1915.

„ Modern Religious Movements in India, Newyork, 1915.

„ Primer of Hinduism. London, 1912.

„ Outline of the Religious Literature of India, London, 1920.

Mrs. Sinclair Stevenson—Rites of the Twice-born, London, 1920.

R. V. Clayton—Rigveda and Vedic Religion, Madras, 1913.

Griswold—God Varuna in the Rigveda, Ithaca, 1910.

ऋग्वेदमें लगभग २० सूक्त ऐसे मिलते हैं, जिनमें संवाद पाया जाता है। Oldenberg ने इनका आख्यान सूक्त नाम दिया है (देखिये Das altindische Akhyana, Z. D M. G. 37, 54 ff. तथा Akhyanahymnen in Rigveda, Z. D. M. G. 39, 52 ff) । इन महोदयका यह मत है कि, ऋग्वेदमें जो ये संवाद या आख्यान-सूक्त आते हैं, प्राचीनकालमें गद्य-पद्य-मिश्रित थे। संवाद-कर्तृगण अपने इच्छानुसार गद्यका समावेश कर सकते थे; किन्तु पद्य निश्चित रहते थे। ऋग्वेद सब छन्दोबद्ध है, अतः गद्यभाग उसमें नहीं दिया गया है—इस सम्प्रदायका बहुत दिनोंतक बोलबाला रहा। किन्तु कुछ दिनोंसे Oldenberg के विरोधी भी उठ खड़े हुए हैं। Sylvain Levi नामक फ्रेंच विद्वान् इन सूक्तोंमें नाटकका पूर्वरूप मानते हैं (देखिये Le Theatre Indian, Paris, 1890, पृ० ३०१ इत्यादि)। Joh. Hertel ने भी अपने Indische Marchen (Jena, 1921) नामक ग्रन्थमें इस मतका पोषण किया है; किन्तु कुछ विद्वान् इन सूक्तोंको गेय काव्य मानते है। इस मतके प्रधान पोषकोंमें निम्नलिखित विद्वान् हैं—

Auguste Barth—Revue de l'histoire des Religious, Paris. 19, 1899. 130 f. फ्रेंचमें।

Auguste Barth Oeuvres, II, 5 f.

J. Charpentier—Die Suparuasage, Uppsala, 1920. जर्मनमें।

E. Sieg—Die Sageustoffe des Rigveda und die indische Itihasatradition, Stuttgart, 1902. जर्मनमें।

K. F. Geldner—Die indische Balladendichtung, Festscheift der Universitat Marburg, 1913. जर्मनमें।

M. Winternitz—Ancient Indian Ballad Poetry—published in Some Problems of Indian literature, Calcutta, 1925. अंग्रेजीमें।

यहाँपर श्येनाख्यान तथा सोमरसके विषयमें एक रूसी विद्वान्का ग्रन्थ भी उल्लेख योग्य है—D. Kulikovskij—Razbor Vedijskago Mua O sokole; Prinessem Cvetok Somy, Moskau, 1882. सोमरस तथा बल्लीपर भारतीय विद्वान् श्रीयुत व्रजलाल मुकर्जीका "The Soma plant" (Calcutta, 1922) नामक ग्रन्थ भी उपादेय है।

वैदिक छन्द तथा व्याकरणपर जो अबतक कार्य हुआ है, उसमें विशेष उल्लेखके योग्य निम्नलिखित ग्रन्थ है—

E. V. Arnold—Vedic Metre, Cambridge, 1905.

वैदिक छन्द तथा स्वरपर Prof. Macdonell ने भी कुछ कार्य किया है। इसको उन्होंने अपनी Vedic Grammar for Students (Oxford, 1916) के पिछले भागमें दिया है। ऋग्वेदीय शाकल्यकृत पदपाठका विवेचन Liebich नामक जर्मन विद्वानने Zur Einfuhrung in die indische einheimischa Sprachwissenschaft (II, Heidelberg, 1919) नामक ग्रन्थमें किया है।

Max Muller ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्यका जर्मन अनुवाद-सहित संस्करण, १८५६-६१ में, Leipzig से छपाया। कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी, जिसमें कि, प्रत्येक सूक्तके देवता, ऋषि तथा छन्द दिये हुए हैं, १८८६ में Macdonell की अध्यक्षतामें Oxford से छपी है। "बृहद्देवताका" सबसे पहला संस्करण स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्रने, १८९२ में कलकत्तेसे निकाला। इसका दूसरा संस्करण Macdonell ने (Harvard Oriental Series, Vols. 5 and 6) १६०४ में निकाला। इसमें अंग्रेजी अनुवाद भी है। प्रत्येक मंत्रमें क्या शक्ति है तथा उसके उच्चारणसे क्या प्राप्त हो सकता है, इस विषयका विवेचन "ऋग्विधान" नामक ग्रन्थमें किया गया है। इसका संस्करण Rudolf Meyer ने Berolini से १८७८ में, निकाला है। यास्क-विरचित निरुक्तका सबसे पहला संस्करण Roth की अध्यक्षतामें, १८५२ में, Gottingen से प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीय श्रीसत्यव्रत सामश्रमीका संस्करण, १८८२-९१ में, कलकत्तेसे छपा है। दुर्गाचार्यकृत भाष्य सहित निरुक्तका संस्करण, पूनाके सुप्रसिद्ध वेदज्ञ राजवाड़ेने, १९२१ में, आनन्दाश्रम—संस्कृत-ग्रन्थावलिमें छपाया है। पंजाबके डाकृर लक्ष्मणस्वरूपने निरुक्त का अंग्रेजी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिकाका निर्माण किया है (The Nighantu and the Nirukta, the oldest Indian Treatise on Etymology, Philosophy and Semantics. Oxford, 1920 etc.)।

व्याकरणपर आधुनिक विद्वानोंकी सूची नीचे दी जाती है—

J. Wackernagel—Altindische Grammatik; Gottingen, 1896. जर्मनमें।

Whitney—Sanskrit Grammar, Leipzig, 1879. अंग्रेजीमें।

Macdonell—Vedic Grammar, Strassburg, 1910. अंग्रेजीमें।

R. N. Albright—The Vedic declansion of the typy vrkis: a contribution to the study of the feminine noundeclension in Indo-European. Philadelphia, 1927. अंग्रेजीमें।

M. Bloomfield and F. Edgerton—Vedic variants; a study of the variant readings in the repeated mantras of the Veda. Vol I: The Verb. Philadelphia, 1930. अंग्रेजीमें।

L. Renou—La Valeur du parfait dans les hymnes Vediques (वैदिक सूक्तोंमें परोक्ष भूतका स्थान), Paris, 1925. फ्रेंचमें।

ऋग्वेदके किसी प्रश्नपर भी उतना अधिक विचार नहीं हुआ है, जितना कि, निर्माण-कालपर। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंसे संसारके विद्वानोंने इस प्रश्नकी गवेषणा की है और ईसाके पूर्व २५००० वर्षसे लेकर ७०० ई० पूर्वतक अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार वैदिक समयका निर्णय किया है। यह अभी भी नहीं कहा जा सकता कि, विद्वान् किसी चरम सिद्धान्तपर पहुँच गये हैं!

जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है, Colebrooke ने अपने लेखमें वैदिक कालके निर्णय करनेकी भी चेष्टा की है। इस विद्वानके मतमें वैदिक समय ई० पूर्व १३९१ से प्रारम्भ होता है। Colebrooke के दिखाये हुए पथपर अन्य विद्वान् भी अग्रसर हुए और उनमेंसे Bentley नामक अंग्रेज विद्वानने

ज्योतिश्शास्त्रके आधारपर वेदका समय ई० पूर्व ११८१ नियत किया (Historical view of the Hindu Astronomy, Calcutta, 1823)। इसी समय विद्वानोंमें नक्षत्रोंके विषयपर बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। Biot नामक फ्रांसीसी गणितज्ञ अपने समयके अत्यन्त धुरन्धर विद्वान् गिने जाते थे। यह ८८ वर्षकी अवस्थामें, सन् १८६२ में, मृत्युको प्राप्त हुए; किन्तु मरते दमतक विद्याका अभ्यास नहीं छोड़ा। इन्होंने Paris के Journal des Savants के सन् १८३९, १८४०, १८४५, १८५९, १८६० तथा १८६१ के अंकोंमें यह सिद्ध करके दिखाया कि, भारतवर्षमें नक्षत्रोंकी विद्या तथा नाम चीन देशसे आये हैं। वैदिक ऋषियोंने नक्षत्र-ज्ञान चीन-निवासियोंसे सीखा है। इस सिद्धान्तने विचार-संसारमें बड़ा खलबला मचा दी। Christian Lasson नामक जर्मन विद्वान्ने Indische Altertumskunde नामक अपने ग्रन्थमें यह प्रतिपादन किया कि, चीन देशमें ई० पूर्व ११०० के लगभग नक्षत्रोंकी संख्या २८ तक पहुँची। इससे पूर्व २४ तक ही संख्या थी। किन्तु इस प्रकारके सिद्धान्तसे वैदिक काल बहुत निकट आ पड़ता है। जर्मन विद्वन् Weber ने नक्षत्र तथा ज्योतिषपर, दो भागोंमें, अपना Die Vedischen Nachrichten von den Naxatra (I Pt. 1860; II Pt. 1862) नामक ग्रन्थ रचा और उसमें—नक्षत्रोंका ज्ञान चीनसे आया है—इस मतका खण्डन किया। परन्तु Weber ने स्वयं अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भी वैदिक काल का निश्चय नहीं किया। उपर्युक्त विद्वानोंका विवाद तथा उसका उत्तर Max Muller ने अपने ऋग्वेद-संस्करणके चतुर्थ खण्डकी भूमिकामें बहुत विस्तृत रूपसे दिया है। Max Müller ने संस्कृत-साहित्य-का जो इतिहास लिखा (History of Sanskrit literature. 1859), उसमें उसने वैदिक साहित्य के आधारपर यह सिद्ध किया कि, वेदोंका छन्दः-काल ई० पूर्व १००० से १२००तक हो सकता है। इस पुस्तकके प्रकाशित होते ही बड़ी हलचल मची। Professor Wilson ने १८६० के Edinburgh Review में इसकी समालोचना की और अपने मतानुसार ई० पूर्व १२वीं शताब्दीसे २० वीं शताब्दी तक वैदिक साहित्यके उद्भवको प्रतिपादित किया। फ्रेंच विद्वान् Barthelemy Saint—Hilaire ने अपनी समालोचनामें (देखिये Journal des Savants, १८६० तथा १८६१) ई० पूर्व १४ वीं से १५ वीं शताब्दीतक वैदिक कालका निर्णय किया। इधर इस वेदाङ्ग ज्योतिषके तथा नक्षत्रादिकके प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये बड़े-बड़े विद्वान् जुट गये। जर्मन् विद्वान् Alfred Ludwig ने सन् १८७८ में तथा स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरने १८८३-८४ में कृत्तिका नक्षत्रके, सब नक्षत्रोंकी सूचीमें, प्रथम होनेका महत्त्व प्रतिपादित किया था। इस समयके कुछ ही अनन्तर विदेशमें जर्मन विद्वान् Hermann Jacobi तथा भारतवर्षमें स्वर्गीय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने एक साथ ही, किन्तु भिन्न-भिन्न मार्गोंसे, गणित तथा ज्योतिषके आधारपर, वैदिक काल ई० पूर्व ४००० वर्षके लगभग है—यह सिद्ध किया। भारतवर्षमें भी वेदाङ्ग ज्योतिषपर उस समय बहुत कुछ कार्य हुआ। लोकमान्यका ग्रन्थ The Orion or Researches into the Antiquity of the Vedas, Bombay, 1893 तथा श्रीयुत पण्डित शङ्कर बालकृष्ण दीक्षितका मराठीमें 'भारतीय ज्योतिश्शास्त्र' (१८९६), दोनों बड़े विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ हैं। Jacobi, जिनकी

अवस्था इस समय ८१ वर्षसे ऊपर है, अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन कुछ लेखोंमें कर चुके हैं, जो कि, १८९३ से १८९४ तक छपे हैं। "Festgruss an Rudolf von Roth" Stuttgart, 1893; Nachrichten von der Kgl. Gesellschaft der Wissenschaften; Gottingen, Philolog.—histor. Klasse, 1894, pp. 105—116; Transactions of Congresses of Orientalists, X, Geneva, 1894, I, pp. 103—108). लोकमान्यके मतका सारांश यह है कि,—

(१) ऋग्वेदीय कुछ सूक्तोंका समय ई० पूर्व ४५०० वर्ष है; क्योंकि उनमें महाविषुवका मृगशीर्षमें उल्लेख है।

(२) शतपथ-ब्राह्मण (२।१।२) के अनुसार कृत्तिका नक्षत्रोंकी पूर्वमें स्थिति बतलायी गयी है; अतः शंकर बालकृष्ण दीक्षित शतपथका समय ई० पूर्व ३००० मानते हैं।

Jacobi तथा लोकमान्यके मतका घोर विरोध हुआ। प्रायः सभी वेदज्ञ अखाड़ेमें उतर पड़े। अन्तमें बहुमतसे विद्वान् इस परिणामपर पहुँचे कि, Jacobi तथा लोकमान्य जिस मंत्रके आधारपर इस सिद्धान्तपर पहुँचे है, उस मन्त्रका अर्थ कुछ और ही है। अस्तु।

सन् १९०७में जर्मन विद्वान् Hugo Winckler ने Asia Minor में जो गवेषणाएँ की हैं, वह भी बड़े महत्त्वकी हैं। उन्होंने वहाँ पुरानी ईंटोंपर बैबिलोनियन तथा हिटाइट देवताओंकी सूचीमें मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ नामक वैदिक देवताओंके नामोंको भी पाया है। इसी आधारपर उन्होंने वैदिक मन्त्रोंका काल ई० पूर्व १५०० से पूर्व होना सिद्ध किया है। इसपर भी जो विद्वानोंका शास्त्रार्थ हुआ, वह बहुतसे मासिक पत्रों तथा पुस्तकोंमें छपा है।

पंजाब विश्वविद्यालयके वायस-चांसलर A. C. Woolner, तुलनात्मक भाषा-विज्ञानके आधारपर, वैदिक कालको ई० पूर्व २००० वर्ष बतलाते हैं (First Oriental Conference, 1920. Poona) किन्तु इन सब विद्वानोंसे डाक्टर अविनाशचन्द्र दास बहुत ही आगे बढ़ गये हैं। इन्होंने गणित तथा भूगर्भ-शास्त्रके आधारपर वैदिक कालको ई० पूर्व १६०००के लगभग समझा है। इनका "Rigvedic India" (Calcutta, 1921) नामक ग्रन्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा पाण्डित्य परिचायक है; किन्तु विद्वानोंको यह ग्रन्थ विशेष रूपसे ग्राह्य नहीं हुआ है। इसको विदेशीय विद्वान् उत्प्रेक्षाकी पराकाष्ठा समझते हैं। लेख बहुत लम्बा हो चुका है; अतः मैं वैदिक इतिहास तथा विविध विषयोंपर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनकी सूची देकर लेखको समाप्त करता हूँ—

1 R. Roth—Zur Litteratur und Geschechte des Weda, Stuttgast, 1846.

2 Max Muller—History of Ancient Sanskrit Literature. 1859.

3 J. Muir—Original Sanskrit Text, London, 1858 ff.

4 Christian Lassen—Indische Altertumskunde, 1843–1862. 4 Volumes.

5 A. Weber—History of Indian Literture, 2nd. Edn. London, 1882.

6 L. Von Schroeder—Indians Literatur und Cultur, Leipzig, 1887.

7 J. Lahor—History de lo litterature

hindone, les grands poemes religieux et philosophiques, Paris, 1888.

8. A. H. Sayce—The Primitive Home of the Aryans, Washington, 1891.
9. Ragozin—Vedic India, London, 1895.
10. R. W. Frazer—Literary History of India, London, 1898.
11. V. Henry—L' antithese vedique it les ressources qu' elle offre al' exegese moderne pai l' interpretation du Veda, Paris, 1898.
12. A. A. Macdonell—Sanskrit Literature, London, 1900.
13. V. Henry—Les Litteratures de l' Inde, Paris, 1904.
14. M. Winternitz— Geschichte der Indischen Litterature, Leipzig, 3 vols. 1904 etc.
15. R. Pischel—Die Indisch Literatur, Berlin, 1906.
16. A. B. Keith—article in the Cambridge History of India, Vol I, Cambridge, 1922.
17. W. Wust—Vom Gestaltwandel des rgvedischen Dichtstils, Leipzig, 1926.
18. M. Winternitz—A History of Indian Literature, Vol I, Calcutta, 1927.
19. A. A. Macdonell—India's Post, Oxford, 1927.
20. C. V. Vaidya—History of Sanskrti Literature, Vedic Period, Vol 1 Poona, 1930.
20. Louis Renon—Bibliographie Vedique, Paris, 1931.

श्रीयुत Renon महोदय Paris के एक स्कूलके डाइरेक्टर हैं। यह ग्रन्थ, जो इन्होंने तैयार किया है (किन्तु अभीतक भारतवर्षमें देखनेको नहीं मिला है), बड़े महत्त्वका मालूम होता है। इसमें वेद अथवा वैदिक अंगोंपर संसार भरकी भाषाओंमें जो ग्रन्थ अथवा जो लेख लिखे गये हैं, सबका पता दिया हुआ है। मुझको इसका केवल एक पृष्ठ, विज्ञापन, देखनेको मिला है। इसका मूल्य १०० फ्रैंक है तथा Otto Harrassowitz, Verlag, Leipzig से १८ मार्क (१८ शिलिंग) में प्राप्त हो सकता है।

इस लेखको लिखनेमें यों तो मैंने कई ग्रन्थोंसे सहायता ली है; किन्तु विशेष उल्लेख-योग्य मेरे प्रोफेसर श्रीयुत डाक्टर M. Winternitz का निर्मित History of Indian Litarure, (Vol I) नामक ग्रन्थ है।

वैदिक साहित्यमें पाश्चात्य विद्वानोंका कार्य

डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० (आक्सन)

(सरस्वतीभवन-पुस्तकालय, बनारस छावनी)

उन्नत देशोंकी उन्नतिके रहस्यका पता हमें उन देशोंके लोगोंकी दशाको देखकर लगाना चाहिये। जिस देशके लोगोंमें अध्यवसाय, मनोयोग और परिश्रम-परायणता आदि गुण पाये जाते हैं, वहाँ उन्नति सिर नवाकर उपस्थित हो जाती है। किसी उन्नति-शील देशको लीजिये। जिस-जिस विषयमें जो देश बढ़ा हुआ है, उसकी वह उन्नति उस-उस विषयमें स्वाभाविक रुचि रखनेवाले उद्यमशील साहसी लोगोंके वर्षोंतक अथक परिश्रमका फल है। इसीको तप कहना चाहिये। किसी उद्देश्यको सम्मुख रखकर, विघ्न-बाधाओंको सहते हुए और सुखकी परवा न करते हुए, प्राणपनसे उसकी सिद्धिमें लगना ही सच्चा तप है। यूरोप और अमेरिकाकी उन्नत जातियोंमें यह सिद्धान्त कूट-कूट कर भरा है भिन्न-भिन्न विषयोंमें नित्य नये आविष्कारोंका मूल मन्त्र यही है। वे लोग जिस विषयको हाथमें लेते हैं, जबतक उसकी तहतक नहीं पहुंच जाते, तबतक उसका पीछा नहीं छोड़ते।

इसके अनेकानेक उदाहरणोंमेंसे एक ज्वलन्त उदाहरण उनका हमारे प्राचीन वैदिक साहित्यमें काम है। प्रथम तो, किसी दूसरे देशके भाव, भाषा आदिको ही पूर्णतया या गहराईसे समझना बड़ा कठिन काम है; फिर उस देशके प्राचीन ही नहीं, किन्तु प्राचीनतम भाषा और साहित्य आदिका, जिनको उस देशके विद्वान् भी बहुत कुछ भुला चुके हों, अभ्यास, मथन तथा अनुशीलन करना और सफलता-पूर्वक उनमें गति प्राप्त करना कितना कठिन है! इसका अनुमान वे ही लोग कर सकते हैं, जिन्होंने ऐसे विषयोंमें कुछ परिश्रम किया है।

पश्चिमके विद्वानोंका ध्यान संस्कृतके प्रत्येक विषयकी ओर रहा है। जबसे उन्हें संस्कृत-भाषा और उसके साहित्यका पता लगा है, वे स्पर्धाके साथ उनके अनुशीलनमें लगे हुए हैं। प्रतिदिन इस विषयमें उनकी रुचि और परिश्रम बढ़ते ही जाते हैं। आज यूरोप और अमेरिकाके प्रायः प्रत्येक बड़े विश्वविद्यालयमें संस्कृतका पुस्तकालय है और उसको पढ़ानेके लिये योग्य अध्यापक नियुक्त हैं। अनेक प्राचीन ग्रन्थ, मूल और अनुवादके रूपमें, छपते भी रहते हैं; और, तद्विषयक खोज और अनुसन्धान भी जारी है। परन्तु यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंने जो काम वैदिक भाषा और साहित्यके विषयमें किया है, वह विशेष महत्त्वका है। उसीको यहाँ हम दिखाना चाहते हैं।

उनके कामसे भारतवर्षका लाभ।

वैदिक साहित्यमें जो पाश्चात्य विद्वानोंने परिश्रम किया है, उसका महत्त्व उनकी प्रशंसातक ही समाप्त नहीं हो जाता, न वह महत्त्व केवल उनकी स्वार्थ-दृष्टिसे ही परिमित है। यह सत्य है कि, उसके द्वारा उनके अपने ज्ञानकी परिधिमें काफी विस्तार हुआ है; परन्तु इसके साथ ही इससे जो लाभ हमारे देशको हुआ है, वह भी बहुत बड़ा है। उन विद्वानोंके द्वारा विदेशोंमें सैकड़ों अमुद्रित, अप्राप्य तथा विस्मृत वैदिक पुस्तकोंके शुद्ध सम्पादन और संस्करणोंमें तथा तद्विषयक अनेकानेक महत्त्वशाली मौलिक ग्रन्थोंकी रचना और प्रकाशनमें, लाखों रुपया, करोड़ों रुपयोंका व्यय किया गया है। अनेकानेक प्रतिभाशाली महाविद्वानों और आचार्योंने अपना जीवन ही वैदिक साहित्यके पुनरुद्धारमें

लगा दिया है। इससे हमारे देशकी संस्कृति और सभ्यताके पुनरुत्थानमें एक बड़ी सहायता मिली है। इसके लिये वस्तुतः हम भारतवासियोंको उनका आभारी होना चाहिये।

आश्चर्य है कि, हमारे यहाँ बड़े-बड़े पण्डित लोग भी यह ठीक-ठीक नहीं जानते कि, वैदिक विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंने क्या-क्या कार्य किया है! हमारे इस लेखका मुख्य उद्देश्य है, इस अज्ञानको दूर करना। हमें आशा है कि, जो लोग वैदिक साहित्यमें रुचि रखते हैं, उन्हें इस लेखसे अनेक नयी बातोंका पता चलेगा।

इस सम्बन्धका संक्षिप्त इतिहास।

पाश्चात्य विद्वानोंकी वैदिक-साहित्यमें कैसे प्रवृत्ति हुई? प्रारम्भमें उसकी कैसी गति रही? यहाँ इसका संक्षिप्त इतिहास देना कदाचित् रुचिकर और उपयोगी होगा।

अठारहवीं शताब्दीके मध्य भागमें, यूरोपमें, संस्कृत-साहित्यकी कुछ-कुछ चर्चा शुरू हुई। फ्रांस देशके प्रख्यात लेखक वाल्टेयर (Voltaire) ने भारतमें एक जेसुइट मिशनरी द्वारा ले जाये गये एक कल्पित Ezour Vedam या यजुर्वेदकी, अपने एक लेखमें, जो अठारहवीं शताब्दीके मध्य भाग (लगभग १७५०) में प्रकाशित हुआ था, बड़ी प्रशंसा की थी। अन्तमें जब यह पोल खुली कि, यह ग्रन्थ वास्तवमें एक कृत्रिम वेद था, तब लोगोंमें संस्कृतके विषयमें बहुत कुछ अविश्वास और अश्रद्धा पैदा हो गयी।

सन् १७८४ ई० में सर विलियम जोंस (Sir William Jones) नामक एक अँगरेज विद्वान्के प्रयत्नसे कलकत्तेमें 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की नींव रखी गयी। यथार्थमें इसी समयसे भारतवर्षीय प्राचीन विद्याओंमें पाश्चात्योंकी रुचि और परिश्रमका इतिहास आरम्भ होता है। स्वभावतः प्रारम्भमें उनका ध्यान लौकिक संस्कृतके साहित्यकी ओर ही अधिक गया; क्योंकि वही पण्डितोंमें अधिक प्रचलित था। अन्तको, धीरे-धीरे, उन्होंने पता लगाया कि, अनेक दृष्टियोंसे प्राचीनतर वैदिक साहित्य, लौकिक संस्कृतसे, कहीं अधिक महत्त्व रखता है।

१८०५ ई० में कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrooke) साहबने "एशियाटिक रिसर्चेज" नामक पत्रमें "हिन्दुओंके धार्मिक ग्रन्थ—वेद" शीर्षक लेख छपवाया। वैदिक साहित्यके अनुशीलनमें रुचि पैदा करनेमें इस निबन्धने बड़ा काम किया। इस निबन्धमें लेखकने संपूर्ण वैदिक साहित्यकी समीक्षा की है। यूरोपके विद्वानोंमें संस्कृत ज्ञानकी तात्कालिक दशाको देखते हुए इस निबन्धके लेखककी प्रतिभा और समालोचना-शक्तिकी प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। प्रारम्भमें यही लेखक महोदय भारतवर्षीय प्राचीन विद्याको बड़ी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे। उन दिनों इन्होंने एक विद्वान्को, जिन्होंने 'भगवद्गीता' का अनुवाद अंग्रेजीमें किया था, 'संस्कृतोन्मत्त' कहा था। परन्तु अन्तको आपकी सम्मति बदल गयी और आप स्वयं संस्कृतके प्रेमी ही नहीं; किन्तु उसके अच्छे ज्ञाता भी हो गये। वस्तुतः आपका उपर्युक्त निबन्ध वैदिक साहित्यकी ओर यूरोपके विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करनेमें मुख्य साधन हुआ।

प्रायः पचीस वर्षोंके पश्चात् फ्रीड्रिक रोजन (Friedrich Rosen) नामक जर्मन विद्वान्का ध्यान वैदिक साहित्यकी ओर गया। आप वैदिक साहित्यके महत्त्वको मानने लगे। आपने उत्साहसे ऋग्वेदके सम्पादन करनेका संकल्प किया; परन्तु १८३७ ई० में आपकी असामयिक मृत्युसे इस कार्यमें बाधा पड़ी। १८३८ में आपके द्वारा सम्पादित ऋग्वेदका प्रथम अष्टक ही प्रकाशित हुआ।

लगभग इन्हीं दिनों फ्रांस देशके निवासी और प्रसिद्ध प्राच्य-विद्याओंके विज्ञाता ईउजेन बर्नफ (Eugene Burnouf) पेरिसमें संस्कृत आदि पढ़ाते थे। इस समय इनकी शिष्य-मण्डलीमें ऐसे विद्यार्थी सम्मिलित थे, जो पीछे

से बड़े प्रसिद्ध वेदज्ञ समझे गये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि, यूरोपमें वैदिक साहित्यके अनुशीलनकी नींव डालनेवाले वस्तुतः यही फ्रेंच विद्वान् थे। रुडाल्फ रोठ (Rudolph Roth), मैक्स म्यूलर (Max Muller) आदि विद्वान्, जिन्होंने आगे चलकर वैदिक साहित्यके विषयमें बहुत कुछ काम किया, इन्हींके शिष्य थे।

यूरोपमें वैदिक साहित्यके अनुशीलनके इतिहासमें १८४६ इस्वी स्मरणीय रहेगी। इस वर्ष "वेदका साहित्य और इतिहास" नामक छोटी, परन्तु चिर-स्मरणीय, पुस्तिका रुडाल्फ रोठ (Rudolph Roth) ने लिखी। इस पुस्तिकासे यूरोपमें वैदिक साहित्यके अनुशीलनकी ओर वास्तविक और गहरी प्रवृत्ति पैदा हुई।

यूरोपमें वैदिक साहित्यके अनुशीलनके इतिहासमें रोठ महोदयका स्थान अनोखा है। उनके समयतक उक्त अनुशीलन यूरोपमें जिस दृष्टिसे होता था, उसमें एक नया युग उपस्थित हो गया। आपको ऐतिहासिक दृष्टिसे तथा स्वतन्त्र रीतिसे वैदिक साहित्यके अनुशीलनकी पद्धतिका मार्ग-दर्शक कहा जा सकता है। आपसे प्रथम विद्वानोंका विचार था कि, वेदोंके अर्थके लिये हमें भारतीय 'सायण' आदिके भाष्योंका ही अनुसरण करना चाहिये; क्योंकि वेदोंका अर्थ हम स्वतन्त्र रीतिसे नहीं कर सकते। आपने दिखला दिया कि, वेदोंके अर्थ, वैदिक साहित्यसे सैकड़ों वर्षोंके बादके साहित्यकी सहायतासे नहीं, किन्तु वेदोंकी ही सहायतासे करना चाहिये। आपके प्रकारके अनुसार सन्दिग्ध स्थलोंमें कठिन शब्दोंके अर्थोंको जाननेके लिये हमें वेदोंके ही वे सब वाक्य देखने चाहिये, जहाँ-जहाँ वह शब्द आया है। परन्तु हमारी सम्मतिमें आपका महत्त्व इससे भी अधिक "सेंट पीटर्सवर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश" के कारण है। वस्तुतः इस महाकोशके लिये तो, भारतवासियोंको आपका तथा आपके, इस कोशके काममें, साथी बेह्टलिंगक (Boehtlingk) नामक दूसरे महोदयका आभारी होना चाहिये। इसका विशद रूपसे वर्णन हम आगे करेंगे।

रोठ महाशयकी उक्त पुस्तिकाके निकलनेके बाद ही यूरोपमें वैदिक ग्रन्थोंके संस्करणों और वेदों तथा अन्य वैदिक अनुवादोंकी ओर विद्वानोंकी जोरोंसे प्रवृत्ति हुई। वेबर मैक्स म्यूलर, आउफ्रेक्ट व्यन्फे आदि विद्वान् प्रधानतया वेदोंके संस्करण करानेमें लगे और विल्सन, ग्रासमन, लुडविग, ग्रिफिथ आदिने वेदोंका अनुवाद हाथमें लिया। इनमेंसे जो मुख्य नाम हैं, उनका कुछ विवरण सुनिये।

ए० वेबर (A. Weber) नामक जर्मन विद्वान्का नाम वैदिक साहित्यके आधुनिक अनुशीलनके साथ सदा सादर लिया जायगा। आपका विस्तृत, अगाध, सूक्ष्म-दर्शी पाण्डित्य किसको आश्चर्यमें न डालेगा? १८५२ में "भारतवर्षीय साहित्यके इतिहासपर यूनिवर्सिटी व्याख्यान" नामक पुस्तकमें प्रथम बार आपने वैदिक साहित्यका सुसम्बद्ध और विस्तृत वर्णन किया। इसके अतिरिक्त आपने अनेकानेक वैदिक पुस्तकोंका सम्पादन किया और "इण्डिश स्टुडियन" नामक रिसर्च जर्नलमें बहुत कुछ, वैदिक अनुसन्धानके विषयमें, लिखा।

आउफ्रेक्ट और व्यन्फे नामक विद्वानोंको भी हम नहीं भूल सकते। इन्होंने, क्रमसे, ऋग्वेद-संहिता तथा सानुवाद सामवेद-संहिताका सम्पादन किया।

मैक्स म्यूलर महोदयका नाम तो भारतवर्षमें शिक्षित लोगोंमें काफी प्रसिद्ध है। यह अपने समयमें भारतवर्षीय साहित्यके ज्ञाता तथा यूरोपीय विद्वानोंके शिरोमणि थे। आपके विभिन्न विषयोंके कार्योंको देखकर मनुष्य अवाक् हो रहता है। आपने अनेक प्रकारसे वैदिक साहित्यके विषयमें कार्य किया; परन्तु सबसे बड़ा काम, इस विषयमें, आपका सायण-भाष्यके सहित ऋग्वेदका प्रथम बार विवेचना-पूर्वक सम्पादन करके संस्करण निकालनेका था। इस विशाल ग्रन्थके संस्करणसे यूरोपमें वैदिक-साहित्य-विषयक अध्ययना-

व्यापनकी जड़ पक्की हो गयी, और, तबसे उसकी खास तौर पर उन्नति हुई। आपने "प्राचीन संस्कृत-साहित्य" नामक पुस्तकमें वैदिक साहित्यका, बड़ी विद्वत्तासे, विचार किया। इस पुस्तकका मूल्य, विद्वानोंकी दृष्टिमें, अब भी काफी है और इससे पश्चिममें वैदिक अनुसन्धानमें बहुत कुछ उत्तेजना मिली। आपने ऋग्वेदके कुछ अंशका अंग्रेजीमें अनुवाद भी किया। आपने "सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ-मालामें अनेक वैदिक ग्रन्थोंका स्वयं तथा दूसरोंके द्वारा अनुवाद निकाला। आपके अनेक निबन्ध ऐसे हैं, जिनमें आपने भाषा-विज्ञान तथा पुराण-विज्ञान आदिके विचारोंमें वेदोंसे काफी सहायता ली है।

इन उपर्युक्त विद्वानोंके अतिरिक्त और भी अनेकानेक पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिक साहित्यके विषयमें पर्याप्त काम किया है। इस अवसरपर उन सबका विस्तृत वर्णन हम नहीं कर सकते; केवल संकेत मात्र ही किया जा सकता है। ऊपर जो नाम आ चुके हैं, उनके अतिरिक्त ओल्डेनबर्ग, ब्लूमफील्ड, ह्विटने, गेल्डनर, पिशेल, मैकडानल, कीथ आदि-आदि जीवित या स्वर्गत विद्वानोंके नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनमेंसे कुछ अब भी वैदिक साहित्यकी ज्योतिका प्रकाश, पाश्चात्य देशोंमें, फैला रहे हैं और तरह-तरहसे वैदिक साहित्यकी सेवा कर रहे हैं।

इस प्रकार इस थोड़ेसे कालमें ही पाश्चात्य देशोंमें वैदिक-साहित्य-विषयक पाण्डित्यने जो उन्नति की है, वह आश्चर्यमें डालनेवाली है। जहाँ भारतवर्षमें आजकलके सब प्रकारके पुनरभ्युत्थानके दिनोंमें भी हमलोग वैदिक साहित्यके पुनरुज्जीवनके लिये नाम मात्रको ही काम कर रहे हैं या कर पाते हैं, वहाँ यूरोप और अमेरिकाके विद्वान् उससे सैकड़ों गुना अधिक काम कर चुके हैं और कर रहे हैं।

पाश्चात्य विद्वानोंकी वेदोंके अर्थ करनेकी प्रक्रिया और उसके गुण-दोष।

वैदिक-साहित्य-विषयक पाश्चात्य विद्वानोंके कामको ठीक-ठीक समझनेके लिये यह आवश्यक है कि, हम उनकी वेदोंके अर्थ करनेकी प्रक्रियाको समझ लें।

जबसे वैदिक साहित्यके अनुशीलनकी प्रवृत्तिका प्रारम्भ यूरोपमें हुआ है, तबसे पाश्चात्य विद्वानोंकी वेदोंके अर्थ करनेमें सदा एक-सी दृष्टि नहीं रही है। वास्तवमें इसका भी इतिहास लिखा जा सकता है। हम अति संक्षेपमें ही इसका यहाँ वर्णन करेंगे। साथ ही इसके गुण-दोषको भी दिखलानेकी चेष्टा करेंगे।

एक समय ऐसा था, जब कि, पाश्चात्य विद्वानोंकी आस्था वेदोंके महत्त्वके विषयमें कुछ भी नहीं थी। इसके अनन्तर वह समय आया, जब कि, वेदोंमें रुचि दिन-प्रतिदिन अधिक बढ़ने लगी। इस समय प्रारम्भमें वे आँखें मूँदकर भारतीय भाष्यकारों—सायण आदि—का अनुसरण करते थे। यह युग चिर कालतक नहीं रहा। एक नये युगका प्रारम्भ, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, रॉठ महाशयसे हुआ। इसके बाद अनेक विद्वानोंने वेदार्थ करनेकी प्रक्रियाके विषयमें, थोड़े-बहुत भेदके साथ, अन्य मतोंका भी प्रतिपादन किया। इनमेंसे किसीका झुकाव भारतीय साम्प्रदायिक पद्धतिकी ओर अधिक था और किसीका नवीन पद्धतिकी ओर। यद्यपि आजकल अनेक विद्वान् इन दोनोंके बीचका मार्ग ही पसन्द करते हैं, तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि, पाश्चात्य विद्वान् अब भी रॉठके द्वारा प्रदर्शित पद्धतिके अनुसरणमें ही कुछ दबा हुआ स्वाभिमान अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टिमें प्राचीन भारतीय टीकाकारोंका वेदोंके अर्थोंमें प्रामाण्य बहुत परिमित है। इसका कारण वे यह दिखलाते हैं कि, वैदिक कालमें और सायण आदि टीकाकारोंके कालमें सहस्रों वर्षोंका अन्तर है। इस अन्तरमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित करनेवाला कोई अविच्छिन्न सम्प्रदाय भी, उनकी सम्मतिमें, नहीं प्रतीत होता। यह अन्तरकी बात, वे समझते हैं, जो वेदों और निरुक्तके विषयमें भी ठीक ही है। निरुक्त और अन्य पिछली टीकाओंमें एक-एक शब्दके, आपाततः,

स्वेच्छासे ही किये गये, विकल्पेन, अनेक अर्थ इसी बातको पुष्टि करते हैं। इस प्रक्रियाका मुख्य आधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन है।

इसमें सन्देह नहीं कि, इस प्रक्रियाका महत्त्व अत्यन्त अधिक है। वास्तवमें आजकलकी वैज्ञानिक प्रक्रियाका मूलाधार तुलनात्मक और ऐतिहासिक प्रक्रियापर ही अवलम्बित है। वैदिक भावोंके समझनेमें इससे वास्तवमें बड़ी सहायता मिलती है। अनेक वैदिक कालके रीति-रिवाजोंको दूसरे देशोंके अति प्राचीन रीति-रिवाजोंको समझे विना और उनसे तुलना किये विना हम ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। यही बात अनेक वैदिक देवताओंके मौलिक स्वरूपके समझनेके विषयमें भी ठीक है। उदाहरणार्थ, यह विवादास्पद है कि, वैदिक देवता वरुण या अश्विनोंका वास्तवमें भौतिक आधार क्या था। ऐसे विषयोंमें प्राचीन आर्य-जातियोंकी पौराणिक गाथाओं आदिके जाननेसे बहुत कुछ सहायता मिलती है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्दोंके मूलार्थोंको समझनेमें भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे विभिन्न सम्बद्ध प्राचीन भाषाओंके अध्ययनसे बहुत कुछ सहायता मिलती है। इस दृष्टिसे आधुनिक पाश्चात्य वैदिक विद्वान् निःसन्देह, हमारे प्राचीन वैदिक टीकाकारोंसे, अधिक अच्छी अवस्थामें हैं। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या तुलनात्मक पुराण-विज्ञानकी, उनके दिनोंमें, उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। ऐसी अवस्थामें उनकी दृष्टि आधुनिक विद्वानोंकी दृष्टिकी तरह विस्तृत और असंकीर्ण हो ही नहीं सकती थी। इस प्रकारके विस्तृत ज्ञानकी, वेदार्थ करनेमें, आवश्यकताको, अपनी दृष्टिसे, हमारे प्राचीन आचार्योंने भी स्वीकार किया ही है। कहा है—

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥"

दूसरे, यह नहीं समझना चाहिये कि, यह 'आधुनिक' प्रक्रिया पाश्चात्योंकी बिल्कुल अपनी ही सूझ है। निरुक्तके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि, उन दिनों भी वेदोंके अर्थोंको, अनेक दृष्टियोंको लेकर, अनेक प्रकारसे, किया जाता था। याज्ञिक, नैदान, नैरुक्त आदि अनेक दृष्टियोंको यास्कने दिखलाया है। आजकलकी पाश्चात्य प्रक्रियाको हम बहुत कुछ नैरुक्त और ऐतिहासिक मतका एकत्रीकरण कह सकते हैं।

उक्त गुणोंके रहनेपर भी उक्त आधुनिक प्रक्रियाका ऐकान्तिक रूपसे अनुसरण करनेमें मुख्य दोष यह आता है कि, भारतीय सम्प्रदायको उचित स्थान, इस प्रक्रियामें, नहीं दिया जाता। परन्तु वास्तवमें सम्प्रदायका महत्त्व, किसी भी बातके ऐतिहासिक स्वरूपको समझनेमें, काफी होता है। सम्प्रदाय इतिहासोंका इतिहास होता है; क्योंकि इतिहासोंके लिखनेमें और किसी ऐतिहासिक प्रवृत्तिके समझनेमें सम्प्रदायसे अत्यन्त सहायता मिलती है। सम्प्रदायको हम अदृश्य अक्षरोंमें जातिके हृदय-प्रस्तरपर खुदा हुआ शिला-लेख कह सकते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि, उन अक्षरोंको ठीक-ठीक पढ़ा जाय।

धीरे-धीरे अब भारतीय विद्वान् इस बातको सिद्ध कर रहे हैं कि, वैदिक काल और वैदिक टीका-कारोंको परस्पर सम्बद्ध करनेवाली एक साम्प्रदायिक अविच्छिन्न धारा सदासे चली आ रही है। पिछले वर्ष हमने ही एक लेख "आल इण्डिया ओरियेंटल कान्फरेंस" के पटनाके अधिवेशनमें पढ़ा था। उसका महत्त्व इसी दृष्टिसे था। उसमें ऋग्वेदके प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्द स्वामी तथा उनके शिष्य शतपथ-भाष्यकार हरिस्वामीके समयका निर्णय किया गया था। अबतक उनका समय ११ वीं शताब्दीके लगभग बतलाया जाता था और इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान् यह कहते थे कि, वेदार्थ करनेका कोई प्राचीन परम्परागत सम्प्रदाय नहीं था; इसलिये सायण आदिने स्वमनः-कल्पित पद्धतिका ही अवलम्बन किया है। परन्तु एक अद्भुत खोजके आधारपर हमने दिखलाया है कि, स्कन्द स्वामी छठी शताब्दीमें हुए थे। इस

प्रकार उनमें और सायणमें कोई आठ शताब्दियोंका अन्तर पड़ता है। फिर भी उनका और सायणका प्रकार एक ही है। स्कन्द स्वामी भी अपनेसे प्राचीनतर टीका-कारोंका उल्लेख करते हैं। इन सबसे सम्प्रदायकी अविच्छिन्न धाराकी बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इन कारणोंसे सम्प्रदायको हम किसी दशामें उपेक्षणीय नहीं कह सकते।

पाश्चात्य विद्वानोंका काम।

अब हम वैदिक साहित्यमें पाश्चात्य विद्वानोंके कामको लेते हैं। मोटे तौरपर उनका काम निम्न विभागोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) वैदिक ग्रन्थोंका विवेचना-पूर्वक सम्पादन;

(२) वैदिक ग्रन्थोंका अनुवाद और व्याख्यान;

(३) वैदिक कोशोंका निर्माण;

(४) वैदिक-व्याकरण-विषयक कार्य;

(५) वैदिक-छन्दो-विषयक कार्य;

(६) वैदिक साहित्यकी सूचियाँ;

(७) वैदिक-पुराण-विज्ञान-विषयक ग्रन्थ-निर्माण;

(८) वैदिक-साहित्य-विषयक सामान्य अनुसन्धान।

इन विभागोंमेंसे एक-एकको लेकर हम उनका संक्षिप्त और आवश्यक वर्णन ही नीचे देंगे।

(१) वैदिक ग्रन्थोंका विवेचनात्मक सम्पादन और संस्करण।

पाश्चात्य विद्वानोंने वैदिक साहित्यके विषयमें जितना काम किया है, उसमें ऊपरके शीर्षकमें निर्दिष्ट कामका बड़ा ऊँचा स्थान है। उस समय, जब कि, वेदोंकी प्रतियाँ भारतवर्षमें भी देखनेको मुश्किलसे मिल सकती थीं और साधारण लोगोंका यह खयाल था कि, वेद कभी पुराने समयमें तो उपलब्ध थे; पर अब नष्ट हो चुके हैं तथा जब अच्छे-अच्छे पण्डित भी सम्पूर्ण वेदोंके दर्शन नहीं कर सकते थे, ऐसे समयमें वेदोंके सहस्रों वर्षोंकी पुरानी पुस्तकोंके शुद्ध एवं प्रामाणिक संस्करण निकालना अनोखे पाण्डित्य और परिश्रम आदिकी दृष्टिसे ही एक परम प्रशंसनीय काम नहीं था; परन्तु भारतवासियोंके धर्म और सभ्यताकी रक्षाकी दृष्टिसे भी उसकी जितनी सराहना की जाय, थोड़ी है। यह भारतके साथ एक बड़ा उपकार था। यह किसने नहीं सुना है कि, स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराजने जर्मनीसे ही वेदोंकी छपी प्रतियाँ मँगाकर उनको भारतवर्षमें छपवाया था?

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पादित वैदिक ग्रन्थोंका महत्त्व अब भी कुछ कम नहीं है। विवेचना-पुरःसर ग्रन्थ-सम्पादनका पाठ वस्तुतः भारतीयोंने पाश्चात्य विद्वानोंसे ही सीखा है। कुछ भारतीय विद्वान् तो उनसे प्रभावित होकर अब उन्हींकी तरह विवेचनात्मक संस्करण, सफलतापूर्वक, निकालने लगे हैं। पर अब भी प्रायः करके यूरोप और अमेरिकामें छपे संस्करण भारतीय संस्करणोंसे शुद्धता, सुन्दरता तथा उपयोगिता आदिकी दृष्टिसे, कहीं अधिक अच्छे होते हैं। कुछ भी सही, यूरोप और अमेरिकाके विद्वानोंके द्वारा किये गये अनुवादादिसे चाहे मुख्यतया उन्हींको लाभ हुआ हो, पर उनके ये संस्करण, कुछ अधिक तेज होते हुए भी, भारतीय और पश्चिमीय विद्वानोंके लिये बड़े ही कामकी चीजें हैं।

कुछ थोड़ेसे चुने हुए विद्वानों द्वारा किये गये सम्पादनको छोड़कर भारतवर्षमें साधारणतया प्रचलित सम्पादनमें और पाश्चात्य देशोंमें प्रचलित विवेचनात्मक सम्पादनमें महान् अन्तर है। यहाँ बड़े-से-बड़े पण्डितोंको भी यह पता नहीं कि, ग्रन्थ-सम्पादन भी एक ऐसी कला है। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य देशोंमें ग्रन्थ-सम्पादनका भी एक विशाल विज्ञान बन गया है।

विवेचनात्मक सम्पादन (Critical edition) में शुद्धता, सुन्दरता आदिके साथ-साथ यह आवश्यक होता है कि, हस्त-लिखित-ग्रन्थ-सामग्री (Ms. Material) का तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन, पूर्णरूपसे, किया जाय।

और इसके आधारपर प्राचीनतम या मौलिक पाठका निर्णय किया जाय। यह बड़ा गूढ़ विषय है, जिसका यहां संक्षेपसे भी वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसे संस्करणमें यह भी आवश्यक है कि, उस ग्रन्थमेंसे सामान्य दृष्टिसे जो-जो उपयोगी और रुचिकर सूचना मिल सके, उसे इकट्ठी करके दिखलाया जाय। ग्रन्थकारका समय आदिका निर्णय तथा अनेक प्रकारकी सूचियां भी आवश्यक होती हैं। भारतवर्षीय साधारण संस्करणोंमें इन सबका प्रायः अभाव रहता है। प्रायः इन संस्करणोंका महत्त्व इनके आधारीभूत हस्त-लिखित ग्रन्थसे भी कम होता है। यही नहीं, सम्पादक लोग अपनी ओरसे भी तरह-तरहकी अशुद्धियां और भ्रान्तियोंका समावेश, मुद्रित ग्रन्थोंमें, कर दिया करते हैं। इन बातोंके अनेकानेक उदाहरण हम दे सकते हैं; पर ऐसा करना यहां उचित नहीं दीखता।

विवेचनात्मक सम्पादनके विषयमें इतने आवश्यक प्राक्कथनके अनन्तर हम पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पादित ग्रन्थोंको लेते हैं। यों तो पश्चिममें सैकड़ों वैदिक ग्रन्थोंका सम्पादन हो चुका है और होता रहता है; पर यहां हम कुछ मुख्य-मुख्य संस्करणोंका ही वर्णन करेंगे।

वैदिक संहिताएँ। ऋग्वेद-संहिता।

हम वैदिक ग्रन्थोंके पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये सम्पादनमें सबसे ऊंचा स्थान मैक्स म्यूलर महाशय द्वारा सम्पादित, सायणभाष्यके सहित, ऋग्वेद-संहिताको देते हैं। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसका प्रारम्भ १८४९ ई० में और समाप्ति १८७५ में हुई। ३००० से अधिक पृष्ठोंको इस बृहत् पुस्तकका सम्पादन करना, उन दिनों कुछ आसान बात न थी। सम्पादकके परिश्रमका अनुमान उनके कई सौ पृष्ठोंके नोटों तथा भूमिकासे ही हो सकता है। इसका सुधरा हुआ द्वितीय संस्करण, बड़ी सावधानताके साथ, १८९०—१८९२ में मुद्रित हुआ। ये दोनों संस्करण लण्डनमें हुए थे। इन संस्करणोंकी तुलना यदि हम गणपत कृष्णाजीके, सभाष्य ऋग्वेद-संहिताके, संस्करणसे करें, तो दोनोंका भेद तत्काल प्रतीत हो जायगा। बम्बईके संस्करणमें और तो क्या, पदच्छेद भी ठीक-ठीक नहीं किया गया है। मैक्स म्यूलर महोदयने १८७३ में मूल-संहिता और पदपाठ-को भी पृथक्-पृथक् छपवाया था। इसकी सुन्दरता देखते ही बनती है।

ऋग्वेद-संहिताके उक्त संस्करण देवनागरी अक्षरोंमें हैं। पर एक दूसरा संस्करण (मूल मात्रका), कुछ फुट नोटोंके साथ, रोमन अक्षरोंमें, अत्यन्त योग्यताके साथ, थ्यूडोर आउफ्रेक्ट (Theodor Aufrecht) नामक जर्मन विद्वान्ने, १८६१—१८६३ में, जर्मनीसे निकाला। इसका दूसरा संस्करण १८७७ में निकाला गया। यूरोपके विद्वान्, जिनको रोमन लिपिका अधिक अभ्यास होता है, इसी संस्करणको प्रायः अधिक उपयोगमें लाते हैं। प्रो० मैकडा-नलको यही संस्करण बड़ा प्रिय था। उनकी अपनी प्रति अनेकानेक नोटोंसे भरी थी।

इस संहिताके भारतीय संस्करण अशुद्ध, और इसी कारण अनुसन्धान आदिके कार्यके लिये अविश्वसनीय, हैं। अब भी भारतवर्षमें इन पाश्चात्य संस्करणोंसे अच्छा संस्करण प्राप्य नहीं है।

यजुर्वेद-संहिता।

शुक्ल-यजुर्वेदीय वाजसनेयि-संहिता (माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओंके पाठोंके सहित और महीधर-भाष्यके साथ) सबसे प्रथम बर्लिन शहरमें, प्रो० वेबर द्वारा सम्पादित होकर, अनेक तालिकाओं तथा देवनागरी अक्षरोंमें, पाठान्तरोंके साथ, १८४९-१८५२ में, छपायी गयी।

इन्हीं विद्वान्ने अपने "इण्डिश स्टुडियन" नामक रिसर्च जर्नल (जिल्दें ११, १२) में तैत्तिरीय-संहिताको, रोमन अक्षरोंमें, सम्पादित कर १८७१-१८७२ में, अनेकानेक उपयोगी नोटोंके साथ, निकाला।

इसी संहिताके पदपाठका विस्तृत विचार इन्हीं विद्वान्‌ने, इसी जर्नलको १३ वीं जिल्दमें, किया है।

कृष्ण-यजुर्वेदीय मैत्रायणी-संहिता, १८८१-१८८६ में, प्रो० श्रेडर (L. V. Schroeder) द्वारा, बड़ी योग्यतासे सम्पादित होकर, लाइबुजिग नगरसे प्रकाशित की गयी।

कृष्ण-यजुर्वेदीय काठक-संहिताका भी उक्त प्रोफेसर महोदयने सम्पादन किया और वह भी उक्त नगरसे ही, १९००-१९१० में, प्रकाशित हुई।

यह स्मरण रखना चाहिये कि, ये दोनों संहिताएँ अभीतक भारतवर्षमें कहीं भी नहीं छपी हैं।

सामवेद-संहिता।

राणायणीय शाखाकी सामवेद-संहिताका सबसे पहला संस्करण जे० स्टेवेन्सन (G. Stevenson) महोदयने लण्डनसे, १८४२ में, अंग्रेजी अनुवादके साथ, निकाला था। इसी प्रकार कौथुम-शाखीय साम-संहिताका सम्पादन १८४८ में बेन्फे (Tho. Benfey) महोदयने किया और जर्मन अनुवाद, अनेक उपयोगी परिशिष्ट तथा शब्द-कोशके साथ, लाइबुजिग नगरसे इसे प्रकाशित कराया।

अथर्व-संहिता।

शौनक-शाखीय अथर्व-संहिताका सबसे प्रथम सम्पादन रोठ और ह्विटने (W. D. Whitney) महोदयोंने किया। यह संस्करण, १८५६ में, बर्लिनसे निकला था।

पैप्पलाद-शाखीय अथर्व-संहिताको संसारभरमें केवल एक हस्तलिखित प्रति, काश्मीरमें, मिली थी। प्रो० ब्लूमफील्ड और गार्बे (M. Bloomfield, R. Garbe) ने इस अतिजीर्ण प्रतिका पूरा फोटो लेकर, उसी फोटोके रूपमें, तीन बड़ी-बड़ी जिल्दोंमें, इसे १९०१ में, जर्मनीमें छपवाया। यह शारदा लिपिमें है। यह एक दर्शनीय पुस्तक है और किसी भी पुस्तकालयके लिये गर्व और शोभाकी वस्तु है। फोटो होनेसे यह उस हस्तलिखित प्रतिकी हुबहु नकल है। यहाँ तक कि, कागजका रंग भी ज्योंका त्यों दिखलाई देता है। पुस्तक देखनेसे मालूम होता है, मानो मूल प्रतिके पन्ने कागजपर चिपका दिये गये हैं! यदि यह संस्करण न होता, तो संसार भरमें एक मात्र उस अतिजीर्ण प्रतिके नष्ट होनेपर संसारसे यह शाखा ही, अन्य शाखाओंकी तरह, सदाके लिये लुप्त हो जाती। इसीसे प्रतीत हो जायगा कि, पाश्चात्य विद्वानोंने किस प्रेम और मनो-योग से, व्यय और परिश्रमकी परवा न कर, भारतीय विद्याकी रक्षामें सहायता की है।

ऊपर हमने वैदिक संहिताओंके विषयमें ही पाश्चात्य विद्वानोंके कामको, मोटे तौरपर; दिखलाया है। अब प्रत्येक वेदके ब्राह्मणोंको लीजिये। "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस प्रमाणके अनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थोंको भी वेद ही समझा जाता है। विस्तारके भयसे आरण्यकों तथा उपनिषदोंका वर्णन यहाँ हम नहीं करेंगे; यद्यपि इनके विषयमें भी पाश्चात्य विद्वानोंने बहुत कुछ काम किया है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण।

१८६३ में ऐतरेय-ब्राह्मणका सम्पादन, अंग्रेजी अनुवादके साथ, प्रो० हाउग (M. Haug) ने किया। यह पुस्तक दो जिल्दोंमें बम्बईसे प्रकाशित हुई थी; पर इस ब्राह्मणका सबसे अच्छा संस्करण आउफ्रेक्ट महोदयका है। इसमें सायण-भाष्यके उपयोगी अंश और अनेक सूचियाँ भी दी गयी हैं। बान नगरसे, १८७९ में, यह रोमन अक्षरोंमें प्रकाशित हुआ था।

प्रो० लिण्डनर (B. Lindner) ने कौषीतकि-ब्राह्मणका सम्पादन किया और यह जेना नगरमें, १८८७ में, मुद्रित हुआ।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण।

माध्यन्दिन-शाखीय शतपथ-ब्राह्मणका सबसे पहला संस्करण, १८५५ में, बर्लिनसे निकला। इसका सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान् वेबर महोदयने किया था।

सामवेदीय ब्राह्मण ।

अद्भुत-ब्राह्मणका सम्पादन प्रो० वेबरने किया और यह संस्करण, जर्मन अनुवादके साथ, १८५८ में, बर्लिनसे, प्रकाशित हुआ। बर्नेल (A. C. Burnell) महोदयने कई सामवेदीय ब्राह्मणोंका सम्पादन किया। इनके द्वारा सम्पादित ब्राह्मणोंमेंसे साम-विधान-ब्राह्मण लण्डनसे, १८७३ में, वंश-ब्राह्मण और देवताध्याय-ब्राह्मण १८७३ में, आर्षेय-ब्राह्मण १८७६ में और संहितोपनिषद्-ब्राह्मण १८७७ में, मंगलोरसे, प्रकाशित हुए। वंश-ब्राह्मणका सम्पादन वेबर महोदयने भी किया और अपने उपर्युल्लिखित जर्नलकी चौथी जिल्दमें उसे निकाला। जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मणका सम्पादन एर्टेल (H. Oertel) महोदयने किया और इसे "अमेरिकन ओरिएण्टल जर्नल" की सोलहवीं जिल्दमें, अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियोंके साथ, निकाला।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण ।

गोपथ-ब्राह्मणको बड़ी योग्यतासे गास्ट्रा (D. Gaastra) महोदयने सम्पादित किया है; और, यह लेडन नगरसे, १९१९ में, प्रकाशित हुआ है।

श्रौतसूत्रादि अन्य वैदिक ग्रन्थ ।

इसी प्रकार प्रत्येक वेदके अनेक श्रौत और गृह्य सूत्रोंका भी पाश्चात्य विद्वानोंने सम्पादन किया है। उनमेंसे अनेक अभीतक भारतवर्षमें नहीं मुद्रित हुए हैं। यहां उनका विशेष वर्णन, विस्तारके भयसे, हम नहीं करेंगे। केवल विशिष्ट विद्वानोंका नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। उक्त सूक्त-ग्रन्थोंके सम्पादकोंमें आश्वलायन-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र आदिके सम्पादक स्टेन्सलर (A. F. Stenzler), शाङ्खायन श्रौतसूत्रके सम्पादक हिलब्रान्ड्ट (A. Hillebrandt), बोधायन श्रौतसूत्र आदिके सम्पादक कैलैण्ड (W. Caland), आपस्तम्बश्रौतसूत्र आदिके सम्पादक गार्बे (R. Garbe), मानवश्रौतसूत्र आदिके सम्पादक क्नाउएर (F. Knauer), कात्यायन श्रौत-सूत्रके सम्पादक वेबर, कौशिक-सूत्रके सम्पादक ब्लूमफील्ड आदि महोदयोंके नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त, और भी निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका वेदोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके विषयमें जितना काम अभीतक हुआ है, वह ज्यादातर पाश्चात्य विद्वानोंने ही किया है। इस सम्बन्धमें निरुक्तके सम्पादक रोठ, ऋग्वेद-प्रातिशाख्यके सम्पादक मैक्स म्यूलर और रिजे (Regnier), तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य और अथर्व-प्रातिशाख्यके सम्पादक ह्विटने, वाजसनेयि-प्रातिशाख्यके सम्पादक वेबर, षड्गुरुशिष्यकी टीकाके साथ ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी तथा शौनकीय बृहद्देवताके सम्पादक मैक्डानल (A. A. Macdonell) आदि विद्वानोंके नाम सादर उल्लेखनीय हैं।

(२) वैदिक ग्रन्थोंके अनुवाद और व्याख्यान ।

सम्पादनकी तरह सैकड़ों वैदिक ग्रन्थोंके अनुवाद और विवेचनात्मक व्याख्यान भी अबतक अंग्रेज, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओंमें हो चुके हैं। ये अनुवाद आदि; संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा गृह्यसूत्र आदि ऊपर दिखलाये हुए, सब ही प्रकारके ग्रन्थोंके हैं। लेखके बड़े हो जानेसे उन सबका वर्णन हम यहां नहीं कर सकते, तो भी कुछ ग्रन्थोंके अनुवादोंका उल्लेख, ग्रन्थोंके सम्पादनके प्रसङ्गमें, ऊपर आ ही चुका है। यहां हम विशेषतया संहिताओं और ब्राह्मणोंके ही पूरे अनुवाद आदिका वर्णन कर सकेंगे।

प्रथम हम ऋग्वेदके अनुवादोंको लेते हैं। जहांतक हम समझते हैं, अभीतक भारतवर्षकी किसी भी भाषामें, चारों वेदोंका तो क्या कहना, ऋग्वेदका भी कोई पूर्ण अनुवाद नहीं। परन्तु यूरोपकी एक-एक भाषामें ऋग्वेदके कई अनुवाद हो चुके हैं। ऋग्वेदका यूरोपमें, सबसे पहले, अंग्रेजीमें अनुवाद विल्सन (H. H. Wilson) महोदयने निकाला। १८५० में यह

आरम्भ हुआ था। आप आक्सफोर्डमें सबसे पहले संस्कृतके प्रोफेसर थे। आपने हूबहू सायणका अनुसरण किया है। आपका खयाल था कि, वेदोंके अर्थोंके लिये हमें परम्परागत भारतीय सम्प्रदायके ही पीछे चलना चाहिये। ❀

इसके अनन्तर जर्मन भाषामें सम्पूर्ण ऋग्वेदके दो अनुवाद निकले। पहला अनुवाद **ग्रासमन** (H. Grassmann) महोदयका पद्यमें है। यह दो जिल्दोंमें, लाइब्जिग नगरसे, १८७६-७७ में, प्रकाशित हुआ था। आप रोठ महाशयके शिष्य थे; इसलिये यह अनुवाद उन्हींकी पद्धतिके अनुसार, भारतीय टीकाकारोंकी उपेक्षा करके, स्वतन्त्र दृष्टिसे ही, किया गया है।

दूसरा अनुवाद जर्मन गद्यमें **लुडविग** (A. Ludwig महोदयने किया। यह छ जिल्दोंमें प्रागसे, १८७६-१८८८ में, प्रकाशित हुआ था। अनुवादके साथ इसमें अत्यन्त उपयोगी विस्तृत व्याख्या भी दी गयी है। इस अनुवादमें भारतीय सम्प्रदायका भी उचित उपयोग किया गया है। इसीलिये उपर्युक्त अनुवाद जैसी स्वतन्त्रता इसम नहीं है।

१८८९-१८९२ मे **ग्रिफिथ** (R. T. H. Griffith) महोदयने ऋग्वेदका अंग्रेजी पद्यमें अनुवाद किया। यह बनारससे प्रकाशित हुआ था। अनेक उपयोगी सूचियाँ और टिप्पणियाँ भी इसमें दी हैं। अनुवादक महोदयने उक्त अनुवादोंका तथा सायण-भाष्यका भी उचित उपयोग किया है।

इन अनुवादोंके अतिरिक्त, ऋग्वेदके ऊपर, बड़ी अच्छी विवेचना-पूर्ण व्याख्या **प्रो० ओल्डेनबर्ग** (H. Oldenberg) ने लिखी है। यह दो जिल्दोंमें, बर्लिनसे १९०९-१९१२ में, प्रकाशित हुई थी। ऋग्वेदके ऊपर इससे अच्छी गवेषणापूर्ण व्याख्या और कोई नहीं है। इससे व्याख्याताकी अगाध विद्वत्ताका पता चलता है। इन्हीं महोदयने एक बहुत बड़ी पुस्तकमें, जिसको उक्त व्याख्याकी भूमिका समझना चाहिये, ऋग्वेद-सम्बन्धी छन्दः आदिका बड़ा विस्तृत विवेचन, ५०० से अधिक पृष्ठोंमें, किया है। यह पुस्तक १८८८ में, बर्लिनसे, प्रकाशित हुई थी।

अब यजुर्वेदको लीजिये। कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीय-संहिताका अंग्रेजी अनुवाद **प्रो० कीथ** (A. B. Keith) ने किया है। यह अमेरिकाकी "हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज" की १८ वीं और १९ वीं जिल्दोंमें, १९१४ में, प्रकाशित हुआ था। अनुवादके साथ लगभग २०० पृष्ठोंकी भूमिका दी गयी है, जो बड़े महत्त्वकी है और अनुवादककी अद्वितीय विद्वत्ताका परिचय देती है।

शुक्ल-यजुर्वेदका अंग्रेजी पद्यमें अनुवाद, सूचियों आदिके साथ, उक्त ग्रिफिथ महोदयने किया है। यह १८९९ बनारससे प्रकाशित हुआ था।

सामवेदो[illegible] अनुवादोंका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त, इसका ग्रिफिथ साहबका अंग्रेजी अनुवाद, १८९३ में, बनारससे प्रकाशित हुआ था।

अथर्ववेदके दो अंग्रेजी अनुवाद मौजूद हैं। ग्रिफिथका अनुवाद बनारससे, १८९५—९८ में, प्रकाशित हुआ था। दूसरा प्रो० ह्विटनेका है। इसको **लैनमैन** (C. R. Lanman) महोदयने पूरा करके और शोध करके उपर्युक्त अमेरिकाकी सीरीजमें (जिल्द ७, ८), १९०५ में निकाला था। इसमें बड़ी विद्वत्ता-पूर्ण टिप्पणियाँ और विविध सूचियाँ भी दी गयी हैं। १५० से अधिक पृष्ठोंकी भूमिका भी है। पुस्तक १००० से अधिक पृष्ठोंमें समाप्त हुई है।

ब्राह्मणोंमें ऐतरेय-ब्राह्मणके एक अनुवादका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ऐतरेय और कौषीतकि-ब्राह्मणोंका अंग्रेजीमें अनुवाद **प्रो० कीथने** किया है। यह उक्त अमेरिकन सीरीजमें, (जिल्द २५), १९२० में, निकला था। इसके साथमें १०० से अधिक पृष्ठोंकी एक विद्वत्ता-पूर्ण भूमिका भी है।

❀ भारतवर्षकी अनेक भाषाओंमें चारों वेदोंका अनुवाद हुआ है। मराठीमें चित्राव शास्त्री द्वारा और बँगलामें रमेशचन्द्र दत्त द्वुवारा सम्पूर्ण ऋग्वेदका अनुवाद भारत-प्रसिद्ध है। —सम्पादक

भगवान् वेद

शतपथ-ब्राह्मणका अनुवाद, अंग्रेजीमें, **प्रो० एगलिङ्ग** (J. Eggeling) ने किया है। बृहद् भूमिकाके साथ यह "सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज" की ५ (१२, २६, ४१, ४३, ४४) जिल्दोंमें निकला था।

साम-विधान-ब्राह्मणका अनुवाद प्रो कोनो (konow) ने किया है। इसका प्रकाशन, १८९३मे, हाल नगरसे हुआ था।

इसी तरह प्रातिशाख्यों, अनुक्रमणियों आदिके भी अनुवाद तथा व्याख्यान, बड़ी योग्यतासे, पाश्चात्य विद्वानोंने किये है। यहाँ इतना स्थान और अवकाश नहीं कि, उनका वर्णन किया जाय।

(३) वैदिक कोशोंका निर्माण।

किसी भाषा और साहित्यके समुचित अध्ययनके लिये कोश और व्याकरण अत्यन्त आवश्यक होते हैं। पाश्चात्य विद्वानोंने इन विषयोंमें भी जो काम किया है, वह आश्चर्यमे डालनेवाला है। वैदिक व्याकरणका वर्णन नीचे किया जायगा। यहाँ हम वैदिक कोशोंको लेते हैं।

इस विषयमें सबसे अधिक महत्त्वका काम, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, **रोठ** और **बेहूटलिंगक** महोदयों द्वारा निर्मित 'संस्कृत जर्मन महाकोश" है। यह कोई १०००० (दस हजार) पृष्ठोंमे, सात भागोंमे, समाप्त हुआ है। इसका प्रकाशन सेंट पीटर्सबर्ग नगरसे १८५५-१८७५में हुआ था। इसमें प्रत्येक शब्दको लेकर उसके जो-जो अर्थ, वैदिक साहित्यसे लेकर पिछले संस्कृत-साहित्यतक, हो सकते हैं, उनको दिया है। साथमे, प्रमाण-स्वरूप, उन-उन स्थलोंका भी निर्देश किया है, जहाँ-जहाँ वह शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों-मे प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार वास्तवमें प्रत्येक शब्दका पूरा इतिहास यहाँ मिल जाता है। इस पुस्तककी पुरानी प्रतियों-का मूल्य, हमने यूरोपमें देखा था, एक-एक सहस्र माँगा जाता था। इसमें वैदिक भागका निर्माण **रोठ** महाशयने और संस्कृत-साहित्य-विषयक भागका दूसरे महोदयने किया है। पुराना होनेपर भी यह कोश संस्कृत-प्रेमियोंके लिये एक गर्वकी चीज है।

दूसरा वैदिक कोश **ग्रासमन** महोदयका है। इसका सम्बन्ध केवल ऋग्वेदसे है। इसमें प्रत्येक शब्दके नीचे उन सब ऋग्वेद-स्थलोंका उल्लेख किया है, जहाँ-जहाँ वह शब्द आया है। वैदिक अध्ययनके लिये यह एक आवश्यक पुस्तक है। इसका प्रकाशन, १८७३-७५ में, हुआ था।

प्रो० मैक्डानल और **कीथ** का "वैदिक इण्डेक्स" इस विषयमे सबसे नवीन, पर अत्युपयोगी, कोश है। इसमें चुने हुए वैदिक शब्दोंके, बड़ी गवेषणाके साथ, अर्थोंका निर्णय किया गया है।

इनके अतिरिक्त और भी कई अच्छे कोश, पाश्चात्य विद्वानोंने, निर्माण किये हैं। उनका वर्णन करना यहाँ हम आवश्यक नहीं समझते।

(४) वैदिक व्याकरण।

वैदिक व्याकरणके विषयमें भी पाश्चात्य विद्वानोंने बहुत कुछ काम किया है। अनेकानेक गवेषणापूर्ण लेख, रिसर्चके पत्रोंमें, प्रकाशित हुए हैं। छोटी-बड़ी पचासों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिसे वैदिक भाषापर विचार किया गया है। यहाँ हम दो-तीन अत्यावश्यक पुस्तकोंका ही वर्णन पर्याप्त समझते हैं।

प्रो० **ह्विटनेकी** संस्कृत-व्याकरणकी पुस्तक प्रथम बार १८७९ में अमेरिकासे प्रकाशित हुई थी। इसमें आपने लौकिक संस्कृतके साथ-साथ गौण रूपसे वैदिक भाषाका भी व्याकरण दिया है। आपने ऐतिहासिक दृष्टिसे ही गौण रूपसे वैदिक व्याकरणका निर्देश किया है।

वैदिक व्याकरणकी सबसे महत्त्वकी पुस्तक **मैक्डानलकी** बड़ी "वैदिक ग्रामर" है। जर्मनीकी प्रसिद्ध "ग्रुण्ड-रिस सीरीज" में, १९१० में, यह निकली थी। हमारी सम्मतिमें अपने विषयकी यह सर्वोत्तम पुस्तक है। भारतवर्षमें कभी किसीने वैदिक भाषाका, व्याकरणकी

दृष्टिसे ऐसा अच्छा सर्वाङ्ग-पूर्ण विचार नहीं किया। जहाँ पाणिनि-व्याकरणमें वैदिक प्रयोगोंको "बहुलं छन्दसि" कहकर टाल दिया है, वहाँ उक्त व्याकरणमें उनको भी नियममें बाँधनेका प्रयत्न किया गया है। प्रो० मैक्डानलने अपने इस व्याकरणका एक संक्षिप्त छात्रोपयोगी संस्करण भी, आक्सफोर्डसे, प्रकाशित कराया है।

वैदिक व्याकरणकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक जर्मन भाषामें प्रो० वाकरनागेल (J. Wackernagel) की है। पर यह अभीतक सन्धि-प्रकरणतक ही छपी है। तिसपर भी काफी बड़ी हो चुकी है। यदि यह पुस्तक कभी पूरी हो सकी, तो अपने विषयमें सर्वोत्कृष्ट समझी जायगी।

(५) वैदिक छन्द।

वैदिक छन्दोंके ऊपर भी पश्चिममें बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषयका बड़ा विस्तृत विचार प्रो० वेबरने अपने "इण्डिश स्टुडियन" नामक जर्नलको आठवीं जिल्दमें किया है।

प्रो० आर्नाल्ड (E. V. Arnold) की "वैदिक मीटर" नामक पुस्तकमें, जो १९०५ मे प्रकाशित हुई थी, केवल ऋग्वेदके ही छन्दोंका विचार किया गया है।

(६) वैदिक साहित्यकी सूचियाँ।

अनुसन्धानकी दृष्टिसे विविध प्रकारकी सूचियोंका महत्त्व बहुत अधिक होता है। इनके व्यावहारिक उपयोग भी होते ही हैं। हमारे देशके प्राचीन समयके विद्वान् इसको खूब समझते थे। तभी तो उन्होंने वेदोंके लिये अनेक प्रकारको अनुक्रमणियोंका निर्माण किया था। परन्तु खेद है, आज कल हमारे पण्डितगण इनकी उपेक्षा करते हैं। पश्चिममें ऐसी बात नहीं है। विवेचनात्मक सम्पादनमें सूचियाँ आवश्यक होती हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। इस प्रकार तत्तत्सम्पादकोंके द्वारा वैदिक ग्रन्थोंकी तरह-तरहकी सूचियाँ तैयार हो चुकी हैं। भिन्न-भिन्न वेदों आदिकी शब्द-सूचियाँ भी इन्हींमें सम्मिलित हैं। उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी सूचियाँ हैं, जो स्वतन्त्रतया तैयार की गयी हैं और अनेक दृष्टियोंसे अत्यधिक उपयोगी हैं। उनमेंसे कुछका वर्णन यहाँ आवश्यक है।

ऐसी सूचियोंमें सबसे ऊँचा स्थान हम प्रो० ब्लूमफील्ड द्वारा निर्मित "वैदिक कान्कार्डेन्स" या "मन्त्र-महासूची" को देते हैं। यह "हार्वर्ड ओरिएण्टल सोरीज" की १० वीं जिल्दमें, १९०६ में, प्रकाशित हुई थी। इसमें रायल काटोके ११०२ पृष्ठ हैं। ग्रन्थकारके शब्दोंमें "यह उस समयतक छपे हुए वैदिक साहित्यकी प्रत्येक ऋचाके प्रत्येक पादकी और अन्य यजुः, प्रैष आदि गद्यमय मन्त्रोंकी सूची है। साथ ही इसमें भिन्न-भिन्न वैदिक ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले मन्त्रोंके पाठ-भेदोंका भी निर्देश किया गया है।" कुछ अमुद्रित पुस्तकोंका भी उपयोग ग्रन्थकारने किया था। यह महासूची ११९ पुस्तकोंके आधारपर बनी है, जिनमे वैदिक संहिताओंसे लेकर १० प्रकारकी पुस्तकें सम्मिलित हैं। ऐसी महासूचीके उपयोगके विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। यह रोमन अक्षरोंमें है।

दूसरी महासूची "ऋग्वेदिक रेपिटीशन्स" नामकी इन्हीं ग्रन्थकारकी, उक्त ग्रन्थ-मालाकी २० वीं और २४ वीं जिल्दोंमें, निकली है। इसका उपयोग खासकर विशेषज्ञोंके लिये ही है। एक महासूची "उपनिषद्वाक्य-कोश" कर्नल जैकब (G. A. Jacob) महोदयकृत, १८९१ में, बम्बईमें छपी थी। ६६ उपनिषदोंके आधारपर बनी हुई यह सूची भी अत्यन्त उपयोगी है।

(७) वैदिक पुराण-विज्ञान।

इस विषयमें भी पाश्चात्य विद्वानोंने ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिसे बहुत काम किया है। यहाँतक कि, इसीके आधारपर पश्चिममें स्वतन्त्र तुलनात्मक पुराण-विज्ञान (Comparative Mythology) की सृष्टि हो चुकी है।

इस विषयपर लिखनेवाले विद्वानोंमें प्रो० मैक्स म्यूलर, मैक्डानल और हिलब्राण्डटके नाम सादर

उल्लेखनीय हैं। आपलोगोंने इस विषयपर स्वतन्त्र विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तकें लिखी हैं।

(८) वैदिक-साहित्य-विषयक सामान्य अनुसन्धान।

यूरोप और अमेरिकामें ऐसी अनेक अनुसन्धान-पत्रिकाएँ निकलती हैं, जिनका मुख्य ध्येय यही है कि, भारतीय और पूर्वीय विषयोंमें अनुसन्धान और खोजको उत्तेजना दी जाय। इन पत्रिकाओंमें अत्यन्त उपयोगी सैकड़ों लेख, वैदिक खोजके विषयमें, निकल चुके हैं और निकलते रहते हैं। इन पत्रिकाओंमेंसे, उदाहरणार्थ, कुछके नाम ये हैं- "जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन" (इङ्गलैण्डसे)। "जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी" (अमेरिकासे)। इसी तरहका Z. D. M. G. नामकी प्रसिद्ध पत्रिका बर्लिनसे निकलती है।

यहाँ हम वैदिक साहित्यके इतिहासके विषयमें जो पुस्तकें लिखी गयी हैं, उनका तथा अनेक ग्रन्थ-मालाओंका, जिनमें अनेकानेक वैदिक ग्रन्थ तथा उनके अनुवाद निकल चुके हैं, स्थानाभावसे वर्णन नहीं कर सकते।

उपसंहार।

स्थानाभावसे जो कुछ ऊपर दिया गया है, वह बहुत ही संक्षिप्त है; परन्तु इससे स्पष्ट हो जाता है कि, हमारे वैदिक साहित्यमें पाश्चात्य विद्वानोंने कितना घोर परिश्रम किया है और उनके इस परिश्रमसे हम भारतवासियोंको कितना लाभ हुआ है। आशा है, इससे हम लोग अवश्य कुछ शिक्षा लेंगे।*

* यूरोपियनोंके वैदिक-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थोंकी, मूल्य, रचना-काल और प्राप्ति-स्थानके साथ, विस्तृत सूची सम्पादकीय मन्तव्यमें देखिये। —सम्पादक

अग्निदेव

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य।
अग्ने रथीरध्वराणाम्॥

ऋग्वेद ५।८।३५

विजय-धाम, हमें जय दीजिये।
अभयदेव! हमें नित कीजिये॥

सतत यज्ञ तथा रणमें महा।
स्तवन-योग्य तुम्हीं प्रभु! हो अहा॥

अपरके यश-कीर्तन जो करे
वह कुबुद्धि कुपन्थ वृथा धरे।
न रणमें उसको जय प्राप्त हो
न उसका यश विश्रुत व्याप्त हो॥

जगत-ईश विधायक शान्तिके।
अनलरूप सुनायक कान्तिके॥

विविध अध्वरमें बनते रथी।
विजय-दायक, पाण्डव-सारथी॥

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय

वेद-परिचय

साहित्याचार्य प० महेन्द्रमिश्र 'मग'

(छतहार, तारापुर, भागलपुर)

वेद अगाध ज्ञानका भाण्डार है। प्राचीन कालकी विद्वन्मण्डलियोंमें, वेदोंके ऊपर, जितनी चर्चा थी, जितने ग्रन्थ रचे गये थे, उतने किसी विषयपर नहीं। इस छोटेसे वेद-परिचायक निबन्ध द्वारा मैं उन्हींका दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ।

वेदके त्रयी, श्रुति, आम्नाय, छन्द, स्वाध्याय और निगम आदि अनेक नाम हैं। कौन-सा नाम किनके बाद पड़ा है, यह जरा विवाद-ग्रस्त विषय है; परन्तु ये नाम अर्वाचीन नहीं हैं, यह सर्व-सम्मत है। वेद परमात्माका निःश्वास है, अनादि और अपौरुषेय है। अनेकोंके विचारसे यदि पौरुषेय है भी, तो शब्दमात्र; अर्थ नहीं। शङ्कर तो शब्द, अक्षर, स्वर और क्रमतकको अनादि—कल्प-कल्पान्तसे आगत—मानते हैं। सायण तथा स्वामी दयानन्दका भी यही सिद्धान्त है। आधुनिक वैज्ञानिकों तथा ऐतिहासिकोंका परस्पर विवाद तो, अभीतक निपटा ही नहीं है। जो हो; किन्तु आधुनिकोंके विचारसे भी वेद प्राचीनतम और मनुष्य-निर्मित ग्रन्थ है। अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेद हुआ है। बहुतोंका मत है कि, ये अग्नि आदि तीनों देवता हैं, ऋषि नहीं। निरुक्तकार यास्ककी भी यही राय है। देवताको कोई साकार और कोई तत्तत्पदार्थाधिष्ठित मानते हैं। ये यास्क आदि वैदिक देवताओंको एक ही मानते और कर्म-भेदसे उनके नामोंमें विविधता मानते हैं। किन्हींका कथन है कि, समाधिस्थ सनातन ऋषियोंके हृदयमें ब्रह्म (वेद) स्वयं प्रकट हुए थे—"ऋषिर्दर्शनात् मंत्रान् ददर्श"। यही कारण है कि, ऋषि मंत्र-द्रष्टा कहाते हैं—"ऋषयो मंत्र-द्रष्टारः"। एक बात यह भी मानी जाती है कि, गत कल्पमें जो वेद नष्ट हो गया था, उसे ऋषियोंने ही तपस्या करके प्राप्त किया।

वेदका अर्थ लिखते समय वेदान्त-कारने लिखा है—"मौनशरीरावच्छिन्न-भगवद्वाक्यम्", न्यायशास्त्र बताता है—ब्रह्माके मुखोंसे बहिर्भूत धर्म बतानेवाला शास्त्र. सायण आदिका विचार है, जिससे अभीष्टका लाभ हो, अनिष्टका परिहार, निरादर, हो तथा अलौकिक युक्ति-उपाय मालूम पड़ें या जिससे धर्मादि पुरुषार्थ जाना जाय, वही वेद है; अथवा, अपौरुषेय वाक्य ही वेद है।

वेदोंकी रचना गद्य, पद्य और गीतिमें हुई है। ऋक् पद्यमें है, यजुः गद्यमें और साम गीतिमें। इसीसे वेदका एक नाम त्रयी भी है। ऋग्वेदसे होतृकार्य, यजुर्वेदसे अध्वर्युकार्य, सामवेदसे उद्गातृकार्य और अथर्ववेदसे ब्रह्मकार्य निस्पादित होते हैं। इन्हीं चारोंका एक नाम संहिता भी है। परन्तु कुछके मतसे संहितामें मंत्र और ब्राह्मण, दोनों सम्मिलित हैं। जिनका विनियोग होता है, वे मंत्र हैं; जो विधि या स्तुतिपरक हैं, वे ब्राह्मण हैं। सायण, षड्गुरु आदिके मतमें मंत्र और ब्राह्मण, दोनों ही वेद हैं। मंत्र-भागके प्रकाशन-समयमें मंत्रोंकी रचना-प्रणाली तीन तरहकी

थी। उस समय मंत्र ही वेद या त्रयी थे। पीछे सूत्र-कालमें ब्राह्मण भी वेद हो गये। संहिताका लक्षण वेदोंमें इस प्रकार है, "पद-प्रकृतिः संहिता", वर्णनामेकप्राणयोगः संहिता", "परः सन्निकर्षः संहिता"। जिसमें गद्य न हो केवल पद्य हो, वह ऋक्-संहिता है। इसी प्रकार गद्य-प्रधान यजुर्वेद-संहिता तथा गीति-प्रधान सामवेद-संहिता है। अथर्वा ऋषि यज्ञ-प्रक्रियाके आदि प्रकाशक हैं, अतः उन्हींके नामपर चौथे वेद-का नाम अथर्व-संहिता पड़ा। जो वैदिक शाखाएं जिन ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे उन्हीं ऋषियोंको बनायी हैं—यह किसीका कथन है; पर दूसरे कहते हैं, उन ऋषियोंने उन शाखाओंको बनाया नहीं; किन्तु उनका अध्ययन कर उन्हें विभक्त या सङ्कलित किया है; अतः उन्हींके नामोंपर शाखाओंका भी नामकरण हुआ है। महाभाष्यकार तथा मीमांसकादिकोंका भी यही मत है।

वेदोंमें मुख्यतया तीन देव हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। कहीं-कहीं तैंतीस देवोंका भी उल्लेख है—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार। इनमें भी सोमप और असोमप नामक दो भेद हैं। अग्निके कई भेद हैं—लौकिक अग्नि, जठराग्नि, वैद्युतिक अग्नि, आकरज (खनिज) अग्नि आदि।

मंत्रकी व्याख्या करते हुए यास्कने लिखा है—"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामर्थापत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तत् दैवत स मंत्रो भवति।" अर्थात् किसी भी धन आदिकी कामनासे ऋषियों द्वारा देवताके निकट की गयी स्तुतियाँ मंत्र हैं। उव्वटने तेरह तरहके मंत्रोंका उल्लेख किया है—विधिवाद, अर्थवाद, याच्ञा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवह्लिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्ववृत्तानुकीर्तन' अवधारण और उपनिषत्। यास्कने ऋकोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है—परोक्ष-कृत, प्रत्यक्ष-कृत और आध्यात्मिक।

पाठ-प्रणालीके भेदसे संहिता दो प्रकारसे पढ़ी जाती है। पहली प्रणालीको निर्भुज-संहिता कहते और दूसरीको प्रतृण-संहिता। जहाँ मूलका अविकल पाठ होता है, वह निर्भुज-संहिता है। जैसे, "अग्निमीळे पुरोहितम्" का पाठ "अग्निमीळे पुरोहितम्"। परन्तु जहाँ मूल विकृत रूपसे पढ़ा जाता है,वह प्रतृण-संहिता है। प्रतृण-संहिताके कई भेद हैं, पद-संहिता, क्रम-संहिता आदि। पद-संहिता वह है, जहाँ तनिक सन्धि और विराम आदिका विचार किया जाता है; जैसे पद-पाठमें ऋग्वेदका प्रथम मंत्र "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्" को इस तरह पढ़ा जाता है—'अग्निम्, ईळे, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्।' परन्तु क्रम-संहिताका पाठ जरा विचित्र है—'अग्निं ईळे, ईळे पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजम्।' जटापाठ और भी विचित्र है,' 'अग्निं ईळे, ईळे अग्निं, अग्निं ईळे; ईळे पुरोहितं, पुरोहितं ईळे, ईळे पुरोहितं; पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य; यज्ञस्य देवं, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं; देवं ऋत्विजं, ऋत्विजं देवं, देवं ऋत्विजं।" घनपाठ तो और भी विचित्र है—"अग्निं ईळे ईळे अग्निं अग्निं ईळे पुरोहितं पुरोहितं ईळे अग्निं अग्निं ईळे पुरोहितं ईळे पुरोहितं पुरोहितं ईळे ईळे पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं ईळे ईळे पुरोहितं यज्ञस्य पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य देवं देवं यज्ञस्य पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य देवं यज्ञस्य देवं देवं यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विजं ऋत्विजं देवं यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्।" ये आडम्बर इसलिये किये जाते हैं कि, वेदका मूल-पाठ सदा शुद्ध रहे, कहींसे भी कोई प्रक्षिप्त न घुसने पावे इसी प्रकार ये पाठक्रम और भी कई प्रकारके हैं।

जैसे माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड और रथ। विस्तार-भयसे माला, शिखा आदिके पाठ नहीं दिये गये। अवश्य ही इन पाठोंको देखकर अपने पूर्वजोंके दुर्द्धर्ष श्रम और अदम्य धैर्यपर हमें विस्मित होना पड़ता है।

कालभेद, देशभेद, व्यक्तिभेद और उच्चारणभेदसे इसी प्रकार पाठमें बहुत भेद हो गये हैं। आचार्योंके प्रकृति-वैषम्यके कारण अनुष्ठानभेद और प्रयोगभेदके कारण भी बहुतसे भेद हुए हैं। इस क्रमसे प्रत्येक संहिता अनेक शाखाओंमें विभक्त हो गयी है। ऋग्वेदकी बीस या इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेदकी एक सौ एक शाखाएँ, सामवेदकी हजार शाखाएँ और अथर्ववेदकी नौ या पन्द्रह शाखाएँ हैं। शौनकीय प्रातिशाख्यके मतसे ऋग्वेद पाँच शाखाओंमें बँटा है—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूक। ऐतरेय, कौषीतकि, शैशिर, पैङ्ग आदि शाखाएँ भी देखी जाती हैं। प्रातिशाख्यके मतसे ये उपशाखाएँ हैं।

यजुर्वेदके चरक नामक द्वादश भेद हैं। जैसे—चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, आष्ठलकठ, चारायणीय, वारायणीय, वार्त्तान्तवेय, श्वेताश्वतर, औपमन्यव और मैत्रायणीय। मैत्रायणीयमें ४ काण्ड, ५४ प्रपाठक और ६३४ मन्त्र हैं। यह सात हिस्सोंमें बँटा है; मानव दुन्दुभ, चैकेय, वाराह, हारिद्रवेय, श्याम, शामायनीय। इसी प्रकार वाजसनेयके सतरह भाग हैं—काण्व (४० अध्याय), जाबाल, बौधेय, माध्यन्दिन, शाषीय, तापनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पराशरी, वैरेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजक और कात्यायनीय। इनके बाद लगभग चौआलीस उपग्रन्थ भी हैं।'

मैत्रावरुणीय शाखा छः प्रकारकी है—मानव वाराह, दुन्दुभ, छागलेय, हारिद्रवीय और श्यामायनीय। चरक-शाखामें दो श्रेणियाँ हैं—औखीय और खाण्डकीय। खाण्डकीयके भी पाँच हिस्से हैं—आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढ़ी, हिरण्यकेशी और शाट्यायनी। कहीं शुक्ल यजुर्वेदमें पन्द्रह शाखाएँ हैं—काण्व, माध्यन्दिन, जाबाल, बौधेय, शाकेय, तापनीय, कापिल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशरीय वैनेय, बौधेय, औधेय और गालव। इन सब शाखाओंका दूसरा एक नाम वाजसनेयी शाखा भी है।

पुराणोंमें लिखा है, सामवेदकी शाखाओंको इन्द्रने वज्रप्रहार द्वारा विनष्ट कर दिया था। इसकी अब तीन शाखाएँ मिलती हैं। गुर्जर प्रान्तमें कौथुमी कर्णाटकमें जैमिनीय और महाराष्ट्रमें राणायनीय।

अथर्ववेद नौ भागोंमें विभक्त है—पैप्पलाद, शौनकीय (२० काण्ड, ७५१ सूक्त और ५९७७ मंत्र), दामोद, तौत्तायन, जामल, ब्रह्मपालाश, कुनखा, देवदर्शी और चरण—विद्या। इसकी शाखाएँ भी नौ हैं—पैप्पलाद, आन्ध्र, प्रदात्त, स्नात, स्नौत, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदंशति और चरण-विद्या। इनके परे तैत्तिरीय नामक दो भेद हैं—औख्य और काण्डिकेय। काण्डियके पाँच हिस्से हैं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी तथा औधेय।

इन सूत्ररूप शाखाओंकी व्याख्या एक स्वतन्त्र स्थान रखती है; अतः इन्हें पल्लवित न कर मैं ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी ओर आगे बढ़ता हूँ।

हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारण, कल्पना और उपमान आदि दस विषयोंसे उपेत ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। प्रत्येक शाखाके भिन्न-भिन्न ब्राह्मण हैं। ऋग्वेदकी शैशिरीय, बाष्कल आदि शाखाओंका ऐतरेय (बह्वृच) और कौषीतकि आदि सोलह शाखाओंका शांख्यायन (कौषीतकि) ब्राह्मण है। यजुर्वेदकी मैत्रायणी

आदि उन्नीस चरकाध्वर्यु शाखाओंका ब्राह्मण मैत्रायणी है। यह अध्वर्यु-ब्राह्मण नामसे भी ख्यात है। वाजसनेयादि सतरह शाखाओंका वाजसनेयक या शतपथ ब्राह्मण है। तैत्तिरीय आदि छः शाखाओंका तैत्तिरीय ब्राह्मण है। बल्लभी और सत्यायनी नामक इसके और भी दो ब्राह्मण हैं। सामवेदकी जैमिनीय, कौथुम (प्रपाठक ६, १८२४ मंत्र) और राणयनीय शाखाओंका ब्राह्मण छान्दोग्य है। इसके आठ ब्राह्मण और उपलब्ध हैं--साम-विधान, मंत्र, आर्षेय, वंश, देवताध्याय, संहितोपनिषत्, तलवकार और ताण्ड्य। अथर्वेदके प्रायः और सब ब्राह्मण नष्ट हो चुके हैं; केवल एक गोपथ--ब्राह्मण ही बचा है।

एकान्त जन-शून्य विपिनमें ब्रह्मचर्यमें निमग्न रह कर गम्भीर भावसे आर्य ऋषिगणने जो कुछ किया है, वही आरण्यक नामसे प्रसिद्ध है। आरण्यक ग्रन्थोंमें उपनिषत्का अंश ही बहुतायतसे मिलता है। ऋग्वेदके दो मुख्य आरण्यक हैं--एक ऐतरेय-आरण्यक दूसरा कौषीतकि आरण्यक। ऐतरेय-आरण्यकके पाँच ग्रन्थ हैं। सामवेदका आरण्यक संहिताके अभ्यन्तर ही है। आर्चिक और उसके अवलम्बपर गाये गये गीत ही आरण्यक हैं। आरण्यक छान्दोग्यारण्यक नामसे कहे जाते हैं। यजुर्वेद-ब्राह्मणमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका शेषांश तैत्तिरीय आरण्यक है। माध्यन्दिन शाखाका चौदहवाँ काण्ड भी आरण्यक नामसे प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार कर्मकाण्ड आदिके बोधक सूत्र होते हैं। ऋग्वेदके आश्वलायन और सांख्यायन श्रौतसूत्र हैं एवं इन्हीं दोनोंके गृह्यसूत्र भी हैं। शौनकका एक प्रातिशाख्य सूत्र भी है। सामवेदके पंचविंश ब्राह्मणका एक श्रौतसूत्र एवं एक गृह्यसूत्र है। दूसरा लाट्यायन श्रौतसूत्र (या मशक-सूत्र), तीसरा द्राह्यायण श्रौतसूत्र, चौथा अनुपदसूत्र, पाँचवाँ गोभिलकृत पुष्पसूत्र और ताण्ड्यलक्षण, उपग्रन्थ, कल्पानुपद, अनुस्तोत्र और क्षुद्रसूत्र हैं इसके गृह्यसूत्रोंमें गोभिल-गृह्य-सूत्र, कात्यायन--कर्मदीप, खदिर-गृह्यसूत्र और पितृमेधसूत्र हैं। यजुर्वेदके कठ, मानव, लौगाक्षि, कात्यायन, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बाधुल, वैखानस, मैत्रावरुणी और छागल श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्र भी इतने ही हैं। शुक्ल यजुर्वेदके कात्यायन और बैजवाप श्रौतसूत्र हैं; पारस्कर और कातीय गृह्यसूत्र हैं। कात्यायनका एक प्रातिशाख्य भी है। अथर्ववेदके कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प, आंगिरस और शान्तिकल्प—सूत्र हैं।

उपनिषदोंमें ब्रह्म-विद्याकी पराकाष्ठा दरसायी गयी है और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करनेके उपाय बताये गये हैं। ऋग्वेदकी उपनिषदें हैं-- कौषीतकि, ऐतरेय, शाकल और मैत्रायणी। बाष्कल उपनिषत् भी प्राप्त है। सामकी उपनिषदे हैं छान्दोग्य और केन। यजुःकी तैत्तिरीय उपनिषत् और ईशोपनिषत् है। अथर्वकी मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंह-तापिनी उपनिषदें हैं।

वेदके प्रधान भाष्यकर सायण हैं। ऋग्वेदार्थ-प्रकाशक निघण्टु और यास्कके निरुक्त अति प्राचीन हैं। यास्कके भी पूर्ववर्ती कौत्स, शाकपूणि और और्णनाभ निरुक्तकार हैं (यास्कका समय ५वीं शताब्दी बी० सी० है)। निघण्टुकी टीका देवराज यज्वाने लिखी है तथा दुर्गाचार्यने निरुक्तकी वृत्ति प्रणयन की है। शङ्कराचार्य और उनके शिष्योंने उपनिषदोंका भाष्य किया है। आनन्दतीर्थने ऋग्वेदके कुछ अंशका पद्यात्मक भाष्य लिखा है।

सायणके भाष्यसे पता चलता है कि, भरत-स्वामी और भट्टभास्कर मिश्र भी वेदके भाष्यकार थे। भट्टभास्करका खण्डित ऋग्वेद-भाष्य प्रकाशित भी हो चुका है। चण्डूपण्डित, चतुर्वेदस्वामी, युवराज, रावण और वरदराज आदिकृत ऋग्वेद-भाष्योंका भी कुछ अंश पाया जाता है। इनके अतिरक्त मुद्गल, कपर्दी, आत्मानन्द तथा कौशिक आदि कुछ भाष्य-कारोंका भी नाम जहाँ-तहाँ सुननेमें आता है। ऋग्वेदपर जो स्कन्दस्वामी और वेङ्कटमाधवके भाष्य हैं, उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा है। उद्गीथ भाष्यकी भी कम प्रतिष्ठा नहीं। उव्वटने शुक्ल यजुर्वेदका और ऋक्-प्रातिशाख्यका भाष्य किया है। माधवपुत्र विनायकने कौषतकि-ब्राह्मणका भाष्य किया है और कौषीतकि तथा ऐतरेय उपनिषदोंका भाष्य शंकराचार्यने किया है। इस (शंकर-कृत) भाष्यकी टीका शंकर-शिष्य आनन्दज्ञान, आनन्दगिरि, आनन्दतीर्थ, अभिनव नरायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाचार्य और बालकृष्णदासने की है।

ऋग्वेद-संहितामें दस मण्डल, ८५ अनुवाक्, १०१७ सूक्त तथा १०५८० ऋचाएँ हैं। कुछ विद्वानोंके मतसे ऋग्वेदमें इससे कम ऋचाएँ हैं। पहले वेदोंमें माण्डलिक आदि विभाग नहीं थे। यह विभाग सर्व-प्रथम गृह्यसूत्रोंमें दीखता है। अध्यायोंका विभाग कहीं "दशति" नामसे भी ख्यात है; पर कात्यायनकी अनुक्रमणिकामें ये विभागादि नहीं है। कहते हैं, शाकल्यने ही ऋक्-संहितामें पदपाठ चलाया है और क्रमपाठके प्रचारक पञ्चाल तथा बाभ्रव्य हैं।

सामवेद दो भागोंमें विभक्त है, पूर्वार्द्ध और प्रपाठक। प्रपाठकमें "दशत्" हैं और दशत्में नियमित मंत्रोंकी समष्टि। किन्तु ये बातें सायण-भाष्यमें कहीं भी नहीं है, बदलेमें अध्याय और खण्ड हैं। इसमें २१ अध्याय, ६ आर्चिक, ८६ साम और १८६३ मंत्र हैं।

इसमें अधिकतासे ऋग्वेदके ही मंत्र हैं; पर पद-न्यास और उच्चारण-वैभिन्नसे यह संगीतमय है। इसके तीन आर्चिक हैं; छन्द, आरण्यक और उत्तर। आर्चिकका दूसरा नाम योनि-ग्रन्थ भी है। इस संहिताके ऊपर सायण, भरतस्वामी, महास्वामी और नारायणपुत्र माधवका भाष्य मिलता है। ताण्ड्य ब्राह्मणके ऊपर सायणका भाष्य है और हरिस्वामीकी वृत्ति। मुख्यतः सायणने सामवेदीय ब्राह्मणोंका भाष्य किया है। उपनिषदोंके ऊपर शङ्करका ही प्रधान भाष्य है। छान्दग्योपनिषद्पर आनन्दतीर्थ, ज्ञानानन्द, नित्यानन्दाश्रम, बालकृष्णानन्द, भगवद्भावक, शंकरानन्द, सायण, सुदर्शनाचार्य तथा हरिभानु शुक्लकी वृत्ति और संक्षिप्त भाष्य मिलता है। आनन्दतीर्थके संक्षिप्त भाष्यके ऊपर विदेशभिक्षु, व्यासतीर्थ और आनन्दभिक्षुने विस्तृत टीका लिखी हैं। सामवेदीय केनोपनिषद् [तलवकार] पर शंकर-कृत भाष्य है। इसकी टीका और एक स्वतंत्र वृत्ति आनन्दतीर्थने की है। इस वृत्तिका भी भाष्य दामोदराचार्य, बालकृष्णानन्द, भूसुरानन्द, मुकुन्द, नारायण और शंकरानन्दने की है। पञ्चविंश-ब्राह्मणका जो श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र हैं, उस-का भाष्य वरदराजने किया हैं। लाट्यायन-श्रौतसूत्र-पर सायण, रामकृष्णदीक्षित तथा अग्निस्वामीने एक-एक सुन्दर भाष्य लिखा है। द्राह्यायणका भाष्य माघस्वामीने किया है। इस भाष्यका संस्कार रुद्रस्कन्दस्वामीने उद्गात्रसारसंग्रहमें किया है। ध्वनिनने भी छान्दोग्य सूत्रदीप नामकी एक वृत्तिकी रचना की है। पुष्पसूत्रके अवशिष्टांशका भाष्य अजातशत्रुने किया है। रामकृष्णने इस सूत्रकी एक वृत्ति

भी रची है। गृह्यसूत्रमें गोभिलकी वृत्ति सायण, भट्ट-नारायण और शिवने की है। खदिर-गृह्यसूत्रकी कारिका वामनने बनायी है। पितृमेध-सूत्र नामक गृह्यसूत्रके प्रणेता गौतम हैं और टीकाकार अनन्त ज्ञान हैं।

यजुर्वेद दो प्रकारका है। पहला कृष्ण यजुर्वेद या तैत्तिरीय-संहिता, दूसरा शुक्लयजुर्वेद या वाजसनेय-संहिता। तैत्तिरीय-संहिता २७ शाखाओंमें विभक्त है। कृष्ण यजुः और शुक्ल यजुःका आपसमें मत-भेद है। विशेषकर कृष्ण यजुः होता और होताके कार्योंको बढ़ा-चढ़ा कर कहता है; किन्तु शुक्ल यजुः वैसा नहीं कहता। तैत्तिरीय-संहिताके नामकरणके विषयमें विष्णुपुराणका मत है—यजुर्वेदके प्रथम प्रवर्तक वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्यसे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा—"मैंने जो वेद तुझे पढ़ाया है; उसे लौटा दे।" योगी याज्ञवल्क्यने विद्याको मूर्ति-मती कर वमन कर दिया। गुरुकी आज्ञासे अन्य शिष्योंने उस वान्तको तित्तिर होकर चुग लिया; इसीसे उसका नाम तैत्तिरीय-संहिता पड़ा। किन्तु पाणिनिका कहना है कि, तित्तिरी ऋषिके नामपर इस शब्दकी उत्पत्ति हुई है। आत्रेय शाखाकी अनुक्रमणिकामें भी यही बात है। यह संहिता सात काण्डोंमें विभक्त है। प्रत्येक काण्ड फिर अनेक प्रपाठकोंमें विभक्त है। काण्ड विषम हैं, सम नहीं। इस यजुःसंहिताके ७ अष्टकों हैं। अष्टकोंमें ४४ प्रश्न, ६५१ अनुवाक् और २१९८ कण्डिकाएँ हैं। साधारणतया ५० शब्दोंमें कण्डिका गठित हुई है। इसमेंकी शब्दसंख्या ११०२९६ है। वेदके प्रधान भाष्यकार सायणाचार्यने ही इस तैत्तिरीय-संहिताका भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त बालकृष्ण दीक्षित और भट्टभास्कर मिश्रने भी छोटे-छोटे भाष्य रचे हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें ३ काण्ड, २५ प्रपाठक और ३०८ अनुवाक् हैं। इसका जो शेषांश है, वही तैत्तिरीय आरण्यक है। इसमें १२ प्रपाठक हैं, जिनका भाष्य सायण, भट्टभास्कर मिश्र और वरदराजने किया है।

इसी आरण्यककी सप्तम, अष्टम और नवम उपनिषदें हैं, जिनके तीन प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् कहलाते हैं। दशम प्रपाठकका याज्ञिकी या नारायणीय उपनिषद् नाम है। तैत्तिरीय उपनिषद्का भाष्य शङ्करने किया है। आनन्दतीर्थने और रङ्ग रामानुजने भाष्यके ऊपर टीका की है। इस उपनिषद्के ऊपर सायणाचार्य तथा आनन्दतीर्थका भी भाष्य मिलता है। आनन्द-भाष्यके टीकाकार हैं अप्पण्णाचार्य, ज्ञानामृत, व्यासतीर्थ और श्रीनिवासाचार्य। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयोपनिषद्की दीपिका या वृत्तिके रचयिता कृष्णानन्द, गोविन्दराज, दामोदराचार्य, नारायण, बालकृष्ण, भट्टभास्कर, राघवेन्द्र यति, विज्ञानभिक्षु और शंकरानन्द आदि हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणीयोपनिषद् भी यजुर्वेदीयोपनिषदें हैं। इन दोनोंका भाष्य शङ्कराचार्यने किया है और विज्ञान-भिक्षुने 'उपनिषदालोक' नामकी टीका लिखी है तथा नारायण,प्रकाशात्माऔर रामतीर्थने 'दीपिका' लिखी है। श्वेताश्वतरके ऊपर रामानुज, वरदाचार्य, सायणाचार्य और शङ्करानन्दके भाष्य हैं और शङ्कर-भाष्यकी टीकाके लेखक नृसिंहाचार्य, बालकृष्णदास तथा रंग रामानुज हैं। इसी वेदके कल्पसूत्रके भाष्य-कार महादेव; आपस्तम्बके धूर्तस्वामी, कपर्दिस्वामी, रुद्रदत्त, गुरुदेवस्वामी, करविन्दस्वामी, अहोबल, गोपाल, रामाग्निज, कौशिकाराम, ब्रह्मानन्द इत्यादि हैं; मानव-श्रौतसूत्रके टीकाकार अग्निस्वामी, कुमारिलभट्ट, बालकृष्णमिश्र आदि हैं; बौधायन श्रौतसूत्रके केशव, कपर्दिस्वामी, गोपाल, देवस्वामी, धूर्तस्वामी,

भवस्वामी, महादेववाजपेयी, सायण आदि हैं; हिरण्यकेशी श्रौतसूत्रके टीकाकार गोपीनाथभट्ट, महादेवदीक्षित, महादेवसोमयाजी, मातृदत्त आदि हैं; भारद्वाज श्रौतसूत्रके भाष्यकार गोपालभट्ट हैं। गृह्य-सूत्रके ऊपर इन कथित महात्माओंके भाष्य तो हैं ही, अलावा और भी बहुतसे भाष्य हैं।

अभी जो वर्तमान शुक्ल यजुर्वेद है, वह माध्यन्दिनीय वाजसनेय संहिताके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक् और १९७५ (दूसरे मतमें १९७६) कण्डिकाएं (मंत्र) हैं। इसके ऊपर जो कात्यायनकी अनुक्रमणिका और महीधरका भाष्य है, उन्हें पढ़नेसे मालूम पड़ता है कि, २५-३५ अध्याय 'खिल' नामसे भी कथित हैं। इस संहिताके भाष्यकार उव्वट, माधव, अनन्तदेव, आनन्दभट्ट और महीधर हैं। अभी तो बाबा महीधरका ही बोलबाला है! इसके शतपथ-ब्राह्मणके तीन भाष्य हैं—हरिस्वामिकृत, सायणप्रणीत और कवीन्द्राचार्य सरस्वती-विरचित। बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यकार द्विवेद गंग हैं। शंकरने भी इस उपनिषद्का भाष्य किया है। शंकरके कई एक शिष्योंने उन भाष्यकी टीकाएं लिखी हैं। इसके सिवा गंगाधरकी दीपिका, नित्यानन्दाश्रमकी मिताक्षरावृत्ति, मथुरानाथकी लघुवृत्ति, राघवेन्द्रका खण्डार्थ तथा रंग रामानुज और सायणका भी भाष्य है। कात्यायन-सूत्रके भी अनेक भाष्यकार हैं। उनमें यशोगोपी, पितृभूति, कर्क आदि प्रधान हैं। वाजपेयका भी एक श्रौतसूत्र है, जिसकी पद्धतिका प्रणयण वासुदेवने किया है। और टीका जयरामने की है प्रातिशाख्यकी अनुक्रमणी कात्यायनकृत समझी जाती है, जिसकी टीका उव्वटने लिखी है।

अथर्ववेद-संहितामें बीस काण्ड हैं। ये काण्ड ३४ प्रपाठकोंमें विभक्त हैं। इसमें १११ अनुवाक्, ७७३ वर्ग, ७६० सूक्त, ६००० (मतान्तरमें ५८४७) मंत्र और ७१८२६ शब्द हैं। इस वेदके पाँच अंग हैं—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद।

सायणाचार्यने कौशिक सूत्रकी व्याख्या, 'संहिता विधि' नाम रखकर की है। इसके सिवा और चार सूत्र हैं; पर उनकी व्याख्या किसने की है, मुझे पता नहीं। इस वेदकी बहुतसी उपनिषदें हैं और टीकाकार भी। प्रधानतया शंकर ही इनके भाष्यकार हैं। पूर्व-कथित महात्माओंके भाष्य, टीकाएं तथा वृत्तियाँ भी प्रचुरतासे इनपर मिलती हैं।

इस छोटेसे निबन्धमें वैदिक साहित्यकी, जो चर्चा की गयी है, वह सारी-की-सारी, वेद-भक्तोंको, सदा ध्यान देने योग्य है। जिनके लिये यह बात सम्भव न हो, उन्हें कम-से-कम, इतनी बातें तो अवश्य कण्ठस्थ रखनी चाहिये—ऋग्वेदमें ८ अष्टक, १० मण्डल, ६४ अध्याय, ८५ अनुवाक्, १०२८ (मतान्तरमें १०१७) सूक्त, २०२४ वर्ग, १०५८९ (किसी मतमें १०५८० और १०४६७) मंत्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं। शुक्ल यजुर्वेदमें ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक्, १९७६ (मतान्तरमें १९७५) मंत्र, ८८८७५ अक्षर और शब्द-संख्या २९६२५ हैं। कृष्ण यजुर्वेदमें ७ अष्टक या काण्ड, ४४ प्रश्न या प्रपाठक, ६५१ अनुवाक्, २१९८ मंत्र और ११०२९६ अक्षर हैं। सामवेदमें २९ अध्याय, ६ आर्चिक, ८९ साम और १८९३, राणायनीयके अनुसार १५४९, मंत्र हैं। अथर्ववेदमें २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक्, ७३३ वर्ग, ७६० सूक्त, ५८४७ मंत्र और १२३८० शब्द हैं। ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद, शाखाएँ २१ और उपनिषदें भी २१ हैं। यह ज्ञानकाण्ड प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्त्ता अग्नि ऋषि हैं। यजुर्वेद

का उपवेद धनुर्वेद, शाखाएं १०१ और उपनिषदें १०१ हैं। यह कर्मकाण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्ता वायु ऋषि हैं। सामवेदका उपवेद गन्धर्ववेद, शाखाएँ १००० और उपनिषदें भी १००० हैं। चरण-व्यूहके मतसे इसकी ७ शाखाएँ हैं। यह उपासना-काण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्ता आदित्य ऋषि हैं। अथर्ववेदका उपवेद अर्थवेद या स्थापत्यवेद, शाखाएं ९ और उपनिषदें ५० हैं। यह विज्ञान-काण्ड-प्रधान है। इसके प्रधान आविष्कर्ता आंगिरस अथर्वा ऋषि हैं।

इस छोटेसे निबन्धमें, अपनी शक्तिके अनुसार, मैंने वैदिक साहित्यका संक्षिप्त परिचय, देनेकी चेष्टा की है। सम्भव है और भी बहुतसे नाम छूट गये हों। अथर्ववेदके विषयमें तो जान-बूझकर संक्षेप किया है। वैदिक साहित्यमें जो पाश्चात्य विद्वानोंने प्रशंस-नीय कार्य किया है, उसे भी स्थानाभावसे छोड़ दिया गया है।

वेदकी महत्ता

१

हरि-मुख-वाणी न्याय-नीतिका सुगमपथ,
जीवन-प्रदीप ज्ञान-चक्षु ज्योति-घर है।
सृष्टिका रहस्य-सूत्र तत्व-तन्त्र-तारक हैं,
जप-तप-ध्यान-योग-साधनका सर है॥
शिखा-सूत्र-सत्ताकी महत्ता कूट-कूट भरी
हिन्दुओंका मूल-मन्त्र ब्रह्म धर्म-कर हैं।
पावन-प्रसाद-पुञ्ज सुन्दर निशेनी स्वर्ग,
चारों फल चारों वेदका सजीव वर हैं॥

२

निगम अगम गूढ़ मन्त्र सिद्ध साधनाका
लोक परलोक सुख शान्तिसे भरा करे।
हरि हर अज सुर-पूज्य पद-पंकजोंमें,
दे अमल प्रेम भक्ति हृदय हरा करे॥
कर्म धर्म शौर्य वीर्य धीरता प्रवीणताका,
विमल प्रशस्त पाठ सामने धरा करे।
विपत्ति विभावरी अज्ञान तमतोम हर;
विभव विकाश फल चारों ही भरा करे॥

—पं० जगदीश झा 'विमल'

वेदकी शाखाएँ

साहित्याचार्य प० बलदेव उपाध्याय एम० ए०
(प्रोफेसर, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

इस भूमण्डलपर हमारे वेद ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदोंसे बढ़कर पुराना ग्रन्थ न तो अभी-तक उपलब्ध हुआ है और न भविष्यमें ही उपलब्ध होगा। वेद भगवान्को हम हिन्दूलोग नित्य तथा अपौरुषेय मानते हैं। आर्य-संस्कृतिके मूल वेद ही हैं। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"—समग्र धर्मोंका मूल वेद ही हैं। इस संसारमें, समय-समयपर, जिन धर्मोंका प्रवाह बहा है, उन सबका उद्गमस्थान हमारे वेद भगवान् हैं। वेद इस प्रकार हम हिन्दुओंके लिये तो गौरव रखते ही हैं, साथ ही यह संसारके अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके लिये भी उसी प्रकार महत्त्व धारण किये हुए हैं। जो कोई धर्मके रहस्य-को जानना चाहता है, धार्मिक उलझनोंको सुलझा-ना चाहता है, उसे वेद अवश्य पढ़ने चाहिये—वेदोंसे अवश्य परिचय प्राप्त करना चाहिये। परन्तु बड़े दुःखके साथ कहना पड़ता है कि, ऐसे आदर-णीय धर्मग्रन्थोंका आजकल प्रगाढ़ अध्ययन तो दूर रहा, हमें उनका साधारण परिचयतक प्राप्त नहीं है। साधारण जनताकी बात कौन कहे, संस्कृतके बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी, जिन्होंने व्याकरणादि शास्त्रोंके अध्ययनमें अपने जीवनके अधिकांश अमूल्य भागोंको व्यय किया है, ऐसे गौरवमय ग्रन्थोंके आवश्यक परिचयसे भी वञ्चित रहते हैं! परन्तु आजकल परिवर्तनके कुछ शुभ लक्षण दीख पड़ते हैं। भारतीय विद्वानोंकी दृष्टि वेदों तथा वैदिक साहित्यकी ओर झुकी हुई दिखाई पड़ रही हैं। ऐसे समयमें "वेदाङ्क"के द्वारा हिन्दीभाषा जाननेवाली जनताको वेद भगवान्से परिचित करानेके उद्योग-को हम परम श्लाघनीय समझते हैं। इस लेखमें वेदके शाखा-विभाग जैसे आवश्यक विषयसे हिन्दी जनताको परिचित करानेका यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा।

वैदिक संहिताएँ।

पुराणोंमें वेदोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयोंका वर्णन मिलता है। वेदोंके शाखा-विभागका निरूपण भी साधारणतया पुराणोंमें—विशेष करके श्रीमद्भागवत पुराणमें बड़े विस्तारके साथ किया गया है। इस विषयका संक्षिप्त वर्णन भागवत,-प्रथम स्कन्धके चतुर्थ अध्यायमें मिलता है; परन्तु भाग-वतके द्वादश स्कन्धके छठे अध्यायमें इससे विस्तृत वर्णनकी उपलब्धि होती है। लिखा है कि, मुनि वेदव्यासने याज्ञिक कृत्यको ध्यानमें रखकर —यज्ञ-सन्तानके लिये—वेद भगवान्की चार संहिताओंका निर्माण किया। कृत्य-विशेषके लिये जितने मन्त्रोंकी आवश्यकता थी, उन सब मन्त्रोंका संग्रह एक विशेष संहितामें किया। यज्ञमें चार प्रधान कृत्य हुआ करते हैं, जिनके लिये चार भिन्न-भिन्न ब्राह्मणोंकी आवश्यकता पड़ा करती है। मन्त्रोंको पढ़कर यज्ञीय देवताओंको बुलानेके कार्यको 'हौत्र' कहते हैं। जिस ब्राह्मणके हाथमें यह कार्य सौंपा जाता है, उसे

'होता' के नामसे पुकारते हैं। होताके लिये ऋग्वेद-संहिताका संकलन वेदव्यासजीने किया। यज्ञोंमें होम आदि आवश्यक कृत्योंका संचालन करनेवाले ब्राह्मणको 'अध्वर्यु' कहते हैं और उसके कार्य-विशेषको वैदिक लोग 'आध्वर्यव' के नामसे पुकारते है। यजुर्वेद-संहिताका सम्बन्ध 'अध्वर्यु' से है। यज्ञमें देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये गान, साम-गान वाले पुरोहित-विशेषको 'उद्गाता' कहते हैं और उसके कार्यको 'औद्गात्र'। 'उद्गाता' के लिये गीतिमय सामवेद-संहिताका संग्रह वेदव्यास भगवान्ने किया। यज्ञमें एक अन्य विशिष्ट ब्राह्मणकी आवश्यकता हुआ करती है, जो पूर्वोक्त प्रत्येक व्यक्तिके कार्यका निरीक्षण किया करे और उनकी त्रुटियोंको उन्हें सूचित कर दूर कराया करे। इस महत्त्वपूर्ण कार्यको करनेवाले ब्राह्मणको 'ब्रह्मा' कहते हैं। ब्रह्माको तो चारों वेदोंका ज्ञान आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके वे अपना कार्य, सुचारु रूपसे, सम्पन्न नहीं कर सकते। 'अथर्ववेद'का सम्बन्ध 'ब्रह्मा' से है। इस प्रकार यज्ञके विस्तारके लिये परम कृपालु मुनिवर कृष्णद्वैपायनने वेद भगवान्की ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व नामक चार संहिताओंको तैयार किया—

"चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्
व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।"

(भा०, १ स्क; ४ अ०)

वेदोंकी संहिताओंके निर्माता होनेके कारणसे ही कृष्णमुनिको 'वेदव्यास' कहते हैं। 'वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरितः', 'तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः' (महाभारत)। इस प्रकार वेदव्यासने संहिताओंका संकलन कर अपने चार शिष्योंको उन्हें पढ़ाया। 'पैल' ऋग्वेद-संहिताके ज्ञाता हुए, कवि 'जैमिनि' सामके, 'वैशम्पायन' यजुःके तथा दारुण 'सुमन्तु' मुनि अथर्वके—

"तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥"

(भा०, १ स्क०, ४ अ०)

इन मुनियोंने अपनी संहिताओंका खूब अध्ययन किया—इनमें पारङ्गत हो गये। तब उन्होंने अपने शिष्योंको ये संहिताएँ पढ़ायीं। ऋषियोंकी शिष्य-परम्परा बड़ी चढ़ी-बढ़ी थी। इन सब शिष्योंके नाम भागवत, द्वादश स्कन्ध, छठे अध्यायमें विस्तारके साथ दिये गये हैं। इस छोटेसे लेखमें सबके नामोल्लेखका स्थान नहीं, जिज्ञासु पाठक भागवत पढ़कर अपनी जिज्ञासा-वृत्तिको तृप्त करें। शिष्योंने अपने-अपने शिष्य तैयार किये तथा संहिताओंका अध्यापन-क्रम अक्षुण्ण रखा। इस प्रकार वेदव्यासकी बृहती शिष्य-परम्परा होनेसे कालान्तरमें वेदोंकी अनेक शाखाएँ हो गयीं। यदि ये सब शाखाएँ इस समय मिलतीं, तो हम इनकी पृथक्-पृथक् विशेषताओंका सूक्ष्म परिचय पा सकते। परन्तु आजकल कतिपय शाखाएँ ही उपलब्ध हैं, जिससे इनकी विशिष्टताओंका पूरा ज्ञान हमें नहीं हो सकता। उपलब्ध शाखाओंकी परीक्षासे हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि, इन शाखाओंमें कहीं-कहीं उच्चारणके विषयमें भेद था, तो कहीं-कहीं किन्हीं मन्त्रोंको संहितामें ग्रहण करनेके विषयमें। पहले यह शाखा-विभाग संख्यामें अल्प ही होगा, परन्तु ज्यों-ज्यों इनका अध्ययन-अध्यापन बढ़ता गया, त्यों-त्यों शाखाओंकी संख्यामें वृद्धि होती गयी।

शाखाओंकी संख्या ।

वैदिक शाखाओंकी संख्याके विषयमें मतभेद दिखाई पड़ता है। महामुनि शौनक-कथित 'चरण-व्यूह' नामक परिशिष्ट-ग्रन्थमें ऋग्वेदकी ५ शाखाओं-का उल्लेख मिलता है, यजुर्वेदकी ८६ शाखाओंका, सामकी १००० शाखाओंका तथा अथर्वकी ६ शाखाओंका। परन्तु महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें ऋग्की २१ शाखाओंका, यजुर्वेदकी १०० शाखाओंका, सामकी १००० शाखाओंका तथा अथर्ववेदकी ९ शाखाओंका उल्लेख, शब्द-प्रयोगका विस्तार दिखानेके लिये, किया है—"उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोग-विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधार्थर्वणो वेदः।"—(पस्पशाह्निक, महाभाष्य)। इस प्रकार पतञ्जलिके कथनानुसार वैदिक शाखाओंकी संख्या एक हजार एक सौ तीस (२१+१००+१०००+९=११३०) है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भी शाखाओंकी संख्याका उल्लेख है, जो अधिकतर महाभाष्यके वर्णनसे मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि, धीरे-धीरे शाखाओंकी वृद्धि हुई होगी, एक समयमें ही तो इतनी शाखाओं-की उत्पत्ति नहीं हो गयी होगी! संख्याओंकी भिन्नताका यही कारण हो सकता है।

उपलब्ध शाखाएँ ।

पूर्वोक्त वर्णनसे पाठक समझ सकते हैं कि, वेदों-का विस्तार कितना था, इनका अध्ययन और अध्यापन कितना होता था, इनके पढ़नेवालोंकी संख्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु आजकल उपलब्ध शाखाओंकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब अपनी दयनीय दशाका विचित्र चित्र सामने खड़ा हो जाता है। भगवन्! जिन वेदोंकी इतनी शाखाएँ थीं—जिनका इतना सुचारु विस्तार था, उनकी वह गरिमा कहाँ लुप्त हो गयी, इतनी शाखाओंका विस्तार कहाँ चला गया, ये क्योंकर उच्छिन्न हो गयीं! समयके प्रवाहने बहुतोंको बहा डाला! आजकल बहुत ही कम शाखाएँ उपलब्ध होती हैं।

ऋग्वेदकी शाखाएँ ।

चरणव्यूहमें ऋग्वेदकी केवल ५ ही शाखाओंका नाम-निर्देश है—

(१) शाकल, (२) वाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शाङ्खायन, (५) माण्डूकायन। एक प्राचीन श्लोकमें, इन पाँचोंका नाम, कुछ दूसरे ही प्रकारसे मिलता है—

"शिशिरो वाष्कलः सांख्यो वात्स्याचैवाश्वलायनः
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः ॥"

इस पद्यमें शिशिर, वाष्कल, सांख्य, वात्स्य तथा आश्वलायन शाकलके शिष्य बतलाये गये हैं, परन्तु चरणव्यूहमें यह बात नहीं मिलती। जो कुछ भी हो, आजकल तो, ऋग्वेदियोंकी केवल एक ही शाखा उपलब्ध होती है; वह है आश्वलायन शाखा। इस शाखाके माननेवालोंमें महाराष्ट्र ब्राह्मणोंकी ही प्रधानता है। काशीमें अधिकांश महाराष्ट्र ब्राह्मण आश्वलायन शाखाके पाये जाते हैं। केवल उन्हीं लोगोंमें इस शाखाका अध्ययन-अध्यापन है। उत्तरीय भारतके अन्य प्रान्तोंमें, इस शाखाके ब्राह्मण, नहींके बराबर हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि, जितनी शाखाएँ होंगी, उतनी ही होंगी संहिताएँ, उतने होंगे ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक और उतनी ही होंगी उपनिषदें। श्रौत-सूत्र तथा गृह्यसूत्र भी उतने ही होंगे। शाखाके

अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे; प्रत्येक शाखाके ब्राह्मण अपने विशिष्ट श्रौतसूत्रसे अपना श्रौतकार्य सम्पादन किया करते थे तथा इस समय भी करते हैं। वे अपने गृह्य-संस्कार, अपने विशिष्ट गृह्यसूत्रोंके अनुसार, किया करते थे तथा आज भी करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शाखामें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत सूत्र तथा गृह्यसूत्र अपने खास-खास होने चाहिये; परन्तु आज बहुतसी शाखाएँ ऐसी हैं, जिनमें पूर्वोक्त वैदिक साहित्यके कतिपय ही अंश उपलब्ध होते हैं। किसी शाखाकी अपनी संहिता है, तो दूसरेका ब्राह्मण; किसीका अपना ब्राह्मण है, तो दूसरेका श्रौत। इस प्रकार आजकल शाखाओंके उच्छिन्न हो जानेसे तथा वैदिक साहित्यके लुप्त हो जानेसे ऐसी विषमावस्था दीख पड़ रही है।

इसी कारण आश्वलायनोंकी अपनी संहिता नहीं। ऋग्वेदकी केवल एक ही संहिता उपलब्ध होती है और वह है शाकल-शाखाकी शाकल-संहिता। उसी संहिताको आश्वलायन शाखावाले अपनी संहिता मानकर पढ़ते है।

उनके अपने ब्राह्मण नहीं हैं। ऐतरेय-शाखियोंके ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ही आजकल आश्वलायन शाखियोंको मान्य है। उनके पास हैं केवल अपने श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र।

आश्वलायन शाखासे सम्बद्ध वैदिक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

शाकल-संहिता (शाकल—शाखा)

ऐतरेय-ब्राह्मण
ऐतरेय-आरण्यक
ऐतरेय-उपनिषद् } ऐतरेयशाखा

आश्वलायन-श्रौतसूत्र
आश्वलायन-गृह्यसूत्र } आश्वलायन-शाखा

प्राचीन कालमें शाङ्खायन-शाखा थी। परन्तु आजकल यह शाखा बिलकुल ही नहीं मिलती। इस शाखासे सम्बद्ध ग्रन्थोंकी सूची यों है—

शाकल-संहिता, कौषीतकि-ब्राह्मण, कौषीतकि-आरण्यक, कौषीतकि-उपनिषद्, शाङ्खायन-श्रौतसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र।

यजुर्वेदकी शाखाएँ।

यजुर्वेदकी शाखाओंकी संख्या महाभाष्यमें पूरी एक सौ है। शौनकके चरणव्यूहमें केवल ८६ है। शौनकने समग्र शाखाओंका नामोल्लेख नहीं किया है, केवल प्रधान-प्रधान शाखाओंके नाम भर दे दिये हैं। 'चरक' नामक शाखा सबसे विशिष्ट बतायी गयी है। पतञ्जलिने लिखा है कि, गाँव-गाँवमें चरकशाखा पढ़ी जाती है, जिससे उनके समयमें—विक्रमसे २०० वर्ष पूर्व—इस शाखाकी उत्तर भारतमें प्रधानता जानी जा सकती है; परन्तु इस समयमें तो, इस शाखाका नाम भी कहीं नहीं सुना जाता, शाखाध्यायी ब्राह्मणोंकी कथा क्या कही जाय! इस समय यजुर्वेदकी ही सबसे अधिक शाखाएँ मिलती हैं, जिनका विवरण तत्सम्बद्ध ग्रन्थोंके साथ यहाँ दिया जायगा।

यजुर्वेदके दो प्रधान भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनोंमें अलग-अलग शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। कृष्ण यजुर्वेदमें शाखाओंकी संख्या सबसे अधिक है।

(क) कृष्ण यजुर्वेदकी शाखाएँ।

(१) कठशाखा—प्राचीन कालमें इसका बड़ा प्रचलन था। पतञ्जलिने महाभाष्यमें इसका नामोल्लेख किया है—"अध्यगात् कठकालापम्।" परन्तु

आजकल इस शाखावाले ब्राह्मण तो अभीतक सुननेमें नहीं आये। इस शाखासे सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थ मिलते हैं तथा प्रकाशित भी हो गये हैं। इस शाखाकी अपनी संहिता—काठक-संहिता—है, जिससे जर्मन वैदिक विद्वान डाक्टर श्रोदर (Dr. Schroeder) ने जर्मनीमें छपाया है। सर्व-प्रसिद्ध कठोपनिषत् इसी शाखाकी है। इसका अपना गृह्य—काठक-गृह्यसूत्र भी है, जो Punjab Sanskrit Series में इधर छापा गया है। इसके ग्रन्थ हैं—काठक-संहिता, कठोपनिषद्, काठक-गृह्यसूत्र।

(२) कठ-कपिष्ठल-शाखा—चरणव्यूहमें कपिष्ठल-कठशाखाका नाम दिया है, जिसे चरक-शाखाके अन्तर्गत बताया गया है। आजकल इस शाखाकी केवल संहिता ही मिलती है; परन्तु जहाँतक लेखकको मालूम है, कापिष्ठलसंहिता अभीतक प्रकाशित नहीं हुई है।

(३) मैत्रायणीशाखा—इसे कलापशाखा भी कहते हैं। चरणव्यूहमें यह एक प्रधान शाखा मानी गयी है। पतञ्जलिके समयमें इसका प्रचुर प्रचार था—यह बात उनके "अध्यगात् कठकालापम्" आदि उदाहरणोंसे स्पष्ट जान पड़ती है। इस शाखा वाले ब्राह्मण संख्यामें बहुत ही कम हैं। वे प्रायः गुजरात तथा दक्षिण प्रदेशमें, कहीं-कहीं, पाये जाते हैं।

इस शाखाके ग्रन्थ ये हैं—मैत्रायणी संहिता—जर्मनीमें डाक्टर श्रोदरने इसे छपाया है। मैत्रायणी उपनिषद्, मानव श्रौतसूत्र, मानव-गृह्यसूत्र—अष्टावक्र मुनिके भाष्यके साथ बड़ोदेकी Gaekwad Oriental series में इधर छपा है। चरणव्यूहमें मैत्रायणी शाखाके छ भेद दिये गये हैं। इन्हींमें मानवशाखा भी एक थी। मनुस्मृतिका आधारभूत मानवधर्मसूत्र इसीशाखाका था। वाराहशाखा भी इसीके अन्तर्गत थी, जिसका वाराहगृह्यसूत्र बड़ोदेके Gaekwad Oreintal Series में प्रकाशित किया गया है।

(४) तैत्तिरीयशाखा—चरणव्यूहमें इस शाखाके प्रधानतया ५ भेद दिये गये हैं, जिसमें आजकल आपस्तम्बशाखा मिलती है। इस शाखाका भारतके बिलकुल दक्षिणमें खूब प्रचार है। तैलङ्ग तथा द्रविड़ ब्राह्मणोंकी यही शाखा है। इसका अध्ययन-अध्यापन दक्षिणमें खूब होता है। इस शाखासे सम्बद्ध ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्यामें मिलते हैं। हिरण्यकेशी शाखा इसी शाखाके अन्तर्गत है। इसकी संख्या आपस्तम्बोंसे बहुत ही कम है। दाक्षिणात्योंमें भी आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी शाखाध्यायी ब्राह्मण हैं। काशीमें आपस्तम्ब ब्राह्मणोंकी अच्छी मण्डली है। इस शाखाके ग्रन्थ ये हैं—तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, तैत्तरीय आरण्यक, तैत्तरीय उपनिषद्, आपस्तम्ब कल्पसूत्र (जिसके आरम्भके २४ अध्यायोंमें आपस्तम्ब श्रौतसूत्र है, शेष ६ अध्यायोंमें गृह्यसूत्र आदि हैं), बौधायन-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी कल्पसूत्र (सत्याषाढ़-कल्पसूत्र), भारद्वाज-श्रौतसूत्र। ऊपरके वर्णनसे पता चलता है कि, कृष्णयजुर्वेदकी सबसे परिपूर्ण तथा प्राचीन शाखा तैत्तिरीय है। जितने इस शाखाके अध्येता मिलेंगे, उतने कृष्णयजुःकी किसी भी अन्य शाखाके नहीं। सच तो यह है कि, कृष्णयजुःकी यही सबसे प्रधान शाखा है। इस शाखावालोंका उच्चारण माध्यन्दिनोंसे कहीं-कहीं मिलता है और कहीं-कहीं बिलकुल भिन्न-सा प्रतीत होता है। इस शाखावाले कहीं तो माध्यन्दिनोंकी तरह मूर्धन्य 'ष' को 'ख' उच्चारण करते हैं और कहीं नहीं।

(ख) शुक्ल यजुर्वेदकी शाखाएँ ।

इस वेदकी दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। (१) माध्यन्दिन-शाखा—इस वेदकी यही सबसे प्रधान शाखा है। माध्यन्दिनोंकी संख्या भी खूब है। उत्तरीय भारतके ब्राह्मण प्रायः इसी शाखाके माननेवाले हैं। प्रान्त-का-प्रान्त माध्यन्दिन शाखा-वालोंका मिलेगा। मिथिला-मण्डलमें इस शाखा-वाले ब्राह्मणोंकी ही प्रधानता है। दाक्षिणात्योंमें भी यह शाखा है। काशीके बहुतसे महाराष्ट्र ब्राह्मणोंकी शाखा यही है। इस प्रकार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारतके कतिपय भागोंमें माध्यन्दिन-शाखा मिलती है। इस शाखाका उच्चारण तो प्रसिद्ध ही है। ये लोग मूर्धन्य 'ष' का 'ख' उच्चारण करते हैं। यह इनके उच्चारणकी बड़ी विशेषता है। प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' के प्रथम मन्त्र 'सहस्रशीर्षा पुरुषः...' को जहाँ आश्वलायन-शाखावाले गम्भीर स्वरसे 'सहस्र-शीर्षा पुरुषः' उच्चारण करेंगे, वहीं माध्यन्दिन लोग 'सहस्रशीरखा पुरुखः' उच्चारण करेंगे।

इस शाखाके सम्पूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। वे ये हैं—वाजसनेयी-संहिता, शतपथ-ब्राह्मण, बृहदारण्यक-उपनिषद्, कात्यायन-श्रौतसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र।

(२) काण्व-शाखा—इस शाखाका प्रचार आजकल बहुत ही कम है। काशी जैसे स्थानमें काण्वशाखा-वाले ब्राह्मणोंके पन्द्रह या बीससे अधिक कुल नहीं हैं। ये सब-के-सब दाक्षिणात्य ब्राह्मण हैं। काण्वशाखाके वे ही सब ग्रन्थ हैं, जो माध्यन्दिनके; परन्तु कहीं-कहीं पार्थक्य मिलेगा। शतपथ-ब्राह्मण, जिसे काण्व लोग अपना करके मानते हैं, माध्य-न्दिनोंसे कई अंशोंमें भिन्न है।

(३) सामवेदकी शाखाएँ।

आजकल सहस्र शाखावाले सामवेदकी तीन शाखाएँ मिलती हैं—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

(१) कौथुम-शाखा—यह शाखा गुजरातमें पायी जाती है। इसके माननेवाले इसी वेदकी अन्य दोनों शाखाओंसे संख्यामें कहीं अधिक बढ़कर हैं। काशी-में गुजराती ब्राह्मणोंमें श्रीमाली तथा नागर ब्राह्मणों-में इस शाखाका खूब अध्ययन-अध्यापन है। यों तो बंगालमें भी कौथुम-शाखावाले बंगाली ब्राह्मण हैं; परन्तु वे गृह्यपद्धतियोंको छोड़कर सामवेदका ज्ञान बहुत ही कम रखते हैं। गुजराती ब्राह्मण ही आजकल सामवेदके संरक्षक हैं। काशीके अनेक गुजराती ब्राह्मण सामके आचार्य हैं। परन्तु दुःख है कि, दिन प्रतिदिन सामवेदियोंकी संख्या कम होती जाती है। आजकलकी परिस्थितिके कारण प्रसिद्ध सामवेदियोंके भी लड़के वेदाध्ययन छोड़ कर जीविकाके लिये व्यापारका आश्रय ले रहे हैं। यह तो सभी वैदिकोंकी दशा है, सामवेदियोंकी विशेष रूपसे।

इस शाखाके ग्रन्थ हैं—संहिता, ताण्ड्य-ब्राह्मण, षड्विंश-ब्राह्मण, सामविधान-ब्राह्मण आदि अनेक ब्राह्मण, छान्दोग्य-उपनिषद्, मशक-कल्पसूत्र, लाट्या-यन-श्रौतसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र।

(२) राणायनीय-शाखा—इसका प्रचार महाराष्ट्रमें है। सुना है कि, दक्षिणमें सेतुबन्ध रामेश्वरकी ओर इस शाखाके अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण अभी हैं। इसका प्रचार कम है। कौथुम-शाखाकी संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् इस शाखावालोंको भी मान्य हैं। केवल श्रौत तथा गृह्यसूत्र इनका अपना खास है। श्रौतका नाम है—द्राह्यायण-श्रौतसूत्र तथा गृह्यका खदिर-गृह्यसूत्र।

(३) जैमिनीय-शाखा—इसका प्रचार कर्णाटक देशमें है। इस शाखाके माननेवालोंकी संख्या बहुत

कम है। इस शाखाके ग्रन्थ भी अभी हालमें मिले हैं। इस शाखाकी संहिता—जैमिनि-संहिता—को यूरोपीय वैदिक विद्वान् डाकृर कैलेण्ड (Dr. Caland) ने सम्पादन कर प्रकाशित किया है। इस शाखाके ग्रन्थ हैं—जैमिनि-संहिता, जैमिनि-ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण, जैमिनि-श्रौतसूत्र, जैमिनि-गृह्यसूत्र ।

(४) अथर्ववेदकी शाखाएँ ।

यदि देखा जाय, तो जान पड़ेगा कि, इसी वेदकी प्राचीन कालमें तथा आज भी सबसे कम शाखाएँ हैं। प्राचीन कालमें इस वेदकी ९ शाखाएँ थीं; परन्तु आजकल दो ही शाखाएँ मिलती हैं, जिनमें एक केवल नाम मात्रकी अवस्थिति धारण किये हुई है। इस वेदके ब्राह्मण तो इतने कम हैं कि, अंगुलो-पर गिने जा सकते हैं। अथर्ववेदी गुट्टके गुट्ट कहीं न मिलेंगे। एक आध इधर-उधर भले ही मिल जायँ। महाराष्ट्र तथा गुजराती ब्राह्मणोंमें अथर्ववेदी कभी थे; परन्तु आजकल यह वेद उच्छिन्नप्राय होता जा रहा है। काशी जैसे वेद-प्रधान स्थानमें अथर्ववेदी ब्राह्मणोंके दो-चार ही कुटुम्ब होंगे और उनमें भी एक ही अथर्ववेदी, नागर ब्राह्मण, अपने वेदका अध्ययन-अध्यापन कराते हैं। काशीमें एक ऋग्वेदी वैदिक अग्निहोत्रीने इस वेदको जिला रखा है। उन्होंने, ऋग्वेदी होनेपर भी, अथर्ववेदका स्वयं अध्ययन किया है और बहुतसे विद्यार्थी तैयार किये हैं। इन उत्साही वैदिकजीका नाम रामशास्त्री रटाटे है। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण हैं तथा अन्य वेदोंका भी अध्यापन कराते हैं।

(१) पिप्पलाद-शाखा—इस शाखाकी संहिता है, जिसकी भूर्जपत्रोंपर शारदा-लिपिमें लिखी एक ही प्रति काश्मीरमें डाकृर बूलरको मिली थी। यह हस्त-लिखित प्रति जर्मनीमें है। डाकृर राथने इस प्रतिके प्रत्येक पृष्ठका फोटो लेकर इसे छपवाया है। पतञ्जलिके समयमें यह शाखा खूब प्रचलित होगी; क्योंकि महाभाष्यमें दिया गया अथर्ववेदका प्रथम मन्त्र 'शन्नो देवीरभिष्टय' आजकल प्रचलित शौनक-शाखामें नहीं मिलता, प्रत्युत वह पिप्पलाद-संहिताके आरम्भमें उपलब्ध होता है। प्रश्नोपनिषद् इसी शाखासे सम्भवतः सम्बन्ध रखती है। इसके सिवा इस शाखाकी और कोई पुस्तक नहीं मिलती।

(२) शौनक-शाखा – अथर्ववेदकी यह प्रचलित शाखा है। जो कोई अथर्ववेदी मिलता है, वह इसी शाखाका होता है। इसकी संहिता, शौनक-संहिता, सायणाचार्यके भाष्यके साथ एस० पी० पण्डितने, (जो वेदके अच्छे ज्ञाता थे), बम्बईमें चार जिल्दोंमें प्रकाशित किया है। इस शाखाके ग्रन्थ ये हैं:— शौनक-संहिता, गोपथ-ब्राह्मण, मुण्डक आदि उपनिषद्, वैतान-श्रौतसूत्र, कौशिक-गृह्यसूत्र ।

जहाँ इन विभिन्न शाखावाले ब्राह्मणोंकी वसन्त-पूजा होती है और जब वैदिकगण अपने-अपने स्वरोंमें वेद-मन्त्रोंका पाठ करने लगते हैं, तब एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है—अजीब समा बँध जाती है। कहींपर आश्वलायनोंके शान्तिमय गाम्भीर्यके साथ पढ़े गये मन्त्रोंको सुनकर मन गम्भीरताका अनुभव करने लगता है, तो कहीं माध्यन्दिनोंके हस्त-संचालनसे संवलित मन्त्र-पाठको सुनकर चित्त कर्मठजन-समुचित विचित्र-चञ्चलताको धारण करने लगता है। कहीं कौथुमोंके ललित स्वरलहरी-विभूषित साम-गायनको सुनकर मनमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं, तो कहीं आपस्तम्बोंके प्रौढ़ मन्त्र-पाठके सुननेसे आकाशमें गड़गड़ाहटकी आवाज-सी मालूम पड़ने लगती है। कहीं काण्वोंके सुभग मन्त्र-

पाठसे चित्त रीझता है, तो कहीं अथर्व-वेदियोंकी स्वर-भङ्गीमें एक अत्यन्त आह्लादमयी विचित्रता मालूम पड़ती है। ध्यानसे मन्त्र-पाठको सुननेवाले ही इसका पूरा मर्म समझ सकते हैं—आनन्द उठा सकते हैं। यह शब्दोंके द्वारा ठीक-ठीक प्रकट नहीं किया जा सकता। जिन लोगोंने कभी वसन्त-पूजामें वैदिकोंका मन्त्र-पाठ नहीं सुना है, उन्हें उस समय होनेवाले मानसोल्लासकी बात कैसे बतायी जा सकती है! मन्त्र-पाठका प्रभाव श्रोताओंपर सद्यः होता है। पूरा वायुमण्डल परिवर्तित-सा जान पड़ता है। पाठक स्वयं अनुभव कर इसकी सत्यता समझ सकते हैं।

संक्षेपमें वैदिक शाखाओंका यह एक सामान्य विवरण है। विशिष्ट विवरणके लिये एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। वेदके प्रेमी सज्जन! देखिये, वेद भगवान्से हम कैसे विमुख होते चले जाते हैं! जहाँ प्राचीन कालमें ग्यारह सौ तीस शाखाएँ थीं, वहाँ आज केवल बारह शाखाएँ हैं और वे भी बड़ी कठिनतासे उपलब्ध हो रही हैं। समयकी गति देखते हुए हमें तो सन्देह हो रहा है कि, निकट भविष्यमें न जाने कितनी शाखाएँ उच्छिन्न हो जायँगी। वेद भगवान्‌की हम शिक्षित कहलानेवाले हिन्दू जैसे अवहेलना कर रहे हैं, वेदाध्ययन करनेवाले वैदिकोंको हम जिस अनास्थाकी दृष्टिसे देखते हैं, वैदिक साहित्यकी ओर जैसी हमारी अनादर-बुद्धि है, उसे देखते हुए तो, वेदाध्ययनके लिये भविष्य बहुत ही अन्धकारमय मालूम पड़ता है। भगवान् हम हिन्दुओंको सुबुद्धि दें, हम अपने धर्म-ग्रन्थोंका महत्त्व समझें, वेद भगवान्‌का परिचय प्राप्त करें, उनका प्रगाढ़ अध्ययन कर अपनेको कृतकृत्य बनावें तथा अपनी सन्तानको सदाचार तथा सुधर्मके सुन्दर मार्गपर चलनेके लिये तैयार करें। ईश्वर करें, वह शुभ दिन शीघ्र ही आवे।

इतिहास बतलाता कौन ?

आविर्भाव भारतका—
भूमिपर होता जो न,
ऋषि-मुनियोंको निज-
गोदमें खेलाता कौन ?

होते जो न ऋषि-मुनि
सारे महिमण्डलको—
ज्ञानका प्रकाश देके
सुपथ दिखाता कौन ?

कौन सभ्यताका पाठ—
जगको पढ़ाता हाय!
घोर कलिमें भी 'वेद'-
नाम सुन पाता कौन ?

वेद भगवान् यदि—
होते 'अरविन्द नहीं'
इतिहास हिन्दुओंका—
आज बतलाता कौन ?

—पं० रामबचन द्विवेदी 'अरविन्द'

वेदोंका शाखा-भेद

प० विद्याधर शास्त्री गौड़

(प्रधान वेदाध्यापक, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

वैदिक वाङ्मय जितना ही गम्भीर और गहन है, उतना ही विपुल और विस्तृत भी। मनुष्यके एक जीवनमें तो सम्भवतः समूचे वैदिक वाङ्मयका अवलोकन करना भी कठिन है, मनन तो दूर रहा। चार वेद, चार उपवेद, वेदोंकी विभिन्न सहस्रों शाखाएँ, ब्राह्मणभाग, सूत्रग्रन्थ, अङ्ग और उपाङ्ग इत्यादि मिलाकर वैदिक वाङ्मय इतना विशाल बन जाता है कि, एक मानव-जीवन उसके लिये कुछ भी नहीं है। दुर्दैव-योगसे बुद्धिके क्रमिक ह्रासके कारण एवं अनेक आधुनिक कारणोंसे वैदिक वाङ्मयके अधिक अंश विनष्ट हो गये हैं। शेष भाग भी शनैः शनैः विस्मृतिकी घोर निशामें विलुप्त होते जा रहे हैं।

वेदोंके शाखा-साहित्यको ही लीजिये। यह इतना विस्तृत और विपुल था कि, यदि यह पूर्ण रूपसे उपलब्ध होता, तो आज इसके लिये एक विस्तृत स्थानकी आवश्यकता होती।

वेदोंकी शाखाके सम्बन्धमें व्याकरण-महाभाष्यके प्रणेता महर्षि पञ्जलिने लिखा है—

"एकशतमध्वर्यु शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः,
एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणोवेदः।"
—पस्पशाह्निक।

अर्थात् 'यजुर्वेदकी एक सौ शाखाएँ, सामवेदकी एक हजार, ऋग्वेदकी इक्कीस और अथर्वकी नौ शाखाएँ हैं।'

किसी-किसी आचार्यके मतसे अथर्ववेदकी पन्द्रह शाखाएँ हैं। इस प्रकार सहस्रसे ऊपर वेदकी शाखाएं मालूम होती हैं।

वेदके अनेक भागोंके होते हुए भी मुख्यतः दो भेद हैं। एकका नाम मन्त्र-भाग या संहिता-भाग है और दूसरेका नाम ब्राह्मण-भाग है। वेदके लक्षणमें मन्त्र और ब्राह्मण, दोनों ही का समावेश किया गया है। दोनों ही अनादि हैं और अपौरुषेय।

मीमांसकोंके मतसे मन्त्र उसे कहते हैं, जिसमें यज्ञके द्रव्य, देवता और क्रिया-कलाप आदिका वर्णन हो और ब्राह्मण उसे कहते हैं, जो उन मन्त्रोंका यथोचित विनियोग और प्रयोग बतलाते हुए धर्मके स्वरूपका परिचय करावे। इसलिये प्रत्येक मन्त्रभागके साथ ब्राह्मणभाग भी अनिवार्य-रूपेण रहता है। भिन्न वेदोंकी जितनी शाखाएँ हैं, उनमें, प्रत्येकमें, पद्यात्मक संहिता-भाग और गद्यात्मक ब्राह्मण-भाग भी अवश्य रहता है। इस प्रकार गद्य-पद्य-रूप वेदकी विभिन्न शाखाओंके सम्बन्धमें संक्षिप्त रूपसे प्रकाश डालना ही इन कतिपय पंक्तियोंका उद्देश है।

वेदोंकी अधिकांश शाखाएँ तो अब विलुप्त-प्राय हैं। कुछ इनी-गिनी शाखाएँ जो उपलब्ध होती हैं, उन्हींका विशेष परिचय आवश्यक है। विनष्ट शाखाओंका परिचय देनेमें लेख-वृद्धिका भय है। इसलिये उसे छोड़ दिया गया है।

शाखा शब्दका अर्थ।

शाखा शब्दका अर्थ अवयव या हिस्सा नहीं है, जैसे रामायणके छ काण्ड हैं या महाभारतके अठारह पर्व। ये काण्ड और पर्व उनके अवयव हैं। एक-एक काण्ड या एक-एक पर्व एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह एक-से-एक सापेक्ष और अनुबद्ध है। परन्तु वेदोंकी शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध नहीं हैं। अठारह पर्वोंके या सात काण्डोंके समुदायका नाम महाभारत और रामायण है; परन्तु इक्कीस शाखाओंके समुदायका नाम ऋग्वेद नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र रूपसे ऋग्वेद है; क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखाकी अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिये किसी भी वेदकी एक शाखाका अध्ययन करनेसे ही समग्र वेदका अध्ययन माना गया है।

मीमांसा-शास्त्रके प्रणेता महर्षि जैमिनिने "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस वैदिक आज्ञाका अर्थ करते हुए लिखा है कि, 'अपनी परम्परागत एक किसी भी शाखाका अध्ययन

करना चाहिये। यदि इक्कीस शाखाओंको मिलाकर एक ऋग्वेद माना जाय और एक हजार शाखाओंके समुदायको सामवेद माना जाय, तो एक मनुष्य अपने एक जीवनमें एक वेदका भी सम्पूर्ण अध्ययन न कर पावेगा। इस प्रकार तो मनु भगवान्‌की यह आज्ञा भी असङ्गत हो जाती है—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥"

अर्थात् 'द्विजातिमात्र ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तीनों वेदों, दो वेदों या एक ही वेदको पढ़कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करें।'

ब्रह्मचर्यका काल आठ, बारह, चौबीस या अड़तालीस वर्ष बतलाया गया है। इतने ही क्या, सौ वर्षमें भी समस्त शाखाओंके सहित वेदोंका अध्ययन कठिन ही नहीं; प्रत्युत असम्भव भी है। अतः एक ही शाखाका अर्थ एक वेद है। जिसकी जो शाखा हो वही उसका वेद है। यही वास्तविक शास्त्रीय सिद्धान्त है।

यह शाखाभेद कर्ताके भेदसे नहीं माना जा सकता। जैसे एक ही राम-कथा वाल्मीकीय, आनन्द, अद्भुत और अध्यात्म आदि अनेक रामायणोंमें, भिन्न-भिन्न कर्ताओं द्वारा, भिन्न-भिन्न प्रकारसे, वर्णित किये जानेपर भिन्न है, उसी प्रकार वेदकी भी भिन्न-भिन्न शाखाएँ, भिन्न-भिन्न महर्षि द्वारा सङ्कलित किये जानेके कारण, पृथक् हैं—ऐसा भी कुछ नवीन लोगोंका सिद्धान्त है। परन्तु यह भी भ्रममात्र है। ऋषियोंकी शक्ति मन्त्रोंको आगे-पीछे रखनेमें भले ही हो, लेकिन पदों या वाक्योंको इधर-उधर करनेकी शक्ति कदापि नहीं; है क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। उनमें पुरुष-कर्तृत्वकी शङ्का स्वप्नमें भी नहीं की जा सकती। इसलिये वेदोंके समान उनकी शाखाओंका भेद भी अनादि सिद्ध ही है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेदकी शाखाएँ।

ऋग्वेदकी कुल २१ शाखाएँ हैं—यह पहले ही कहा जा चुका है। इन इक्कीस शाखाओंमें इस समय दो ही शाखाएँ मिलती हैं—एक बाष्कला और दूसरी शाकला+। इन दोनोंके अतिरिक्त अन्य उन्नीस शाखाएँ इस समय काल-क्रमसे लुप्त हो गयी हैं। उक्त दोनों शाखाओंमें विशेष अन्तर नहीं है। शाकल-संहितामें ऋचाओंका विभाग मण्डल और सूक्त नामोंसे किया गया है और बाष्कल-संहितामें यही विभाग अध्याय एवं वर्ग आदि नामोंसे किया गया है। परन्तु आजकल इन दोनों सूक्ष्मतर भेदोंको न मानकर अध्याय और मण्डल आदिकी संख्या सम्मिलित कर दी गयी है।

ऋग्वेदमें कुल चौसठ अध्याय, आठ अष्टक, दस मण्डल, दो हजार छः वर्ग, एक हजार सूक्त, पचासी अनुवाक और दस हजार चार सौ चार मन्त्र हैं।†

यजुर्वेदकी शाखाएँ।

यजुर्वेदके दो विभाग हैं—शुक्ल और कृष्ण। दोनों ही प्रकारके यजुर्वेदोंकी कुल मिलाकर एक सौ एक शाखाएँ हैं; परन्तु वे सब लुप्त हैं; इस समय केवल ५-६ शाखाएँ मिलती हैं। शुक्लकी काण्व और माध्यन्दिनी, ये दो शाखाएँ और कृष्णकी तैत्तिरीया, कठी और मैत्रायणी, ये ३ शाखाएँ उपलब्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेदकी जो तीन शाखाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उनमें मन्त्र और ब्राह्मण भागोंको अलग-अलग नहीं किया गया है। संहितामें ही पहले कुछ मन्त्र लिखकर उसी प्रपाठकमें ब्राह्मण भी कहा गया है। किसी-किसी प्रपाठकमें या काण्डमें दोनों भाग एक साथ ही वर्णित हैं और कहीं-कहीं भिन्न रूपसे। यद्यपि कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखामें मन्त्र और ब्राह्मणभाग, दोनों पृथक्-पृथक् कहे गये हैं, तथापि अनेक मन्त्र ब्राह्मणभागमें और अनेक ब्राह्मण मन्त्र-भागमें पाये जाते हैं। मैत्रायणी-संहिता और कठ-संहितामें केवल मन्त्र-भाग मिलता है, ब्राह्मण भाग नहीं। किन्तु इन दोनों संहिताओंमें भी मन्त्र और ब्राह्मणभाग सम्मिलित ही मालूम पड़ता है। इन दोनों संहिताओंमें प्रायः परस्पर समानता ही है। इनके विषय भी प्रायः समान ही हैं। हाँ, तैत्तिरीय-संहिता इन दोनोंसे भिन्न है।

तैत्तिरीय-संहितामें काण्ड, प्रपाठक और अनुवाक—इन नामोंसे विभाग किया गया है। इसकी संहितामें सात काण्ड

+ अनुवाकानुक्रमणीके अनुसार शाकलासे बाष्कलामें केवल ८ सूक्त अधिक हैं।—सम्पादक

† लेखकने जो वर्गों, सूक्तों और मंत्रोंकी संख्या दी है, वह संदिग्ध है। —सम्पादक

और ब्राह्मणमें तीन काण्ड हैं। ब्राह्मण-भागके काण्डोंका दूसरा नाम अष्टक भी है। संहितामें चौआलीस प्रपाठक और छः सौ इक्यावन अनुवाक हैं। ब्राह्मणमें पचीस प्रपाठक और तीन सौ आठ अनुवाक हैं।

कठ-संहितामें भिन्न-भिन्न याज्ञिक विषयोंके अनुसार अठारह विभाग हैं। इस संहितामें इन भागोंका नाम 'स्थानक' कहा गया है।

मैत्रायणी संहितामें चार काण्ड हैं और चौअन प्रपाठक। इसके अतिरिक्त आरण्यक भाग भी है, जिसमें बारह प्रपाठक हैं। यह तैत्तिरीय-संहितामें है।

शुक्ल यजुर्वेदकी दो ही शाखाएं मिलती हैं—एक माध्यन्दिनी और दूसरी काण्व। इन दोनोंके ब्राह्मण भी पृथक् हैं, जिनका नाम शतपथ है। माध्यन्दिनी शाखाके शतपथमें नौ काण्डोंतक संहिताके अनुसार ही ब्राह्मणका भी क्रम है, सिर्फ पितृपिण्ड यज्ञको छोड़कर; क्योंकि संहितामें इस यागके मन्त्र दर्श-पौर्णमासके अनन्तर कहे गये हैं और ब्राह्मणमें आधानके अनन्तर। बस, इतना ही भेद है। काण्व-संहितामें पहले दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी मन्त्र पढ़े गये हैं और ब्राह्मणका प्रारम्भ आधानसे होता है। †

सामवेदकी शाखाएँ।

यद्यपि प्राचीन आचार्योंने सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ बतलायी हैं; परन्तु इस समय इसकी तीन शाखाएँ ही मिलती हैं। १—कौथुमी, २—जैमिनीया और ३—राणायनीया। द्रविड़ देशमें ये तीन शाखाएँ अब भी मिलती हैं। उनमें भी सबसे अधिक कौथुमी, उससे कम राणायनीया; और, जैमिनीया शाखा तो बहुत ही कम पायी जाती है। गुर्जर देशमें कौथुमी और महाराष्ट्रमें राणायनीया ही अधिकतासे प्रचलित हैं। चरणव्यूह नामक ग्रन्थके प्रणेता महीदासने सामवेदकी सोलह शाखाएँ मानी हैं और उनमें इन्हीं तीन शाखाओंका अस्तित्व माना है; क्योंकि इस समय ये ही तीन शाखाएँ प्रचलित हैं, यद्यपि अभीतक सामवेदकी एकमात्र कौथुमी शाखा ही मुद्रित है, ‡ तथापि द्रविड़ देशमें इन तीनों शाखाओंके पढ़नेवाले अब भी मिलते हैं। वेदसर्वस्वकारने जो यह लिखा है कि, इस समय "ये तीनों शाखाएँ नहीं मिलतीं," वह परिचयके अभावसे लिखा है। वस्तुतः ये तीनों शाखाएँ अभीतक जीवित हैं।

सामवेदमें १८२४ मन्त्र हैं। उनमें दो भाग हैं—१ छन्दः-संहिता और २ उत्तरसंहिता। इन दोनोंका नाम पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक भी है। पूर्वार्चिकमें छः और उत्तरार्चिकमें तीन प्रपाठक हैं।

यज्ञमें या ईश्वरोपासनामें तल्लीन भक्त जन जिन मन्त्रोंको ऋचाओंमें गाते हैं, वे साम कहे जाते हैं। गान-संहिताके चार भाग हैं। १ गेय, २ ऊह, ३ ऊह्य और ४ आरण्यक।

सामवेदके आठ ब्राह्मण हैं—१ ताण्ड्य, २ षड्विंश, ३ मन्त्र, ४ दैवत, ५ आर्षेय, ६ सामविधान, ७ संहितोपनिषद् और ८ वंश। इन सब ब्राह्मणोंमें ताण्ड्य ब्राह्मण ही सर्व-प्रधान है; इसी लिये उसका नाम महाब्राह्मण भी है। प्रौढ ब्राह्मण और पंचविंश ब्राह्मण भी इसीके नाम हैं।

अथर्ववेदकी शाखाएँ।

अथर्ववेदकी ९ या १५ शाखाएँ कही गयी हैं। उनमेंसे, वर्तमान समयमें, दो ही प्राप्त हैं—१ पिप्पलाद और २ शौनक। इन्हीं दोनों शाखाओंकी दो संहिताएँ भी हैं—१ पिप्पलाद-संहिता और २ शौनक-संहिता। शौनक-संहिता ही प्रधान रूपेण प्रचलित और मुद्रित भी है। इसमें २० काण्ड, ७५९ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं। इस वेदका एक मात्र गोपथब्राह्मण ही उपलब्ध है। †

इनके अतिरिक्त वेदकी अनेकानेक शाखाएँ और अनेक ब्राह्मण, समयके हेर-फेरसे, विलुप्त हो गये हैं।

---

† शुक्ल यजुर्वेद (माध्यन्दिनीय) में ४० अध्याय और १९७५ मन्त्र हैं। चरण-व्यूहके अनुसार १९०० और सी० वी० वैद्यके मतानुसार १६०० मन्त्र हैं। इसमें ३०३ अनुवाक हैं। —सम्पादक

‡ राणायनीया मुद्रित है और उसमें १५४९ मन्त्र हैं। डब्ल्यू० कैलैण्ड द्वारा जैमिनीय-संहिता भी छपी है, जिसका मूल्य १३ रु० है। इसके साधारण संस्करणका मूल्य १०) रुपये हैं। —सम्पादक

† शौनक-संहितामें एस० पी० पण्डितके मतसे ७५९, ब्लूमफील्डके मतसे ७३०, अजमेर संस्करणमें ७३१ और ह्विटनेके मतसे ५९८ सूक्त हैं। ब्लूमफील्डके मतसे ६०००; ह्विटनेके मतसे ५०३८ और पण्डितके मतसे ६०१५ मन्त्र हैं। गुजरातके एक संस्करणमें ६६८० मन्त्र हैं। —सम्पादक

वेदके व्याकरण तथा कोष

मदेव शर्मा शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०

(उपसम्पादक, "वैदिक—शब्दार्थ-पारिजात," वैदिकाश्रम, लाहोर)

संसारभरके साहित्य-भाण्डारमें वेदोंको जो स्थान प्राप्त है, वह अनेक प्रकारसे अनुपम और निराला है। वैदिक वाङ्मय इतना पुराना है कि, इसके काल तथा कर्त्ताओंके सम्बन्धमें प्राचीन और अर्वाचीन अन्वेषकोंके नाना प्रकारके वादों तथा विचारोंका होना स्वाभाविक है। तथापि यावदुपलब्ध, प्राचीन-से-प्राचीन, साहित्यमें वेदोंके सबसे प्राचीन होनेमें किसीका भी मतभेद नहीं है। वेदोंकी लेख-शैली स्वाभाविक तथा प्रसादगुणसे युक्त है, प्रवाह सरल और सुन्दर है, सूक्तियाँ स्पष्ट तथा जीवनप्रद हैं, उपदेश उज्ज्वल और ऊर्जित हैं, संकेत गहरे और मीठे हैं। इन्हीं गुणोंके कारण पुराने होनेपर भी वेद सदा नवीन हैं।

ह्रासवादके पोषकों तथा विकासवादके अनुयायियोंको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, ऋषियोंको पवित्र आत्माओंमें वेद-रूपी विमल ज्ञानकी स्फूर्ति अवश्यमेव उसी भाषामें हुई, जो उस समयकी मातृभाषा थी। साहित्यिक (लेख-निबद्ध) भाषा तथा बोलचालकी भाषामें प्रायः यही भेद होता कि, पहली लेखकको लेखनीसे परिमार्जित होकर विशेष-विशेष अवस्थाओंमें, विशेष स्फूर्तियोंसे अनुप्राणित होकर और प्रसाद आदि गुणोंसे युक्त होकर, प्रकट होती है; परन्तु दूसरी विशेष प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर बोलनेवालोंकी शक्ति तथा देश-कालके अनुसार बदलती रहती है। कोई समय आता है कि, उसीके लेखनिबद्ध स्थिर स्वरूप तथा अग्रिम विस्तारमें इतनी भिन्नता पायी जाती है कि, दोनोंको एक रूप-योजना करना बड़ा ही कठिन हो पड़ता है। वेदकी साहित्यिक भाषा तथा तत्कालीन प्रचलित भाषा इस नियमसे मुक्त नहीं थी। वेदोंके अन्दर उस समयके प्राकृत प्रयोगोंकी विद्यमानता (जैसे 'नोधा' नवधाके स्थानपर, 'लोध' लुब्धके स्थानपर इत्यादि) तथा वर्तमान उत्तरी और मध्य भारतकी मातृभाषाका रूप-विस्तार सिद्ध करता है कि, इन सबका स्रोत वैदिक भाषा ही थी, जो काल-क्रमसे इतनी भिन्न हो गयी।

जब भाषा नदीके रूपमें एक स्रोतसे निकलकर छोटे-छोटे नालोंसे बहती हुई देश, काल तथा अवस्थाके अनुसार अपने प्रथम स्वरूपसे परे चलने लगती है, तब व्याकरण-कारोंका प्रादुर्भाव होता है। वे नियम रचकर उन नालोंमें बन्द लगाकर भाषाको शिकञ्जेमें बाँधनेका प्रयत्न करते हैं और साथ ही उसको जीवित रखनेका यत्न भी करते हैं। यह दूसरी बात है कि, यह शिकञ्जा केवल पठित समाज तथा उससे प्रभावित समाजतक ही रहे। इस दिशामें व्याकरण-सम्बन्धी प्राचीन-से-प्राचीन प्रयत्न प्रातिशाख्योंके रूपमें पाया जाता है। प्रातिशाख्यका अर्थ है, वेदोंकी भिन्न-भिन्न शाखाओं अथवा सम्प्रदायोंमें प्रचलित रूप, लक्षण आदिका नियम-बद्ध वर्णन। उनमें बहुतसे व्याकरणापेक्षित विषयोंका उल्लेख पाया जाता है।

इस समय ६ प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं। पहला ऋक्-प्रातिशाख्य, जिसको पार्षद-सूत्र भी कहते हैं। यह महर्षि-शौनक-कृत है। इसकी छन्दोबद्ध रचना है। तीन अध्यायों और १८ पटलोंमें यह विभक्त है। दूसरा शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य कात्यायन मुनि द्वारा विरचित है। आठ अध्यायोंमें विभक्त है। तीसरा सामवेदका प्रातिशाख्य महर्षि पुष्प द्वारा

विरचित है। यह पुष्प-सूत्रोंके नामसे भी प्रसिद्ध है। चौथा अथर्व-प्रातिशाख्य सूत्र-निबद्ध है, जिसका बहुतसे हस्तलेखोंसे सम्पादन प० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए० ने किया है। पाँचवाँ चतुरध्यायी नामक ग्रन्थ, अथर्ववेदके प्रातिशाख्यके रूपमें, पाया जाता है, जिसका अमेरिकाके प्रसिद्ध विद्वान् ह्विटनेने सम्पादन, तथा अँग्रेजीमें अनुवाद कर छपवाया है। छठा तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य नामका कृष्ण यजुर्वेदका प्रातिशाख्य है। इसके कर्ताका अभीतक पता नहीं लग सका। इसमें २४ अध्याय हैं। प्रातिशाख्योंका विषय अपनी-अपनी शाखाकी विलक्षणताके विवरणको छोड़कर, आगे-पीछे करके, प्रायः एक-सा ही पाया जाता है।

प्रातिशाख्योंमें इतने विषय रहते हैं—१ वर्ण-समाम्नाय—स्वर-व्यञ्जनोंकी गणना तथा उनके उच्चारणादिके नियम। २ सन्धि—अच्, हल्—विसर्ग आदि। ३ प्रगृह्य-संज्ञा, अवग्रह अर्थात् पद-विभागके नियम तथा इसके अपवाद-सूत्र। ४ उदात्त-अनुदात्त शब्दोंकी गणना, स्वरितके भेद और आख्यात स्वर। ५ संहिता-पाठ—पदपाठमें भेद-प्रदर्शक नियम—सत्व, षत्व, दीर्घ आदिका विवरण। ६ अथर्व-प्रातिशाख्यमें संहितापाठ और पद-पाठके सिवा क्रम-पाठके भी नियम बतलाये हैं और तैत्तिरीयमें इन तीनोंके अतिरिक्त जटापाठके नियमोंका भी उल्लेख है। ७ साम-प्रातिशाख्यमें सामवेदकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी गीतियोंमें प्रश्लेष, विश्लेष, वृद्ध, अवृद्ध, गत, अगत, उच्च, नीच, क्रुष्ट, अक्रुष्ट, संक्रुष्ट आदि आदि उच्चारण-कृत भेदोंका वर्णन भी पाया जाता है।

प्रातिशाख्योंके अध्ययनसे पता लगता है कि, वे सारी व्याकरण-प्रक्रियाको सम्मुख रखनेवाले नहीं हैं; किन्तु बाह्य, परिवर्तन, सन्धि आदि तथा स्वर, ध्वनि आदिके प्रतिपादक शास्त्र मात्र हैं, जिनका लक्ष्य विशेषतः अर्थका निर्धारण नहीं है; किन्तु अपनी-अपनी शाखाओंकी विलक्षणता तथा संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ और जटा-पाठ आदिकी कल्पना द्वारा पवित्र वेद-पाठको सुरक्षित रखना था। यद्यपि प्राचीन कालमें इन्हीं विषयोंके अनेक सम्प्रदाय तथा आचार्य हो चुके थे या विद्यमान थे (जैसे तैत्तिरीय-प्रातिशाख्यमें ही २२ आचार्योंके नाम आये हैं); तथापि वैदिक भाषाके प्रचलित भाषा न होनेके कारण वैदिक व्याकरणकी सूक्ष्म बातों अथवा अर्थोंकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। वह समय व्याकरणका केवल शैशव काल ही कहा जाने योग्य है। सन्धियोंके भिन्न-भिन्न नामों, कृत्रिम संज्ञाओं तथा प्रत्याहारकी रचनाका अभाव और सूत्रोंकी वैज्ञानिक रचनाका अभाव इस बातको सिद्ध करते हैं। विशेष कर व्याकरणका प्रधान अङ्ग शब्द-व्युत्पत्ति, शब्द-रचना अथवा निर्वचन-शैली (Etymology) है, जिससे वेदके गम्भीर भावोंका अध्ययन होता है, प्रातिशाख्योंमें नहीं पाया जाता। यह बात निराशा-जनक है। यही कारण था कि, "अनर्थका हि मन्त्राः" कहनेवाला कौत्स-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया !

निरुक्तकार यास्काचार्यके स्थल-विशेषोंके सङ्केतोंसे बोध होता है कि, वैदिक भाषा प्रचलित भाषा नहीं थी। इसलिये बहुतसे शब्दोंका प्रयोग ही जाता रहा और बहुतसे शब्दोंका अर्थ परिवर्तित हो गया। इसलिये वेद-मन्त्रोंका अर्थ विशद करनेके लिये, प्रातिशाख्योंकी त्रुटिको दूर करनेके निमित्त, निरुक्त-शास्त्रकी रचना करनी पड़ी। यह बात अवश्य थी कि, लगभग उसी समय बहुतसे सम्प्रदाय (ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैरुक्त) और बहुतसे आचार्य (आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव) आदि इसी विषयके हो चुके थे। आचार्य शाकपूणिके निरुक्तको हाल ही में, खण्डशः, 'पाठक-स्मारक-पुस्तक' में प० भगवद्दत्त बी० ए० ने छपवाया है।

यास्काचार्यके निरुक्तमें भाषा-सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तोंका विवेचन करके निघण्टुमें ग्रथित शब्दोंका निर्वचन किया गया है और साथ ही उदाहरणमें ऋग्वेदके कई सौ मन्त्र देकर अर्थ स्पष्ट किया गया है। उत्तरार्द्धमें

देवतावाद है, जिसमें मन्त्रों द्वारा देवताओंका स्वरूप-निरूपण स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यह सामग्री वेदार्थके लिये अनुपम है; तथापि सम्पूर्ण वैदिक साहित्यके लिये अधूरी है।

आचार्य पाणिनिका प्रयत्न लौकिक भाषाको शुद्ध करनेका था। अष्टाध्यायीमें मुख्य रूपसे भाषा-सम्बन्धी रूपों और प्रयोगोंका व्युत्थान तथा सङ्कलन है। भाषाका पूर्णतया मथन कर और सब प्रकारके नियम बना कर उन्हें आठ अध्यायोंमें बन्द कर दिया गया है। वैदिक भाषाके रूपों तथा प्रयोगोंका विवेचन 'व्यत्ययो बहुलम्', 'बहुलं छन्दसि' आदि कहके छोड़ दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि, आचार्यका "स्वर-वैदिकीका" संकलनअनुपम है; पर इसको वेदका सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण कहना भूल होगी। वस्तुतः व्याकरणके अध्ययनमें वैदिक भागको एक ओर फेंक दिया गया है। सारस्वत-व्याकरणके सम्प्रदायोंने तो इसको निकाल ही दिया है! इसी कारण वेदाध्ययनकी परिपाटी लुप्तप्राय हो चली है।

भाषाके अध्ययनके लिये जहाँ व्याकरणकी आवश्यकता है, वहाँ उसके शब्द-भाण्डारका बोध करानेवाले कोष-शास्त्रकी भी परम आवश्यकता है। इस विषयमें प्राचीन निघण्टुकारोंने वास्तविक सूत्र-पात करते हुए वैदिक शब्दोंको कई विभागोंमें संगृहीत किया है। अनेकार्थक शब्दोंको समानार्थक शब्दोंसे पृथक् करके दिखाया तो है; परन्तु वे शब्द उन अर्थोंमें प्रचलित थे या उस समयके विद्वान् उनको उन-उन अर्थोंमें लेते थे, अमुक शब्दकी अमुक अर्थमें प्रवृत्ति क्यों हुई इत्यादि बातोंका रहस्य नहीं मिलता! अन्तिम दो अध्यायोंमें केवल पदोंकी गणना करके ही समाप्ति की गयी है। किस प्रकार प्रत्येक शब्दसे क्या आशय ग्रहण करना चाहिये, यह पता नहीं चलता। इन निघण्टु-शब्दोंकी व्याख्या यास्काचार्यने की है। ये दोनों मिलकर वैदिक विज्ञानका भाण्डार कहलाते तो हैं; पर यह वैदिक कोष नहीं; क्योंकि प्रत्येक शब्दके अर्थ-भेदके विवेचनार्थ विस्तृत और सापेक्ष समन्वयकी आवश्यकता है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मयकी तुलना करके ही उसके भिन्न-भिन्न अर्थोंकी ओर निर्देश होना चाहिये था। जैसे पशुका वाचक 'गौ' शब्द पृथ्वीका वाचक कैसे और कहाँ-कहाँ हुआ, इस प्रकारका समन्वय यास्काचार्यके निरुक्तमें नहीं मिलता। अर्थ-विभाग करना और प्रमाणोंसे प्रमाणित करना 'कोष' का काम है। अत एव यह कोष नहीं कहला सका; कोषकी कच्ची सामग्री अवश्य है। वेदार्थके जिज्ञासुके लिये इन निघण्टु-निरुक्तों तथा धातुपाठों और इनपर समय-समयपर धुरन्धर विद्वानों द्वारा किये गये व्याख्यानोंके अतिरिक्त समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा सूत्र-ग्रन्थ भी एक ऐसे बृहदाकार भाण्डार हैं, जिनमें स्थल-स्थलपर वैदिक शब्दोंके निर्वचन मिलते हैं। यह सब कोषकी उपयोगिनी सामग्री है।

मध्य कालमें अनेक लेखकोंने पद्यात्मक अमरकोष, वैजयन्ती, मेदिनी आदि कोषोंकी रचना की। प्रथम तो पर्याय-पदों, नानार्थक पदों तथा समानार्थक पदोंका परिचय तो हो जाता है; परन्तु उनके निर्वचन या व्युत्पत्ति तथा प्रयुक्त उदाहरण आदिका कुछ पता नहीं चलता। दूसरे ४० प्रति शतक वैदिक शब्दोंका तो नाम-निशानतक नहीं मिलता। अर्वाचीन समयमें लिखे गये वाचस्पत्य तथा शब्दकल्पद्रुम केवल साधारण संस्कृत-भाषाके विज्ञानके दृष्टिकोणसे पूर्ण हैं और वैदिक भाषाकी दृष्टिसे सङ्कुचित तथा अपूर्ण हैं। इनमें वैदिक भाषाके प्रारम्भिक ५०-६० शब्दोंमेंसे १५, १६ शब्द भी नहीं मिलते। जो कुछ मिलते हैं, उनका न तो वैज्ञानिक क्रम है, न ऐतिहासिक ही। वैदिक अर्थोंका ठीक-ठीक विभाग भी नहीं किया गया है।

वर्तमान कालके संस्कृताभ्युत्थानमें जर्मन विद्वानोंका पुरुषार्थ अति प्रशंसनीय है। अन्य अंग्रेज तथा अमेरिकन, विद्वानोंने भी इसमें बहुत कुछ भाग लिया है। सबसे पहले 'रोथ' तथा 'बोटलिंग' ने लौकिक-वैदिक शब्दोंका "सेंट पीटर्सबर्ग कोष", बड़े परिश्रम तथा खोजके बाद, रचा।

उसके अनन्तर बोटलिंगने "माइनर सेंट पीटर्सबर्ग कोष" परिवर्द्धित कर रखा। हालहीमें 'स्मिट्' महोदयने उसी क्रममें नूतन सम्पादित वैदिक ग्रन्थोंके शब्दों तथा पिछले शब्दोंके नये अर्थोंका कोष प्रकाशित किया है। वैसे ही मोनियर, विल्सन, बेनफे, मैकडानल, आपटे आदिने भी संस्कृतके कोष बनाये हैं। यद्यपि इन सबमें वैज्ञानिक पूर्णताका ही अधिक अंश है; परन्तु 'पिशल', 'गेलनर', 'हिलेब्राण्ट' आदि विद्वानोंके मतोंसे ये वञ्चित हैं। साथ ही इनमें पूर्वीय विद्वानोंके अर्थ नहीं दिये गये हैं। कोषकी दृष्टिसे 'ग्रासमन' का 'ऋग्वेद-कोष' आदर्श कोष है; पर इसमें भी न तो नये मत हैं और न पूर्वीय विद्वानोंके अर्थ हैं। इन्हीं दो बातोंके अभावके कारण यह वैदिक अनुसन्धानमें पूर्ण सहायक नहीं हो सकता। पश्चिमी विद्वानोंका केवल भाषा-विज्ञानके दृष्टिकोणसे अपने अर्थोंको प्रमाणित करनेका साहस कई बार अनर्थकारी सिद्ध हुआ है। वैदिक फोर्शङ्गन, नौसेर महोदयका "ऋग्वेद-कोष" आदि भी वैदिक अन्वेषणके लिये उपस्थित किये जाते है; परन्तु सब अधूरे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें इस धर्म-कर्मसे गिरती हुई आर्य-जातिके पुनरुद्धारके लिये स्वामी दयानन्दका अवतार हुआ, जिन्होंने अपनी विद्या, तप और ब्रह्मचर्यके प्रतापसे आर्य-जातिका ध्यान वेदकी ओर दिलाया। उनके अनुयायियोंने भी चारो ओर वेदकी दुन्दुभि बजाना आरम्भ किया; परन्तु उचित सामग्रीके अभावमें वैदिक साहित्यकी यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकी। वेदके कोषके सम्बन्धकी उक्त त्रुटियोंको दूर करनेके लिये जगद्विख्यात आर्य-संन्यासी स्व० स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्व० स्वामी नित्यानन्दजी महाराजने वैदिक कोष-सम्बन्धी यत्नकी आधार-शिला रखी। सबसे पहले उन्होंने चारो वेदोंकी सूचियाँ तैयार करायीं, जो कि, १६०६ में, छप गयीं। इसके अनन्तर ही स्वामी नित्यानन्दजी, बिल्कुल युवावस्थामें ही, स्वर्ग सिधार गये; परन्तु स्वामी विश्वेश्वरानन्दजीने वैदिक-कोषका सङ्कल्प नहीं छोड़ा। उन्होंने राजा-महाराजोंको प्रेरित किया। बहुत कुछ सफलता भी मिली। गायकवाड़, मैसूर, होल्कर आदि राज्योंसे आर्थिक सहायता भी मिली। उन्होंने कई स्थानोंपर इस वैदिक कोषके कार्यालय बनाये और विद्वानोंको लगाकर लक्ष्य-पूर्तिकी चेष्टा की। तो भी विशेष रूपसे सन्तोष-जनक कार्य न हो पाया। अन्तको वे १६२३ में लाहोर पधारे। आर्य-समाजके पुराने कार्यकर्ताओं तथा नेताओं (रा० ब० लाला मूलराजजी तथा महात्मा हंसराजजी) से परामर्श किया। सबकी यह इच्छा हुई कि, प० विश्वबन्धु जी शास्त्री एम० ए०; एम० ओ० एल०, आचार्य, 'दयानन्द-ब्राह्ममहाविद्यालय', लाहोर, इस कोषके सम्पादनका कार्य अपने हाथमें लें। आप एक ऐसे त्याग शील विद्वान् हैं, जिन्होंने सांसारिक सुखोंको लात मारकर और वस्तुतः वानप्रस्थका जीवन व्यतीत कर वेद तथा जातिकी उन्नतिका व्रत धारण किया है। आप वृद्धोंकी प्रेरणाके सामने तुरत झुक पड़े और कार्यकी प्रक्रिया निश्चय कर आपने १६२४ में कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। इसके एक वर्षके अनन्तर ही स्वामी विश्वेश्वरानन्दजीका स्वर्गवास हो गया। उनके पीछे उनको बनायी हुई "विश्वेश्वरानन्द-सम्पत्प्रबन्धिनी सभा" इस कार्यमें आर्थिक सहायता कर रही है; पर यह सहायता इतने बड़े कार्यके लिये अपर्याप्त है। तो भी आपके अदम्य उद्योगके कारण "वैदिक-शब्दार्थ-पारिजात"का प्रथम खण्ड, १६२६ में, छपकर प्रकाशित हुआ।

वेद-प्रेमी लोगोंके लिये यह आश्चर्य-जनक सूचना होगी कि, यह "वैदिक-शब्दार्थ-पारिजात" संस्कृतमें प्रथम सम्पूर्ण वैदिक कोष है, जिसमें इस बातका प्रयत्न किया गया है कि, समस्त उपलब्ध नौ संहिताओंके शब्दोंपर उनकी ही आभ्यन्तरिक सामग्री तथा ब्राह्मण, उपनिषद्, श्रौतसूत्र आदिमें आगत प्रयोगोंको दिखाकर, वर्तमान शैलीके अनुसार, निर्वचन तथा अर्थ आदि लिखे गये हैं। प्रत्येक शब्दके

विषयमें पूर्वीय तथा पश्चिमीय सामग्री (जितनी भी आज-दिनतक प्राप्त हो सकी है) का समावेश किया गया है। इस सामग्रीको पूर्ण करनेके लिये प्राचीन भाष्यकारों (वेङ्कट माधव, उद्गीथ, स्कन्दस्वामी, भरतस्वामी, आत्मानन्द, वेङ्कटेश आदि) के अमुद्रित वेद-भाष्योंके हस्त-लेखोंका भी संग्रह किया गया है। मैत्रायणी, काठक, कापिष्ठल आदि संहिताओं तथा शतपथ, तैत्तिरीय, कौषीतकी, गोपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं आरण्यकों और श्रौतसूत्रोंकी, बड़े प्रयत्नसे, सूचियाँ भी तैयार करायी गयी हैं। पाश्चात्य भाष्यों, टीकाओं, टिप्पणियों, समालोचनाओं तथा मासिक पत्रिकाओंके सारका भी समावेश किया गया है। प्रथम विभागमें नाम, सर्वनाम, गुणवाचक शब्द, अव्यय, उपसर्ग, निपात, कर्म-प्रवचनीय, स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द, समस्त शब्द, कृदन्त शब्द, तद्धित शब्द तथा सकल तिङन्त रूपोंका मूलाधार, धातु आदि दिये हैं। स्वर-सङ्केत द्वारा प्रातिपदिकरूप दिया गया है। तदनन्तर लिङ्ग—निर्देश कर पाणिनि तथा यास्ककी प्रक्रियाका, मुख्य रूपसे अनुसरण करते हुए, आधुनिक कल्पनाओंका उल्लेख किया गया है। विभाग कोषमें संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और श्रौतसूत्रोंमें आये हुए विभक्ति-वचनोंका संग्रह किया गया है, जिससे शब्दके व्याकरणमें सहायता हो सके। तीसरे विभागमें प्राचीनतम ब्राह्मणादिके व्याख्यानों, सूत्रग्रन्थों, अन्य प्राचीन साहित्यके भागों तथा नये-पुराने पूर्वीय-पश्चिमीय भाष्योंमें जो-जो अर्थ बताये गये हैं, उन सबका, वैज्ञानिक क्रमसे, विभाजन कर वर्गीकरण तथा सम्पादन किया गया है। जहाँ, जिस लेखकने, जो कुछ लिखा है, उसका ठीक-ठीक पता दिया गया है। मन्त्रों तथा वाक्योंकी प्रतीकें साथ दी गयी हैं। भाष्यकारोंकी समालोचना की गयी है। अर्थोंके आगे प्रश्नात्मक चिन्ह लगाया गया है, जिसका कारण भी साथ ही निर्दिष्ट किया गया है। अशुद्धियों तथा सन्दिग्ध स्थलोंकी ओर भी सङ्केत किया गया है। इसमें किसी दैशिक अथवा साम्प्रदायिक भाव अथवा पक्षपातको स्थान न मिलना चाहिये था; और, न दिया गया है। अपनी ओरसे की गयी टीका-टिप्पणियों तथा नये अर्थोंका, विशेष चिन्ह द्वारा, सङ्केत किया गया है। भारतीय विद्वानोंकी दृष्टिसे इस कोषमें एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विशेषता है। पाश्चात्य अन्वेषकोंने वेदको समझने-समझानेमें जितना परिश्रम किया है, उसका जर्मनी तथा अँग्रेजी भाषासे संस्कृतमें अनुवाद कर सारांश संगृहीत कर दिया गया है। साथ ही उनके शब्द भी तत्-तद्भाषाओंमें दे दिये गये हैं, ताकि पाठकोंको किसी प्रकारका भ्रम न हो। मुद्रित खण्डमें संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी भाग अलग-अलग दिये गये हैं। परन्तु तीनोंमें, पिष्ट-पेषणके भयसे, आगेको हिन्दी-भाग बिल्कुल निकाल दिया गया है और जर्मन—अंग्रेजी भागका संस्कृतके कोषमें ही समावेश कर दिया गया है।

'पारिजात' में न आये हुए, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों और श्रौतसूत्रोंके नये शब्दोंके कोषका 'परिशिष्ट' या दूसरा भाग रचनेका विचार है। तीसरे भागमें सापेक्ष भाषा-विज्ञानकी खोजका समावेश करना है, जिसमें प्रथम वैदिक शब्दोंके पाली, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आजकल की भाषाओंमें तद्भव रूप मिलते हैं, उनका उल्लेख किया जायगा। इसमें 'जिन्द' और प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओंको, वैदिक शब्दोंके विषयकी, सामग्रीका समावेश होगा। इन तीनों भागोंको मिलाकर सचमुच इस सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण वैदिक कोषकी सहायतासे वेदाध्ययन ही सरल न होगा; अपितु इसके आधारपर भाषा-विज्ञान तथा वैदिक व्याकरणके मौलिक ग्रन्थोंकी रचना भी हो सकेगी। कार्य बड़ा विस्तृत है और ऐसे कार्य धनाविके अभावमें अधूरे ही रह जाते हैं। परमात्मा करें, धन-सम्पन्न वेद-प्रेमी व्यक्तियोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हो और वेद-विद्याका प्रचार हो।

लुप्त वैदिक निघण्टु

प० भगवद्दत्त बी० ए०

(डी० ए० वी० कालेज, लाहोर)

यास्कीय निरुक्त (७।१३) के * पाठसे पता चलता है कि, यास्कके कालसे पहले निघण्टु-ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति केवल दो वैदिक निघण्टु मिलते हैं। एक है सुप्रसिद्ध निघण्टु, जो यास्क-प्रणीत × है और दूसरा है कौत्सव्यकृत ‡ निरुक्त निघण्टु। इनके सिवा आचार्य-शाकपूणि-विरचित भी एक निघण्टु था। इन तीन निघण्टुओंको छोड़कर दूसरे वैदिक निघण्टु-ग्रन्थोंका नामतक भी अब वैदिक साहित्यमें नहीं मिलता। इतना होनेपर भी अनेक वैदिक ग्रन्थोंके भाष्योंके पाठोंसे ज्ञात होता है कि, हम लुप्त निघण्टु-ग्रन्थोंका थोड़ा बहुत स्वरूप जान सकते हैं।

वैदिक भाष्यकार जब कभी किसी निघण्टुसे प्रमाण उद्धृत करते हैं, तब अभीष्ट वैदिक शब्दके निघण्टु-प्रदर्शित अर्थके साथ नाम शब्दका प्रयोग करते हैं। जैसे—"अम्र इति रूपनाम। =" "उस्रियेति गोनाम।" ÷ निरुक्त (३।११) और निरुक्त ४।१९ में लिखे हैं। इसी शैलीका अनुकरण स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, गोविन्दस्वामी, उव्वट और सायण आदि सैकड़ों वैदिक भाष्यकार करते चले आये हैं। मैंने थोड़ासा यत्न किया है कि, इन वैदिक भाष्योंमेंसे वे प्रमाण एकत्र करूँ, जो सम्प्राप्त निघण्टु-ग्रन्थोंमें नहीं हैं। ये सब प्रमाण अवश्य ही उन निघण्टु-ग्रन्थोंके हैं, जो अब लुप्त हो चुके हैं।

१ प्रथम इति मुख्यनाम। निरुक्त २।२२

२ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः। निरुक्त ४।२१

३ रेप इति पापनाम। ‡ उव्वट-यजुर्वेद-भाष्य ५।३

४ बर्हिः इति यज्ञनाम। निरुक्त-समुच्चय † पृ० ३४।

५ एह इति अपराधनाम। × उव्वट यजुर्वेद-भाष्य ४।२९

६ मतिः इति स्तुतिनाम। भट्टभास्कर-रुद्रभाष्य पृ० ६२।

७ शम्ब इति वज्रनाम। निरुक्त ५।२४

८ श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम। ∴ निरुक्त ५।३

९ घृणिः इति दीप्तिनाम। उव्वट-यजुर्वेद-भाष्य १७।१०

१० ओक इति निवासनाम। निरुक्त ३।३

११ विः इति शकुनिनाम। निरुक्त २।६

१२ स्वस्तिः इति अविनाशनाम। निरुक्त ३।२१

१३ सुका इति आयुधनाम। ÷ उव्वट-यजुर्भाष्य १६।६१

१४ क इति अपत्यनाम। दुर्गाचार्यकृत निघण्टु-भाष्य १२।९

१५ अल्क इति रूपनाम। वेङ्कटमाधवकृत ऋग्भाष्य ४।१६।१३

१६ तुर इति यमनाम। निरुक्त १२।१४

१७ सुः इति प्राणनाम। निरुक्त ३।८

इस सूचीकी ७ और ८ संख्याओंके दोनों पद यास्कीय निघण्टु ४।२ में, पद-संग्रहमें, पढ़े गये हैं। प्रतीत होता है कि, यास्कीय निघण्टुके चतुर्थाध्यायके दूसरे पद भी प्राचीन निघण्टु-ग्रन्थोंमें, अर्थविशेषोंके साथ, पढ़े गये होंगे।

इसी प्रकार यदि यत्न-विशेषसे वैदिक भाष्योंमेंसे ऐसे अधिक प्रमाण एकत्र कर लिये जायँ, तो वेदार्थमें बड़ी सहायता होगी।

---

* सान्यप्येके समामनन्ति।

× इसकी दो शाखाएँ हैं—बृहत् और लघु।

‡ यह आथर्वण परिशिष्टोंमेंसे एक है। इसका देवनागरी संस्करण लाहोरमें छपा है।

शाकपूणिके निरुक्त और निघण्टुपर पाठक स्मारक-ग्रन्थ-में मेरा लेख देखें। यह ग्रन्थ पूनासे शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

= अम्र पद यास्कीय निघण्टु ३।७ में इसी अर्थमें पढ़ा गया है।

÷ यास्कीय निघण्टु (२।११)

‡ प्रतीत होता है, किसी प्राचीन निघण्टुमें रपः, रिप्रम्, रेपः आदि पद पाप-नाममें एकत्र पढ़े गये थे।

† यह हस्तलिखित ग्रन्थ है। इसके कर्ता वररुचि हैं। यह ग्रन्थ निरुक्तके ढङ्गसे मन्त्रार्थ करता है।

× यास्क इसे क्रोधनामोंमें पढ़ते हैं।

∴ यास्क इसे धननामोंमें पढ़ते हैं।

÷ निघण्टु २।२० में यह वज्रनामोंमें पढ़ा गया है।

महर्षि यास्कका निरुक्त

प० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री
(कनखल, सहारनपुर)

अति गम्भीर वेदोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये उनके छ अंग प्रवृत्त हुए हैं। इन अंगोंमें निरुक्त सर्व-प्रधान है; क्योंकि इसके विना सामान्य जनोंके लिये वेदार्थ-बोध होना प्रायः असम्भव ही है। जिस तरह राजनीतिमें समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और इतिहास आदिका सम्मिश्रण होता है, उसी तरह निरुक्तमें व्याकरण, भाषा-विज्ञान, मीमांसा (पूर्व और उत्तर) तथा साहित्य-शास्त्र आदिका अभेद्य सहयोग है। तो भी व्याकरणका अधिक आश्रय है; क्योंकि यह निर्वचन-प्रधान शास्त्र है। इसीलिये तो महर्षि यास्कने स्वयं ही लिख दिया है कि, जो अच्छी तरह व्याकरण न जानता हो, उसे निरुक्त कभी भी न पढ़ाना चाहिये। ऐसा करनेसे श्रम व्यर्थ जायगा। अनेक तरहके निषिद्ध शिष्योंके साथ 'नावैयाकरणाय' लिखकर यास्कने निरुक्तका व्याकरणके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित किया है; पर व्याकरण और निरुक्त एक ही बात नहीं है। व्याकरणका विषय संकुचित और निरुक्तका व्यापक है। इसीलिये निरुक्तकारने कहा है—'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' अर्थात् यह (निरुक्त)—शास्त्र सम्पूर्ण विद्याओंका स्थान है; और, व्याकरण-की पूर्णता है। मतलब यह कि, अनेक विद्याओंका आश्रय होनेपर भी इसमें व्याकरणकी प्रधानता है और इसे पढ़े बिना, व्याकरणमात्र पढ़ लेनेसे, कोई पूर्ण वैयाकरण नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः 'निरुक्त' एक अंगका नाम है, किसी ग्रन्थका नहीं; जैसे व्याकरण, ज्योतिष आदि। पहले निरुक्त-विषयक अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ थे; इसका पता महर्षि यास्कके निरुक्त-से चलता है। बहुतसे निरुक्तकारोंके तो नाम और मतलक इसमें दिये हुए हैं। परन्तु, दुर्भाग्यसे, आजकल महर्षि यास्कके निरुक्तके अतिरिक्त और कोई उपलब्ध नहीं है।* इसलिये किसी विशेषणके विना भी, केवल 'निरुक्त' कह देनेसे ही, महर्षि यास्कके निरुक्तका ही बोध होता है।

भगवान् प्रजापति कश्यपने वेदोंके कुछ व्यापक और दुरूह, एकार्थक, अनेक शब्दोंका संग्रह किया। अनेकार्थक शब्द भी आपने संगृहीत किये। इस संग्रहका नाम 'निघण्टु' पड़ा; क्योंकि ये वेदोंका निगमन (बोध) कराने-में समर्थ समझे गये। इसके बाद अनेक वैदिक और लौकिक 'निघण्टु' बने तथा 'निघण्टु' शब्द 'कोष' का पर्याय समझा जाने लगा। अमरकोष आदिको भी निघण्टु कहते हैं। हाँ, तो कश्यपके उस वैदिक निघण्टुकी व्याख्या महर्षि यास्कने की। यह व्याख्या ऐसी व्यापक और गम्भीर हुई कि, 'निरुक्त' के नामसे व्यवहृत हुई। वस्तुतः यह पूर्ण निरुक्त है। सायणाचार्य्यने ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घातमें 'निघण्टु'को ही 'निरुक्त' बतलाया है और लाक्षणिक रूप-से उसकी व्याख्याको भी 'निरुक्त' कहा है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'निघण्टु' और बात है और 'निरुक्त' दूसरी। केवल 'निघण्टु'में वे लक्षण नहीं घटते, जो निरुक्तके लिये स्वीकृत हैं। निरुक्तके लिये लिखा है—"वर्णागमो

* प० भगवद्दत्त बी० ए० का "लुप्त वैदिक निघण्टु" शीर्षक लेख देखिये। —सम्पादक

वर्णविपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार-नाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।" यह वर्णागम, वर्ण-विपर्यय आदि निघण्टुमें नहीं, उसकी व्याख्यामें है; *अतः वही निरुक्त है ।*

प्रस्तुत निरुक्त तीन काण्डोंमें विभक्त है—नैघण्टुक, नैगम, और दैवत । व्याख्याका आरम्भ करनेसे पहले यास्कने एक अच्छी भूमिका लिखी है । इसमें आपने ग्रन्थ-प्रयोजनके साथ-साथ यह भी लिखा है कि, निघण्टुका निर्माण क्यों और कैसे हुआ । वेदार्थ समझनेके लिये निरुक्तकी जरूरत है, यह लिखते हुए आपने वेद-विरोधियोंके कुतर्कोंका खण्डन, बड़ी खूबीसे, किया है । पूर्व-मीमांसा और निरुक्तके, इस विषयमें, पूर्व और उत्तर पक्ष बिलकुल एक-से हैं । सायणने भी ऋग्वेद-भाष्यकी अनुक्रमणिकामें पूर्व-मीमांसाके सूत्र उद्धृत करके वेद-समर्थन किया है । यास्कने भूमिकामें अन्य भी बहुत-सी प्रासंगिक बातें लिखी हैं । पद-विभाग आदि बहुत अच्छी तरह किया है, निर्वचन करनेका तरीका खूब स्पष्ट किया है । अर्थ समझे बिना केवल वेद-पाठ मात्रसे कुछ लाभ नहीं, यह सब लिखा है । इस प्रकार भूमिका लिख चुकनेपर 'गौः' से लेकर 'देवपत्न्यः' पर्य्यन्त समस्त निघण्टुकी उत्तम व्याख्या की है। आजकल जो भाषा-विज्ञान नामकी शाखा कही जाती है और जो अभी ही, पाश्चात्य देशोंमें, आविष्कृत हुई है, उसका मूल यह 'निरुक्त' ही है । भाषा-विज्ञानके सब मूल तत्त्व इसमें, विशद रूपमें, मौजूद हैं । जो बात औरोंने आज जानी है और जिसपर उन्हें अखर्व गर्व है, उसे भारतने न जाने कब जान लिया था और न जाने उसकी कितनी उन्नति कर दिखायी थी ।

कहा जा चुका है कि, निरुक्तमें व्याकरण और भाषा-विज्ञानकी प्रधानता है, तो भी समाज-शास्त्र, विज्ञान और साहित्य-शास्त्र आदिका भी इसमें पूर्ण सन्निवेश है ।

निरुक्तमें विज्ञान भरा पड़ा है। वेदोंका अर्थ भी निरुक्त *विज्ञानमय करता है । इन्द्र और वृत्रासुरकी लड़ाईका जिक्र* वेदोंमें खूब है । निरुक्तकार कहते हैं कि, इन्द्रसे वायु और वृत्रसे मेघ समझना चाहिये । इन्द्र और वृत्रके युद्धसे वैज्ञानिक वर्षा होनेका वर्णन है । लिखा है—"तत्को वृत्रः ? *मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ।* अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ।" प्रश्न होता है, वृत्र कौन है ? नैरुक्त कहते हैं, मेघ है और ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि, त्वाष्ट्र असुरका नाम वृत्र है और उसीकी लड़ाईका वर्णन है, जो इन्द्रके साथ हुई है । नैरुक्त कहते हैं कि, कभी कहीं इन्द्रकी वृत्र नामक राक्षसके साथ लड़ाई हुई होगी, इसे हम अस्वीकार नहीं करते; पर वेदोंमें, जहांका जिक्र हम करते हैं, इन्द्र और वृत्रके युद्धके बहाने वैज्ञानिक वर्षाका वर्णन है । मतलब यह कि, अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति) अलंकार यहां समझना चाहिये ।

गो-शब्दके अनेकार्थ बतलाते हुए महर्षि यास्कने उसका एक 'किरण' अर्थ भी लिखा है । इसी प्रसंगमें आप लिखते हैं कि, सूर्य्यके द्वारा चन्द्रमामें प्रकाश आता है, यों चन्द्र स्वरूपतः प्रकाशमय पदार्थ नहीं है—"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदनेनोपेक्षितव्यम्—आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति ।" अर्थात् सूर्य्यकी एक किरण चन्द्रमामें प्रकाश पहुँचाती है। सूर्य्यसे ही उसमें प्रकाश पहुँचता है; यह बात नैरुक्त लोगोंको भली भाँति समझ लेनी चाहिये । इस अंशकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य लिखते हैं—"अम्मयं हि चन्द्रमसो मण्डलं तत्तेजः सम्बन्धाद् दीप्तिमद् भवति ।" मतलब यह कि, चन्द्रमा जलमय है, सूर्य्य-तेजसे ही वह प्रकाशित होता है ।

सुनते हैं, आजकलके वैज्ञानिक भी कुछ ऐसा ही कहते हैं । इसी प्रकार यथाप्रसंग हजारों वैज्ञानिक विषयोंपर निरुक्तकारने प्रकाश डाला है ।

निरुक्तमें साहित्य-विद्याकी भी अच्छी झलक है । लक्षणा-*वृत्तिका उपयोग बतलाते हुए आपने लिखा है—"गोभिः*

श्रीणीत मत्सरम् इति पयसः" अर्थात् इस जगह 'गो' शब्दसे लक्षणावृत्तिके द्वारा 'गो-दुग्ध' अर्थ समझना चाहिये। मतलब यह कि, 'गो' शब्दका मुख्यार्थ—पशु-विशेष—यहां बाधित है—उसका अन्वय मुख्य रूपसे नहीं हो सकता; क्योंकि गो-पशुके द्वारा मत्सर (सोम) नहीं पकाया जा सकता; अतएव तत्सम्बन्धी दुग्ध लक्ष्य अर्थ समझना चाहिये। प्रयोग-बाहुल्यके कारण रूढ़ि होनेसे यहां लक्षणाकी प्रवृत्ति है। इसी प्रसंगमें और भी लिखा है—"अथापि चर्म च श्लेष्मा च 'गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व' इति रथस्तुतौ।" यानी यहां गो-शब्दसे उसके चमड़े आदिका ग्रहण है। निरुक्तमें उपमा आदि अलंकारोंका भी जिक्र आया है और कुछ उपमा-वाचक शब्दोंका भी विवेचन है—"मेष इति भूतोपमा—मेषो भूतोऽभिपन्नवः।" अग्निरिति रूपोपमा—"हिरण्यरूपः सः।" वदिति सिद्धोपमा—"ब्राह्मणवद् वृषलवद्।" इत्यादि।

आजकल साहित्य-शास्त्रमें जिसे सादृश्यमूला अतिशयोक्ति कहते हैं, उसे निरुक्तकार लुप्तोपमा कहते हैं; क्योंकि इसमें उपमान आदिका लोप रहता है। देखिये—"अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमान्याचक्षते—सिंहो, व्याघ्र इति पूजायाम्; श्वा, काक इति कुत्सायाम्।" अर्थात् लुप्तोपमाको ही अर्थोपमा कहते हैं; क्योंकि शब्दके विना अर्थानुसन्धानसे ही ये जानी जाती हैं। किसीकी तारीफ करते हैं, तो उसे 'सिंह', 'व्याघ्र' आदि कहते हैं; यद्यपि वह सिंह या व्याघ्र मुख्यवृत्या नहीं है। मतलब होता है कि, सिंहके समान बहादुर है। इसी प्रकार निन्दामें 'श्वा' (कुत्ता) और 'काक' आदि कहते हैं। साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा इनका लक्ष्यार्थ निन्दित, पेटू पुरुष आदि होता है।

इस निरुक्तकी टीका भी दुर्गाचार्य्यने तथा स्कन्द स्वामी आदिने की है। दुर्गाचार्य्यकी टीका हमने अच्छी तरह देखी है। टीका बड़ी अच्छी है; पर कहीं-कहीं हम इससे सहमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल उपस्थित करना आवश्यक है। वेदके विषयमें निरुक्तकारने पूर्व पक्ष किया है कि, जब कि, वेदोंमें पशु-हिंसा मौजूद है, तब उसे कैसे माना जाय? इसका उत्तर यास्कने यह लिखा है—"आम्नायवचनात्स्वहिंसा प्रतीयते।" अर्थात् वेदका नाम लेकर जो हिंसा करते हैं, पशु-बलि आदि जघन्य कर्म करते हैं, उसके अपराधी वे ही हैं, न कि वेद। वेद-वचनसे तो अहिंसा ही प्रतीत होती है—सब जगह वेदोंमें अहिंसाकी प्रधानता है। इसलिये "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।" यह तो वस्तुका नहीं, देखनेवालेका दोष है। इस प्रकार यह उत्तर हुआ। परन्तु दुर्गाचार्य्यने इसे और ही तरह लगाया है! आप लिखते हैं—'पशुमृगपक्षिसरीसृपाः सम्यगुपयुक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवन्ति। सोऽयमभ्युदय एव सम्पद्यते, न हिंसा।' यानी पशु-मृग आदि, जो यज्ञमें मारे जाते हैं, वे परम उत्कर्ष (स्वर्ग आदि) पाते हैं; अतः उनका मारना हिंसा नहीं, वह तो उनका अभ्युदय है। इसलिये "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।" यह आपका कथन है। परन्तु इस 'अभ्युदय' की बात तार्किक लोग कभी मान नहीं सकते। इस विषयमें अधिक खण्डन-मण्डन लिखकर इस लेखको बड़ा करना अभीष्ट नहीं। हम अपनी निरुक्तकी टीकामें इन सबकी विस्तृत आलोचना करेंगे।

सो, संक्षेपमें यह निरुक्तका परिचय हुआ। खेदकी बात है कि, निरुक्त जैसे प्राचीन और गम्भीर विषयोंका अध्ययन बन्द होता जाता है। संस्कृतके विद्वानोंका भी इधर झुकाव नहीं होता! काशीके बड़े-बड़े पण्डित 'शेखर' और 'मञ्जूषा'के 'ननु,' 'वाच्यम्' आदि शब्दाडम्बर 'घोखते-घोखते' संसारसे चल बसते हैं और स्वप्नमें भी निरुक्त हाथमें नहीं लेते। कुछ प्रचलित परीक्षाओंका भी इसमें दोष है। और, समयकी गति सर्वोपरि है, जो यह सब कुछ करा रही है। फिर भी भाषा-तत्त्वके जिज्ञासुओंके मननकी सामग्री निरुक्त है। आशा है, इसके पठन-पाठनका प्रचार फिरसे अवश्य होगा।

कुछ संदिग्ध वैदिक शब्द

डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्रोफेसर, पटना कालेज, पटना)

वेदोंमें ऐसे बहुसंख्यक शब्द हैं, जिनका अर्थ स्पष्टतया नहीं मालूम होता है। केवल ऋग्वेदमें ही ऐसे शब्दोंकी संख्या हजारसे अधिक है। इनकी दुर्बोधताके प्रधान कारण तीन हैं—इनके सम्बन्धकी सम्प्रदाय-परम्पराका सर्वथा लोप हो जाना, इनका कम प्रयोग होना तथा जिन प्रसंगोंमें ये पाये जाते हैं, उनसे इनके ठीक अर्थका पता न चलना। इनमें अधिकतर तो ऐसे हैं, जो वेदोंमें ही लुप्तप्राय हो गये हैं और एकाध जगहके सिवा और कहीं पाये ही नहीं जाते! कुछ तो अपरकालीन संस्कृत-भाषामें और कुछ पाली, प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओंमें भी पाये जाते हैं। इनके सिवा कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनको देखनेसे साफ मालूम पड़ता है कि, ये अशुद्ध पाठ हैं। वेदोंके टीकाकारोंने इस अन्तिम विषयकी ओर प्रायः ध्यान ही नहीं दिया है। यद्यपि प्राचीन कालसे पदपाठ, अनुक्रमणी, निघण्टु तथा टीकाओंके रूपोंमें विशेष सावधानीसे काम लिया गया कि, मूल पाठ ज्योंका त्यों रहे; तथापि अनुभवसे मालूम पड़ता है कि, बोलनेवाले और लिखनेवालेकी त्रुटियोंसे अनेक प्रकारकी अशुद्धियाँ आ ही गयी हैं। *

इस तरहके लुप्तप्राय शब्दोंमेंसे कुछ प्राचीन शब्द आवेस्तिक, बाल्टिक, स्लैवोनिक, ग्रीक, लैटिन, ट्यूटनिक, केल्टिक आदि इण्डो-यूरोपीय भाषाओंमें भी मिलते-जुलते रूपोंमें, पाये जाते हैं। पर एक ही भाषाके शब्दोंको, तद्रूप अन्य भाषाओंके शब्दोंके साथ समीकरण करते समय, प्रत्येक भाषाके ध्वनि-सम्बन्धी नियमोंको दृढ़तासे पालन करना एवं समय और स्थान-परिस्थितिके कारण उनके रूपोंमें जो भी परिवर्तन हुआ हो अथवा पैदा हो सकता हो—ग्रहण करना परम आवश्यक है। बहुतसे ऐसे भी शब्द हैं, जो भिन्न-भिन्न भाषाओंके होते हुए भी एक-से मालूम पड़ते हैं। पर यह सादृश्य केवल ऊपरी है। हमको इस धोखेसे बचना चाहिये। श्रुतिदोष उच्चारणदोष एवं व्यक्तिगत स्वभावके कारण भी इस प्रकारकी गड़बड़ी हो सकती है; इसलिये एक मात्र ध्वनि-सादृश्यको ही सादृश्यका परिचायक मान लेना सर्वथा उचित नहीं। हाँ, यदि इस तरहके सादृश्य कई भाषाओंमें पाये जायँ तथा इन भाषाओंमेंसे कुछ ऐसी हों, जो समय और स्थानको दृष्टिसे, उस भाषासे, जिसकी समीक्षा की जा रही है, अधिक दूर न हों, विभिन्न प्रसंगोंमें प्रयोग, शब्द-साधन-विषयक सम्बन्ध, प्राचीन टीकाकारोंके वचन आदि आनुसंगिक सामग्रियाँ उपलब्ध हों, तो इस प्रकारकी भूलोंकी संभावना बहुत ही कम रह जाती है।

समय और परिस्थितिके कारण भी शब्दार्थमें

* इसी विषयपर मेरा एक लेख Journal of the Behar & Orissa Research Society के अप्रैल १९३० वाले अंकमें प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखके अधिक अंश उससे लिये गये हैं। —लेखक

अधिक परिवर्त्तन हो जाता है; इसलिये इनके प्रभावको ओर भी ध्यान देना जरूरी है। अमुक शब्द वैदिक-प्रसंगानुकूल है या नहीं, इस बातको जाननेके लिये, शब्दार्थमें कुछ हेर-फेर कर देना, केवल संभव ही नहीं, आवश्यक भी जान पड़ता है। उदाहरणके लिये दो-एक दृष्टान्तोंका उल्लेख किया जाता है।

'मध्यमशीः' शब्द अथर्ववेदके, ४।६।४, ऋग्वेद १०। ९७।१० के 'यस्याञ्जन-प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव'इस मंत्रमें पाया जाता है और पद-पाठों और टीकाकारोंने इसे एक शब्द माना है; इसका अर्थ 'मध्यस्थित' किया गया है; पर जिस प्रसंगमें इसका प्रयोग किया गया है, वहाँ इस अर्थसे कोई प्रयोजन नहीं। पक्षान्तरमें 'अशिर्' (अशीः) शब्दके समानार्थ-बोधक आरमेनी भाषामें aseln असिल्न (सुई), ऐंगलोसैक्सनमें egle एगल (काँटोकी नोक), लेटिनमें aculeus अकुलेन्स (काँटा), और सिमरियनमें ebill एबिल् (छेद करनेवाला) आदि शब्द पाये जाते हैं। 'मध्यमशीः' में दो शब्द मालूम पड़ते ह अर्थात् मध्यम् (मध्य भाग) और अशीः (छेद करनेवाला नोकदार यंत्र)। श्लोकका अर्थ है, "हे अञ्जन (मलहम), जिस तरह छेद करनेवाला यंत्र (किसी वस्तुके) मध्य भागको काट देता है (उसमें सुराख पैदा कर देता है), उसी तरह जिस किसीके अंगपर अथवा जोड़पर रेंगो (चलो या मर्दित हो), उसके उस भागसे रोगको मार भगाओ।" यही बात 'कमल' शब्दके साथ भी है। यह शब्द केवल अथर्ववेद (८।६।६) के 'यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्। तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम्' में पाया जाता है। टीकाकारने इसका अर्थ 'गर्भद्वार' किया है। पर इस अर्थकी पुष्टिका कोई ठोस प्रमाण न मिलनेके कारण दूसरोंने इस अर्थको स्वीकार नहीं किया है। किन्तु कई भाषाओंमें भी 'कमल' शब्दके अनुकूल शब्द देखनेमें आते हैं, —जैसे, ग्रीकमें Kamare कैमेर (गुम्बज, कणद्वार), लेटिनमें Camero कैमेरो (टेढ़ा, झुका हुआ), पुरानी फारसीमें Kamara कमर (कमरबन्द), गौथिकमें Himins हिमिस्, पुरानी सैक्सनमें Himil हिमिल (आकाश, स्वर्ग—किन्तु मूलम गुम्बज)। इस लिये निश्चय ही 'कमल' शब्दका अर्थ 'गर्भद्वार' या 'गर्भाशय' ठीक है और प्रसंगानुकूल भी है।

इस प्रकारके शब्द यदि अपरकालीन संस्कृत, पाली, प्राकृत अथवा आधुनिक भाषाओंमें अपने मूल या परिवर्तित रूपमें ही, पाये जायँ, तो किसी प्रकारकी शंका अथवा भूल होनेकी सम्भावना नहीं रहती। कारण, एक तो समय तथा परिस्थितिका प्रभाव उनपर उतना नहीं पड़ता, जिससे कि, शब्दका रूप पहचानना बिलकुल कठिन हो; दूसरे, उनका अर्थ जानना सहज-साध्य होता है। शब्दोंके रूपमें भारी परिवर्तन नहीं होनेका मुख्य कारण यही है कि, बोलनेवालेके वासस्थानमें परिवर्तन नहीं हुआ है; वस्तुतः वहीं रहा है, जो वैदिक कालमें था। हमको तो केवल यही देखना है कि, अमुक शब्द पर्यायवाची है। शब्दोंके रूपमें परिवर्तन, साधारण विभिन्नता होना तो प्राकृतिक है, सम्भव है। 'पवस्त' ऋग्वेद (१०।२७।३)के 'अभूर्वौक्षी व्यु आयुरानड् दर्षन्नु पूर्वो अपरो नु दर्षत्। द्वे पवस्ते परि तं न भूतो यो अस्य पारे रजसो विवेष" तथा अथर्ववेद (४।७।६) के "पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत। प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः" में पाया जाता है। पहले (ऋग्वेदके) श्लोकसे "पवस्त" वस्त्र-बोधक है और दूसरे (अथर्ववेद) से मालूम होता है कि,

'पवस्त' फटे पुराने कपड़े (दूर्श) या बकरीके चमड़े (अजिन) की तरह देहपर डालने या लिपटाने लायक वस्तु है, जिसको देकर उन दिनों जंगली लोगोंसे जड़ी-बूटी खरीदी जाती थी। पालीके 'पोत्थक' शब्दका अर्थ है, सनके धागेका बुना हुआ वस्त्र (शणशाटक) और प्राकृत 'पोत्थ' या 'पोत्थग' शब्दका अर्थ है कपड़ा। ये शब्द संस्कृत 'पवस्त' से ठीक-ठीक मिलते हैं। इन दोनों अर्थोंमें सनका बना हुआ वस्त्र ही दोनों श्लोकोंके प्रसंगसे मेल खाता है; इसलिये 'पवस्त' शब्दका यह अर्थ मान लेनेमें आपत्ति नहीं हो सकती और दूसरा अर्थ 'कपड़ा' साधारण अर्थमें लिया जा सकता है।

कुछ शब्द तो इस कारणसे संदिग्ध हो गये कि, उनके प्रयोगमें ध्वनि सम्बन्धी कुछ ऐसे नियमोंका पालन होता रहा, जो कि, वैदिक कालमें ही छोड़ दिये गये थे और जो केवल इने-गिने स्थानोंमें ही माने गये हैं। ऐसी अवस्थामें हमारे लिये सबसे सुभीते-की बात यही होगी कि, हम इने-गिने दृष्टान्तोंसे ज्यादासे ज्यादा फायदा उठावें; और, यदि सम्भव हो, तो इण्डो-इरानी या इण्डो-यूरोपीय भाषाओंमें पाये गये अपेक्षाकृत पुराने शब्द-रूपोंसे सहायता लें।

उदाहरण-स्वरूप यहाँ एकाध शब्द दे देना अनु-चित न होगा। 'अद्रूक्ष्ण' शब्द केवल अथर्ववेदके ८।२।१६ में पाया जाता है; जैसे, 'यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्। शिवं ते तन्वे तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते॥'' अब मानव-श्रौत सूत्र (२।१४।१४) के 'द्रुहिलमहतं वासः परिधाय' की ओर ध्यान देनेसे स्पष्टतः प्रकट होता है कि, 'अद्रुक्ष्ण' और 'द्रुहिल,' जो कि 'वासः' शब्दके विशेषण हैं, दोनों 'द्रुह' धातुसे निकले हैं; जिनका अर्थ क्षति करना, नुकसान करना है। पर 'द्रूक्ष्ण' का स्वर दीर्घ तथा 'ह' का लोप हो गया है। इसका क्या कारण है? इसका पता लगाना पड़ेगा। इसी तरह-की स्वर वृद्धि, हम 'तीक्ष्णः' 'नीक्षणः' 'सूक्ष्मः' आदि कतिपय शब्दोंमें भी पाते हैं, जो कि क्रमशः 'तिज्' (तेज बनाना), 'निक्ष्' (छेद करना) एवं 'सूक्ष्म' (पतला) शब्दसे बने हैं। यही बात हम 'दक्षत्', 'दक्षु' आदि 'दह्' (जलाना) के रूपोंमें और 'अदुक्षत्,' 'दुक्षन्' आदि 'दुह्' (दुहना) के रूपोंमें भी पाते हैं। अतएव निश्चित रूपसे हम मान सकते हैं कि, 'अद्रूक्ष्ण' शब्दका अर्थ अक्षति-कारक (मुलायम) है, जिस तरह कि, 'द्रुहिल' शब्दका अर्थ क्षतिकारक (अनिष्टकारक) है।

संदिग्ध वैदिक शब्दोंके ठीक-ठीक अर्थका पता लगानेके लिये अपरकालीन ग्रन्थोंमें पाये गये प्रयोग, लोकोक्तियाँ एवं समानार्थबोधक वाक्य भी कभी-कभी अच्छी सहायता प्रदान कर सकते हैं। अथर्ववेदके ६।१३८।१—३, १।१।८, ऋग्वेदके १०।८५।८, तैत्तिरीय-संहिताके ४।१।५।३ और वाजस-नेयी-संहिताके १९।५६ से हमको केवल इतना ही मालूम होता है कि, 'कुम्ब' और 'कुरीर' स्त्रियोंके सिरपर धारण करने योग्य एक प्रकारकी वस्तुएँ हैं; किन्तु वास्तवमें ये क्या हैं, यह बात हम तभ समझ सकते हैं, जब कि, बौधायन श्रौतसूत्र २५।४ के 'विदलमु ह कुम्बं भवति जालमु कुरीरम्' इस पदको देखते हैं। 'तिरीटिन्' शब्द केवल अथर्ववेदके ८।६।७ के "यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च। बजस्तान् सहतामितः क्लीबरूपां स्तिरीटिनः" में पाया जाता है; पर इसकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की गयी है। इस मंत्रको और इसी सूक्तके ११ वें मंत्र के 'ये कुकुन्धाः कुकुरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति। क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो

नाशयामसि" को पुग्गलपञ्ञत्ति (पृष्ठ ५१) के "सो साणानि पि धारेति मसानानि पि धारेति छवदूस्सानि पि धारेति पंसुकुलानि पि धारेति तिरोटानि पि धारेति अजिनानि पि धारेति" से तुलना करनेसे—विशेषतः 'वेदके' 'तिरीटिनः', 'कृत्तोः' और 'दूर्शानि' को पालीके 'तिरीटानि', 'अजिनानि' और 'छवदूस्सानि' के साथ तुलना करनेसे साफ मालूम पड़ता है कि, वेदके 'तिरीटिनः' के 'तिरीट' और पालीके 'तिरीट', दोनोंका अर्थ एक ही है—लोध्रकी छालका बना हुआ वस्त्र।'

वैदिक साहित्यके किसी भी शब्दका ठीक अर्थ जाननेके पूर्व उस शब्द-विशेषसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य वृत्तान्तोंका ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है। वास्तवमें, शब्दोंकी दुर्बोधताका एक कारण यह भी है कि, वैदिक कालके वक्ताके स्थानमें अपनेको रखनेकी वह योग्यता हममें बिलकुल नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वैदिक साहित्यकी भाषा स्वाभाविक और सहज है; क्योंकि वक्ताके भाव, परिचर्या एवं तत्कालीन परिस्थितिका स्पष्ट ज्ञान होते ही वाक्यों और शब्दोंका अर्थ झलकने लगता है। बहुतोंका कहना है कि, 'वभ्रु' शब्द 'दण्ड' (बाँस) के लिये ही आया है और इस अर्थका समर्थन वे ऋग्वेद (१।१८०।५१) और अथर्ववेद (८।८।१५ तथा ६।३।८) से करते हैं। प्रथम और तृतीय स्थानमें यह अर्थ तबतक हमें उपयुक्त नहीं जँचता, जबतक हमारे विचारमें यह बात उत्पन्न न हो जाय कि, 'बाँस' हमारे यहाँ अरगनी और बोझ ढोनेके काममें सदासे लाया जा रहा है। ठीक यही बात या विचार अथर्ववेद (४।७।६) के 'दूर्श' शब्दके साथ भी है। क्योंकि 'दूर्श' शब्दका 'जीर्ण वस्त्र' अर्थ मान लेनेका कारण यही हो सकता है कि, आज भी हम भारतके अरण्य-निवासियोंसे—जंगली जातियोंसे—अपने फटे-पुराने कपड़ोंके विनिमयमें जड़ी-बूटियाँ लेते देखते या सुनते हैं।

निदान, उपर्युक्त शब्दोंके जैसे अन्यान्य भ्रमोत्पादक संन्दिग्ध शब्दोंके ठीक अर्थोंका पता लगानेके पूर्व हमें यह देखना होगा कि, माना या लगाया गया अर्थ, उस शब्द-विशेषके वाक्य या तत्सम्बन्धी वृत्तान्तोंके भाव एवं परिस्थितिसे ठीक मेल खाता है, अथवा नहीं। यदि वह अर्थ पूरा-पूरा मेल खा जाय—उपयुक्त जँचे, तब तो अर्थकी शुद्धिमें कोई सन्देह या शंका ही नहीं करनी चाहिये; किन्तु यदि अर्थ शब्द-सम्बन्धी वाक्य अथवा वृत्तान्तोंके भावोंसे ठीक मेल नहीं खाता हो, तो उस अर्थको हमें अशुद्ध, अनुपयुक्त समझना चाहिये—वह ग्रहणीय (माननीय) नहीं है। शब्दार्थकी यह समस्या अधिकांश वहीं हल होती है, जहाँ एक ही शब्द, अन्यान्य स्थानोंमें, मिले। जो हो, किसी शब्द-विशेषके लगाये जानेवाले अर्थकी पुष्टि तभी होती है, जब वह तत्सम्बन्धी वाक्य या वृत्तान्तके भावके सर्वथा अनुकूल हो। इस सम्बन्धमें सभी स्थानोंसे सहायता लेनी चाहिये। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ-समालोचना, इण्डो-यूरोपीय, इण्डो-एरियन अथवा संस्कृत-भाषामें ही सन्निहित भाषा-सम्बन्धी नियम, व्यावहारिक बोल-चालके मुहाविरे, लोकोक्तियाँ तथा तत्सम्बन्धी कथानकोंसे भी उपर्युक्त भाँतिके शब्दार्थोंकी गड़बड़ी दूर की जा सकती है। इनकी खोज-ढूँढ़से बड़ा लाभ होगा। इस प्रकारके भ्रमोत्पादक शब्दार्थोंका अनुमान, यदि उपर्युक्त समालोचनाकी कसौटीपर पक्का नहीं उतरे, तो सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है; इसलिये हमें इस विषयमें उपलभ्य सभी साधनोंकी खोज और उसका मनन करना चाहिये।

वेद-ग्रन्थोंके नवीन अभ्यासकी पद्धति

डा० श्रीधर वेङ्कटेश केतकर एम० ए०, पी-एच० डी०
(महाराष्ट्रीय और हिन्दीज्ञानकोशके प्रधान सम्पादक, पूना)

वेद-ग्रन्थोंका अभ्यास, प्राचीन कालसे आजतक, अनेक प्रकारोंसे चलता आ रहा है। मंत्रोंकी संहिता बनाना, तदन्तर्गत कर्म, शब्दोंके उच्चारण, व्याकरण आदिका नियम बनाना प्राचीन तरहका अभ्यास है। अर्वाचीन संशोधक इतिहास लिखनेके लिये वैदिक साहित्यका उपयोग करते हैं। वैदिक शब्दोंकी तुलना ग्रीक, लैटिन इत्यादि भाषाओंके शब्दोंसे करके अति प्राचीन कालका (जिस समय ग्रीकों, इरानियों और भारतीयोंके पूर्वज एकत्र थे) इतिहास तैयार करते हैं। इस अभ्यासमें अनेक तरहकी अपूर्णताएँ भी हैं।

यज्ञ, ब्राह्मण-जाति और वेद—इन सबका एकत्र अभ्यास करनेका प्रारम्भ "महाराष्ट्रीयज्ञानकोश"में हुआ है और इस विषयपर खूब परिश्रम भी किया गया है। "महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश" में जो विषय अपेक्षित हुआ है, उस विषयपर अभ्यासकोंका लक्ष्य खींचनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है। सामान्य वाचकोंको लेखका हेतु जतानेके लिये प्रथम वेदकी कुछ प्रास्ताविक बातें दी जाती हैं।

वेद शब्दके दो अर्थ हैं; प्रथम धन और द्वितीय ज्ञान। दोनों अर्थोंसे 'वेद' शब्द वेद-ग्रन्थोंमें व्यवहृत हुआ है। वैदिक वाङ्मय तैयार होनेके कुछ समय बाद वेद "अपौरुषेय", अर्थात् ईश्वर-कृत एवं "अनादि" अर्थात् सृष्टिके आरम्भ कालसे ही चला आ रहा है—ऐसी भावना प्रस्तुत हुई। परन्तु वेद-ग्रन्थोंके भीतर ऐसी भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। प्राचीन लोगोंका मत है कि, वेद यज्ञके लिये अवतरित हुए। उनकी इस कल्पनामें सत्यांश भी है। वास्तवमें यज्ञ व्यवस्थित रूपसे कैसे सम्पन्न किये जाय, इसका पथ-प्रदर्शन करानेवालोंके लिये ही वेद-ग्रन्थ तैयार किये गये। तैयार किये जानेका अभिप्राय यह नहीं है कि, उनमें सभी नवीन बातें ही अंकित की गयीं; वरन अनेक प्राचीन सूक्तोंको एकत्र कर लिपिबद्ध किया गया और उनमेंसे किस-किसका प्रयोग कब-कब और किस-किस क्रियामें किया जाय, इसका निश्चय किया गया। उन सूक्तों द्वारा कब-कब कौन-कौनसी क्रियाएँ करायी जायँ, यह बतलानेवाली पुस्तकें "ब्राह्मण" कहलाती हैं; और, वे सूक्त, जिस संग्रहमें संगृहीत हुए हैं, उसे वैदिक 'संहिता' कहते हैं। संहिताओं और ब्राह्मणोंके संयोगके फल वेद हैं। उपनिषदें वेदके प्रत्यक्ष भाग नहीं हैं; परन्तु उन्होंने वेदोंको संयुक्त किया है—ऐसा समझा जाता है। उनमें आध्यात्मिक विचार अत्यधिक हैं और ईश्वर-विषयक विचारकी दृष्टिसे उनका बड़ा महत्त्व है। मंत्र और ब्राह्मण मिलकर जो समुच्चय हुआ, उसे "कर्मकांड" कहते हैं। यज्ञ-याग करनेकी अपेक्षा ज्ञान प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है—जब ऐसा विचार लोगोंके मनमें उत्पन्न हुआ, तब यज्ञ बन्द होने लगा तथा मंत्रों और ब्राह्मणोंका अभ्यास कम होने लगा और वेदांतका अभ्यास बढ़ने लगा।

वैदिक वाङ्मयके आज चार वेद हैं। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। यज्ञ करनेमें चार प्रकारके ऋत्विक् लगते हैं। उन्हें होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा कहते हैं। 'होता'के अभ्यासका ग्रन्थ ऋग्वेद, अध्वर्युका यजुर्वेद, उद्गाताका सामवेद और ब्रह्माका अथर्ववेद है। 'होता' द्वारा उच्चरित होनेवाले मंत्र ऋग्वेद-संहितामें हैं और उन मंत्रोंका कहाँ-कहाँ उच्चारण करके कौन-कौन-सी क्रियाएँ यज्ञमें करनी होती हैं—यह ऋग्वेदके ब्राह्मण (ग्रन्थके नाम) में विवृत हैं। इस प्रकार दूसरे-दूसरे वेदोंकी संहिताओं और ब्राह्मणोंमें इनके ही उपयोगकी बातें हैं।

ऋग्वेद-संहिता ही सबसे पुराने मंत्रोंकी संहिता है। ऋग्वेदके बहुतसे सूक्तों एवं अन्यान्य कई सूक्तोंके मेलसे अथर्ववेदकी सृष्टि हुई है। सामवेदमें भी बहुतसे सूक्त ऋग्वेदके हैं। सामके मानी गानेकी लय है। ऋग्वेदके सूक्त, चूंकि भिन्न-भिन्न लयके हैं; इसलिये, भिन्न-भिन्न साम हैं। यज्ञमें कौन-सा साम किस लयसे और किस प्रसंगमें उच्चारित किया जाय—इस ज्ञानको "सामवेद" अथवा "औद्गात्र" कहते हैं। यह कोई भिन्न वाङ्मय नहीं; किन्तु अध्वर्युका यजुर्वेद एक भिन्न वाङ्मय अवश्य है।

यज्ञमें जो लोग 'होता' का काम करना सीखते हैं, वे ऋग्वेदी ब्राह्मण और जो 'अध्वर्यु'का काम करना सीखते हैं, वे यजुर्वेदी ब्राह्मण कहलाते हैं। *

यज्ञ करानेमें सहायता देनेवाले ग्रन्थ मुख्यतः मंत्र और ब्राह्मण हैं। परन्तु पीछे यज्ञ करनेकी पद्धतिमें बहुतसी बातें घुस आयीं और वेद-प्रमाणसे होनेवाली यज्ञ-पद्धतिमें हेर-फेर हो गया। इस प्रकार यज्ञ करनेमें सहायता देनेवाली स्वतंत्र पुस्तकें तैयार हुईं। वे "श्रौतसूत्र" कहलाती हैं। आज पर्य्यन्त "यज्ञ" अनेक कर्मोंमें अपने सरल शब्दके नामसे व्यवहारमें आया। पर वेदांतने यज्ञ जैसे अनेक कर्मोंकी बातें बतलायी हैं। उनका वर्गीकरण "सप्त हविःसंस्था" और "सप्त सोमसंस्था"के नामसे किया गया है। जो यज्ञ आरम्भके दिनसे लेकर लगातार बारह दिनोंतक चलते रहते है, उन्हें 'क्रतु' कहते हैं। बारह दिनोंसे भी अधिक दिनोंतक (६ महीनों या कई वर्षोंतक) जो यज्ञ चलते रहते हैं, उन्हें "सत्र" कहते हैं। इन्हीं 'सत्रों'की विवेचना वेदांत है। 'सत्रों'के मध्य यजमान और ऋत्विकमें वैसा कुछ अन्तर नहीं; तब हाँ, उनमें सभी यजमानों और सभी ऋत्विकोंकी कार्य-पद्धतियाँ हैं। 'सत्रों'की विवेचना करनेमें श्रौतसूत्रोंमें गोत्र-प्रवर-विवेचन आया है। यह वेदान्त उपर्युक्त सभी क्रियाओंमें कर्म अथवा श्रौतकर्म कहलाता है। श्रौतकर्म तीन अग्नियोंपर होनेवाला कर्म है। इस श्रौत-कर्मका 'सप्त हविःसंस्था' और 'सप्त सोमसंस्था'—इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है। सप्त हविःसंस्थामें अग्न्याधान, अग्निहोत्र-होम, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, आग्रयणेष्टि, निरूढ़ पशुयाग और सौत्रामणि—इतने प्रकार आये हैं। सप्त सोमसंस्थामें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम और वाजपेय—ये प्रकार हैं। वेदान्तने सत्रोंके जितने प्रकार बतलाये हैं, उनमें संवत्सर सत्र, गवामयन, स्वर्गसत्र, अश्वमेध इतने प्रकार आये हैं। इनके अतिरिक्त और जो कर्म बतलाये गये हैं, उनमें बृहस्पतिसव, ब्राह्मणसव, वैश्यसव, पृथ्वीसव, सोमसव और ओदनसव ही मुख्य हैं। राज्याभिषेक भी उनके अन्दरका ही है। सबका अर्थ अभिषेक है। परन्तु उपर्युक्त क्रियाका अर्थ श्रौत-धर्म होता है। जब श्रौतधर्म संक्षिप्त होने लगा, तब आरण्यकीय धर्म और स्मार्त-धर्म आगे आये। यज्ञोपवीत-धारण, ब्रह्मयज्ञ, स्नानविधि, त्रिसुपर्ण इत्यादि स्मार्त-धर्मकी बातें आरण्यकमें विवृत हैं।

इन कर्मोंको प्रयोगमें लानेके समय यज्ञ करानेवाले ऋत्विकोंके मध्य अनेकवादके प्रश्न उपस्थित हुए और उनके भिन्न-भिन्न पक्ष होते गये। इन पक्षोंका परिणाम ऐसा हुआ कि, प्रत्येक पक्षने अपनी-अपनी संहितामें थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर भिन्न-भिन्न आवृत्तियां निकाल लीं। इस कारण यजुर्वेदी मंडलीमें "शुक्ल" और "कृष्ण"—ये प्रथम

* ऋग्वेदी और यजुर्वेदी ब्राह्मणोंके गृह-कार्योंमें प्राचीन समयमें भिन्नता न होगी, ऐसा अभिप्राय मैंने एक स्थानपर (महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, हिन्दुस्तान-खंड, भाग २३) में व्यक्त किया है; लेकिन मैं आज उस मतकी पुष्टि नहीं कर सकता। अत्यन्त प्राचीन कालमें—श्रौत-धर्मकी स्थापनाके पूर्व कालमें भी गृह-धर्म था और वह स्थान या जातिके अनुसार भिन्न था तथा उसके बाद उसमें एकरूपता लानेका प्रयत्न यज्ञ-विकाश करनेवाले आचार्योंने किया; लेकिन उसकी एकरूपता अपूर्ण ही रही।

भेद हुए। अनन्तर उनमें और कलह बढ़ जानेके कारण उनके १०१ भेद हो गये। उन्हें १०१ 'आध्वर्यव' कहते हैं। इन भेदोंमेंसे कुछ तो रह गये और बाकी सब विलुप्त हो गये। प्रत्येक भिन्न-भिन्न भेदकी मंडलीने अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न संहिताएँ बना लीं। वे सब आज 'वेद-शाखा' के नामसे ज्ञात हैं। इस विशिष्ट शाखा-समूहमें फिर भेद उत्पन्न नहीं हुए, ऐसा नहीं है। पीछे जो भेद हुए, उनके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न शाखाएँ तो नहीं बढ़ीं; पर भिन्न-भिन्न पक्षके लोगोंने तरह-तरहके सूत्रोंकी सृष्टि अवश्य कर डाली।

वेद कब बने—इस विषयमें इतना ही कहना है कि, वेदोंकी संहिता बनानेके लिये तीन भिन्न-भिन्न कालोंमें प्रयत्न किये गये। कुरु-युद्धके बाद भी वैदिक वाङ्मयकी वृद्धि हुई थी—यह बात, वेदान्तमें जो परीक्षित-जनमेजयका उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट होती है। पीछेका संहितीकरण कुरु-युद्धके अनन्तर, सौ-दो सौ वर्षोंतक, होता आया।

वैदिक वाङ्मयके प्रारम्भ कालका प्रश्न पूछे जानेपर इस प्रकार कहा जा सकता है कि, प्राचीन कालमें "दाशराज्ञ-युद्ध" नामक एक प्रसिद्ध युद्धके अनन्तर ऋग्वेदके बहुतसे सूक्त बने हैं; कारण, उस युद्धका या उस युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंका किंवा उन व्यक्तियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंका उल्लेख जिन सूक्तोंमें नहीं हो, ऐसे बहुत कम सूक्त ऋग्वेदमें हैं। वह युद्ध कब हुआ—इसका ठीक-ठीक पता नहीं; तथापि इतना कहा जा सकता है कि, उस युद्धमें एक पक्षके सेनापति दिवोदास और उनके पुत्र किंवा पौत्र सुदास थे और दूसरे पक्षमें यदु, तुर्वश, अनु प्रभृति देशोंके राजा थे। सुदास जिन लोगोंके नेता थे, वे लोग "भरत" थे। उन्होंने पृथु और पर्शु (पार्थियन और पर्शियन) लोगोंकी सहायतासे हिन्दुस्तानपर विजय प्राप्त की। पौराणिक राज-परम्परा सत्य मानी जानेपर ऐसा कहा जा सकता है कि, दाशरथि रामचन्द्रके अवतारके सौ-दो सौ वर्ष पहले यह युद्ध हुआ होगा।

ऋग्वेदमें आर्य और दास—इन दो वर्णोंका वर्णन है और वे एक दूसरेके शत्रु थे—ऐसा कहा गया है। आर्य अर्थात् नेतृत्व करनेवाले लोग और दास अर्थात देशके लोग—ऐसा मत लोगोंमें प्रस्तुत किया गया; किन्तु यह गलत है। आर्य-दास-विरोध उपासना-पद्धतिमें विरोध था, यह सिर्फ अपने ग्रन्थोंमें ही नहीं; वरन् पारसी ग्रन्थोंमें भी है। आर्य गोरे थे और दास काले एवं उनके एकत्र हो जानेके कारण ही वर्ण अर्थात् रंग-मूलक वर्ग उत्पन्न हुआ—यह मत गलत है। समाजमें गुणकर्मानुसार वर्ण ऋग्वेद-कालमें ही थे; पर उन वर्गोंकी वर्ण-संज्ञा नहीं थी। वर्णका अत्यन्त प्राचीन अर्थ सम्प्रदाय है। वेदोंमें काले आर्यन् लोगोंकी जयका वर्णन नहीं; वरन् नेतृत्व करनेवाले 'भरत'के दूसरे आर्यन् लोगोंका वर्णन है।

ऋग्वेदमें अनेक देवताओंकी स्तुतियाँ हैं। वरुण, अग्नि, इन्द्र, द्यौ, सोम, मित्र, विष्णु, आदित्य, सूर्य, सविता, पूषन्, मरुत्, रुद्र, अदिति, दिति, वायु, अश्विन्, उषा, पृथ्वी इत्यादि देवताओंकी स्तुतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पुरूरवा और उर्वशीका संवाद, यम-यमीका संवाद इत्यादि आख्यान-सूक्त भी बहुतसे हैं। कुछ संस्कार-सूक्त और कुछ लौकिक सूक्त भी हैं। अथर्ववेदमें बहुतसे विविध प्रकारके सूक्त हैं। राजाको युद्धमें जयप्राप्त्यार्थ, रोगनिवारणार्थ, स्त्रियोंकी सौतिनियोंके लिये एवं और भी अनेक प्रकारके मन्त्र हैं।

वैदिक ग्रन्थ स्वरके साथ छापे जाते हैं। वे स्वर प्रातिशाख्यके प्रमाणसे नियमित होते हैं। प्रातिशाख्यमें भी मन्त्र उच्चारण करनेकी अत्यन्त प्राचीन पद्धति नहीं दिखायी गयी है। आज भी मन्त्रोच्चारणकी पद्धति प्रातिशाख्यका अनुसरण करनेवाली नहीं। अत्यन्त प्राचीन कालमें स्वरके साथ मन्त्र उच्चारित नहीं होते थे। ये स्वर बादमें शाखाके अनुसार नाना प्रकारकी पद्धतियोंमें घुस आये हैं। हौत्रकोंके उच्चारण करनेके हौत्र मन्त्र यज्ञमें कहते समय बिना स्वरके ही उच्चारण करना होता है।

ज्ञानकोषके लिये जो संशोधन हुआ, उसमें एक विचार स्थिर हुआ। लोग समझते हैं कि, पौराणिक देवता उत्तर-कालीन हैं। मेरा मत ऐसा नहीं, श्रौत-धर्म, स्मार्त धर्म और पौराणिक धर्म—इन तीनोंकी प्राचीनता समान ही है। जो पौराणिक इन्हें उत्तरकालीन कहते हैं, उनका कहना ठीक नहीं। शैवादि सम्प्रदाय वेदकालीन ही हैं।

वेदकालमें शैवादि सम्प्रदायका अस्तित्व—वेदकालीन यज्ञ-संस्था जिस समय नहीं नष्ट हो गयी थी; उसी समय उसमें शाखाभेद हो गया था; उस समय शैव, वैष्णव सम्प्रदायका अस्तित्व था—दिखानेके लिये कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं। ये मैत्रायणीय संहिता (२।९।१) के अन्दरके हैं—

"तत्पुरुषाय विद्महे, महादेवाय धीमहि ।
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥
तद्गांगौच्याय विद्महे, गिरिसुताय धीमहि ।
तन्नो गौरी प्रचोदयात् ॥
तत्कुमाराय विद्महे; कार्त्तिकेयाय धीमहि ।
तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात् ॥
तत्कराटाय विद्महे, हस्तिमुखाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ॥"

इस प्रकारके मंत्र काठक-संहिता (१७।११) में भी दीख पड़ते हैं। इससे शैव, वैष्णव सम्प्रदायोंके अधिष्ठान-भूत देवता, जो इस समय भौतिक स्वरूपमें हैं, संहिताकारोंको भी प्राप्त हुए थे और उन्होंने उन्हें अपनी यज्ञ-संस्थाओंमें स्थान दिया था—यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इन देवताओंका अस्तित्व केवल वेदोत्तरकालमें ही नहीं; वरन् वेदकालमें भी श्रौतादि प्रचलित परमार्थ-साधनमें था। इनका, मंत्रादि संस्कृतिसे श्रौत-संस्थामें, समावेश हुआ—ऐसा मालूम पड़ता है।

वैदिक वाङ्मयका इतिहास लिखना ब्राह्मण-जातिके विस्तारका सम्पूर्ण अवलोकन किये बिना नहीं हो सकता। चरणव्यूहादि ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंकी शाखा और सूत्र प्रायः २०० से भी अधिक हैं; परन्तु प्रत्येक शाखा या सूत्रका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। कुछ शाखाके अनुयायी, उनके ग्रन्थ उपलब्ध न होनेपर भी, दृष्टिगोचर होते हैं। विशिष्ट ब्राह्मण कौनसे सूत्रको मानते हैं—कौनसे प्रदेशमें कौन-कौन शाखा या सूत्रका प्रचार है, इसका पद्धति-पूर्ण निरीक्षण किये बिना ब्राह्मण-जातिका इतिहास या वैदिक वाङ्मयके विकाशका इतिहास पूरा नहीं हो सकता। वैदिक इतिहासके अनेक प्रश्नोंमें गूढ़ता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ एक प्रश्न मैं आपके समक्ष रखता हूँ—यजुर्वेदके 'शुक्ल' और 'कृष्ण'—इन दो भेदोंमें 'कृष्ण' प्राचीन है और 'शुक्ल' अर्वाचीन। यह बात सब प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतिके पण्डित स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि, 'आर्यन्' लोग उत्तरसे दक्षिण-की ओर आये। यह मत यूरोपियन पण्डितोंने प्रस्तुत किया और इसे यूरोपियनोंपर विश्वास रखनेवाले भारतीयोंने स्वीकार भी किया। आर्यन् लोगोंका परिभ्रमण उत्तरसे दक्षिणको हुआ—इस पक्षको स्वीकार करनेपर प्राचीनतर सम्प्रदाय उत्तरको होना चाहिये और अर्वाचीन सम्प्रदाय दक्षिणको। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद दक्षिणमें है, उत्तरमें नहीं। उत्तरके प्रायः सभी यजुर्वेदी शुक्ल—विशेषतः माध्यन्दिनीय हैं। ऐसी बात क्यों है—इसका शोध होना चाहिये? मेरे शोधका परिणाम यह है कि, यजुर्वेद दक्षिणसे उत्तरको गया और उत्तर दिशामें उसका रूपान्तर होना शुरू हुआ। यजुर्वेदका उत्तर-कालीन रूपान्तर शुक्ल यजुर्वेद है और उसकी प्रसिद्धि उत्तर दिशामें हुई, दक्षिणमें नहीं। महाराष्ट्रमें शुक्ल-यजुर्वेदियोंकी शाखा है; लेकिन उनका अस्तित्व कर्णाटक, द्राविड़ या तैलंग देशोंमें नहीं है। ब्राह्मण-जातिका सम्पूर्ण अवलोकन करनेपर इतिहासके बहुत-से प्रश्न उपस्थित होंगे। उत्तर हिन्दुस्तान या गुजरातके सारस्वत ब्राह्मणोंमें शुक्ल यजुर्वेद ही प्रचलित है, ऋग्वेद नहीं; लेकिन महाराष्ट्रके सब सारस्वत ऋग्वेदी हैं। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि

सारस्वत आदि जाति-स्थापनाके अनन्तर भी वेदाध्ययनका स्वीकार स्वेच्छासे होता था। पहले वेदाध्ययनका स्वीकार और उसके अनन्तर विशिष्ट-जाति-स्थापना; ऐसा ब्राह्मण-जातिके विकाशका क्रम है—यह निश्चयपूर्वक मैं नहीं कह सकता और यह भी नहीं कह सकता कि, ब्राह्मण-जाति चतुर्वेदयुक्त या वेदत्रयीयुक्त होनेके पश्चात् अखिल भारतमें फैली। अगर ऐसा होता, तो सभी जगहोंमें सिर्फ चार ही वेदके ब्राह्मण नजर आते। लेकिन वस्तु-स्थिति ऐसी है कि, हर एक जगह सिर्फ एक या दो शाखाओंके ब्राह्मण देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, द्रविड़ ब्राह्मणोंमें सामवेदी या कृष्ण-यजुर्वेदी मिलते हैं, ऋग्वेदी नहीं मिलते। महाराष्ट्रमें साम-वेदी या अथर्ववेदी नाम धारण करनेवाले ब्राह्मण हैं; परन्तु उनमें अपने वेदका प्रचार नहीं। सामवेदी ब्राह्मण बम्बईके पासवाले सोपारे ग्राममें (प्राचीन शूर्पारक क्षेत्रमें) और उसके आस-पास देख पड़ते हैं। आज उनके सभी व्यवहार शुक्ल-यजुर्वेदमे चलते हैं; क्योंकि उनके उपाध्याय शुक्ल-यजुर्वेदी हैं। शुक्ल-यजुर्वेदी उपाध्यायके यजमान आज कृषक बने हैं और पानकी खेती करते हैं!

उपर्युक्त विवेचनसे स मालूम पड़ता है कि, ब्राह्मण-जातिका विकाश, उसका परिभ्रमण और जातिभेदका सम्बर्द्धन—ये सब वेद-विकाशके इतिहाससे सम्बद्ध हैं। एकका अभ्यास दूसरेके अभ्यासके विना हो नहीं सकता। वेदाभ्यासके लिये अत्यन्त प्राचीन कालमें जैसी चतुर्वेदयुक्त स्थिति थी, वह अनेक भिन्न-जातीय या भिन्न-स्थानीय वेदोंके एकीकरणसे उत्पन्न हुई। यजुर्वेद (याजुष मन्त्र और कर्म) एक भिन्न लोगोंका धर्म था और ऋग्वेद भिन्न लोगोंका। ऋग्वेद सोमप्रधान धर्म था और यजुर्वेद पशुयाग-प्रधान। आज जो संहिताएँ दीखती हैं, वे दोनों धर्मोंका संयोग होनेके बादके कालकी हैं।

इस विवेचनके सुननेसे आपको यह स्पष्ट विदित हो गया होगा कि, अखिल भारतमें जो ८०० से अधिक ब्राह्मण-जातियाँ हैं, उनके गोत्रका, वेदाध्ययनका और प्रवरका सम्पूर्ण निरीक्षण होना चाहिये। गोत्र और प्रवरका मैंने भिन्नतासे उल्लेख किया है; इसका कारण यह है कि, वशिष्ठ, गर्ग इत्यादि गोत्रियोंका जो प्रवर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंमें है, वही प्रवर गिरनार ब्राह्मणोंमें नहीं और एक जगह या एक जातिमें जो गोत्र-समुच्चय दीखता है, वह गोत्र-समुच्चय अन्य प्रदेशमें नहीं दीखता। विशिष्ट जातिके अन्तर्भूत कुलमें जो गोत्र-समुच्चय है, उसकी तुलना अन्य-जातीय गोत्र-समुच्चयसे करनेपर जातिके विच्छिन्न होनेके या परिभ्रमणके इतिहासके कुछ अंश स्पष्ट होंगे। इस प्रकारके वेदाभ्यासका प्रारम्भ होना चाहिये। ब्राह्मण-जातिका इतिहास तैयार करते-करते वैदिक इतिहासकी भी कार्य-वाहिता हो जायगी। ऋग्वेदमें गोत्र-संस्थाका कुछ पता नहीं चलता। गोत्रका अर्थ ऋग्वेदमें केवल 'गायघर' है और उस शब्दसे मराठीमें 'गोठा' (गायघर) शब्द प्रचलित है। गोत्रकी संस्था ऋग्वेदमें नहीं; पर सूत्रकालमें प्रचुरतासे दीखती है। गोत्र-प्रवराध्याय अनेक सूत्र-ग्रन्थोंके परिशिष्ट रूपमें उपलब्ध होता है; लेकिन उसमें जो गोत्र-प्रवरोंका उल्लेख है, वह सम्पूर्णतासे नहीं। इस कारण सम्पूर्ण भारतके ब्राह्मणोंमें प्रचलित गोत्रोंको मिलानेका परिश्रम अवश्य करना चाहिये।

वेदोंका अध्ययन

डा० प्रभुदत्त शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्, विद्यासागर
(वाइस-प्रिन्सिपल, प्रेसिडेन्सी कालेज, कलकत्ता)

भारतवर्षकी प्राचीनतम सभ्यताके ज्ञानकी अमूल्यतम राशि वेद हैं। उनसे बढ़कर संसारका कोई भी प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। इसलिये संसारके सर्व-प्रथम ग्रन्थ वेद अपनी अमूल्य उपादेयता रखते हैं। वेद किसी एक ही युगके ग्रन्थ नहीं है, बल्कि हजारों वर्षों से प्रचलित हैं; और, इसी कारण वे भिन्न-भिन्न दृष्टियोंमें हम लोगोंको प्राचीन धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक सभ्यता तथा अन्यान्य विषयोंके आवश्यक ज्ञानकी ज्योति दिखाते हैं। हिन्दूधर्माव-लम्बी तो उनको भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञानोंका प्रकाश-स्तम्भ-स्वरूप समझते हैं। हमारे लिये वे ऐसे सत्य वचन हैं, जो पुराने ऋषियोंसे धारा-प्रवाह-रूपमें प्रकट हुए हैं। ऋषिगण वेदोंके रचयिता नहीं थे, वल्कि वेद मन्त्रोंके द्रष्टा थे। उन लोगोंने इन सत्य वचनोंको ईश्वरीय प्रेरणासे प्रकट किया। ये सनातन और सर्वव्यापक परमात्मासे आविर्भूत हुए थे। यथा-विधि वेदोंके अध्ययनसे ही उनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। विद्यार्थियोंको अपने शिक्षकमें पूर्ण विश्वासी होना आवश्यक है; अन्यथा ज्ञान और उन्नति असम्भव है। अध्ययन करते समय गुरुकी प्रत्येक बातमें छेड़-छाड़ करनेसे विद्यार्थियोंके लिये शिक्षाका मर्म समझना एकान्त असम्भव हो पड़ता है। समय और ज्ञानके लिये श्रुति या वेदके दरवाजे-को खटखटानेके पहले हम लोगोंको तत्सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यह सत्य ही कहा गया है कि, "विद्या ह वै ब्राह्मणमा-जगाम"। हमलोगोंको सच्चे ब्राह्मणका आत्मबल, ज्ञानका एका प्रेम, वास्तविक जिज्ञासा, इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना और कपट ईर्ष्या तथा तज्जन्य अन्य दोषोंसे बचकर शान्तिपूर्वक ध्यान और सत्यका अभ्यास करना चाहिये। तभी हम लोगोंको वेदोंका वास्तविक तत्त्व मालूम हो सकेगा। हिन्दू-धर्म प्रधानतः वेद और तत्-सम्बन्धी गूढ़ तत्त्वोंको समझनेके लिये आवश्यक ज्ञानके अत्यन्त भावके अभ्यासपर भी जोर देता है। पहले आप जिज्ञासाकी सच्ची लगनको हासिल करें और तब ज्ञानकी सक्षमता-को प्राप्त कर सकेंगे, तभी आप विद्याके सकल भावको पा सकेंगे। सत्य और वास्तविकता एक ही वस्तु है। वास्तविकता ही सत्य है और सत्य ही वास्तविकता है। सत्य, चैतन्य, वास्तविकता और तदनुसार मनोहरता एक दूसरेके सदृश हैं। इन सबसे परमा-त्माका ही भाव प्रकट होता है। ज्ञानकी प्राचीनतम वाणी (वेदों) में निहित इस व्यापक ज्ञानको अनादि प्रकाश कहा जाता है। प्राथमिक आवश्यक-ताओंको, अपने जीवनके आचरणमें, परिणत किये विना वेदोंका समझना एकान्त असम्भव है। पाश्चात्य मनीषियोंके वेदोंके अध्ययनमें अपने जीवनको उत्सर्ग करनेपर भी उनके यथार्थ तत्त्वको न प्राप्त करनेके

दुर्भाग्यका कारण इन्हीं प्राथमिक आवश्यकताओंका अभाव ही कहा जा सकता है। उनके वेदाध्ययनमें वैज्ञानिक और समालोचना-सम्बन्धी भाव रहता है। हम लोग उनके वैज्ञानिक और समालोचना-सम्बन्धी विधानकी निन्दा नहीं करते; किन्तु दुर्भाग्यवश केवल वैज्ञानिक भावके आधारपर इनका अर्थ लगाना असम्भव है। यूरोपियन, परम्परासे प्राप्य प्राथमिक ज्ञानसे वञ्चित रहकर, मन्त्रोंके यथार्थ अर्थका ज्ञान कभी नहीं करा सकते। अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने, परम्परागत कथाओंकी अज्ञानताके कारण ही, विशेषतः काल्पि-निक और बिलकुल ऊटपटाँग (अनर्थक) वेद-व्याख्याको उपस्थित किया है। उनका यह मन्तव्य ठीक नहीं कि, वेदोंको परम्परागत कथाओंसे रहित होकर, तुलनात्मक शब्द-विन्यासके नये विज्ञानको केवल सर्व-साधारण भावमें परिणत करनेसे ही, वेदोंके वास्तविक अर्थका पता लग जायगा। उन लोगोंने जान-बूझकर यास्ककी अत्युपयोगी टीका और सायणके अत्युपकारी भाष्यका अपमान और अवहेलना की है। हमारा यह कथन नहीं है कि, यास्ककी सम्पूर्ण वैदिक वाक्योंकी निरुक्ति बिलकुल ठीक ही है। हम इस बातको नहीं मानते कि, उनकी टीकाका प्रत्येक शब्द पूर्ण सत्य ही समझा जाय। हमारी यह भी धारणा नहीं है कि, सायणने जो अर्थ किया है, वह बिलकुल सन्देह-रहित ही है। कहनेका तात्पर्य यही है कि, यास्क और सायणके भाष्योंका वेदोंके अध्ययनार्थियोंमें इतना अधिक प्रचार है कि, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पाश्चात्य विद्वा-नोंके लिये, विशेषकर यज्ञ और उनकी अनेकानेक विधियोंको समझनेमें, सायणके भाष्यकी सहायता अनिवार्य है। अभीतक ऐसा कोई भी पाश्चात्य विद्वान् नहीं हुआ है, जो यज्ञको वास्तविक आवश्य-कता, बाह्य और आन्तरिक तत्त्व तथा उसके प्रति-रूपको समझ सके। उन लोगोंने विना समझे ही यज्ञकी आवश्यकताकी निन्दा की है। इस तरह वेदोंको समझनेके लिये प्राथमिक और आवश्यक योग्यताको प्राप्त किये विना ही उनके वाक्यों-को समझनेमें बहुत ज्यादा समय औरप्रयत्न नष्ट हुए हैं। पश्चिमीय समालोचकोंकी यह धारणा है कि, वेदाध्ययनके लिये वास्तविक आवश्यकता है—केवल ग्रीक और लैटिनका बोध और संस्कृतका अल्प ज्ञान! लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि, ये सब योग्यताएँ कितनी भ्रमोत्पादक सिद्ध हुई हैं।

वेदोंसे कम-से-कम हम लोगोंको केवल संहिता-भागका ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि अति उपकारी और आवश्यक ब्राह्मण-ग्रन्थका भी बोध होता है, जिसमें आरण्यक और उपनिषद् भी सम्मिलित है। मैंने तो वेदोंमें अपनी धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तिके भावोंको तृप्त करनेके लिये एक बृहत्-ईश्वरीय प्रेर-णाको प्राप्त किया है। फलतः नम्रतापूर्वक, आदर-सहित, विश्वासके साथ और अन्वेषण-युत वेदाध्य-यनके लिये पाठकोंसे मेरा प्रबल अनुरोध है।

वेदाधिकार-रहस्य

श्रीयुत श्रीबिन्दु ब्रह्मचारी
(कनकभवन, अयोध्या)

मन्दाकिनीका तट है। सघन विटपावलीसे निर्मित और लता-वितानोंसे सुसज्जित कुञ्जमें एक वृद्धा तपस्विनी बैठी हुई राम नामकी रट लगा रही है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें कीड़े पड़े हुए हैं; केवल रसना बची हुई है, जिसके द्वारा वह भगवान्‌का नाम ले रही है।

तपस्विनीके सामने एक वृद्ध ब्राह्मण बैठे हुए उसकी ओर अविचल नेत्रोंसे देख रहे हैं। तप-पुञ्ज कान्ति और मुखमण्डलस्थ शान्तिकी छटा विप्रके हृदयमें बस गयी है। उसे और भी हृदयङ्गम करनेके लिये वे अनिमेष नेत्रोंसे उसे देख रहे हैं।

देवीने स्वाभाविकी वृत्तिसे कहा—"हे राम! हे सच्चिदानन्द! आपकी करुणासे पूर्ण कृपाके लिये कोटिशः धन्यवाद! जिसके गुरुतर पापका भोग, नखसे शिखातक, सम्पूर्ण शरीरको भोगना पड़ रहा है, उसकी जिह्वाको आपने कृपापूर्वक राम-नाम रटनेके लिये छोड़ दिया है, उसमें एक भी कीड़ा नहीं पड़ा। कपाल और चिबुकके कीड़े भी रेंगते हुए इस बिलमें घुसनेसे डरते हैं! हे परमेश्वर! यह तो आपकी साक्षात् कृपा है।"

तपस्विनीकी मर्मस्पर्शिनी वाणीसे ब्राह्मणके मनमें उथल-पुथल मच गयी। वे अपने मनमें कहने लगे—'ऐसी सहनशीलता, इतनी शान्ति, इतना विवेक और अद्भुत टेक तो सम्पूर्ण तीर्थोंकी यात्रा करनेपर भी मुझे कहीं देखनेको नहीं मिले! यह देवी अपने पूर्व कर्मका ज्ञान रखती है। शरीर भरमें कीड़े पड़नेके कारणको जानती है। इसीसे उसे सन्तोष-पूर्वक भोग रही है। वह कौनसा पाप है, जिसका परिणाम दृष्टि-गोचर हो रहा है? इसके द्वारा कर्म-सिद्धान्तका गुप्त रहस्य खुल जायगा। यह अवश्य मुझे बता देगी। पूछने भरकी देर है।'

इतनेमें तपस्विनीकी आँखें खुलीं और उसकी तिलमिलायी हुई दृष्टि उपर्युक्त ब्राह्मणपर पड़ी। देवीने पूछा—"भगवन्! आप कौन हैं; कहाँसे आ रहे हैं और यहाँ कैसे आये?" ब्राह्मणने कहा—"माता! मुझे लोग 'वर्ष उपाध्याय' कहते हैं, सारस्वतका रहनेवाला हूँ, और तीर्थाटन करता हुआ यहाँ आया हूँ। आज आपके दर्शनसे कृतार्थ हुआ।"

देवी—"आप तो शब्द-शास्त्रके अद्वितीय ज्ञाता वररुचि और पाणिनिके गुरु हैं। अपना आश्रम छोड़कर कहीं जानेवाले नहीं। फिर तीर्थाटनकी बात कैसे सूझी? इस वृद्धावस्थामें घोर कष्ट सहन करनेकी क्या आवश्यकता थी?"

उपाध्याय जी इन प्रश्नोंका उत्तर देना नहीं चाहते थे; परन्तु ऐसे प्रश्नकर्त्तासे, जिससे कोई बात छिप न सकती हो, छिपानेकी चेष्टा करना भी बुद्धिमत्ता नहीं है। वे सोच-समझकर बोले—"माताजी! आपके प्रश्न तो हृदयकी गम्भीरताका थाह लेना चाहते हैं और गम्भीर पुरुष इसे कभी पसन्द नहीं करते; परन्तु इस समय आपके दर्शनसे जो उस सरित्‌में बाढ़ आ गयी है, उससे

कपट-तटका चिन्ह भी मिट गया है। क्या करूँ, मैं विवश हूँ—आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये, अपनी हृदयस्थ वेदना प्रकट करनेके लिये। सहृदयतापूर्वक सुनिये, मैं कहता हूँ—

"एक दिन निशीथ-कालमें मेरी निद्रा भङ्ग हुई। मेरी धर्मपत्नी घोर निद्रामें सो रही थी! प्यास लगी थी; मैं जल पीकर फिर लेट गया; परन्तु नींद नहीं आयी।

"मैं उठकर बैठ गया। कुछ अपनी स्थितिपर विचार करने लगा। उस समय ऐसी हवा चली कि, मेरे श्रवण-रन्ध्र उससे भर गये। धीरे-धीरे उस वायुने भीतर प्रवेश करके सम्पूर्ण चक्रोंको परिचालित कर दिया। उसके परिचालनसे एक मोहक ध्वनि निकली। उस अन्तर्नादने मुझे स्तब्ध और विक्षिप्त कर दिया। "मैं"पनका ज्ञान भी जाता रहा। तब नहीं कह सकता कि, किस स्थितिमें प्राप्त हो गया। सबेरे मूर्छा टूटी और उस श्रुति-मधुर ध्वनिका एकबारगी लोप हो गया। उसके वियोगमें मैं पागलकी तरह इधर-उधर डोलने लगा। कुछ चित्त सावधान होनेपर मैंने विचार किया कि, पवित्र स्थलोंकी परिक्रमामें बहुत सम्भव है कि, वह विमोहक ध्वनि फिर सुनाई दे।

"मैं तीर्थाटनके लिये चल पड़ा। बहुत घूमा-फिरा; परन्तु अबतक वह प्यारी ध्वनि फिर न सुनाई दी। बस, इसीकी कसक है। उसे एक बार फिर सुननेकी लालसा है। यही मेरा वृत्तान्त है। क्या आप भी कृपा-पूर्वक अपनी पुण्य-कथा सुनाकर मुझे उपकृत करेंगी? सम्भव है कि, उससे मुझे कुछ शान्ति मिले।"

तपस्विनीने उपाध्यायजीका वृत्तान्त ध्यानसे सुनकर कहा—"बहुत सम्भव है कि, सम्पूर्ण चक्रोंके साथ अनाहत चक्र भी परिचालित हो गया हो और उसके सहज प्रभावसे वह मोहिनी ध्वनि सुनाई पड़ी हो। राग तो रागका स्वरूप ही है, उसने आपको अपनेमें अनुरक्त कर लिया। अब उसके वियोगमें मारे-मारे फिर रहे हैं। अच्छा हुआ, यहाँ आ गये। यहाँ सबके मनोरथ पूरे होते हैं। किसी दिन अर्द्ध-रात्रिके समय रामगिरिपर जाइयेगा, वहाँ आपको अलौकिक नाद सुन पड़ेगा। बस, उसीके द्वारा आप सफल-मनोरथ हो जायँगे। मैं अपनी कथा क्या कहूँ? मनुष्योंमें आजकल उसे सुनने एवं और समझनेकी क्षमता नहीं रह गयी। हाँ, आप पुराने पण्डित हैं और ध्वन्यात्मक शब्दके महत्त्वको समझ गये हैं। इसलिये आपसे संक्षेपमें कहती हूँ, सुनिये।

"मैं देव-कन्याके रूपमें जन्म लेकर परमार्थका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्यनिष्ठ हुई। देवर्षिकी शिक्षा और दीक्षासे कृतार्थ होकर छुरेकी धार पर चढ़कर नृत्य करनेकी तैयारी करने लगी। परन्तु दुर्भाग्यवश मेरी बुद्धिमें विकार उत्पन्न हो गया। मुख्य साधनाको छोड़कर मैं श्रुतियोंके सस्वर पाठकी ओर प्रवृत्त हो गयी। इस अनधिकार चेष्टाके लिये गुरुजनोंके निषेध करनेपर भी मैं श्रुति-पाठ करती गयी। एक दिन ऋग्वेदके 'नासदीय' सूक्तके स्वर-विन्यासमें भूल हो गयी। उदात्त-अनुदात्तके आरोहण-अवरोहणमें प्रमादवश त्रुटि हो जानेसे मंत्र-देवता कुपित हो गये। घोर पतनका शाप हुआ। रोम-रोममें कीड़ पड़नेका दारुण दुःख भोगनेके भयसे मैंने गुरुदेवका स्मरण किया। देवर्षि आये। मेरा वृत्तान्त सुनकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने कहा—"घोषा? तूने जान बूझकर अपना सर्वनाश किया। आदिसे ही नारी-जातिके लिये श्रुतिपाठ मना है; क्योंकि स्त्रियों और शूद्रोंकी स्वाभाविक

प्रवृत्ति अधोगतिकी ओर होती है, उर्ध्वगतिकी ओर नहीं। अतः उनसे उसमें त्रुटि हो जाना अनिवार्य है। यदि तेरी ऐसी ही इच्छा थी, तो परिणयका अवलम्बन करके पातिव्रत्य धर्मका पालन करती, जिसके प्रभावसे तुझमें पात्रता आ जाती। आम्नायका अधिकार केवल उच्च कोटिकी पतिव्रताओंको ही प्राप्त होता है। अच्छा, जो हुआ, सो हुआ। अबसे भी चेत जा। महामंत्र राम-नामकी रट लगा। तब एक ही जन्ममें शापका भोग समाप्त हो जायगा और तू पूर्वावस्थाको प्राप्त हो जायगी।"

"देवर्षिके समझानेपर मुझे शान्ति प्राप्त हुई। उसी समयसे मैं राम-नामकी रट लगाने लगी। यथासमय मैं विप्रकुलमें उत्पन्न होकर सुधन्वा नामसे प्रसिद्ध हुई। अपने दिव्य जन्म-कर्मकी बात मुझे बराबर स्मरण रही; परन्तु नाम-रटन-सम्बन्धी देवर्षिका उपदेश मैं बिलकुल भूल गयी। किशोरावस्थापर पहुँचते ही अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पीड़ा होने लगी। रोम-कूपोंसे स्वेदके बदले पीब निकलने लगी, मानो सम्पूर्ण शरीर सड़ गया हो। सब लोग मुझसे घृणा करने लगे। घरवालोंने मुझे घरसे निकालकर बाहर चौपालमें स्थान दिया। समयपर अन्न-जल वहीं पहुँचा दिया करते थे। मुझे किसीके दुर्व्यवहारपर क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि मैं समझती थी कि, शापका भोग हो रहा है और उसे सहर्ष भोग लेना ही अच्छा है। मुझे इस जन्ममें किसी प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा नहीं प्राप्त हुई थी; इस कारण बिना किसी आधारके एकान्तमें बैठकर जीवनके दिन काटना मेरे लिये कठिन हो गया। संयोगसे एक सन्तका आगमन हुआ। भिक्षा करके वे उसी चौपालमें आसन बिछाकर पड़ गये। उन्हें देखकर मुझे रुलाई आ गयी और मैं सिसक-सिसक कर रोने लगी। दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेवाले सन्त मेरा क्रन्दन सुनकर मेरे निकट आये। उन्होंने पूछा—"बेटी! तू क्यों विलाप कर रही है?" मैंने उनसे सब हाल कह दिया। उसे सुनकर और शरीरकी विकृत दशा देखकर उन्होंने कहा—"बेटी! राम-राम कह, रो मत, यहाँ मत रह, चित्रकूटको चली जा, जो विपद्-ग्रस्तोंके लिये एक मात्र आश्रय है।" इस उपदेशको सुनकर मैं कृतकृत्य हो गयी, मानो मृतकमें जीवन-ज्योति जगमगा उठी। मैंने बाबाको प्रणाम करके कहा—"गुरुदेव! इस महामंत्रको मेरे कानमें फूँक दीजिये, ताकि काया पवित्र हो जाय।" सन्तने दया करके मुझे उपदेश देकर कृतार्थ कर दिया। तत्काल मैंने अपना चेथड़ी-गूदड़ी लेकर प्रस्थान किया और राम-राम कहती हुई यहाँ आ पहुँची। तबसे यहीं पड़ी हूँ और कर्मोंका भोग भोग रही हूँ।"

२

उपाध्यायजी, देवी सुधन्वाकी बातें सुनकर, वेद-रहस्यपर तात्त्विक रीतिसे विचार करने लगे। वे भी श्रुतिधर थे और वृद्धावस्थाके कारण उनके कई एक दाँत निकल गये थे, जिससे स्वरभङ्ग होना स्वाभाविक था। उन्होंने अपने मनमें निश्चय किया कि, अब वे सस्वर वेदपाठ कभी न करेंगे। उन्हें गम्भीर भावमें प्राप्त देख कर देवीने फिर कहा—"वेद भगवानको कवियोंने कृपण कहा है; क्योंकि सम्पूर्ण ईश्वरदत्त वस्तुओंकी तरह वेदमन्त्रोंपर स्त्रियों और शूद्रोंका अधिकार नहीं है। इस दोषारोपणको वेद भगवान् सत्यलोकमें बैठे हुए निश्चिन्त भावसे सहन करते हैं। वे जानते हैं कि, वेदाधिकारकी बात रहस्य-पूर्ण है। साधारण बुद्धिके लोग इसे नहीं समझ सकते।"

उपाध्याय—"वेदाधिकारका क्या रहस्य है ?"

देवी—"वाणीकी गति ऊपरकी ओर होती है; नीचेकी ओर नहीं। ध्वन्यात्मक वाणी नाभिसे उठती है और कण्ठतक पहुँचकर वर्णात्मक रूप धारण करती है। जो उद्ध्र्वरेता है, उद्ध्र्वगतिका आकांक्षी है, उसीको वेदाधिकार है। इसी तरह जो प्रपञ्चमें रत है, संसारवर्द्धक कृत्य करता है और नाभिके नीचे की इन्द्रियोंके विषयकी ओर प्रवृत्त है, उसे वेदका अधिकार नहीं। स्त्रियों एवं शूद्रोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नीचेकी ओर ही होती है; वे संसार-वर्द्धक माया-मोह में ही फँसे रहते हैं। इसी कारण उन्हें वेदाधिकार नहीं। परन्तु यदि सौभाग्यसे उनमें प्रपञ्चसे विरक्ति आ गयी हो और वे ऊद्र्ध्व गतिकी आकांक्षा रखते हों, तो उन्हें (उन स्त्रियों और शूद्रोंको) वेदाधिकार प्राप्त हो जाता है, जैसे उच्च कोटिकी पतिव्रता स्त्रियोंको और द्विजसेवक शूद्रोंको। यही वेदाधिकारका रहस्य है।"

इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि, आकाशमें तैरते हुए दो पक्षी, बड़े वेगसे, पृथ्वीपर उतरे। वे कपोत-दम्पती थे। पुं-कपोत उपाध्यायजीके हाथपर बैठ गया और स्त्री-कपोत देवीके आसनपर। उन दोनोंमें एक गम्भीर विषयपर विवाद चल रहा था। यहाँ बैठनेपर उनमें बड़ी बहस हुई।

उपाध्यायजी पक्षि-भाषा जानते थे। उस विवादको सुनकर और शास्त्रार्थ-प्रणाली, कोटि-क्रम, तर्क एवं युक्तिको समझ कर दंग रह गये। उन्होंने उस पुं-कपोतका मुख चूम लिया तथा उस वादके तात्पर्यको लोकभाषामें देवीजीको बतलाया और कपोत-दम्पतीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। स्त्री-कपोतका पक्ष था कि, पुरुषकी तरह प्रकृति भी स्वयम्भू और स्वतन्त्र है। पुं-कपोत कहता था कि, नहीं, कदापि नहीं—प्रकृति अनादि है सही; परन्तु वह पुरुषके लिये है और पुरुषके आधीन भी है। दोनों ओरसे श्रुति-प्रमाणकी बौछार हो चली। अन्तको दोनोंने उपाध्यायजीसे निर्णय करनेके लिये प्रार्थना की। वे तो बहस ही सुनकर घबरा गये थे, निर्णय क्या करते! उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"मुझमें निर्णय करनेकी शक्ति नहीं है। युक्ति-प्रमाण एवं श्रुति-प्रमाण, दोनों ओर पुष्ट हैं। बलाबलका विचार करके निर्णय करना कठिन दीख रहा है। उच्च कोटिकी व्याख्या करनेवाले और प्रमाणोंमें उद्धृत की गयी श्रुतियोंका तात्त्विक तात्पर्य बतलानेवाले आप लोग सामान्य पक्षी नहीं हो सकते! आप अपना असली स्वरूप प्रकट कीजिये। तब निर्णय करनेमें बड़ी सुगमता हो जायगी।" इस बातको सुनते ही, बिना कुछ कहे ही, कपोत-दम्पती उड़ गये। उपाध्यायजी बहुत चकित हुए और अपनी करनीपर पछताने लगे।

उसी समय देवीकी कुटीमें आग लगी। उपाध्यायजी घबरा कर बोले—"हा, बड़ा ही अनर्थ हुआ, तपस्विनी जल गयीं!" वे मंत्र पढ़कर अग्निको बाँधने लगे।

फूस-घासकी झोंपड़ी भकसे जल उठी। ज्वाला शान्त होनेपर उक्त पण्डित-प्रवरने देखा कि, तपस्विनी जैसी-की-तैसी बैठी हुई राम-नामकी रट लगा रही है! परन्तु न अब कहीं क्षत है और न उसपर रेंगनेवाले कीड़े। अब तो तप्त-काञ्चनमय नीरुज शरीर है। जरावस्थाके चिन्ह सब मिट गये हैं। मुख-मण्डल प्रकाशमान हो गया है। उपाध्याय जी ताकते रह गये, उनकी समझमें एक भी बात नहीं आयी!

(३)

उसी समय वीणा बजाकर हरिगुण हुए गाते देवर्षि नारदजी आ गये। उपाध्यायजी उठ खड़े हुए। आसनसे उठकर देवीने मुनिराजको, चरण छूकर, प्रणाम किया। दर्भासनपर गुरुदेवको बैठाकर आप उनके चरणोंके पास बैठीं। तब उपाध्यायजीको होश हुआ और मुनिराजकी चरण-वन्दना करके वहीं बैठ गये।

भगवान् नारद राम-गुण-गानमें मस्त थे। उस कीर्त्तनमें अपूर्व प्रभाव था। अज्ञानीके हृदयपर जब उसका प्रभाव पड़ता था, तब देवीजी और उपाध्यायजी क्यों न उससे प्रभावान्वित होते!

देवीने अपनेको बहुत सँभाला; परन्तु नादके प्रभावको जब पशु-पक्षी नहीं पचा सकते,तब मनुष्यका क्या कहना! तपस्विनी नवीन स्फूर्ति और उन्मत्तासे नृत्य करने लगीं और उपाध्यायजी भी देवर्षिकी परिक्रमा करने लगे। घड़ी भर इस विचित्र नृत्यके अनन्तर नारदजी उच्च स्वरसे 'नासदीय' सूक्तका गान करने लगे। इसपर तपस्विनी मंत्र-मुग्ध नायिकाकी तरह वेगसे थिरकने लगी। इस थिरकनपर प्रसन्न होकर नारदजी बोले—"धन्य है, घोषा! धन्य सुधन्वा! तू देवलोकमें अनन्त सुख पायगी। तेरे शरीरका पार्थिव अंश अग्निमें जल गया। तू अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गयी। अपने लोकको अब तू जा सकती है।"

घोषा—"गुरुदेव! जो कुछ हुआ, वह आपकी कृपाका ही फल है। मेरे उद्धारकी कोई आशा नहीं थी। अपराध ही ऐसा गुरुतर था कि, उसका कटु भोग अनेक जन्मोंमें समाप्त होनेवाला था। यह तो आपकी कृपा और राम-नामका प्रबल प्रताप है कि, एक ही जन्ममें बेड़ा पार हो गया। आपके पहले, कपोत-दम्पतीके दर्शन हुए थे। एक जटिल दार्शनिक विषयपर वे निर्णय चाहते थे। परन्तु ज्यों ही उनका यथार्थ परिचय पूछा गया, त्यों ही वे उड़ गये। उनके चले जानेपर आग लगी। कृपया इन घटनाओंका मर्म बतलाइये। कपोत-दम्पतीका पूर्ण परिचय दीजिये और अग्निका रहस्य खोलिये"

भगवान् नारद इन प्रश्नोंका उत्तर देना नहीं चाहते थ। परन्तु प्रसङ्गवशात् उन्हें देना पड़ा—"बेटी! कपोत-दम्पती तो तेरे दिव्य माता-पिता थे, जो अपत्य-स्नेहके वश यहाँ आ गये थे। तेरे कल्याणके सूचक थे। शास्त्रीय प्रसङ्ग उठाकर वे तुझे उपदेश दे गये हैं। जो निर्णय वे कराना चाहते थे, उसीमें, सचमुच, तेरा कल्याण है। निर्णयका स्वरूप यह है—"प्रकृति अनादि है और पुरुषके अधीन होनेपर ही उसे स्वतन्त्रतापूर्वक सभी कार्य करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस उपदेशका तात्पर्य यह है कि, तू शापोद्धारके अनन्तर किसीको पतिरूपमें वरण करके पातिव्रत्य धर्मका आचरण कर। इसीमें तेरा कल्याण है। अग्निका रहस्य क्या कहें! वह सामान्य अग्नि नहीं थी। 'ॐकार' से उत्पन्न अग्नि थी। जो, राम नामकी, रट लगा रही है, उस (रटन) ने त्रिकुटीमें प्रवेश कर और पाप-नाशिनी अग्नि उत्पन्न कर सम्पूर्ण कल्मषोंको उसी तरह जला दिया है, जिस तरह रूईके पहाड़को प्रकृत अग्नि क्षण मात्रमें भस्मसात् कर देती है।"

इस प्रकार उपदेश देकर भगवान् नारद ब्रह्मलोकको चले गये। अनन्तर तपस्विनीके माता-पिता दिव्य रूपमें आकर उसे अपने लोकको ले गये।

वर्ष उपाध्याय यह विचित्र लीला देखकर दंग हो रहे। उनके हृदयमें अपूर्व वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे वहीं बसकर तप करने लगे।

एक दिन रात्रिमें परिक्रमा करते हुए वे कामदगिरिपर रह गये। निशीथ-कालके अनन्तर उन्हें वहाँ दिव्य निनाद सुन पड़ा, जिससे उनकी वृत्ति उसीमें रंग गयी और वे अपना अभीष्ट पाकर कृतकृत्य हो गये।

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय
विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ।
घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे
पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम् ॥

ऋग्वेद १।११७।७

(नेतृद्वय, कृष्णके पुत्र विश्वकायके, तुम लोगोंकी स्तुति करनेपर, विनष्ट पुत्र विष्णापुको तुम लोग लाये थे। अश्विद्वय, कोढ़ होनेके कारण बुढ़ापातक पितृ-गृहमें अविवाहिता रहनेपर घोषा नामकी ब्रह्म-वादिनी स्त्रीको, कोढ़ दूर कर, पति प्रदान किया था।)

वैदिक ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग

पं० योगीन्द्र झा वेद-व्याकरणाचार्य
(ऋषिकुल, हरद्वार)

वेदका अध्ययन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगके अर्थज्ञानके साथ करना चाहिये। ऋष्यादिज्ञानके बिना वेदाध्ययनादि कर्म करनेसे शौनककी अनुक्रमणीमें दोष लिखा है—"एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्मनिर्वीर्यं यातयामम्भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुंवर्च्छेति प्रमीयते वा पापीयान् भवति" (अनुक्रमणी १।१) 'जो मनुष्य ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको जाने बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका वेद निष्फल तथा दोषयुक्त होता है और वे मनुष्य अश्वगर्त नामक नरकमें पड़ते हैं अथवा मरनेपर शुष्क वृक्ष होते हैं (स्थावर-योनिमें जाते हैं) अथवा कदाचित् यदि मनुष्य-योनिमें भी उत्पन्न होते हैं, तो अल्पायु होकर थोड़े ही दिनोंमें मर जाते हैं अथवा पापात्मा होते हैं।' जो मनुष्य ऋष्यादिको जान कर वेदाध्ययनादि करते हैं, वे फलभाक् होते हैं—"अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरम्भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते" (अनुक्रमणी १।१) 'जो मनुष्य ऋष्यादिको जान कर वेदाध्ययनादि करते हैं, उनका वेद बलवान् (अर्थात् फलप्रद) होता है। जो ऋष्यादिके साथ वेदका अर्थ भी जानते हैं, उनका वेद अतिशय फलप्रद होता है। वे मनुष्य जप, हवन, यजन आदि कर्म करके उनके फलसे युक्त होते हैं।' याज्ञवल्क्य, व्यास आदिने भी ऋष्यादिकी आवश्यकता, अपनी अपनी स्मृतियोंमें, बतलायी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं, "आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च। वेदितव्यः प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः। अविदित्वा तु यः कुर्याद्याजनाध्यापने जपम्। होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पफलम्भवेत्।" 'मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग आदि ब्राह्मणको अवश्य जानना चाहिये। जो ब्राह्मण ऋष्यादिको बिना जाने याजन, अध्यापन, जप, होम आदि करते हैं, उनके कर्मोंका फल अल्प होता है। व्यासने लिखा है "अविदित्वा ऋषिश्छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः।" 'जो ब्राह्मण ऋषि, छन्द, देवता और विनियोगको बिना जाने याजन तथा अध्यापन करते हैं, वे अतिशय पापी होते हैं।'

पाणिनीय व्याकरणके अनुसार गतिका अर्थ ज्ञान मानकर गत्यर्थक ऋष् धातुसे "इगुपधात्कित्" (अ० पा० ४) सूत्रसे इन् प्रत्यय करनेपर ऋषि पद बनता है। मंत्रके द्रष्टा वा स्मर्त्ता ऋषि कहलाते हैं। अतएव सर्वानुक्रम-सूत्रमें महर्षि कात्यायनने लिखा है, "द्रष्टार ऋषयः स्मर्त्तारः।" औपमन्यवाचार्यने भी निरुक्तमें इसी प्रकार ऋषि शब्दका निर्वचन बतलाया है; 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते।' (निरुक्त नैगम काण्ड अ० २, क० ११) 'मन्त्र-समूहको देखनेवाले अर्थात् साक्षात्कार करनेवाले ऋषि कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादिने सृष्टिके आदिमें आविर्भूत होकर

पूर्व कल्पमें अनुभूत वेदपदार्थोंको कठिन तपश्चर्यासे संस्कार, सन्मान तथा स्मरणके द्वारा "सुप्तप्रबुद्ध-न्याय" से पूर्ववत् प्राप्त किया; अतः वे वेद-मन्त्रोंके ऋषि कहलाये। आज भी स्मरणार्थ वे मन्त्रोंके आदिमें दिये जाते हैं। श्रुतियोंमें भी ऋषि शब्दका (मन्त्रद्रष्टा) अर्थ प्रतिपादित है—"तत एतम्परमेष्ठी प्रजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति।" 'तब दर्शपौर्णमास यज्ञगत द्रव्य, देवता, मन्त्रादिको परमेष्ठीने देखा।' "दध्यङ् ह वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार" यहाँसे लेकर "न तद्दुहाश्विनोरनुश्रुतमास" यहाँतकके इतिहाससे मालूम होता है कि, प्रवर्ग्य-यागगत मन्त्रोंके दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि हैं। याज्ञवल्क्यने भी ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही माना है—"येन य ऋषिणा दृष्टो मन्त्रः सिद्धिश्च तेन वै। मन्त्रेण तस्य संप्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मकः॥" 'जो मन्त्र जिस ऋषिसे देखा गया, उस ऋषिका स्मरण-पूर्वक यज्ञादिमें मन्त्रका प्रयोग करने फल-प्राप्ति होती है।' मन्त्रादिमें ऋषि-ज्ञान आवश्यक है, यह विषय श्रुतिमें भी प्रतिपादित है—"प्रजापतिः प्रथमाश्चितिमपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम्। देवा द्वितीयाश्चितिमपश्यन् देवा एव तस्या आर्षेयम्। इन्द्राग्नी विश्वकर्मा च तृतीयाश्चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयम्। ऋषयश्चतुर्थीश्चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयम्। परमेष्ठी पञ्चमीश्चितिमपश्यत् परमेष्ठ्येव तस्या आर्षेयम्।" 'अग्निचयन-यागमें पाँच चितियाँ होती हैं; उनमें प्रजापतिने प्रथम चितिको देखा; इसलिये वे प्रथम चितिके ऋषि हुए। देवगणने द्वितीय चितिको देखा; इसलिये वे द्वितीय चितिके ऋषि हुए। इन्द्राग्नी तथा विश्वकर्माने तृतीय चितिको देखा; इसलिये वे तृतीय चितिके ऋषि हुए। ऋषि-गणने चतुर्थ चितिको देखा; इसलिये वे चतुर्थ चिति-के ऋषि हुए। परमेष्ठीने पञ्चम चितिको देखा, इसलिये वे पञ्चम चितिके ऋषि हुए।' यह विषय शतपथब्राह्मणमें प्रतिपादित है। इसके बाद वहाँपर ही लिखा —"स यो हैतदेवञ्चितीनामार्षेयं वेद" इत्यादि 'जो इस प्रकार पाँचों चितियोंके ऋषियोंको जानते हैं, पूत होकर स्वर्गादिको प्राप्त करते हैं।'

अब देवतापदका निर्वचन दिखलाया जाता है। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार क्रीडाद्यर्थक दिव् धातुसे 'हलश्च' सूत्रसे घञ् प्रत्यय करके देव शब्द बनता है। उससे 'बहुलञ्छन्दसि' इस वैदिक प्रकरणके सूत्रसे स्वार्थमें तल् प्रत्यय करके तथा टाप् करके देवता शब्द बनता है। निरुक्तकार यास्कने भी दानार्थक 'दा' धातुसे वा 'द्युत्' धातुसे वा 'दीप' धातुसे 'व' प्रत्यय करके वर्णका विकार तथा नाश करके 'देव' शब्द बनाया है। लिखा है—"देवो दानाद्योतनाद्दीपनाद्वा।" देव और देवताका अर्थ एक ही है; क्योंकि स्वार्थमें 'तल्' प्रत्यय किया गया है। तीनों लोकोंमें जो भ्रमण करें वा प्रकाशित हों वा वृष्ट्यादि द्वारा भक्ष्यभोज्यादि चतुर्विध पदार्थोंको जो मनुष्यको दें, उनका नाम देवता है। वेदमें ऐसे देवता तीन ही माने गये हैं—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।" (नि० दैवत अ० १ ख० ५।) 'पृथिवीस्थान अग्नि १, अन्तरिक्षस्थान वायु वा इन्द्र २, द्युस्थान सूर्य ३, ये तीन देवता वेदमें माने गये हैं। उन्हींकी, अनेक नामसे, स्तुतियाँ की गयी हैं। सारार्थ यह है कि, मंत्रके प्रतिपादनीय विषयको देवता कहते हैं। "अग्निमूर्द्धादिवः ककुत्पतिः।" इस मंत्रमें अग्नि देवता हैं। "इषेत्वा"

इस मंत्रमें शाखा देवता है। यहाँ पूर्व पक्ष है—"महाभाग्यत्वात्" अग्नि देवता हो सकते हैं; परन्तु शाखा तो स्थावर पदार्थ हैं, वह कैसे देवता हो सकती हैं?' उत्तर सुनिये 'वेदमें रूढ़ि देवता नहीं लिया जाता है; किन्तु जिसको जिस मंत्रमें हविके विषयमें कहा जाता है या जिसकी स्तुति की जाती है, वह पदार्थ उस मंत्रका देवता होता है। इस प्रकारसे शाखादि अचेतन पदार्थको भी देवत्व प्राप्त हुआ। निरुक्तकारने भी ऐसा ही कहा है; "अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि।" (दै० अ० १ ख० ५) 'कहीं अदेवता भी देवताकी तरह स्तुत होते हैं; जैसे, अश्व आदि, औषधि पर्यन्त वस्तुएँ।' जो पूर्वपक्षीने कहा है कि, 'स्थावर होनेके कारण शाखादिको देवत्व कैसे प्राप्त हुआ, वहाँ यह उत्तर है कि, "अभिमानि-व्यपदेशस्तु" इस वैयासिक सूत्रसे तथा "मृदब्रवीत्", "आपोऽब्रुवन्" इत्यादि श्रुतियोंसे यहाँ शाखाद्यभिमानी देवता लिया जाता है। प्रतिमाभूत शाखादि पदार्थ फल-साधन करता है।*

आह्लादार्थक चौरादिक चदि धातुसे 'चन्देरादेश्च छः" (उ०४।२१८) सूत्रसे असुन् प्रत्यय करके तथा चकारको छकारादेश करके छन्दः शब्द बनता है। अर्थ है—"छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन वा छन्दः" 'जो मनुष्योंको प्रसन्न करे, उसका नाम छन्द है अथवा छादनार्थक चौरादिक छद् धातुसे असुन् प्रत्यय करके "पृषोदरादित्वात्" नुमागम करके छन्दः पद बनता है। "छादयति मंत्रप्रतिपाद्ययज्ञादीनीतिच्छन्दः।" जो यज्ञादिको असुराद्युपद्रवसे रक्षित करे, उसे छन्द कहते हैं। निरुक्तकार यास्कने भी छन्द शब्दका ऐसा ही अर्थ बतलाया है—"मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्स्तोमःस्तवनाद्यजुर्यजतेरित्यादि।" (दै०वत अ० १ ख० १२) 'मनन करनेसे त्राण करनेवाले शब्द-समूहको मंत्र कहते हैं। जिससे यज्ञादि छादित हों (रक्षित हों), उसे छन्द कहते हैं। जिससे देवताकी स्तुति की जाय, उसे स्तोम कहते हैं। जिससे यज्ञ किया जाय, उसे यजुः कहते हैं।"

श्रुतिमें भी छन्दका यही अर्थ प्रतिपादित है—'दक्षिणतोऽसुरान्रक्षांसि त्वाशाष्ट्राण्यपहन्ति त्रिष्टुब्जिर्वज्रो वै त्रिष्टुप्" इत्यादि। 'यज्ञमें कुण्डकी दक्षिण परिधिको त्रिष्टुप् स्वरूप माना है और त्रिष्टुप् वज्रस्वरूप है; अतः उससे असुरोंका नाश होता है।' मंत्रोंका छन्दोज्ञान कात्यायनादि प्रणीत सर्वानुक्रम, पिङ्गल-सूत्रादि ग्रन्थोंसे करना चाहिये। "छन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् - बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यति जगती शाक्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यत्यष्टि-धृत्यतिधृतयः कृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुरुत्तराण्यूनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ द्वाभ्यां विराट् स्वराजावित्यादि।" (अनु० अ० १।१) "२४ अक्षरोंका गायत्री, २८ का उष्णिक्, ३२ का अनुष्टुप्, ३६ का बृहती, ४० का पंक्ति, ४४ का त्रिष्टुप्, ४८ का जगती, ५२ का अतिजगती, ५६ का शक्वरी, ६० का अतिशक्वरी ६४ का अष्टि, ६८ का अत्यष्टि, ७२ का धृति, ७६ का अतिधृति, ८० का कृति, ८४ का प्रकृति, ८८ का आकृति, ९२ का विकृति, ९६ का संकृति, १०० का अभिकृति और १०४ अक्षरोंका उत्कृति छन्द होता है। इस प्रकार २४ अक्षरसे लेकर

* ऋग्वेद, प्रथम अष्टक, २४ सूक्त, ११ मंत्र और इसी अष्टकके ४५ सूक्त, २ मंत्रमें ३३ देवोंका उल्लेख है ऐतरेय-ब्राह्मण (२।२८) और शतपथब्राह्मण (४।५।७।२) में भी ३३ देवोंकी कथा है। तैत्तिरीय-संहिता (१।४।१०।१) में स्पष्ट उल्लेख है कि, आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमें ११-११ देवता रहते हैं।—सम्पादक

१०४ अक्षरतक गायत्री आदि २१ छन्द होते हैं। इनमें प्रत्येकमें।एक अक्षर कम होनेसे निचृत् विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होनेसे भूरिज् विशेषण लगता है। दो अक्षर कम होनेसे विराट् विशेषण लगता है और दो अक्षर अधिक होनेसे स्वराट् विशेषण लगता है। इस प्रकार उन पूर्वोक्त छन्दोंके अनेक भेद सर्वानुक्रमसूत्र, पिङ्गल-सूत्रादिमें वर्णित है। विशेष जिज्ञासु वहाँ देख लें। लेखके विस्तारके भयसे यहाँ नहीं लिखा जाता है।

जिस कामके लिये मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है उसे विनियोग कहते है। इसके विषयमें याज्ञवल्क्यने कहा है—"पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च अनेनेदन्तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते।" 'प्रत्येक मन्त्रका विनियोग तथा ऋष्यादि भी तत्-तत् वेदके ब्राह्मण तथा कल्पसूत्रसे जानने चाहिये। विनियोग सबसे अधिक प्रयोजक है मन्त्रमें अर्थान्तर वा विषयान्तर होनेपर भी विनियोग द्वारा उसका किसी अन्य कार्यमें विनियोग करना. कर्मपारवश्यसे, पूर्वाचार्योंने माना है अर्थात् विनियोगके सामने शब्दार्थका कुछ आधिपत्य नहीं है इसलिये मन्त्रोंमें मुख्य विनियोग है, जो कि, मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके द्वारा समय-समयपर विनियुक्त हुआ था।

अथर्ववेदका फारसी अनुवाद

प्रोफेसर महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल
(हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

मुसलमानोंके अभ्युदय-कालमें सबसे पहले अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंके अनुवाद बगदादमें, अरबी भाषामें, हुए। ग्रन्थ प्रायः चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष और कथा-कहानोंके ही थे। परन्तु जिन संस्कृत-ग्रन्थोंका अनुवाद फारसीमें हुआ, वे उक्त विषयोंके सिवा धर्म-विषयके भी हैं। उनमें रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंके सिवा अथर्ववेदके फारसी अनुवादका भी पता चलता है।

अथर्ववेदके विषयमें ऐसा पता चलता है कि, दक्षिणसे 'बहावन' अथवा 'भावन' नामक एक ब्राह्मण देवता, सन् १५७५ ई० में, अकबरके यहाँ पहुँचे। उन्होंने मुसलमानी धर्म ग्रहण किया। उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। उन्हींको अथर्ववेदके फारसी अनुवादका भार सौंपा गया और उनकी सहायताके लिये मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूनी नियुक्त किये गये। उक्त दोनों विद्वानोंसे यह काम पूरा न हो सका, तो शिक्षकर फैजी व हाजी इब्राहीम सरहिन्दीको इस कार्यके लिये नियुक्त किया गया। इस प्रकार यह कार्य पूर्ण हुआ था।

मिर्जा अबुल फजलने 'आईन अकबरी' नामक ग्रन्थमें जो कुछ लिखा है, उससे पता चलता है कि, उक्त अनुवाद पुस्तकालयमें रखा गया था। जहाँतक मुझसे हो सका, मैंने संसारके कई बड़े-बड़े पुस्तकालयोंकी सूचियोंको देखा; पर उक्त अनुवादकी किसी प्रतिका पता नहीं लग सका। हाँ, यदि कहीं कुछ पता लग जायगा, तो भविष्यमें "गङ्गा" के प्रेमियोंके सम्मुख अवश्य रखूँगा।

दिति और अदिति

प० कृष्णशास्त्री घुले, विद्याभूषण
(नागपुर-व्यायामशालाके पास, नागपुर)

ऋग्वेदमें जिन सबको छोटे-बड़े देवताओंका उल्लेख है, उन सबके दृश्य रूप भौतिक ही हैं, यह बात सर्व-सम्मत है; किन्तु उन देवताओंके वे दृश्य रूप कौन-से हैं, इसका निर्णय अभीतक पूर्ण रूपसे नहीं हुआ है। इन दृश्य रूपोंके सम्बन्धमें वैदिक पण्डितोंमें बहुत मतभेद दीख पड़ता है, जो अपरिहार्य-सा है; क्योंकि जिस प्रकार अग्नि, उषा, सविता, सूर्य, रात्रि, मरुत्, वायु, द्यावा-पृथिवी आदि कुछ देवताओंके भौतिक स्वरूप स्पष्ट एवं सुपरिचित हैं, वैसे ही अन्य सभी देवाताओंके नहीं हैं। इसीलिये, उन स्वरूपोंको निश्चित करनेके उद्देश्यसे, विद्वानोंके, बहुत प्राचीन कालसे, अव्याहत प्रयत्न हो रहे हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानोंके प्रयत्नोंको भिन्न भिन्न फल प्राप्त होनेके कारण उनके स्वरूपोंके सम्बन्धमें पहले जो अनिश्चय था, वह अधिकांशमें आज भी मौजूद है। अधिकांशमें कहनेका कारण यह है कि, यद्यपि कुछ देवताओंके स्वरूप, उनके अनुसन्धानोंके अनन्तर, प्राय: निश्चित हो चुके हैं; किन्तु आज भी कई ऐसे देवता अवशिष्ट हैं, जिनके स्वरूपोंके सम्बन्धमें कोई विश्वास-योग्य निर्णय नहीं हो पाया है। इन्हीं अनिश्चित स्वरूपोंके देवताओंमेंसे दिति और अदितिके होनेके कारण उनके स्वरूपोंके सम्बन्धमें हम अपना निर्णय "गंगा" के "इस "वेदांक" के द्वारा अखिल वैदिक पण्डितोंके सम्मुख उपस्थित करते हैं। साथ ही ऋग्वेदके मण्डल १, सूक्त २४ में उल्लिखित जिस शुनःशेपका दिति और अदितिसे प्रत्यक्षतया सम्बन्ध है, वह शुनःशेप कौन है, इसका भी हम यहाँ विचार करेंगे।

किसी ग्रंथके किसी देवताके स्वरूपका या किसी शब्दके अर्थका निर्णय करनेके लिये उस देवता या शब्दका उल्लेख, उस ग्रंथमें, अनेक बार आना लाभदायक होता है। किन्तु इस दृष्टिसे देखनेसे दिति और अदितिका उल्लेख, ऋग्वेदमें, बहुत कम पाया जाता है। यद्यपि ऋग्वेदमें अदितिका उल्लेख लगभग ८० बार आया है; किन्तु दितिका उल्लेख केवल तीन ही बार पाया जाता है; और, इसी कारण उनका स्वरूप निश्चित करना कठिन-सा हुआ है। इसके अतिरिक्त, केवल नाम मात्रका उल्लेख होनेके कारण, अर्थात् कथात्मक न होनेके कारण, यह कठिनाई और भी बढ़ गयी है। फलस्वरूप, प्रो० राथ और मैक्समूलर जैसे प्रकाण्ड वैदिक पण्डितोंको भी दितिके स्वरूपका पता न लग सका और उनकी यह धारणा हुई कि, उसका कोई स्वरूप ही नहीं है। अन्तको, हारकर, उन्हें उसे जाननेका प्रयत्न ही छोड़ देना पड़ा! प्रो० मैक्समूलरने लिखा है—"I have no doubt, therefore, that Prof. Roth is right when he says that Diti is a being without any definite conception, a mere reflex of Aditi." *

"दिति एक कोई ऐसी बात है कि, जिसके सम्बन्धमें प्रो० राथने निस्सन्देह सच कहा है कि, उसके सम्बन्धमें सिवा इसके कि, वह अदिति नहीं है, कोई खास कल्पना नहीं हो सकती।" किन्तु हमारी सम्मतिमें इस विषयमें इतना निराश होनेका कोई कारण नहीं। यदि पूर्वग्रह छोड़कर

* Vedic Hymns, Page 256 (Ed–1891)

केवल शुद्ध दृष्टिसे वैदिक मंत्रोंका निरीक्षण किया जाय, तो दिति और अदितिका यथार्थ स्वरूप जानना उतना कठिन नहीं है। अतः उनके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें क्या लिखा है, वह पहले संक्षेपमें यहाँ देखेंगे।

ऋग्वेदमें लिखा है कि, अदिति विस्तीर्ण है ('उरुव्यचाः' ऋ० ५।४६।६), वह प्रकाशमय है ('ज्योतिष्मती' ऋ० १।१३६।३, 'अवध्रं ज्योतिरदितेर्मनामहे' ऋ० ७।८२।१०), उषा उसका मुख है ('अनीक' ऋ० १।११३।१९), वह राजपुत्रा है (ऋ० २।२७।७) अर्थात् वह आदित्योंकी माता है, उसके पुत्रोंमेंसे मार्तण्ड भी एक पुत्र है (ऋ० १०।७२।९), वह मित्र, वरुण और अर्यमाकी (ऋ० ८।२५।३) तथा रुद्रोंकी माता है ('माता रुद्राणाम्' ऋ०८।१०१।१५); बल्कि वह सब देवोंकी माता है ('अदीना देवमाता' निरुक्त ४।२२)। अदितिके पुत्र होनेसे ही देवोंको आदित्यका नाम प्राप्त हुआ है (ऋ० १०।६३।२ 'ये स्थ जाता अदितेः')। अदिति शब्दका धात्वर्थ 'अखण्डता' है; किन्तु बादमें वह एक विशिष्ट देवताके अर्थमें प्रचलित हुआ।

'दिति' 'अदिति'का प्रतियोगी शब्द है। जो दिति नहीं, वह अदिति है। किन्तु प्रथम अदिति शब्दका प्रचार होकर बहुत काल व्यतीत होनेके बाद 'दिति' शब्दका प्रचार हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि, 'दिति' शब्द उसके धात्वर्थसे प्रचलित न होकर, वह केवल अदितिके विरोधी देवताके नामसे ही प्रचलित हुआ होगा, ऐसा दिखाई देता है। मतलब यह कि, 'अदिति' देवताके साथ ही दिति-शब्दाभिधेय देवताका भी अस्तित्व था। किन्तु उसे उस समय दितिका नामाभिधान नहीं प्राप्त हुआ था। उसका नाम 'निर्ऋति' था। आगे चलकर उसे अदितिके विरोधी देवताके नाते 'दिति'का नाम प्राप्त हुआ। ऋग्वेदमें इस नामके अतिरिक्त उसके सम्बन्धमें और कुछ भी नहीं लिखा है।

उपरि निर्दिष्ट वर्णनसे 'अदितिका स्वरूप जाननेके लिये वास्तवमें कोई विशेष अड़चन नहीं रहती; क्योंकि इस वर्णनमें 'अदिति' आदित्योंकी—बल्कि सब देवताओंकी अर्थात् सूर्यचन्द्रादि सब ज्योतियोंकी—माता है। वह विस्तीर्ण, व्यापक और असीम है; वह प्रकाशमय है; और, उषा उसका मुख यानी अग्र है—ये बातें प्रमुखतया देख पड़ती हैं। इन चार बातोंसे ही 'अदिति' कौन है, इसका अनुमान हो सकता है। 'अदिति' पृथ्वीके ऊपर दीखनेवाला वही असीम तथा अनन्त शून्य-स्थान 'Hollow Space' अथवा आकाश है; जिसके उदरमें सूर्य, चन्द्र, तारा आदि, सभी तेजोगोल (Luminaries) सचार करते हैं और जो सूर्यादिकोंके भी उस ओर अनन्त योजनांतक फैला है। प्रो० राथ और प्रो० मेक्समूलरने भी 'अदिति' शब्दका यही अर्थ किया है। तथापि उन्हें, उसका असली अर्थ, मालूम हो गया है—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हमारी यह अटल धारणा है कि, बिना 'दिति' शब्दके असली अर्थका ज्ञान हुए 'अदिति' शब्दका असली अर्थ मालूम होना असम्भव है। हमारे विचारसे पाश्चात्य (तथा पौरस्त्य भी) पण्डित 'दिति' शब्दके असली अर्थसे पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं। इसी अनभिज्ञताके कारण हम यह बेधड़क कहते हैं कि, ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रका असली अर्थ अबतक किसीसे भी नहीं लग सका।

"कस्य नूनं कतमस्यामृताना
मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च॥"

यह ऋग्वेदके १ मण्डल, २४ सूक्त का पहला मंत्र है। इसका सरल अर्थ है—'हम भला कौनसे, अमरोंमेंसे कौनसे, देवके मधुर नामका ध्यान करें? (मुझे) हमारे महान् 'अदिति' के पास भला कौन पहुँचा देगा कि, जिससे (मैं) माता और पिताके दर्शन कर सकूँगा?" ऋग्वेदानुक्रमणिकामें लिखा है कि, इस तथा इसके बादके छ सूक्तों-

का ऋषि अथवा द्रष्टा अजीगर्तका पुत्र शुनःशेप है। इस शुनःशेपके सम्बन्धमें ऐतरेय-ब्राह्मणकी विस्तृत कथामें यह बताया गया है कि, जब उसे यज्ञमें बलि देनेके लिये यूपसे (यज्ञपशुओंके बधस्तम्भसे) बांधा गया था, तब उसने इन सूक्तोंकी सहायतासे अग्नि, प्रजापति आदि देवोंको प्रसन्न कर मुक्ति प्राप्त कर ली थी। वह कथा, संक्षेपमें, इस प्रकार है---

"हरिश्चन्द्र नामक एक राजाको सौ पत्नियां थीं; किन्तु दुर्भाग्यसे वह पुत्र-सन्तानसे वञ्चित था। उसने 'पर्वतनारद' नामक ऋषिकी सलाहसे वरुणको यह मानता की कि, 'यदि मुझे पुत्र-सन्तान प्राप्त हो जाय, तो मैं उसे तुझे ही बलि चढ़ा दूंगा।' आगे वरुणकी कृपासे हरिश्चन्द्रको पुत्र-लाभ हुआ और उसने उस पुत्रका नाम 'रोहित' रखा। बड़े होनेपर हरिश्चन्द्रने उसे बलि देनेका निश्चय ठहराया। यह देखकर रोहित, प्राणके भयसे, जङ्गलमें भाग निकला। जङ्गलमें जानेपर उसे अजीगर्त नामक एक क्षुधा-पीड़ित ऋषि, उसकी पत्नी तथा उसके शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलाङ्गूल नामक तीन पुत्रोंके दर्शन हुए। तब उसने अजीगर्तको सौ गायें देकर, उसकी पत्नीकी अनुमतिसे, शुनःशेपको, अपने बदले, बलि देनेके लिये मोल ले लिया और उसे, वरुणको भेंट चढ़ानेके लिये, हरिश्चन्द्रके हाथों सौंप दिया। हरिश्चन्द्र-ने यज्ञ तो प्रारम्भ किया; किन्तु शुनःशेपको यूपसे बांधनेके लिये कोई आगे न बढ़ा! तब शुनःशेपके पिताने ही, पुनः सौ गायें लेकर, उसे यूपसे बांध दिया। किन्तु अब उसका बध करानेकी किसीकी भी हिम्मत न हुई। यह देखकर उसके पिताने पुनः सौ गायें लेकर इस नृशंस कृत्यको पूरा करनेकी हिम्मत की और वह खड्ग लेकर उसके समीप जा धमका। इस अन्तिम समयमें शुनःशेपने 'कस्य नूनम्' आदि मंत्रोंसे देवोंकी प्रार्थना की और वह देवोंकी कृपासे इस सङ्कटसे बाल-बाल बच गया। बादमें शुनःशेपने अपने दुष्ट पिताका, घृणापूर्वक, परित्याग कर दिया और वह विश्वा-मित्रका स्वयंदत्त पुत्र हुआ।"

ऐतरेय-ब्राह्मणकी इस कथाके आधारपर सायणा-चार्यने उपर्युक्त मंत्रका जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है; शुनःशेप कहता है---"हम भला किसके, अमरोंमेंसे भला किस देवके, मधुर नामका ध्यान करें? हमें (अर्थात् मुझे) महान 'अदिति'के अर्थात् पृथ्वीके पास भला कौन पहुंचा देगा, ताकि मैं अपने माता-पिताको पुनः देख सकूंगा?" किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है; कारण यह कि, इस मंत्रका वक्ता अजीगर्तका पुत्र शुनःशेप होना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि इस मंत्रका वक्ता शुनःशेप अपने माता-पितासे मिलनेके लिये बहुत व्याकुल देख पड़ता है। किन्तु ऐतरेय-ब्राह्मणमें वर्णित शुनःशेपके लिये, अपने माता-पितासे मिलनेके निमित्त, इतना उत्कण्ठित होना असम्भव है; क्योंकि जिस पिताने (उसकी माताकी अनुमतिसे) उसे सौ गायोंमें, बलि चढ़ानेके लिये बेच दिया, जिस पिताने उसे अपने हाथों बधस्तम्भमें बांध दिया और जो पिता उसे मारनेके लिये खड्ग लेकर उसके सम्मुख खड़ा हुआ, उस पिता (तथा माता) से मिलनेके लिये वह देवोंकी प्रार्थना करेगा, यह सर्वथा असम्भव जान पड़ता है। इतना ही नहीं, बल्कि देवोंकी कृपासे शुनःशेपकी मुक्ति होनेपर, उसके पिता अजीगर्तने जब उसे अपने पास बुलाया, तब शुनःशेपने उसका, अत्यन्त कठोर शब्दोंमें धिक्कार कर, परित्याग किया। यह बात स्वयं ऐतरेय-ब्राह्मणमें ही लिखी है। अतः उपर्युक्त मंत्रके माता और पिता ("पितरञ्च मातरञ्च") शब्दोंसे अजीगर्त और उसकी पत्नी नहीं विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

दूसरी बात यह है कि, सायणाचार्यने निघण्टु और निरुक्तके आधारपर उपर्युक्त मंत्रके 'अदिति' शब्दका अर्थ 'पृथ्वी' किया है; किन्तु वह गलत है; क्योंकि ऐतरेय---ब्राह्मणके अनुसार शुनःशेप तो स्वयं पृथ्वीपर ही था। वह क्योंकर कहेगा कि, मुझे पृथ्वीके पास कौन पहुंचा देगा! उसके मुखसे इन शब्दोंका निकलना सर्वथा असम्भव है।

सारांश, उपर्युक्त मंत्रके 'अदिति' शब्दका अर्थ 'पृथ्वी' न होकर, वह कुछ दूसरा ही होना चाहिये, यह निर्विवाद है।

हाँ, यह सच है कि, निघण्टु, निरुक्त और ब्राह्मणमें 'अदिति' शब्दका अर्थ 'पृथ्वी' दिया गया है; किन्तु ऋग्वेदमें, कई स्थानोंमें, 'अदिति' और 'पृथ्वी'का पृथक् निर्देश होनेके कारण 'अदिति'के 'पृथ्वी' अर्थसे ऋग्वेद सहमत नहीं है, यह सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित मंत्र देखिये—

"इन्द्राग्नी मित्रावरुणाऽदितिं स्वः पृथिवी द्यां मरुतः पर्वतां अपः। हुवे...॥" (५।४६।३)

"द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुग्ने भ्रातर्वसवो मृलतानः। विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त॥" (६।५१।५)

"सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्" (१०।६३।१०)

"मन्हा महद्भिः पृथिवी वितस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः।" (१।७२।९)

इन सभी मंत्रोंमें 'पृथिवी' और 'अदितिका', एक ही स्थानमें, पृथक् निर्देश किया गया है। इससे यह स्पष्टतया देख पड़ता है कि, 'पृथिवी' और 'अदिति', ये विभिन्न देवता हैं।

सारांश, उपर्युक्त मंत्रके 'अदिति' शब्दका अर्थ 'पृथ्वी' नहीं है। उसका निस्सन्देह कुछ दूसरा ही अर्थ है। यह दूसरा अर्थ कौनसा है, इसका अब हम विचार करेंगे।

इस सम्बन्धमें पाश्चात्य पण्डितोंने बहुत परिश्रम किया है; किन्तु उनका अनुमान परस्पर मिलता-जुलता नहीं है। प्रो० मैक्समूलर 'अदिति'का अर्थ 'पृथ्वी', मेघ-मण्डल तथा आकाशके भी उस ओर, आंखोंसे प्रत्यक्षरूपसे दीखनेवाला, असीम तथा अनन्त शून्य-स्थान'—ऐसा करते हैं; "Aditi, an ancient god or goddess, is in reality the earliest name invented to express the Infinite......the visible Infinite, visible, as it were, to the naked eye, the endless expanse beyond the earth, beyond the clouds, beyond the sky."* प्रो० राथ भी अदितिका अर्थ प्रायः 'अनन्त' अथवा 'अनन्तत्व' ही करते हैं। एक जगह उन्होंने उसका अर्थ 'द्युलोकका प्रकाश' (Celestial light) भी किया है।× डा० म्योर ऋग्वेदके मंत्र (१।८९।१०) के आधारपर उसका अर्थ 'सृष्टिका सर्वात्मकत्व' अथवा 'तद्रूप देवता' करते हैं (A personification of universal, all embracing Nature or Being†)। ग्रिफिथ आदि अन्य सभी वैदिक पण्डितोंने भी प्रायः 'अनन्त' या 'अनन्तत्व' का-सा ही अर्थ किया है; किन्तु उपर्युक्त 'कस्य नूनम्....' आदि मन्त्रोंका अर्थ करते समय, जब उन्हें अपने मनः-कल्पित अर्थकी निष्फलता प्रतीत हुई, तब उन्हें बहुत हैरान होना पड़ा और अपने पुराने अर्थोंको छोड़कर कुछ निराले ही अर्थ देने पड़े। प्रो० मैक्समूलरने अपना पुराना 'असीम' अथवा 'यह दृश्यमान अनन्त शून्य स्थान' वाला अर्थ छोड़कर 'मुक्ति' या 'मुक्तिका देवता' (Liberty, or goddess of liberty) जैसा एक नया ही अर्थ दिया है और 'को नो मह्या अदितये पुनर्दात्' के अर्थमें लिखा है—'हमें हमारे महान् मुक्तिके देवताके पास कौन पहुँचा देगा?' मानो कोई प्राणोंके सङ्कटमें फँसा हुआ मनुष्य, अपनी मुक्तिके लिये, ईश्वरसे प्रार्थना कर रहा

* Vedic Hymns, pp. 241.

× "This eternal and inviolable principle (Aditi) in which the Adityas live, and which constitutes their essence, is the celestial light." Muir's 'Original Sanskrit Texts' Vol. V, pp. 37 (Ed. 1884)

† O. S. T. V0l-V, pp. 37

होउ*। किन्तु डा० म्योर जैसे पाश्चात्य पण्डितने ही इस अर्थकी भूल दिखायी है। वे लिखते हैं—"यहाँ 'अदिति'का अर्थ मुक्ति (freedom) होना सम्भव नहीं है; क्योंकि इस अर्थमें 'अदिति' के पहले 'मह्यै' अर्थात् 'महान्' विशेषण ठीक नहीं जँचता। किन्तु हम कहते हैं, प्रो० मैक्समूलर ने 'अदिति' का अर्थ केवल 'मुक्ति' ही न कर 'मुक्तिका देवता' (goddess of freedom) किया है और 'मह्यै' विशेषणकी योग्यता कुछ समयके लिये दिखा दी है। किन्तु हमारी सम्मतिमें प्रत्येक मंत्रमें एक ही शब्दका आवश्यकतानुसार कुछ निराला अर्थ देकर अपना पिण्ड छुड़ाना असङ्गत एवं दोषपूर्ण मालूम होता है और इस दोषसे प्रोफेसर महोदय नहीं बचने पाते। प्रो० राथने भी अपना 'द्युलोकका प्रकाश' वाला मूल अर्थ छोड़कर एक निराला ही अर्थ किया है। डा० म्योरने तो प्रो० मैक्समूलर तथा प्रो० राथके नवीन अर्थकी अनुपपत्तिका दिग्दर्शन कर स्वयं 'सृष्टि' (face of Nature) नामक एक तीसरा ही अर्थ सुझाया है! किन्तु यह अर्थ भी यहाँ उपयोगी नहीं हो सकता; क्योंकि सृष्टिके पास जानेकी जिसे उत्कण्ठा लगी है, वह, सङ्कट-ग्रस्त, मनुष्य, सृष्टिके बाहर हो होना चाहिये, यह स्पष्ट है; किन्तु वह असम्भव-सा है। अतएव यह अर्थ भी त्याज्य है। इस प्रकार सिर्फ अदिति शब्दके ही, किसीने 'बंध-मुक्ति', किसीने 'मुक्ति-देवता', किसीने 'सृष्टि', किसीने 'पृथ्वी', किसीने 'शुद्धि' अथवा 'पाप-राहित्य' जैसे अस्थायी एवं मनः-कल्पित अर्थ देकर उपर्युक्त मंत्रके फंदेसे छुटकारा पानेकी कोशिश की है। वस्तुतः किसीको भी उस शब्दके असली अर्थका ज्ञान नहीं हुआ है, जो स्वाभाविक भी है। जबतक इन पण्डितोंकी यह धारणा है कि,इस मंत्रका वक्ता, इसी पृथ्वी-तलका रहनेवाला, कोई मनुष्य प्राणी है, तबतक 'अदिति' शब्दके और साथ ही उपर्युक्त मंत्रके असली अर्थका ज्ञान होना पूर्णतया असम्भव है।

हमारी सम्मतिमें, उपर्युक्त मंत्रका असली अर्थ जाननेके लिये, निम्नलिखित बातें अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये—

(१) जब कि, इस मंत्रका वक्ता शुनःशेप (शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः' ऋ० १।२४।१२-१३) 'अदितिके' पास जानेके लिये बहुत उत्कंठित हुआ था, तब वह उससे अवश्य ही दूर रहा होगा।

(२) वह जिस स्थानमें रहा होगा, वहाँसे वह (अदिति) उसे न दीखती होगी।

(३) अदितिके दर्शनपर ही उसके माता-पिताके दर्शन अवलम्बित रहे होंगे।

(४) अदिति और शुनःशेपके माता-पिता—ये तीनों एक ही स्थानमें रहते होंगे तथा शुनःशेप भी उसी स्थानका निवासी होगा।

(५) वह (शुनःशेप) किसी सुदूर स्थानमें दीर्घ काल-तक बन्धनमें पड़ा होगा।

इन बातोंपर ध्यान देनेसे तथा इस लेखके प्रारम्भमें दिये हुए अदितिके वैदिक वर्णनसे उसका ('अदिति'का) स्वरूप आसानीसे निश्चित किया जा सकता है। जिसके उदरमें सूर्य-चन्द्रादि सब ग्रह और नक्षत्र संचार करते हैं अर्थात् जिसके उदरमें सब देवता वास करते हैं और जो पृथ्वीतलके ऊपर, सूर्यादिकोंके भी उस ओर, अनन्त योजनोंतक फैला है, वह सबको, प्रत्यक्ष रूपसे, दीखनेवाला असीम एवं अनन्त शून्य स्थान (या आकाश) ही अदिति है, यह हम पहले ही बता चुके हैं। उपर्युक्त मंत्रमें उल्लिखित अदिति यही शून्य स्थान (आकाश) है। प्रो० मैक्समूलर आदि पाश्चात्य

*"We may chose between the two meanings of earth or liberty and translate, either 'who will give us back to the great earth?' Or, who will restore us to the great Aditi, the goddess of liberty?" —Vedic Hymns (pp-255)

पण्डितोंने, अन्य स्थानोंमें, यही अर्थ स्वीकृत किया है, किन्तु उपर्युक्त मंत्रमें उन्होंने उसे छोड़कर निराला ही अर्थ दिया है, यह भी हमने ऊपर दिखाया है। उनके इस विचित्र काया-पलटके अनेक कारण हैं। पहली बात यह है कि, उन्हें 'दिति' शब्दके अर्थका कुछ भी ज्ञान नहीं। दूसरे, उन्हें उपर्युक्त मंत्रके माता-पिता कौन हैं, इसका भी ज्ञान नहीं। तीसरे, शुनःशेप कौन है, वे इस बातसे भी अनभिज्ञ हैं। इन्हीं कारणोंसे उन्हें उपर्युक्त मंत्रका असली अर्थ नहीं लग सका। अतः उन सब बातोंका हम यहाँ क्रमशः विचार करेंगे।

सबके पहले हम यह देखेंगे कि, उपर्युक्त मंत्रवाले माता-पिता कौन हैं? ऋग्वेदमें माता-पिताका अर्थ 'द्यावा-पृथिवी' होता है, यह बात सभी वैदिक पण्डितोंने स्वीकृत कर ली है; और, उन्होंने उन पदोंका प्रायः यही अर्थ सर्वत्र दिया भी है। उदाहरणार्थ, "पिता च माता भुवनानि रक्षतः।" (ऋ०-१।१६०।२), "द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।" (ऋ० १०।८८।१५) आदि मंत्रोंमें माता-पिताका अर्थ उन्होंने 'द्यावा-पृथिवी' ही किया है। खास वेदमें भी यत्र-तत्र 'द्यावा-पृथिवी', को स्पष्टतया माता-पिता ही कहा है। उदाहरणार्थ, "माता पृथिवी पिता द्यौः।" (ऋ० १।१८९।४), "द्यौष्पितः पृथिवी मातः।" (ऋ० ६।६।१५), "आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।" (ऋ० १०।१८९।१) आदि मंत्र देखिये। किन्तु यह मालूम होते हुए भी किसी भी वैदिक पण्डितने उपर्युक्त मंत्रके 'पितरं च मातरं च' का अर्थ 'द्यावा-पृथिवी' नहीं किया है! प्रत्युत डा० म्योर जैसे पण्डितोंने तो मूल मंत्रमें My (मेरे) अर्थ-वाचक पद न होते हुए भी उसका 'मेरे पिता और मेरी माताको' (My father and my mother), ऐसा अर्थ किया है। किन्तु वह गलत है; क्योंकि इस मंत्रमें भी 'माता और पिता' पदसे 'द्यावा-पृथिवी' ही विवक्षित हैं, इसमें सन्देह नहीं। ऐसी अवस्थामें अगर कोई यह पूछे कि, अन्य पण्डितोंने भी उन पदोंका अर्थ 'द्यावा-पृथिवी' क्यों कर नहीं किया? तो उसका उत्तर यही है कि, उन पण्डितोंने वेद-सम्बन्धी अपने पूर्वग्रहसे तथा ऐतरेय-ब्राह्मणवाली शुनःशेपकी कथासे अपनी बुद्धिको कलुषित कर रखा है। ऋग्वेदकी रचना पंजाबमें हुई थी और शुनःशेप कोई पृथ्वीतलपर रहनेवाला, ..ण-सङ्कटमें फँसा हुआ मनुष्य प्राणी था—ऐसी गलत धारणाओंने सभी वैदिक पण्डितोंपर अपना आधिपत्य जमा रखा है। जबतक उनकी यही धारणा बनी है, तबतक उन्हें उपर्युक्त मंत्रके 'पितरं च मातरं च' पदका तथा इस मंत्रका असली अर्थ मालूम होना सर्वथा असम्भव है। अतः यह शुनःशेप कौन है, इसका हम संक्षेपमें दिग्दर्शन करावेंगे।

शुनःशेपके स्वरूपका पता लगानेके लिये हमें सृष्टिका कुछ निरीक्षण करना आवश्यक है। हम यह नित्य देखते हैं कि, सहस्ररश्मि सूर्यका जब उदय होता है, तब वह प्रथम क्षितिजपर, आकाश-वृत्तपर (Horizon), दृग्गोचर होता है और वहाँ कुछ क्षणके लिये स्थिर-सा मालूम होता है। इस जगह वह पृथ्वीके अति निकट, बल्कि उसे चिपका हुआ-सा, नजर आता है। इस समय वह पृथ्वीके बिलकुल सम्मुख, अर्थात् पृथ्वीके नीचे भी नहीं और ऊपर भी नहीं, ऐसी स्थितिमें दीखता है। यदि इस स्थितिका वर्णन कविकी भाषामें करना हो, तो हम कह सकते हैं कि, सूर्य उस समय पृथ्वी-माताके सम्मुख बैठा हुआ नजर आता है। तदनन्तर वह वहाँसे शनैः शनैः ऊपर चढ़कर द्युलोकके मध्यमें अर्थात् पिताके ('पिता द्यौः') पास जाता है। वहाँसे वह पुनः शनैः-शनैः नीचे उतरता है और पश्चिम-क्षितिजके नीचे उतरनेपर जब वह अदृश्य होता है, तब रात्रि होती है। रात्रिमें वह पृथ्वीके नीचे रहकर पुनः पूर्व-क्षितिजपर, पृथ्वी-माताके सम्मुख, आकर उपस्थित होता है। यह क्रम—यह घटनाचक्र—द्यावा-पृथ्वी और सूर्यके अस्तित्वमें आनेके समयसे आजतक अखण्डित चला आ रहा है। सूर्य

जबतक क्षितिजके ऊपर रहता है, तबतक वह द्यावा-पृथिवीके बीच रहता है और जब वह क्षितिजके नीचे जाता है, तब द्यावा-पृथिवीसे विमुक्त होता है—द्यावा-पृथिवीसे उसका वियोग होता है। इस घटना-चक्रका, यदि काव्यकी भाषामें वर्णन करना हो, तो कह सकते हैं कि, सूर्य दिनमें अपने माता-पिताके पास रहता है और रातमें उसे उनका वियोग होता है। उस समय वह पृथ्वीके नीचे, अन्धकारमय प्रदेशमें, पाश-बद्ध होकर पड़ा रहता है। आगे जब उसको वहाँसे मुक्ति होती है, तब वह पुनः 'अदिति'—प्रदेशमें, अपने माता-पितासे, मिलता है। सूर्यके अस्तोदयका अथवा 'व्यसनोदयका' यह वर्णन वैदिक ऋषियोंने, अपनी दिव्य वाणीसे, अनेक मंत्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। उदाहरणार्थ, ऊपर उद्धृत किया हुआ "आय गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरञ्च प्रयन्त्स्वः" (ऋ० १०।१८९।१ मंत्र देखिये)। इस मंत्रमें ऋषि कहता है—"सुन्दर वर्णका यह वृषभ पुनः आया है। यह माताके सम्मुख बैठा है। यह (अब) द्यु-पिताके पास जा रहा है।" इस मंत्रमेंको माता पृथ्वी, पिता द्यु और वृषभ (गौः) सूर्य है, यह बात सर्व-सम्मत है। इसी दृष्टिसे यदि उपर्युक्त 'कस्य नूनम्... ..' आदि मंत्रोंको देखा जाय, तो उसका वक्ता शुनःशेप कोई दूसरा न होकर निस्सन्देह ही सूर्य हो सकता है।

अब कुछ लोग यहाँ यह आशङ्का प्रकट करेंगे कि, अस्तंगत सूर्यके पुनः उदय होनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करनेकी व्याकुलता क्यों होनी चाहिये? अथवा, दूसरे शब्दोंमें, सूर्यास्तके दस-बारह घण्टोंके अनन्तर ही, यानी एक निद्रा लगभग समाप्त होते ही, उसे नित्य देखनेवाले ऋषियोंको सूर्यके द्वारा उदयके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करानेकी कल्पना क्यों सूझनी चाहिये? किन्तु यह आशङ्का अज्ञान-मूलक है। वैदिक ऋषियोंकी परिस्थितिको न जानना ही इस आशङ्काका कारण है। यह आशङ्का तो उन लोगोंकी है, जिन्होंने अपनी यह अटल धारणा कर रखी है कि, वैदिक ऋषियोंने ऋग्वेदकी रचना पंजाबमें की थी। किन्तु उनकी यह धारणा ही गलत है। वास्तवमें वैदिक ऋषियोंका मूल-स्थान उत्तर-ध्रुवके प्रदेशमें था। उनका वेद भी उसी स्थानमें तैयार हुआ था और उसमें वहाँकी परिस्थितिका ही वर्णन है। उस प्रदेशमें यद्यपि इधरके समान कुछ दिनोंतक प्रतिदिन सूर्योदय होता है; किन्तु शीत ऋतुके प्रारम्भमें, अर्थात् लगभग शरद् ऋतुके समय, एक दिन ऐसा आता है कि, सूर्यका एक बार अस्त होनेपर वह लागातार दो-दो या तीन-तीन मासतक प्रकट ही नहीं होता! फलस्वरूप उस लम्बे कालतक वहाँ सर्व-संहारक तथा अति भयानक अँधेरी रात्रिका ही आधिपत्य होता है। यह रात्रि 'दीर्घ रात्रि' (Long night) के नामसे मशहूर है। इस दीर्घ रात्रिके समय वैदिक ऋषि अत्यन्त भयभीत होकर, उसमेंसे सकुशल निकलनेके लिये, उसकी प्रार्थना करते थे। तैत्तिरीय-संहिता तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें स्पष्ट ही लिखा है कि, "चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय" (तै० सं० १।५।५), "रात्रिर्वै चित्रावसुः अव्युष्ट्यै वा एतस्यै पुरा ब्राह्मणा अभैषुः व्युष्टिमेवावरुन्धे।"*(तै० ब्रा० १।५।७)। इसपर सायण-भाष्य इस प्रकार है—"हेमन्ततौ रात्रेः दीर्घत्वेन प्रभातं न भविष्यत्येव इति कदाचित् ब्राह्मणा भीता अतः पारमशीय इति प्रार्थनया प्रभातं लभन्ते।" अर्थात् प्राचीन कालमें रात्रि अत्यन्त दीर्घ होनेके कारण तत्कालीन ब्राह्मणोंको यह डर होता था कि, सम्भवतः यह रात्रि समाप्त हो न होगी और इसलिये वे 'हमें सकुशल निकलने दो'—ऐसी रात्रिकी प्रार्थना करते थे। इसी प्रकारकी एक प्रार्थना ऋग्वेद-परिशिष्टके निम्न लिखित मंत्रमें मिलती है—

"ये ते रात्रि नृचक्षसो युक्तासो नवतिर्नव।
अशीतिः सन्त्वष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः॥

* देखिये अथर्व-वेद १९।४७।३

इस मंत्रमें, हे रात्रि ! तुम्हारे जो ६६ मनुष्योंको देखनेवाले (नृचक्षसः ∵) घोड़े (युक्तासः) उन्हें ८८ होने दो, उन्हें ७७ होने दो (अर्थात् शनैः शनैः कम होने दो), ऐसी रात्रिको प्रार्थना की है।× आगे जब उस दीर्घ रात्रिके समाप्त होनेपर सूर्योदय होता था, तब वे उसकी अनुपस्थितिके कारणमें 'वह (सूर्य) लँगड़ा हुआ था', 'वह अन्धा हुआ था', 'वह वृद्ध हुआ था', 'वह समुद्रमें डूबा हुआ था', 'उसे किसीने बाँध रखा था' आदि भिन्न-भिन्न विघ्न-बाधाओंकी कल्पना कर सूर्यकी मुक्तिपर वे भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति करते थे। इसी प्रकारके भिन्न-भिन्न सङ्कटोंमें फँसे हुए सूर्यका दीर्घतमा, च्यवान, रेभ, वन्दन, भुज्यु आदि भिन्न-भिन्न नाम देकर उन नामके सूर्यको उनके सङ्कटसे छुड़ाकर उसकी पुनः प्राप्ति करा देनेपर भिन्न-भिन्न देवताओंको अनेकविध स्तुतियाँ या सूक्त ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। शुनःशेपका उपरि निर्दिष्ट सूक्त भी इसी ढंगका मान लेनेपर तद्विषयक सभी आशङ्काओंका आसानीसे परिहार हो सकता है।

इस सम्बन्धमें डा० म्योर (तथा प्रो० मेक्डानल) ÷ कहते हैं कि, "The deliverances of Rebha, Vandana, Paravrij, Bhujyu, Chyavana and others are explained by prof Benfey (following Dr. Kuhn and Prof. Muller) ...asreferring to certain physical phenomena....But this allegorical method of interpretation seems unlikely to be correct, as it is difficult to suppose that the phenomena in question should have been alluded to under such a variety of names and circumstances" ❀

इसका भावार्थ यह है कि, एक ही सूर्यके इतने विभिन्न नाम तथा उसकी परिस्थितिकी इतनी विविधता असम्भव जान पड़ती है ! अच्छा, किन्तु (उनके मतानुसार) एक ही वृष्टि-प्रतिबंधक असुरके (demon of drought) वृत्र, अहि, शंबर, नमुचि, पिप्रु, चिमुरि, धुनि आदि भिन्न-भिन्न नामों तथा उनकी परिस्थितिकी विविधतामें जिन्हे विश्वास है, उन्हे सूर्य-सम्बन्धी उसी प्रकारकी विविधता क्यों न स्वीकृत होनी चाहिये, यह बात समझमें नहीं आती ! वृत्र मेघ है, शुष्ण वृष्टि-प्रतिबन्धक असुर है,+ आदि रूपक जिन्हें पसन्द हैं, उनका केवल सूर्यका ही यह रूपक अस्वीकृत करना आश्चर्यकी बात है ! वास्तवमें ऋग्वेदमें वर्णित सभी देवासुरोंके □ युद्ध-प्रकाशात्मक देवताओं और अन्ध-

---

∵ Compare RV—10-14-11 (नृचक्षसौ यमस्य श्वाना)

× इस मंत्रका असली अभिप्राय न समझनेके कारण डा० म्योरने इसका जो गलत अनुवाद किया है, वह इस प्रकार है—

"Night, may the man-beholders which are united with the be 99, 88 or 77"—O. S. T. (Vol. IV, pp 499, Ed. 1873)

÷ "The opinion of bergaigne and others that the various miracles attributed to the Aswins are anthropomorphized forms of Solar phenomena (the healing of the blind man thus meaning the release of the sun from darkness) seems to lack probability"—Vedic Mythology (pp-53)

❀—O. S. T. (Vol-V, pp-248)

+—Vedic Mythology (pp-161)

□ (ऋ० ३।२६।६)

कारात्मक असुरोंके द्वन्द्वका एवं अन्धकारके अन्तिम नाश और प्रकाशकी विजयका काव्यमय वर्णन है। जिज्ञासुओं-को इसका ब्योरेवार तथा सप्रमाण विवेचन स्व० तिलकजी-के 'Arctic Home in the Vedas' (आर्योंका मूल निवास-स्थान) नामक प्रसिद्ध अँग्रेजी ग्रन्थमें प्राप्त हो सकता है। यहाँ हमने उसका केवल दिग्दर्शन ही कराया है।

सारांश, शुनःशेप दीर्घ रात्रिके समय क्षितिजके नीचे जानेवाला सूर्य ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अब दिति क्या है, यह जानना कठिन नहीं है। जो अदिति नहीं, वह दिति है, यह निर्विवाद है। साथ ही, अदितिका अर्थ पृथ्वीके ऊपर दीखनेवाला अनन्त एवं असीम शून्य स्थान—महाबिल (आकाश) है—यह भी निर्विवाद है, अर्थात् अदिति क्षितिजके ऊपर दीखनेवाला खगोलार्द्ध है, यह स्पष्ट है। विवेचनके सुभीतेके लिये हम इस खगोलार्द्धको 'उत्तर-खगोलार्द्ध' कहेंगे अर्थात् अदितिसे 'उत्तर-खगोलार्द्ध' का अर्थ बोध होता है। अब दिति—का अर्थ 'जो अदिति नहीं', यह ऊपर बताया जा चुका है और इस अर्थमें उसका अदिति शब्द-वाचक प्रदेशसे भिन्न ऐसे उसी ढंगके प्रदेशका बोध होता है, यह स्पष्ट है अर्थात् जब अदितिका अर्थ 'उत्तर-खगोलार्द्ध' है, तब दितिका अर्थ भी 'अधः-खगोलार्द्ध' के सिवा और दूसरा क्या हो सकता है! उसी विचारके अनुसार अदितिसे प्रकाशमय प्रदेशका और दितिसे अन्धकारमय प्रदेशका अर्थ बोध होता है, यह भी स्पष्ट है। मोटी बात यह है कि, ऋग्वेदमें जिसे मृत्युका प्रदेश कहा है (ऋ० १०।१६१।२), जिस स्थानमें अथाह अन्धकार है ('अनारम्भणं तमः' ऋ० १।१८२।६), जिसे अथाह समुद्र (bottomless ocean) कहा है (ऋ० १।११६।५), जिस निराधार प्रदेशमें वरुणने 'ऊदर्ध्वमूल अधः शाख' ऐसा वृक्ष लगाया है (ऋ० १।२४।७), जहाँ इन्द्रके वृत्रादिक अन्धकारमय शत्रु दिव्य उदकोंको (celestial waters) बन्द कर रखते हैं, जहाँ वृत्रादिकोंके अन्धकार-रूप शारदीय किले बने हैं (ऋ० ६।२०।१०), जिसे पर्वत् प्रदेश कहा गया है और जिस स्थानमें अन्धकारमें पड़ा हुआ सूर्य इन्द्रको मिला है ('सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्' ऋ० ३।३९।५), उसी प्रदेशको ऋग्वेदमें दिति नाम दिया गया है। सारांश, अदिति पृथ्वीके ऊपरका और दिति पृथ्वीके नीचेका आकाश है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

लेखके प्रारम्भमें यह बताया जा चुका है कि, दिति शब्द ऋग्वेदमें केवल तीन ही बार प्रयुक्त हुआ है; तथापि दिति और अदितिका हमने जो अर्थ किया है, उसकी यथार्थता सिद्ध करानेके लिये, हमारी सम्मतिमें, निम्न-लिखित एक ही मंत्र पर्य्याप्त हो सकता है—

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टौ अयस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहथः वरुण मित्र गर्तम् अतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च॥"
(ऋ० ५।६२।८)

'हे वरुण! हे मित्र! तुम उषाओंके उदय-कालमें सुवर्ण-वर्णके समान और सूर्यके अस्तकालमें ताँबेके स्तम्भके सदृश क्षितिजपर (गर्तम्) चढ़ते हो और वहाँसे अदिति तथा दितिको देखते हो।'

इस मंत्रका अर्थ सरल है; किन्तु वैदिक पण्डितोंको दिति और अदितिके असली अर्थका ज्ञान न होनेसे उक्त मंत्रके चौथे चरणका अर्थ करते समय उन्हें बहुत हैरान होना पड़ा है। प्रो० मैक्समूलरने 'तुम दिति और अदितिको देखते हो' का अर्थ 'तुम उस ओर क्या है और यहाँ क्या है, यह देखते हो', ऐसा किया है। सायणाचार्यने अदितिका अर्थ 'अखण्ड-भूमि' और दितिका अर्थ 'खण्डित प्रजा आदि' किया है। डा० म्योरने अदितिका अर्थ 'दिनमें दीखनेवाली सृष्टि' और दितिका अर्थ 'रात्रिके समय दीखनेवाली सृष्टि' किया है। अन्य पण्डितोंने भी इसी प्रकारका कुछ ऊटपटांग अर्थ कर किसी सूरतसे छुटकारा पाया है।×

× देखिये महीधर-भाष्य, वाजसनेय सं० १०।१६ और ग्रिफिथका भाषान्तर तथा पाद-टिप्पणी (Foot Note)।

किन्तु हमारा अर्थ ग्रहण करनेसे इस मंत्रका सरल तथा सुसङ्गत अर्थ मिल सकता है। मंत्र-वक्ताका अभिप्राय यह है कि, 'हे मित्रावरुण! अरुणोदय-कालमें तथा अस्त-कालमें तुम जब क्षितिजपर आते हो, तब वहाँसे तुम्हें अदिति अर्थात् पृथ्वीके ऊपरका प्रकाशमय प्रदेश अथवा 'उत्तर-खगोलार्द्ध' और दिति अर्थात् पृथ्वीके नीचेका अन्धकारमय प्रदेश अथवा 'अधःखगोलार्द्ध', ये दोनों एकही समय दीखते हैं। क्षितिज-पर खड़े रहनेवालेको पृथ्वीके ऊपरका तथा नीचेका हिस्सा एक ही समय दीख सकता है, ऐसी वैदिक ऋषियोंकी कल्पना होना स्वाभाविक है। इस प्रकार दितिका पृथ्वीके नीचेका अन्धकारमय प्रदेश या मृत्यु-लोक और अदितिका पृथ्वीके ऊपरका प्रकाशमय प्रदेश या जीव-लोक अथवा दितिका 'परावत्' प्रदेश और अदितिका 'अर्वावत्' प्रदेश अर्थ लेनेसे उपरि निर्दिष्ट मंत्रोंके जैसे अनेक दुर्बोध प्रतीत होने-वाले मन्त्रोंका अर्थ बिलकुल सुगम हो जाता है।

हाँ, यह सच है कि, इसके अतिरिक्त जिन दो मंत्रोंमें यह दिति शब्द प्रयुक्त हुआ है, वे दोनों मंत्र भी कुछ दुर्बोध-से हैं; किन्तु उनकी दुर्बोधता दिति या अदिति शब्दसे न होकर उनके 'रास्व' और 'दाति', इन क्रियाओंसे है। एक मंत्रमें 'दितिञ्च रास्व अदितिम् उरुष्य' (ऋ० ४।२।११) जैसे पद हैं। इसमेंकी 'रास्व' क्रिया 'स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुरःसर' (ऋ० ७।५५।३) मंत्रवाली 'राय' क्रियाका ही रूपान्तर है, ऐसा मान लेनेपर उसकी दुर्बोधता नष्ट होकर उसका 'दितिको हाँक दो और अदितिको पास करो', यह सुसङ्गत अर्थ लग सकता है। दूसरा मंत्र है—"त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः। दितिश्च दाति वार्यम्।' (ऋ० ७।१५।१२) इस मंत्रका अर्थ, "अग्नि, सविता देव और भगके साथ ही दिति भी इच्छित कामना पूरी करती है (पूरी करें)", होनेके कारण कुछ लोगोंको उसमें कठिनाई मालूम होती है। किन्तु दिति भी निर्ऋतिके समान एक देवता है, यह मान लेनेसे वह कठिनाई नहीं रहने पाती। कमसे कम अदितिके 'पृथ्वीके ऊपरका असीम शून्य स्थान' और दितिके 'पृथ्वीके नीचेका शून्य स्थान' वाचक अर्थको उससे कोई बाधा नहीं पहुँचती। अतः यही उनका असली अर्थ है, यह निश्चित है।

इन सब बातोंको सिद्ध करानेके अनन्तर अब शुनःशेप-की उपर्युक्त प्रार्थनाका अर्थ कितना सुसङ्गत लगता है, यह देखिये। उत्तर ध्रुवमें, शीत ऋतुमें, दीर्घ रात्रिके समय, क्षितिजके नीचे, दितिके प्रदेशमें, वरुणके अन्धकारमय* पाशोंसे बद्ध हुआ सूर्यरूपी शुनःशेप कहता है—"भला कौनसा देव मुझे (मैं जहाँसे यहाँ आया, उस मेरे मूल-स्थानमें) अदितिके प्रदेशमें (अर्थात् उत्तर-खगोलार्द्धमें) पुनः पहुँचाकर माता-पिताका (अर्थात् द्यावा-पृथिवीका) दर्शन करा देगा?"

आशा है, 'गंगा' के वेद-प्रेमी पाठक इस अर्थका निर्विकार चित्तसे विचार करेंगे।

(अनुवादक, प० आनन्दराव जोशी, नागपुर)

* "According to Hillebrandt the conception of Varuna's fetters is based on "the fetters of night." Macdonell's Vedic mythology (pp 26)

इन्द्र

प० रामदत्त शुक्र भारद्वाज एम० ए०, एल-एल० बी०
(नानकशाही बिल्डिङ्ग, लाटूश रोड, लखनऊ)
बा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी०
(म्यूजियम, मथुरा)

तैत्तिरीय ब्राह्मणकी कथा है कि, भरद्वाज ऋषिने आयुपर्यन्त तप किया। तब इन्द्रने प्रकट होकर पूछा—'हे भरद्वाज, यदि तुम्हें एक जन्म और प्राप्त हो, तो तुम क्या करोगे ?' भरद्वाजने उत्तर दिया 'मैं इस जीवनकी तरह ही तप करता हुआ वेदोंका स्वाध्याय करूंगा।' इन्द्रने फिर पूछा—'भरद्वाज, यदि तुम्हें तीसरा जन्म और दिया जाय, तब तुम क्या करोगे ?' भरद्वाजने उसी प्रकार कहा—'मैं तीसरे जन्ममें भी तपके द्वारा वेदाभ्यास करता रहूंगा।' इसपर भरद्वाजके सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्रने उन तीनोंमेंसे एक मुट्ठी भर कर कहा—'हे भरद्वाज, तुमने जो कुछ पढ़ा और जान पाया है तथा जन्मान्तरोंमें भी जो कुछ जान पाओगे, वह इन पर्वतोंकी तुलनामें इस मुट्ठीके समान है। वेद तो अनन्त हैं—"अनन्ता वै वेदाः।"

इन अनन्त वेदोंके मूलमें एक सूत्र ऐसा है, जिसे पकड़ लेनेसे मनुष्य एक जन्म क्या, एक क्षणमें ही समस्त वेदोंका ज्ञाता बन सकता है। वह है इन्द्रका अपने आपको जानना। इन्द्र नाम आत्माका है। आत्माका अपने आपको जान लेना सब वेदोंका सार है। यह सबसे बड़ा धर्म है—

"इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥"

यह याज्ञवल्क्यका अनुभव-वाक्य है कि, सब धर्मोंसे बढ़कर आत्म-दर्शनका धर्म है। इन्द्रने भी भरद्वाजको वेदोंकी अनन्तता बताकर आत्माको जाननेका ही उपदेश दिया था। जिस समय वेदोंको लेकर उनके नाना प्रपञ्चात्मक अर्थ करके वेद-वाद-रत लोग अनेक मोह-जालोंकी सृष्टिसे जनताको विभ्रान्त कर रहे थे, उस समय कृष्णने भी वेदोंके उक्त मूल मंत्रकी ओर देशका ध्यान आकृष्ट किया था। कृष्णका संदेश था—

"सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यः।" तथा
"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तत् ओम्।"

अर्थात् सारे वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं। ब्रह्म या इन्द्रका ज्ञान करानेके अतिरिक्त वेदोंका और कुछ प्रयोजन नहीं। अनेक रीतियोंसे वे उसी अक्षरपद प्रणव-वाच्य भगवान्‌का कीर्तन करते हैं। ऋग्वेदके अनेक सूक्तोंमें इन्द्रकी महिमाका वर्णन है। बृहद्दिव आथर्वण ऋषिने अपना अनुभव कहा है—

"तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतोजज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः।"
(ऋ० १०।१२०।१)

अर्थात् वह सब भुवनोंमें ज्येष्ठ था, जिससे उग्र और बलीयान् इन्द्रका जन्म हुआ। इसी प्रकार गृत्समद ऋषिने कहा है—

'सज्जनो ! इन्द्र वह है, जिसने उत्पन्न होते ही सब देवोंको क्रतु-सम्पन्न कर दिया।'

"यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। यस्य शुष्माद् द्यावा-पृथिवी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जना स इन्द्रः।" (ऋ० २।१२।१)

इन्द्रियाँ ही शरीरमें देवोंकी प्रतिनिधि हैं। इन्द्रकी शक्तिसे ही बल-सम्पन्न होकर ये इन्द्रियाँ कहलाती हैं। यह इन्द्र आत्मा ही है, जो सब देवोंपर शासन करता है। उस इन्द्रके साम्राज्यमें देवता निर्विघ्न बसते है। वह देवाधिदेव, महादेव या सुरपति है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें लिखा है—

"स (इन्द्रः) वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः॥" (ऐ० ७।१६)

सब देवोंमें इन्द्र सबसे अधिक ओजस्वी, बलवान् और साहसी है, वही असलियत है और सबसे दूर तक पार लगानेवाला है।

वस्तुतः ब्रह्माण्डमें आत्मा ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, वही असत् वस्तुओंके मध्यमें एक मात्र सत् है। इन्द्रकी महिमाके रूपमें ऋषियोंने आत्माके गुणोंका गान किया है। उपनिषत्कालमें आत्माका जैसा विशद वर्णन मिलता है, जिसकी उच्चतासे पाश्चात्य विद्वान् भी गद्गद् हो जाते है, वेदोंमें वैसा ही व्यापक और तेजस्वी वर्णन इन्द्रका, आलङ्कारिक रूपमें, किया गया है। प्रायः इन्द्रके आध्यात्मिक रूपको न जानकर लोगोंने इन्द्रके सम्बन्धमें बड़ी विकृत कल्पनाओंकी सृष्टि कर डाली है।

इन्द्र सोम पान करता है। वह सोमसुत है। यज्ञका देवता है। यज्ञोंमें सोम पीता है। शरीरस्थ विधानोंकी पूर्ति एक यज्ञ है। कृष्णने कहा है—

"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर।" (गी० ८।४)

इस देहमें व्याप्त आत्मा ही अधियज्ञ है। देहस्थ समस्त कर्मोंके द्वारा आत्माकी ही उपासना की जाती है। आत्माके लिये ही सब कर्म होते हैं। इस यज्ञमें सोम क्या है और उसका भाग इन्द्रको कैसे पहुंचता है?

वैदिक परिभाषामें ब्रह्माण्ड स्वर्ग है। इन्द्रकी इन्द्रिय-शक्तिका निवास ब्रह्माण्ड (Cerebrum) में ही रहता है। यहीं सब इन्द्रियोंके केन्द्र है, जहाँसे इन्द्र प्राणोंका संचालन करता है। बाह्य संस्पर्शोंके आदान-प्रदानकी शक्तियाँ (Sensory and motor Junctions) प्राण हैं। उनका नियन्ता इन्द्र, ब्रह्माण्ड या स्वर्गका अधिपति है। वह इन्द्र सोम पीकर अमृतत्व लाभ करता है। यह सोम क्या वस्तु है?

कोई सोमको एक बाह्य वनस्पति-लता या वल्ली समझते हैं और उससे अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। किसी एक वल्लीको, सोम मानकर बैठ जाना, सोमके विराट् अर्थको पंगु कर देना है। सोम भौतिक रूपमें एक लता भी हो, इससे हमें विवाद नहीं है; पर कहना यह है कि, विशुद्ध वैदिक परिभाषामें सोमका अर्थ बहुत व्यापक है। समस्त लताएँ, वनस्पतियाँ और अन्न सामग्रीका नाम सोम है। शतपथके अनुसार अन्न सोम है—

"अन्नं वै सोमः" (शतपथ ३।९।१।८)

इस अन्नके पाचनसे जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह भी सोम है। शतपथ, कौषीतकी, तांड्य आदि ब्राह्मणोंमें लिखा है कि, प्राणका नाम सोम है। अन्न खानेके अनन्तर, स्थूल भागके परिवर्तनसे, जो सूक्ष्म विद्युत् स्वरूपवाली शक्ति देहमें उत्पन्न होती है, उसकी संज्ञा प्राण है; वही सोम है। और भी शक्तिका सबसे विशुद्ध और सात धातुओंके द्वारा चुलाया हुआ उत्कृष्ट सार वीर्य या रेत है। वह भी सोम है। इसलिये सभी ब्राह्मणकारोंने लिखा है—

"रेतो वै सोमः।" (शतपथ १।९।२।९)

ब्रह्माण्ड या मस्तिष्कको शक्ति देनेके लिये इस सोम या रेतसे बढ़कर और दिव्य पदार्थ नहीं है। रेत जलका परिणमित रूप है। पृथिवीस्थ जल, सूर्य-तापसे, द्युलोकगामी बनता है। इसी प्रकार तपके द्वारा स्वाधिष्ठान-चक्रके क्षेत्रमें स्थित जल-शक्ति, ब्रह्माण्ड, मस्तिष्क या स्वर्गमें पहुँचती है। वहाँ दिविषद् होकर ही सोम या रेत समस्त शरीर, प्राणों इन्द्रियोंका प्रीणन करता है। इन्द्रको यही सोम अतिशय प्रिय है। इसीका नाम अमृत है। वीर्य-रूपी सोम की रक्षा अमरत्व देती है, उसका क्षय ही मृत्यु है। सोमकी कलाओंकी वृद्धिसे अमृतकी वृद्धि होती है। उन कलाओंके ह्राससे शरीर क्षय (Catalysis) की ओर उन्मुख होता है। चन्द्रमाके घटने-बढ़नेकी पौराणिक कथामें इसी तत्त्वका संकेत है। देवता अपने सोमका संबर्धन करते हैं, असुर उसका पान कर जाते हैं। आयुके जिस भागमें सोमकी वृद्धि हो, वह शुक्लपक्ष [Anabolic period] है। जिस भागमें सोम क्षयोन्मुख हो, वह कृष्णपक्ष [Catalytic period] है। इन्हीं दो भागोंसे मनुष्यायु, क्या समस्त प्रकृति बनी है। कभी वृद्धि होती है, कभी ह्रास होता है। समस्त जीव, पशु, वनस्पति, अमृत और मृत्युके इस चक्रमें पड़े हुए हैं। वनस्पतियोंकी सोमवृद्धि और सोमक्षय प्राकृतिक विधानके अनुकूल होते हैं। पर मनुष्य अनेक प्रकारसे प्रकृतिका विरोध करता है। वह सचेतन और सज्ञान प्राणी है। ऋषियोंने सोमको जीवनका मूल प्राण जानकर उसीकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये अनेक प्रकारसे उपदेश दिया है। सोमका संबर्धन ही ब्रह्मचर्यकी सिद्धि है। वस्तुतः आत्माको जाननेके लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य साधन है। 'आत्माकी सत्ताको मानकर भी जो व्यभिचार करता है, वह मानो सूर्यके सामने अंधकारका अस्तित्व स्वीकार करता है (महात्मा गान्धी)।' वनों और आश्रमोंमें रहनेवाले ऋषियोंने आत्मज्ञानके लिये कहा है—

"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।"

अर्थात् यह आत्मा सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और नित्य ब्रह्मचर्यसे ही मिल सकती है। और भी, जिन महर्षियोंने, पूर्व कल्पमें, ध्यान-योगके द्वारा यह संकल्प किया कि, समस्त प्राणियोंका भद्र या कल्याण हो, उन्होंने भी पहले तप और दीक्षाका आश्रय लिया। तभी सब कुछ, राष्ट्र-बल, ओज आदिकी उत्पत्ति हुई—

"भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।"
(अथर्व १९।४१।१)

उन आश्रमस्थ ऋषियोंके अतिरिक्त शरीरमें भी सप्तर्षि हैं। ये सप्तर्षि सात शीर्षण्य प्राण हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्ने इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रखा है—

"प्राणा वा ऋषयः।" (बृहदारण्यक उ० २।२।३)

सप्त प्राण ही सप्तर्षि हैं; और, आगे चलकर इन सातोंके नाम भी स्पष्ट कर दिये हैं। गौतम और भरद्वाज=दो कान, विश्वामित्र और जमदग्नि=दो आँख, वशिष्ठ और कश्यप=दो घ्राण-रन्ध्र, अत्रि=वाक्। ये सातों ऋषि ऊपर अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क (Cerebrum or higher brain) का हाल जानते हैं। तदभिज्ञ होकर ये पहले तप करने लगे। उत्पन्न होते ही इन्द्रियोंमें दीक्षा और तपका भाव रहता है, उनकी वृत्तियाँ ऋषियोंके समान पवित्र और संयत रहती हैं। तभी बल, ओज आता है और राष्ट्रकी उत्पत्ति होती है। वैसा शरीर-राष्ट्र, जिसमें सचमुच प्रजाएँ, बिना विद्रोहके, आत्माको सम्राट् मान कर बसती हैं, बाल्यावस्थामें स्वतः रहता है। समझ आनेपर

इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल होने लगती हैं। तभी राष्ट्रमें विद्रोह पैदा होता है। उसमें समन्वय स्थापित करनेके लिये सप्तर्षियोंने स्वेच्छासे दीक्षित होकर तपका आश्रय लिया। तपसे ही राष्ट्रोंका जन्म होता है; भोगसे राष्ट्र अस्त हो जाते हैं; चाहे शरीर-रूपी राष्ट्र हो, चाहे विराट् रूपमें देश-व्यापी राष्ट्र हो। वह तप प्रत्येक व्यक्तिमें आना चाहिये—इसीका संकल्प ऊपरके मंत्रमें है।

इस प्रकार विधिपूर्वक किये हुए तप या ब्रह्मचर्य-से, आयुके प्रथम आश्रममें, वीर्यका संरक्षण करना इस मानवी जीवनकी एक बहुत बड़ी विजय और सिद्धि है। वही एक मूल मंत्र है, जिसके सम्यक् सिद्ध करने-से जीवन सफल हो सकता है। यह अवसर भी कई बार प्राप्त नहीं होता। प्रथम आश्रममें भूल हो जानेसे उसका प्रतिकार फिर नहीं हो सकता। आर्य-शास्त्रों-के बहुत बड़े भागमें प्रथम आश्रमके ब्रह्मचर्यको ही सफल करनेके विधि-विधानोंका वर्णन है। इसी बीजसे समस्त शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति और विकासके अङ्कुर प्रस्फुटित होते हैं। "कुमारसंभव"की यह पंक्ति कितनी तेजोमयी है, जिसमें ब्रह्मचारीका वेष धारण किये हुए शिवने तप करती हुई पार्वतीसे कहा है—

"ममापि पूर्वाश्रमसंचितं तपः।"

अर्थात् आयुके पहले आश्रममें संचित तप मेरे पास है। हे पार्वती, तुम चाहो, तो उसके प्रभावसे अपने मनोरथको पूरा कर लो। आज कितने युवक, साहसके साथ, इस प्रकारकी घोषणा कर सकते हैं—

"ममापि पूर्वाश्रमसंचित तपः।"

यह तप इन्द्रियोंके लिये स्वेच्छासे करनेकी वस्तु है। मंत्रमें इसी व्यापक नियमका ओर संकेत है। ऋषियोंने भद्रकी कामनासे, स्वयं ही अपने आपको, तपमें दीक्षित किया। बाह्य निरोधसे, तपःप्रवृत्ति अत्यन्त दुष्कर है। यदि उस प्रकारका नियंत्रण किया भी जाता है, तो भी उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर उच्छृंखलताको जन्म देती है।

इस प्रकार इन्द्रके सोम-पानमें भारतीय ब्रह्मचर्य-शास्त्रका समस्त तत्त्व समाया हुआ है। शरीरकी शक्तिको शरीरमें ही पचा लेनेके रहस्यका नाम सोम-पान है। यह शक्ति अनेक प्रकारकी है। स्थूल भौतिक सोम शुक्र है, जिसके द्युम्न या तेजसे रोम-रोम चमक उठता है। रेतके भस्म होनेसे जो कान्ति उत्पन्न होती है, उसका नाम भस्म है। उस प्रकारकी भस्मका रमाना सबको आवश्यक है। शिव परम योगी हैं, उन्होंने अखण्ड उर्ध्वरेता बननेके लिये कामको ही भस्म कर दिया है। इसलिये उनके सदृश कान्तिमती, भस्मसे भासित, तनु और किसीका नहीं है। वह शिव घट-घट-व्यापी है। प्रत्येक व्यक्तिके ब्रह्माण्डरूपी कैलासमें शिवका वास है। मस्तिष्कको इस शिवात्मक शक्तिको यदि इस प्रकार प्रबोधित किया जाय कि, उसमेंसे कामभावना (Sex-instinct) बिल्कुल तिरोहित हो जाय, तो वही फल प्राप्त होता है, जो इन्द्रके सोम-पान करनेसे सिद्ध होता है। एक ही महार्घ तत्त्वका द्विविध रूपमें कहा गया है। शिवजी कामको भस्म करके षट्चक्रोंकी शक्ति, पार्वतीसे विवाह करते है अर्थात् उसे देहमें ही संचित कर लेते हैं। इन्द्र या ब्रह्माण्डस्थित महाप्राणाधिपति देवता शरीरके रेतके सूक्ष्म पावक ओज नामक सोम-का पान करके अमृतत्वकी वृद्धि करता है। वैदिक परिभाषाओंकी व्यापकताको जाननेवाले विद्वानोंके लिये इस प्रकारके कल्पना-भेदोंका तारतम्य बहुत सुगम है।

इसी तत्त्वका वर्णन गायत्रीके सोमाहरणकी

कथामें है। ऐतरेय-ब्राह्मणमें इस विद्याका विस्तृत वर्णन है कि, किस प्रकार गायत्रीने सुपर्ण बनकर स्वर्गकी यात्रा की और वहाँसे सोमका आहरण किया। गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती—जीवनके तीन भागोंके नाम अनेक बार वेदों और ब्राह्मणोंमें दिये गये हैं।

गायत्री—ब्रह्मचर्यकालीन आयुका वसन्त समय, त्रिष्टुप्—यौवन-आयुका ग्रीष्मकाल। जगती—जरा-आयुका शरत्काल। संवत्सरमें जो ऋतुओंका क्रम है, वही मनुष्यायुमें वृद्धि, यौवन और परिहाणिका स्वाभाविक क्रम है। मनुष्यकी आयु एक सत्र (Session) है, संवत्सर उसका प्रतिनिधि-रूप भाग है। सृष्टि, स्थिति और प्रलयका जो क्रम ब्रह्माण्ड या विराट् काल या संवत्सरमें है, वही मनुष्यकी आयुमें है। प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायं कालके तीन भागोंमें वही चक्र प्रतिदिन हमारे सामने घूम जाता है। प्रकृति जो कुछ विराट् पैमानेसे कल्प-कल्पमें करती है, उसे ही हमारे समक्ष नित्य प्रयुक्त करके प्रदर्शित करती है। वस्तुतः इस जगत्में कोई परमाणु ऐसा नहीं है, जिसमें सर्ग, स्थिति और प्रलयका अलंघ्य नियम दृष्टि-गोचर न होता हो। ये ही यज्ञके तीन सवन हैं—प्रातः, माध्यन्दिन और सायं। यज्ञके सवनोंकी संज्ञाएँ सर्ग, स्थिति, नाशके ही नामान्तर हैं। ये ही विष्णुके तीन चरण हैं, जिन्होंने त्रिलोकीके समस्त पदार्थोंको परिच्छिन्न कर लिया है। वेदके "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं" मंत्रमें एक अत्यन्त व्यापक और सरलतामें अनुपमेय वैज्ञानिक नियमका वर्णन है। सूर्य प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायं कालके तीन पदों द्वारा अपना प्रकाश फैलाकर अस्त हो जाता है। यही हाल आत्माका है। बाल्य, यौवन और जराके सौ वर्ष पूरे करके, आत्मरूपी सूर्य, लोकान्तरमें चला जाता है। मृत्यु विनाशका नाम नहीं है। वह सूर्यके समान अदर्शन मात्र है। जिसने आत्माको जान लिया है, वह जरामर्यके चक्र और आत्माकी उससे श्रेष्ठताको भली भाँति जान लेता है। इसी लिये "ऐतरेय-ब्राह्मण"ने बिलकुल निर्भ्रान्त शब्दोंमें आत्माके अमृतत्वका निदर्शन, सूर्यकी उपमाके रूपसे, किया है—

"स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेति इति मन्यते रात्रेरेव तदंतमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते ऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्रीं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचति एतस्य ह सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेद य एवं वेद।" (ऐ० ब्रा० ३।४४) अर्थात् आयुर्यज्ञकी समाप्ति तृतीय सवन या जरामें होती है। उसके बाद आयुका अग्निष्टोम या सूर्य छिप जाता है। पर यह अस्त होना एक उपाधि मात्र है। मत समझो कि, सूर्य वस्तुतः कभी अस्त या उदयकी उपाधियोंसे ग्रसित होता है। सूर्य सतत प्रकाश-रूप है। यह सूर्य ही आत्मा है। आत्मा एक शरीरसे अस्त होकर दूसरे शरीरमें उदित होती है। जो यहाँ तृतीय सवन है, उसीकी सन्धिपर प्रातःसवन रखा हुआ है। संध्याकालका ही उत्तराधिकारी लोकान्तरमें प्रातः सवन है। इसी तरह दूसरे लोकमें जो मृत्यु या आयूरूपी दिवसका अवसान है, वही हमारे मर्त्यलोकमें आत्मसूर्यका उदय या जन्म है। मत समझो कि, आत्माका कभी निम्लोचन हो सकता है। इस प्रकार अग्निष्टोम यज्ञके बहानेसे जो मनुष्य जन्म और मृत्युके रहस्यको जान लेता है, वही आत्मसूर्यके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता

है। जीवन और मृत्युके नाटकका अभिनय सूर्य नित्य हमारे सामने करता है। उसीका ज्ञान अग्निष्टोम यज्ञके द्वारा प्रत्यक्ष कराया जाता है। अतीन्द्रिय रहस्यों और नियमोंको विज्ञानकी रीतिसे प्रयोग-गम्य [practical demonstration] करनेका कौशल, भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त, अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता।

इस तरह आयुके तीन भागोंका जो स्वाभाविक क्रम है, उसके साथ-साथ चलनेसे जीवन-यज्ञ आनन्द-के साथ समाप्त होता है। यज्ञका बीचमें खण्डित होना आसुरी है। तीनों भागोंका आवश्यक महत्त्व है। किसी भी भागमें अनियम करनेसे यजमान मृत्युके उन्मुख होता है। जीवनका पूर्व भाग, जिसकी संज्ञा गायत्री है, सारे वैभवका मूल है। उसकी सफलता ब्रह्मचर्यकी सिद्धि है। इस कलाका नाम गायत्रीका सोमाहरण है। पूर्व आश्रमका संगीत (Rhythm) गायत्री छन्द है। वह सुपर्ण गरुत्मा बनकर स्वर्गसे सोमरूप अमृत लाता है। वीर्य या रेतके सूक्ष्माति-सूक्ष्म पवित्र अंशकी संज्ञा सोम है, उसका निवास मस्तिष्कमें रहता है। वही मस्तिष्कके कोषोंको रस [Ventricular fluid] बनकर स्वास्थ्य देता है। पहले आश्रममें धारण किये हुए ब्रह्मचर्य-व्रतसे ही सोमका लाना संभव है। इसी लिये कथामें कहा है कि, त्रिष्टुप् और जगती सोम लानेके लिये उड़े; पर स्वर्गतक न जाकर बीचसे ही लौट आये। तात्पर्य यह है कि, यौवन और बुढ़ापेमें भी ब्रह्मचर्यकी आवश्य-कताके प्रति सचेत होनेसे लाभ होता है; पर जो लाभ प्रथम आश्रममें ही जागरूक रहनेसे होता है, वह फिर बादमें संभव नहीं।

आर्य-शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे एक ही तत्त्वका वर्णन और उपदेश किया जाता है। शिवका मदन-दहन, गायत्रीका सोमाहरण और इन्द्रका सोम-पान, ये तीनों बातें मूलमें एक ही रहस्यका संकेत करती हैं।

वेदोंमें इन्द्रके सोम पीनेके सम्बन्धमें अनेक सूक्त हैं। इन्द्र सोम पीनेके कारण अन्य देवोंपर साम्राज्य करता है। विना इन्द्रके अन्य देव मूर्छित या अनाथ रहते हैं। पाणिनिके अनुसार भी इन्द्र-रूप आत्माकी शक्तिसे शक्तिमान् होनेके कारण ही इन्द्रियोंका नाम चरितार्थ होता है। इन्द्र शतक्रतु है। प्रसिद्ध है कि, सौ यज्ञ करनेसे इन्द्र पदकी प्राप्ति होती है। इसका क्या अभिप्राय है? बात यह है कि, मनुष्यकी देहमें आत्मा श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। वह शतवीर्य या शतक्रतु है। अन्य सब इन्द्रियोंका तेज आत्म-तेजसे घटकर रहता है। इसलिये ईशोपनिषद्में कहा है—

"नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्"

देवता इन्द्रियाँ जन्मसे लेकर अपनी यात्रा आरम्भ कर देती हैं। वे अपने-अपने रास्तोंमें दौड़ने लगती हैं। परन्तु जिस समय आत्माको ज्ञान होता है, उस समय पहले भागी हुई इन्द्रियाँ बहुत पीछे छूट जाती हैं। कोई व्यक्ति कितना ही कामी क्यों न रहा हो; उसने अपनी काम-वृत्तिको चाहे जितनी स्वच्छन्द छूट दी हो; पर जिस समय भी आत्माका अनुभव हो जाता है, काम-वासना बहुत पीछे रह जाती है। तुलसीदासजीके जीवनमें यही हुआ। पहलेसे भागते हुए देव अनेजत् निष्कम्प इन्द्रका मुकाबिला नहीं कर सकते। यही इन्द्रकी शतवीर्यता है। आत्मा अनन्तवीर्य है। उसकी अपेक्षा देहमें सब इन्द्रियाँ हीन हैं। कोई अन्यवृत्ति निन्यानबेसे आगे नहीं जा सकती; इसी लिये पुराणोंका वर्णन है कि, स्वर्गकी अभिलाषासे अनेक राजा लोग निन्यानबे यज्ञ ही कर पाये; कोई भी शतक्रतु न बन सका। कालिदासने ठीक ही कहा है—

"तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः।"

(रघुवंश)

शतक्रतु तो केवल इन्द्र या आत्मा ही है। यह सृष्टिका अलङ्घ्य विधान है कि, इन्द्रके अतिरिक्त अन्य कोई देव शतवीर्य नहीं बन सकता। अध्यात्म-पक्षमें इन्द्र आत्मा है। वह सब इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। अधिभूत अर्थमें इन्द्र राजा है। राज्य-संचालनके अधिकारसे अधिकृत अन्य कोई भी अधिकारी शतक्रतु नहीं हो सकता। इसकी कल्पना ही असत्य है। यदि वह ऐसा दावा करता है, तो मानो राष्ट्रके भीतर अन्य राष्ट्र [State within the State] की सृष्टि हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक संगठनमें इन्द्रकी शतक्रतुता अक्षण्ण रहनी चाहिये। इस देहमें देवोंकी सभा है। शरीरको देव-संसद् या देव-ग्राम भी कहते हैं।

ऐतेरेय-आरण्यकने विस्तृत रूपमें देवता और उनके शरीरस्थ प्रतिनिधियोंका वर्णन किया है। देव ही विराट् सृष्टिका कार्य करते हैं। भौतिक विज्ञान [Physical Science] में जिन शक्तियोंका अध्ययन किया जाता है, प्रकृतिको चलानेवाले वे ही देव हैं। Light, Heat, Sound, Electricity, Magnetism, Ether आदि शक्तिके विविध अवतारोंसे सृष्टि-प्रक्रिया गतिशील है। मनुष्य देहको भी ये ही शक्तियाँ चला रही हैं। मनुष्यके वाम और दक्षिण भागोंमें ऋण और धन विद्युत्का इतना सुन्दर संयोग है कि, उसे देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। वैदिक परिभाषामें इन्हीं दिव्य गुणवाली शक्तियोंको देव कहा गया है। उपनिषदों और ब्राह्मणोंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेवालोंसे देवोंका यह वैज्ञानिक स्वरूप छिपा नहीं रह सकता। परिभाषा-भेदोंके कारण आर्ष-विज्ञान-शास्त्र तिरोहितसा प्रतीत होता है, पर जिसने एक बार अर्वाचीन पश्चिमीय विज्ञान और प्राचीन आर्ष-विज्ञानके मूलमें छिपी हुई एकताको पहचान लिया है, उसे इन शास्त्रोंमें विलक्षण ही एक आनन्दकी उपलब्धि होती है। ऐतेरेय-आरण्यकके ही एक भाग ऐतरेय उपनिषद्में विविध देव-शक्तियों [Cosmic powers] के शरीरमें निवास करनेका इस प्रकार वर्णन है—

'अग्नि वाक् होकर मुखमें आयी, वायु प्राण-रूपसे नासिकामें ठहरी; आदित्य चक्षु होकर नेत्रोंमें स्थित हुआ; दिशाएँ श्रोत्र होकर कानोंमें प्रविष्ट हुईं; औषधि—वनस्पतियाँ लोम-रूपसे त्वचामें प्रविष्ट हुईं; चन्द्रमा मनोरूपसे हृदयमें स्थित हुआ; मृत्यु अपानके रूपमें, नाभि-देशमें, स्थित हुई; जल रेत बनकर गुह्य प्रदेशमें ठहरा।'

बाह्य विराट् प्रकृतिके अनुकूल और अनुसार ही पार्थिव शरीरके संगठित होनेका यह बहुत यथार्थ वर्णन है।

देवोंका ही नामान्तर लोक-पाल है और जिन इन्द्रिय-द्वारोंमें उन्होंने वास किया, उनका नाम लोक है। इन लोकों और लोक-पालोंको रचनेके बाद उस आत्म-सम्राट्के मनमें तीन प्रश्न उत्पन्न हुए। उसने सोचा, मेरे विना यह सब ठाट चलेगा कैसे? उसने सोचा, सब तो अपने मार्गोंसे चले गये, मैं किधरसे जाऊँ? उसने सोचा, यदि सब देव स्वतन्त्र होकर अपना-अपना काम कर ले गये, तो मैं कौन ठहरा, मेरी क्या महिमा रही? 'अथ कोऽहमिति?'—यह सोचकर वह अन्य किसी देवके मार्गसे न आकर स्वयं विदृति नामक एक नया द्वार कल्पित करके इस नर-देहमें प्रविष्ट हुआ। उसने आकर चारो ओर देखा और कहा—यहाँ

अपनेसे दूसरा किसे कहें ? उसने ब्रह्मको ही चारो ओर फैला हुआ देखा। इस प्रकार जिसने देखा, वह इन्द्र कहलाया।

इस कथाके द्वारा शरीरमें प्राणोंके विविध रूपोंका वर्णन करके इन्द्र या आत्माके अखण्ड आधिपत्य या ऐश्वर्य [Absolute sovereignty] का वर्णन है। विविध देव या लोकपाल एक प्राणके ही अनेक रूप हैं। उस प्राणसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ इन्द्र हैं। प्राणकी सहायतासे इन्द्र सब काम करता है या यों कहें कि, इन्द्रके ही आश्रयसे प्राणमें प्राण-शक्ति है। प्राण ही विश्व-व्यापिनी शक्ति है। प्रत्येक पदार्थके मूलमें शक्तिके सूक्ष्म रूपकी वैदिक संज्ञा प्राण है। यह महाविद्युत् चराचरका अन्तिम रूप है। अर्वाचीन विज्ञान प्राणके ही नाना रूपोंका अनुसन्धान करनेमें व्यस्त है। वैज्ञानिक कहते हैं कि, भिन्न पदार्थों के मूलमें विद्युत् [Electricity] है। शब्द, ताप, प्रकाश आदि उसीके रूप हैं। यह विद्युत् प्राण है। विद्युत् मूलमें द्वैत-सम्पन्न है। वैज्ञानिक शब्दोंमें, उसे ऋण और धन [Negative-Positive] कहा जाता है। उसीके अनेक वैदिक नाम हैं

धन	ऋण
[Positive]	[Negative]
Proton	Electron
पुरुष	स्त्री
ब्रह्म	क्षत्र
ज्ञान	कर्म
ऋक्	यजुष्
अन्नाद	अन्न
अमृत	मर्त्य
सत्	असत्
अहः	रात्रि
प्राण	अपान
अग्नि	सोम
मित्र	वरुण
बृहस्पति	इन्द्र
गायत्री	त्रिष्टुप्
रथन्तर	बृहत्
प्राण	वाक्
अनिरुक्त	निरुक्त आदि आदि।

इस प्रकारके ब्रह्माण्ड-व्यापी द्वैतमें विशिष्ट प्राण सब पार्थिव या भौतिक पदार्थोंका आदि मूल है। परन्तु उस महाप्राणको ही सर्वोपरि चैतन्य मान बैठना भूल है। असुर या भौतिक प्रकृतिकी उपासना करनेवाले [Materialists] लोग प्राण-को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति मान लेते हैं। आज वैज्ञानिक संसारमें यही हो रहा है। प्राण या विद्युत्से प्रशस्यतर सत्ताकी उपासना विज्ञानको इष्ट नहीं है। वैदिक अध्यात्म-शास्त्रमें प्राणके भी प्राण चैतन्य-का अनुभव कर लिया गया था। वेदों और ब्राह्मणोंमें सर्वत्र उस आत्म-तत्त्वकी महिमाका बखान है, जिसके प्रतापसे प्राण और अपानका कार्य सम्भव होता है:—

> "यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥"
> (केनोपनिषद्)

केवल जड़ प्रकृतिकी मूल शक्ति या विद्युत्की ही पूजा करनेवालोंको यह उपदेश है कि, सृष्टि और प्रकृतिका मूल कारण, जिसकी तुम खोजमें हो, वह प्राण नहीं है, बल्कि इस प्राणको भी प्राणित करनेवाला ब्रह्म है।

इसी दुर्द्धर्ष सिद्धान्तकी घोषणा ऋग्वेदके 'स जनास इन्द्रः' नामक सूक्तमें [मण्डल २,

सूक्त १२] गृत्समद ऋषिने की है। यह सूक्त बहुत ही महिमाशाली है। असुर सदा इन्द्रकी खोजमें रहते थे। एक बार इन्द्र गृत्समदके यज्ञमें गये। यह समाचार सुनकर असुरोंने गृत्समदका घर घेर लिया। इन्द्र यह हाल जानकर गृत्समदका वेष बनाकर वहाँसे निकल गये। असुरोंने गृत्समद समझकर उन्हें जाने दिया। थोड़ी देरमें असली गृत्समद भी निकले। तब असुरोंने उन्हें पकड़ा। गृत्समदके बहुत कहनेपर भी असुर यही समझे कि, यही इन्द्र है, जो कपट वेष बनाकर निकल जाना चाहता है। इसपर गृत्समदने एक सूक्त गाया, जिसमें कहा—'सज्जनो, मैं इन्द्र नहीं हूँ, इन्द्र तो वह है, जिसने अमुक प्रकारके पराक्रम किये हैं। जिसने द्यावापृथिवीको स्तम्भित कर दिया, जिसने उत्पन्न होते ही सब देवोंको क्रतु या शक्ति-सम्पन्न बना दिया, जिसने अहि वृत्रका संहार करके सप्त सिन्धुओंके मार्गोंको उन्मुक्त किया, जिसके विना मनुष्योंकी विजय नहीं होती, जिसने सोमका पान किया, जो अच्युत है, जिसने शम्बर आदि असुरोंका नाश किया है, सज्जनो, इन्द्र तो वह है, मैं इन्द्र नहीं हूँ। "स जनास इन्द्रः।"

इस सूक्तका गृत्समद ऋषि कौन है? ऐतरेय आरण्यकने इस समस्त सूक्तको समझनेकी कुंजी दी है। उसके अनुसार गृत्समद प्राणका नाम है। गृत्समद शब्दमें गृत्स नाम प्राणका और मद नाम अपानका है। गृत्समद प्राणापानका संयुक्त रूप महाप्राण है। वह स्वयं कहता है—मैं आत्मा या इन्द्र नहीं हूँ। यद्यपि मेरी शक्ति भी अवर्णनीय है; पर इन्द्र मुझसे भी बड़ा है। इन्द्रके पराक्रम विश्व-विदित हैं, उसके प्रतापको जाननेवाला पुरुष गृत्समदको इन्द्र अर्थात् प्राणको आत्मा समझ लेनेकी भूल नहीं कर सकता।

ऊपरके सूक्तमें इन्द्रको एक स्थानपर सप्तरश्मि, तुविष्मान् अर्थात् बलवान्, वृषभ कहा गया है। शरीरके सात प्राण ही सप्त रश्मियाँ हैं। ये ही सप्त अर्चियाँ, सप्त होम, सप्त लोक, ये ही सप्त समिधाएँ और सप्तर्षि हैं [मुण्डक उपनिषद् २।१।८ तथा यजुः ३४।५५]। ये ही आत्माकी सात परिधियाँ हैं। शरीरके भीतर रखी हुई अग्निकी ये सात चितियाँ हैं। द्युलोक [Cerebrum], अन्तरिक्ष [Medula Oblougata region] और पृथिवी [Spinal Cord] में बँटकर ये सात अर्चियाँ या समिधाएँ सप्तत्रिक इक्कीस प्रकारकी हो जाती हैं। वेदोंमें त्रिःसप्तसंख्याका अनेक स्थानोंमें वर्णन है। उसका अभिप्राय इन्हीं सप्त प्राणोंकी पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाशमें फैली हुई तीन प्रकारकी शक्तियोंसे है। ये तीन लोक शरीरस्थ केन्द्रीय नाड़ीजाल [Central nervous system] के ही विभाग हैं। सुषुम्णाके ३३ पर्व पृथिवी-लोक हैं, ऊर्द्ध्व मस्तिष्क द्युलोक या स्वर्ग है, उनके बीचका भाग [Spinal Bulb] ही अन्तरिक्ष है। षट्चक्रोंकी सब चेतनाएँ और संज्ञाएँ अन्तरिक्षमें होकर ही मस्तिष्कमें पहुँचती हैं, जहाँसे सातों प्राणोंका नियमन होता है। नाभिसे नीचे जंघाएँ, पैर आदि पाताल लोक हैं। वहाँ अन्धकार रहता है, ज्ञान या आलोकमय देव तो स्वर्ग या मस्तिष्कमें बसते हैं।

इन्द्र या आत्मा सातों प्राणोंका नियामक है। आत्म-ज्ञानके लिये सप्त इन्द्रिय-द्वारोंका संयम परम आवश्यक है। महाभारतकी कथाके अनुसार काशीराजकी पुत्री सत्याके विवाहकी शर्त सात बैलोंका नापना था! कृष्णने उन्हें एक रस्सीमें नाँथ कर सत्याको पाया था। इस कथामें इन्द्रके सप्तरश्मि

वृषभत्वका ही संकेत है। इन्द्रमें ही यह सामर्थ्य है कि, अपनी-अपनी तरफ रस्सी तुड़ाकर भागनेवाले इन सातों प्राणोंको एक रश्मिमें नाँथकर उन्हें अपने शासनमें चलाता है। ऋग्वेदमें इन्द्र-मरुत्-संवाद-सूक्तमें सात मरुत् भी यही सप्त प्राण हैं, जो इन्द्रकी सहायता करनेका वचन देते हैं और उनके बलको अनुकूल पाकर इन्द्र वृत्रादि असुरोंको वशमें करता है।

वेदों, ब्राह्मणों और पुराणोंमें इन्द्रके देवासुर-संग्रामका बहुत वर्णन है। निरुक्ताचार्य यास्कने आध्यात्मिक तत्त्वोंको देवासुर संग्रामके-वर्णन द्वारा समझानेकी शैलीको इतिहास कहा है। वस्तुतः आधुनिक इतिहासके रूढ़ि अर्थमें देवासुर-संग्राम कोई घटना कभी नहीं हुई। यह तो शाश्वत संग्राम है, जो सहस्रों बार हो चुका है और प्रतिक्षण निरन्तर होता रहता है। प्रत्येक व्यक्तिकी दैवी और आसुरी वृत्तियोंमें संघर्ष चला ही जाता है। प्राण ही देव और प्राण ही असुर हैं। प्राणकी ही भली-बुरी वृत्तियाँ दैवी और आसुरी कहलाती हैं।

"देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वयाः पुत्रा आसन् ।"

(तांड्य ब्रा० १८;१।२)

प्राण प्रजापति है ["प्राणः प्रजापतिः ।"]

[शतपथ ६।३।१।९]

उसीके रूप देवासुर हैं। जब दैवी वृत्तियोंकी विजय होती है, तब इन्द्र या आत्मा स्वर्गका अधिपति रहता है अर्थात् स्वर्ग या मस्तिष्क या बुद्धिसे संयुक्त उसका निवास रहता है। असुरोंकी विजयसे इन्द्र स्वर्ग-च्युत हो जाता है अर्थात्—आत्म-विवेकका लोप हो जाता है। शतपथ-ब्राह्मणमें आलंकारिक ढंगसे कहा है कि, प्रजापतिने अपने शरीरमें ही गर्भ धारण करके देवों और असुरोंको बनाया। देवोंके बनानेसे उजाला और असुरोंसे अंधेरा हो गया। इसीलिये अंधकारमें असुरोंका बल बढ़ता है। दिन देवोंका है, रात्रि असुरोंकी है [श० ११।१।६]।

देवता पुण्यमय थे; इसलिये वे विजयी हुए। असुर पापसे बिंधे थे; इसलिये वे हार गये अर्थात् देवासुर-संग्रामके बहानेसे पुण्य-पाप-वृत्तियोंके संघर्ष और जय-पराजयका वर्णन सर्वत्र किया जाता है। इस सम्बन्धमें शतपथ-ब्राह्मणकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ सोनेके अक्षरोंमें लिखने योग्य हैं—

"नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्। ततो ह्येवतान् प्रजापतिः पाप्मना अविध्यत् ते तत एव पराभवन् इति तस्मादेतत् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम्—न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मा येत्सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः।"

(शतपथ ११।१।६।१०)

अर्थात् इतिहास और आख्यानोंमें जो देवासुर-संग्रामकी कथाएँ लोग कहते हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। असुरोंको बनानेसे अंधेरा हो गया, तब प्रजापतिने जाना, अरे मैंने पाप बना दिया, जिससे मेरे लिये तम हो गया। बस, असुरोंको उसने पापसे बींध दिया, जिससे वे पराभूत हो गये। इसी बातको ध्यानमें रखकर ऋषिने यह बात कही है कि, 'हे इन्द्र, तुम एक भी दिन नहीं लड़े, न तुम्हारा कोई शत्रु है। तुम्हारे युद्धोंका बखान सब माया है, न आज तुम्हारा कोई शत्रु है और न पहले तुमसे लड़नेवाला अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी कोई था।'

"Illusion is what they say concerning thy battles." (Eggeling) इन्द्र मायासे अभिभूत या उपहित हो गया है; उसीसे मुक्त होनेके लिये इन्द्र या आत्माके सब प्रयत्न हैं।

वृत्र, शम्बर, नमुचि, बल, अहि, रौहिण, दानु, गोत्र आदि असुरोंके साथ इन्द्रके संग्रामोंका वर्णन करनेवाले जो इतिहास और आख्यान हैं, वे माया के वर्णनमें है। माया नाम परिच्छिन्न करनेवाला आवरण है—

माया = Finitising principle; that which envelops Indra; the veiling principle of space-time.

इस देश-काल या ऋत-सत्यके ताने-बानेने इन्द्रको आवृत कर लिया है। 'शं' अर्थात् आत्माको आवृत करनेवाला शम्बर या वृत्रासुर है। इन्द्रको जबतक अपना ज्ञान नहीं है, तभीतक वह वृत्र आदि असुरोंसे हारता रहता है। जिस क्षण इन्द्रको अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावका ज्ञान हो जाता है, वह असुरोंपर विजय पा लेता है। मायाका आवरण स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाता है। कौषीतकी उपनिषद् अर्थात् ऋग्वेदके शांखायन-आरण्यकके उपनिषद्-भागमें इसी बातको, बड़े निश्चित शब्दोंमें, कहा है—

'स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः स यदा विजज्ञावथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति।' ४।२०

अर्थात् उस इन्द्रने जबतक आत्माको नहीं जाना, तबतक असुर उसको हराते रहे। जब इन्द्रने आत्म-दर्शन कर लिया, तब उसने असुरोंको जीत लिया और वह सब भूतोंसे श्रेष्ठ बनकर स्वराज्यकी प्राप्तिसे सबका अधिपति बना। और, यह नहीं कि, पहले युगोंमें ऐसा हो गया हो। अध्यात्म-शास्त्रके नियम त्रिकालमें सत्य होते हैं। इसी लिये ऋषिने आगे कह दिया—

"तथो एव एवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद।"

अर्थात् अध्यात्म-विद्याके इन्द्र-विजयाख्य रहस्यको जाननेके बाद जो आत्मविज्ञानी बनता है, वह भी सब भूतोंमें श्रेष्ठ, ज्येष्ठ और स्वाराज्य-सम्पन्न बनता है।

आधुनिक विज्ञानमें जो स्थान देश-काल (Space-Time) का है, वही आर्य विज्ञानमें ऋत-सत्यका है। सृष्टि-प्रक्रियामें सर्व-प्रथम ऋत-सत्यका विकास होता है।

ऋत = Three dimensional space.
सत्य = Time.

इन्हींके आवरणसे सब भूत आवृत या परिच्छिन्न हैं। इन्होंने ही अनन्तको शान्त किया है। ये ही मापनेवाले या माया हैं। इन्हींके नामान्तर शान्ति और क्षोभ। (Static and Dynamic principles) हैं। ऋतके कारण देशमें वस्तुओंकी स्थिति होती है, सत्यके दबावसे कालमें उनका अग्रगामी विपरिणाम या विकास होता है। इन दोनोंसे ऊपर अनेजत् निष्कम्प इन्द्र या आत्मा है। समस्त च्युत पदार्थोंके मध्यमें आत्मा केवल अच्युत है। गृत्समद ऋषिने इन्द्रको अच्युत-च्युत कहा है। अन्यत्र भी इन्द्रको 'च्यवनं च्यावनानाम्' की उपाधि दी है। अर्थात् जो देश, काल सबको डिगा देते हैं, किसीको स्थिर नहीं रहने देते, उनको भी चलायमान करनेवाला, उनसे अतीत सत्तावाला इन्द्र है। बुद्ध भगवान्ने इन्हीं तत्त्वोंको धम्म और कम्मके नामसे पुकारा था। धम्म सबको धारण करनेवाला (Static) है, कम्म सबको आगे बढ़ाता (Dynamic) है। विश्वका प्रत्येक परमाणु ऋत सत्यसे या

मायासे उपहित है। इन्द्रका आत्मदर्शन ही उस आवरणका हटानेवाला है।

ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें इस मायाको नाम-रूप भी कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मणकी बृहदारण्यक-उपनिषद्में लिखा है—

"तत् ह इदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तत नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते। असौ नाम अयम् इदं रूपः।"

(बृ० १।४।७)

अर्थात् नाम और रूपके द्वारा अव्याकृत (Undifferentiated) ब्रह्म व्यक्त हुआ।

शतपथ-ब्राह्मणमें अन्यत्र (११।२।३) भी ब्रह्मकी व्याकृतिका नाम-रूप द्वारा विशेष वर्णन है—

"अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत कथं न्विमांल्लोकान् प्रत्यवेयामिति। तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च।"

अर्थात् ब्रह्मका त्रिपाद् अमृत या परार्ध भाग तीन लोकोंसे अतीत है। उसने सोचा—'किस प्रकार मैं इन लोकोंमें प्रविष्ट होऊँ? तब वह नाम और रूपसे इन लोकोंमें प्रविष्ट हुआ। उपनिषदोंके आधार पर लिखते हुए शंकराचार्यने सहस्रों बार इस नाम-रूपात्मक मायाके आवरणका वर्णन किया है। आत्मदर्शनसे ही इस बन्धन, परिच्छिन्नता या मायाकी ग्रन्थि शिथिल होती है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, शंकर सबके मतानुसार स्वात्मानुभाव ही सबसे बड़ी विजय या सिद्धि है। यही महती सम्प्राप्ति है। इसी सूत्रमें अनेक वर्णनों, इतिहासों, उपाख्यानों और दर्शनोंका सार है। यद्यपि वेद अनन्त हैं, पर इन्द्रने भारद्वाजको जो आत्मज्ञानका मूल मंत्र बताया था, उसके जान लेनेसे सब वेदोंके सारभूत अक्षरपद 'ओ३म्' का ज्ञान हो जाता है। तब इस अनन्ततासे मनुष्य व्यथित नहीं होता। मूल सूत्रपर अधिकृत होनेसे उसको विशेष आनन्दकी प्राप्ति होती है। अपने-अपने अनुभवको कहना सबका स्वभाव ही है। तुलसीदासजीने इसी नियमका वर्णन किया है—

"सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई, तदपि कहे बिन रहा न कोई।
राम-चरित जे सुनत अघाहीं, रस-विशेष पावा तिन नाहीं॥"

इस विश्वमें उस महान् अज्ञात यक्षको, जो अपने विराट् और अणु रूपमें प्रकट हुआ है, जान लेना अग्नि, वायु आदि देवोंके बसकी बात नहीं है। उसे तो इन्द्र ही जान सकता है। अग्निने अहंकारसे कहा—"मैं जातवेदा हूँ; चाहे जिसको जला सकता हूँ।" पर उस यक्षके दिये हुए एक तिनकेको न जला सका। वायुने कहा—"मैं मातरिश्वा हूँ, चाहे जिसको उड़ा सकता हूँ।" यक्षने उसके आगे एक तिनका रख दिया। वायुने बहुतेरा जोर लगाया; पर तिनकेको न हिला सका। यह देवोंकी शक्तिकी सीमा है। इन्द्रने ही उमा नाम्नी सात्त्विकी बुद्धिकी सहायतासे उस यक्षको जान पाया अथवा उस यक्षने इन्द्रके प्रति ही अपने रूपको विवृत किया। वह इन्द्र एक है, अपनी मायासे अनेक रूपोंवाला होकर दिखाई पड़ता है—

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।"

वह इन्द्र सुत्रामा है। उस सुत्रामन् इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये जो साधनाएँ अथवा यज्ञ किये जाते हैं, वे सौत्रामणि-यज्ञ हैं। इन्द्रियोंकी प्राण-शक्तिकी संज्ञा सुरा है। सुरा और सोम, दोनों एक ही हैं। शक्तिके ब्रह्म (Static) रूपका नाम सोम है। उसीके क्षत्र (Dynamic) रूपका नाम सुरा है। सोम और सुरा, दोनोंका अस्तित्व आवश्यक है, कुशासनपर समाधिस्थ ऋषिमें प्राणकी सोम-शक्ति है। सिंहासनस्थ प्रजा-पालनमें तत्पर राजामें प्राणकी

सुरा-शक्ति है। इन्द्रके साम्राज्यमें ज्ञान और कर्म, दोनों हैं। ब्रह्म और क्षत्रके समन्वयसे शरीर-राष्ट्रका कार्य-संचालन होता है। Legislative और Executive शक्तियोंके सामञ्जस्यसे ही राष्ट्रोंमें आनन्दकी अभिवृद्धि होती है। इसीलिये इन्द्रके साथ सोम और सुरा, दोनोंका सम्बन्ध है। सोम-क्रतुओंमें वह सोमका पान करता है। ऐतरेय-ब्राह्मणके अनुसार वाक्, प्राण, चक्षुः, मनः, श्रोत्र, आत्मा—ये सोम पीनेके ग्रह या बर्तन हैं। इन्हींके पारिभाषिक नाम ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन ग्रह हैं। इन्हींमें भर-भरकर सब लोग अपने-अपने सोमको पी रहे हैं या बिखेर रहे हैं। इन्द्र सोमको पीकर अमृतत्व लाभ करता है। सौत्रामणि यज्ञ,जो सुत्रामन् संज्ञक इन्द्रकी महिमाके लिये किया जाता है, सुरा अर्थात् क्षत्र-शक्तिके संचयका रहस्य बनाता है। राष्ट्रोंकी अभिवृद्धिके लिये जिस प्रकार ब्राह्म धर्मकी आवश्यकता है, उसी प्रकार क्षात्र धर्म भी आवश्यक है। क्षत्र-विरहित ब्रह्म अथवा ब्रह्म-विरहित क्षत्र अभिवृद्धिको प्राप्त नहीं होता (मनु)। जिस स्थितिमें ब्रह्म और क्षत्र समन्वित होकर विचरते हैं, उसी पुण्य प्रशस्य लोककी कामना आर्य ऋषियोंने की है। 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इस लोक-प्रचलित वाक्यमें ऐतरेय-ब्राह्मणमें निर्दिष्ट सौत्रामणि-यज्ञ और सुराके उत्कृष्ट मर्मकी ओर ही संकेत है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। राष्ट्र अथवा शरीरमें क्षत्र-शक्तिकी उपासना सौत्रामणि-यागानुकूल कर्म है, क्योंकि उसके द्वारा इन्द्र रक्षयित्री शक्तिसे सम्पन्न किया जाता है। एक ही अन्नसे सोम और सुरा, दोनों उत्पन्न होते हैं। सोम न हो, तो मनुष्य विवेक-शून्य होगा। सुरा न हो, तो मनुष्य निर्वीर्य होगा। समुदीर्ण असु-शक्तिका वैदिक नाम सुरा है। विना उत्कृष्ट प्राणोंके मनुष्य कर्मठ नहीं बनता। विना कर्मके वह अपना या पराया कल्याण नहीं कर सकता। जिस मनुष्यने सत्यकी खोजके लिये वैदिक वाङ्मयका परिशीलन किया है, वह सुरा और सोमके रूढ़ि अर्थोंसे भ्रममें नहीं पड़ेगा। ब्राह्मण-ग्रन्थोंने,बड़े विस्तारके साथ, वैदिक विज्ञानके सार्वभौम और सार्वकालिक रहस्योंका वर्णन किया है। जहाँतक सृष्टिका विस्तार है, वहींतक ब्रह्म-क्षत्र या सुरा-सोमका उपर्युक्त समन्वय चरितार्थ होता है। आज भी वह ध्रुव सत्य बना हुआ है। शब्दोंके भेदसे मूल वस्तुका भेद नहीं हो जाता। आज पश्चिमी विज्ञानमें क्षत्र-ब्रह्मके नामान्तर लेजिस्लेचर और एग्जीक्यूटिव हो गये हैं; पर दोनोंका मूल भाव एक ही है।

ऊपर इन्द्रके आध्यात्मिक स्वरूपका कुछ विवेचन किया गया है। ऋग्वेदके प्रायः एक-चौथाई सूक्तोंमें इन्द्रकी महिमाका वर्णन है। मन्त्र-गान करनेवाले ऋषियोंको इससे बढ़कर और आनन्द नहीं होता कि, वे अनेक प्रकारसे इन्द्रकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठताका वर्णन करते रहें। उनकी वीणासे एक ही स्वर निकलता है:—

"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"

रस-विशेषसे अनभिज्ञ जन इस रागसे ऊब जाते हैं; परन्तु 'तद्विदासभुवनेषु ज्येष्ठं' का प्रत्यक्ष करनेवालोंकी दृष्टिमें इन्द्रकी महिमाको गानेवाले संगीतसे मधुरतर संगीत विश्वमें नहीं था। धन्य इन्द्र! जहाँतक तुम गये, वहाँतक कोई देव नहीं गया, तुमने निकटतम जाकर पहले ब्रह्मको पहचाना—

"इन्द्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्, स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।"

अथर्ववेद

पं० वाराणसीप्रसाद द्विवेदी एम० ए०, एल-एल० बी०, काव्यतीर्थ, सांख्यतीर्थ
(बेटाबर, देवरिया, गाजीपुर)

अथर्ववेद वेद ही नहीं है या अर्वाचीन वेद है—यह धारणा वेदोंकी चर्चाके शौकीन हम अर्वाचीन अंग्रेजीदाँ विद्वानोंके दिमागमें इतनी सुदृढ़, प्ररूढ़ और प्रतिनिविष्ट है कि, इसे एकदम दूर कर देना दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव भी है।

एक दिन किसी पण्डित-सेवी विद्या-व्यसनी आस्तिकके घर एक संस्कृत-साहित्यके एम० ए० वेदोंके विषयमें कुछ (Buhler) बुलर, कुछ (Muller) मूलर, कुछ (Weber) वेबर और कुछ (Frazer) फ्रेजरके जोर-पर तथा कुछ अपनी मनगढ़न्तसे बड़ी लम्बी-चौड़ी डींगें मार रहे थे। वहाँ एक संस्कृतका कोरा, किन्तु अच्छा, पण्डित भी बैठा था। आस्तिकसे न रहा गया; बोले—'पण्डितजी, आप कुछ कहते क्यों नहीं ?' पण्डितने जवाब दिया—'यदि कोई शराब पीकर बड़बड़ाये, तो उसके मुँह नहीं लगा जाता।' बात बड़ी कड़वी है सही; किन्तु है बिल्कुल ठीक। हम अंग्रेजीदाँओंकी बुद्धिपर विलायती शिक्षाका कुछ ऐसा विषाक्त रंग चढ़ा हुआ है कि, हम अपने वेद-शास्त्रोंको बड़ी बुरी निगाहसे देखते हैं; इनके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं रखते। फिर हमें इस अपने इतने सुन्दर साहित्यमें आनन्द कहाँसे मिले ? और, यदि आनन्द नहीं, तो पढ़े कौन ? अगर जबर्दस्ती पढ़ें भी, तो असली बातको—खूबीको—समझें कैसे ? 'श्रद्धया लभते ज्ञानम्'—श्रद्धासे ही किसी विषयका तत्त्व समझमें आता है। जब हम अंग्रेजी (Classics) क्लैसिक्सको पढ़ने बैठते हैं, तब (Bennet) बेनेटके वाक्यको वेद-वाक्य समझकर पहले ही जीमें उनके प्रति अपार श्रद्धा कर लेते हैं कि, 'उत्तमोत्तम प्रमाणसे मुझे विदित है कि, यह सुन्दर वस्तु है; यह मुझे आनन्द देनेकी सामग्री रखती है; अतएव मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि, मैं इससे अवश्य आनन्द पाऊँगा।' (I know on the highest authority that this thing is fine; that it is capable of giving me pleasure. Hence I am determined to find pleasure in it.)

किन्तु खेद है कि, अपने साहित्यके प्रति हमारा भाव ठीक इसके प्रतिकूल है ! यदि ऐसा हो दृढ़ निश्चय और अविचल श्रद्धा हमारी, अपने वेद-शास्त्रोंकी ओर, रहती, तो इतनी शिक्षाके बाद भारत आज कबका फिर भारत हो गया होता !

मेरा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि, हमारे प्राचीन ग्रन्थोंका खण्डन-मण्डन न हो। खण्डन-मण्डन हो तो हमारे शास्त्रोंका सर्वस्व है। इसका नाम ही है शास्त्रार्थ अर्थात् शास्त्रोंका अर्थ। इससे तो हमारे शास्त्र और जगमगा उठते है, उनमें जीवन आ जाता है। किन्तु, पहले, अच्छी तरह श्रद्धा-पूर्वक, पढ़कर मनन करके, तब अपने मौलिक स्वतन्त्र विचारोंके आधारपर हमें शङ्काएँ लानी चाहिये; न कि, बिना समझे-बूझे प्रतिकूल भावनावाले विदेशी, विलायती पर-कीयोंके बहकावेमें पड़कर, उन्हींकी पुस्तकोंके आधारपर ! उनकी कुतर्कनाओंका तो हमें उचित उत्तर ही देना चाहिये।

हम वेद भगवान्की अपौरुषेयता और अनादिमत्ताको नाक सिकोड़कर अनसुनी कर देते हैं और कहते हैं कि, अथर्ववेद बहुत बादको बनाया गया ! इस कथनसे हमारा

यह तात्पर्य्य होता है कि, यही वजह है कि, अथर्ववेद वेदोंकी कोटिमें कदापि नहीं आ सकता।

किन्तु थोड़ी देरके लिये यदि इस भ्रान्त और निर्मूल दलीलको भी मान लिया जाय, तो भी अथर्ववेद उत्तर, महीयान् एवं सबसे अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है; क्योंकि यह बात सर्व-मान्य है कि, बादकी रचना पहले-पहलकी रचनासे कहीं सुधरी हुई और अच्छी होती है। श्रेष्ठ कवि (Milton) मिल्टनने इसी हेतु (Heaven) स्वर्गके मुकाबिलेमें (Earth) पृथ्वीको उत्तम ठहराया है—

"O earth, how like to Heaven, if not preferred
More justly, seat worthier of gods, as built
With second thoughts, refreshing what was old!
For what God, after better, worse would build?"

(ऐ पृथ्वि, तू क्या ही स्वर्गके समान है! यदि ईश्वरने उपयुक्त न्यायसे (जैसा चाहिये था) तुझे अपने लिये वरण नहीं किया, तो क्या? तू स्वर्गसे भी बढ़कर देवोंके लिये स्थान है; क्योंकि तेरा निर्माण पुरानी कृतिको सुधार कर पुनर्विचारसे हुआ है! क्यों न हो! परमात्मा क्या अच्छी वस्तु बनाकर फिर बुरी बनावेगा ?)

इतना ही नहीं, 'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' की भणितिको सार्थक करते हुए हम कहते हैं—'अथर्वको तो कौन पूछता है? स्वयं भगवान्‌ने ही गीतामें समस्त वेदोंका खण्डन कर दिया है—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"—अर्थात् वेदोंके विषय त्रिगुणात्मक हैं; ऐ अर्जुन, तू वेदोंकी बात छोड़; निस्त्रैगुण्य हो।'

ठीक है। इतना ही क्यों? ईश्वरकृष्णने तो सांख्यकारिकामें साफ कहा है—

'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशय-युक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान्...।"

जिस प्रकार दृष्ट (प्रत्यक्ष) उपाय दुःखोंका एकान्त तथा अत्यन्त निवारण करनेमें सर्वथा असमर्थ है, वही दशा वैदिक उपायोंकी भी है; क्योंकि उनमें तीन बड़े दोष हैं—(१) यज्ञ करनेमें अन्नादिकी हिंसा-रूपी अविशुद्धिका पाप, (२) वेद-विहित यज्ञों द्वारा पुण्य अर्जित करके स्वर्गमें जानेपर वहाँ अपनेसे भी अधिक सुख आनन्द उपभोग करनेवालोंको देख-देखकर जीमें जलन तथा (३) सञ्चित पुण्यके क्षीण होनेपर फिर मर्त्य-लोकमें आकर दुःख भोगनेका भय। वैदिक मार्गसे प्रतिकूल ज्ञान-मार्ग ही श्रेय है!

यही बात उपनिषदोंने भी कही है! खास अथर्ववेदकी उपनिषद् 'मुण्डक' कहती है—

"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।"—

'ब्रह्मज्ञानियोंने कहा है, दो विद्याएँ (१) अपरा और (२) परा जाननी चाहिये। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि अपरा विद्या हैं और परा वह है, जिससे उस अविनाशी ब्रह्मका ज्ञान होता है।'

परन्तु गीता, उपनिषद् या सांख्यमें जो ऊपर वेदकी बात लिखी है, वह केवल कर्मकाण्ड-विषयक वेदके सम्बन्धमें है। वेदोंका ज्ञान-काण्ड तो इन शास्त्रोंका स्वयं उपजीव्य है। फिर अथर्ववेद-संहितामें जितना ज्ञान-काण्ड वा ब्रह्म-विद्या है अथ च अथर्ववेदकी जितनी उपनिषदें वा वही ब्रह्म-विद्या है, उतनी किसी और वेदमें नहीं है। इस विचारसे तो अथर्ववेद और वेदोंसे ऊँचा ही ठहरता है।

अथर्ववेद मूलभूत वेद है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद केवल यज्ञों द्वारा स्वर्गके देनेवाले हैं; किन्तु अथर्ववेदमें तीनों, ऐहिक, पारत्रिक और मोक्षकी प्राप्तिकी बातें हैं—(१) मन्त्र, औषध और तरह-तरहके टोटकों एवं यन्त्रोंके प्रयोगसे इस लोकमें सर्वविध दुःख-दारिद्र्य, विघ्न-बाधा, रोग-शोकका निवारण करके कल्याणकी प्राप्ति, (२) यज्ञों द्वारा स्वर्ग-

लोकका सुख तथा (३) ब्रह्मविद्याके बलसे मोक्षकी उपलब्धि। मोक्ष देनेके कारण ही इस वेदका एक नाम है "ब्रह्मवेद।" इसमें ऋग्, यजुः, साम तीनों शामिल हैं। इसके नामान्तर "अथर्वाङ्गिरस" और "भृग्वाङ्गिरस" हैं।

ऐसे वेदको भी, लोग दुनियाँमें हैं, वेद नहीं मानते! किन्तु उनके मति-भ्रमका कुछ कारण है। वेदका एक नाम है "त्रयी" (साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि, वेदका एक प्रसिद्ध नाम "ब्रह्म" भी है)। चारो वेदोंके नाम साथ लेनेपर क्रमसे ऋग्, यजुः, साम और सबके पीछे अथर्व आता है। बस, पहले तीनोंको "त्रयी" यानी वेद मान लिया और चौथेको निकाल बाहर किया! बाहरी समझ! "त्रयी" वेदका क्यों नाम पड़ा और अथर्वका नाम अन्तमें क्यों आता है, इसके याथार्थ्यपर तनिक भी विचार करते, तो पर्दा हट जाता। व्याकरणके नियमानुसार अथर्वका नाम तो अन्तमें आवेगा ही—"अल्पाच्तरम्" (अष्टा० २।२।३४)। जिन शब्दोंमें कम स्वर रहते हैं, वे पूर्व आ ही जाते हैं। अथर्व शब्दमें सबसे अधिक स्वर हैं; इसलिये यह सबके अन्तमें रहेगा ही। इसलिये "त्रयी" के तीनकी गिनती एक तरफसे करना ठीक नहीं है। परन्तु इससे भी काम नहीं चलता। वेद तो तीन ही रहे। यदि अथर्वको इस त्रिकमें रखते हैं, तो भी एकको निकालना तो पड़ेगा ही! नहीं। "त्रयी" शब्दका अर्थ है 'ऋक्,' 'यजुः' और 'साम' नामके तीन प्रकारके मंत्रोंवाली। इसलिये प्रत्येक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चारों अलग-अलग एक एक "त्रयी" हैं; क्योंकि चारोंमें ही तीनों प्रकारके मंत्र, कम-बेश, हैं। महर्षि जैमिनिने, मीमांसा-सूत्रोंमें, बहुत साफ लिखा है—"तच्चोदकेषु मंत्राख्या" (२।१।३२), "शेषे ब्राह्मण-शब्दः" (२।१।३३), "तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" (२।१।३५), "गीतिषु सामाख्या" (२।१।३६), "शेषे यजुःशब्दः"। (२।१।३७)।

अर्थात् वेदके विधि-वाक्योंका नाम "मंत्र" है। शेष अर्थात् मंत्रोंको छोड़कर अवशिष्ट वेद-भागको 'ब्राह्मण' कहते हैं। मंत्रोंमेंसे जिनमें अर्थके वशसे चरणकी व्यवस्था है, उन्हें "ऋक्" और गीतियोंको "साम" तथा शेष मंत्रोंको "यजुः" कहा जाता है। और, ये तीनों तरहके मंत्र चारों वेदोंमें, प्रचुर संख्यामें, मौजूद हैं। फिर खास-खास नाम—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद या ब्रह्मवेद पड़नेकी वजह क्या है?

वास्तवमें वेद भगवान् अपौरुषेय, अनादि, एक हैं। मंत्रोंके रूपमें तत्-तत् ऋषियों द्वारा आविर्भूत हुए हैं। वेदव्यासने इन्हें पहले मंत्र-भाग और ब्राह्मण-भाग, दो खण्डोंमें, विभक्त किया और फिर यज्ञ-कर्मकी सुविधाके लिये एक-एकके चार भाग किये। वेदों द्वारा प्रधान व्यापार यज्ञका है और यज्ञमें (१) 'होता' अर्थात् मंत्र बोलनेवाले, (२) 'उद्गाता' अर्थात् स्वरसे गानेवाले, (३) 'अध्वर्यु' यानी यज्ञका व्यापार स्वयं करनेवाले एवं (४) 'ब्रह्मा' यानी प्रधान पुरोहित, समस्त यज्ञकार्यका सञ्चालन एवं निरीक्षण करनेवाले, इन चारोंकी आवश्यकता है। इनमेंसे यदि एक भी न रहे, तो यज्ञका कार्य सर्वथा असम्भव है। इसलिये इन चार पृथक् पुरोहितोंके निमित्त व्यासजीने 'मंत्रों' को अलग-अलग चार "संहिताओंमें" बाँट दिया। 'होता' को खास कर ऋचाएँ, 'उद्गाता' को साम-गान, 'अध्वर्यु' को यजुर्मन्त्र तथा 'ब्रह्मा' को साधारणतः सभी प्रकारके मंत्र या 'ब्रह्म' एवं विशेषतः निरीक्षकताके उपयुक्त समस्त विधि-विधानका ज्ञान होना चाहिये। अत एव द्वैपायनने एक स्थानमें विशेष ऋचाएँ, दूसरेमें विशेषकर साम-गान, तीसरे में यजुर्मन्त्र तथा चौथेमें समस्त ऐहिकामुष्मिक फलवाले "ब्रह्म" मंत्रोंको एकत्र कर दिया और तत्तन्मंत्रोंकी प्रधानता और बहुलताके कारण क्रमशः उनका नाम ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद या ब्रह्मवेद पड़ा। इस प्रकार इस वेद-चतुष्टयीका नाम 'वेद', 'त्रयी', 'ब्रह्म' और 'ऋग्यजुःसाम' भी है; क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तीनों

प्रकारके मंत्र प्रत्येक संहितामें मौजूद हैं। जहाँ कहीं केवल ऋग्, यजुः, साम शब्द आये हैं, उनका तात्पर्य जैमिनीय सूत्रोंके अनुसार मंत्र-विशेषसे है, न कि संहिता-विशेषसे।

अथर्ववेदको बादका बना हुआ सिद्ध करनेके लिये लोग प्रधानतः तीन युक्तियाँ पेश करते हैं—

(१) अथर्ववेदका नाम और वेदोंमें नहीं आया है, अथर्ववेदमें इतर वेदोंका नाम आया है।

(२) अथर्ववेदमें ऋग्वेदकी १२०० ऋचाएँ मिलती हैं।

(३) अथर्ववेदकी भाषा इतर वेदोंकी भाषासे बादकी मालूम होती है।

इनमेंसे तीसरी युक्ति तो नितान्त निर्मूल है। अथर्ववेदकी शैली और शब्दावली अन्य वेदोंकी शैली और शब्दावलीसे यदि प्राचीन नहीं, तो अर्वाचीन भी नहीं है। चारों वेदोंकी भाषा समान है। जिस अटकलकी युक्तिसे वेदोंकी भाषामें काल-क्रम-जनित परिवर्तन सिद्ध किया जाता है, उसके अनुसार कहीं ऋग्वेद-संहिताकी भाषा बादकी, तो कहीं यजुर्वेद और सामवेदकी तथा कहीं अथर्व-संहिताकी भाषा भी बादकी हो जायगी। ऐसी अटकलों और कोरी कल्पनासे कोई वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती।

दूसरी युक्ति भी कोई युक्ति नहीं। इस तरहके अनुमानसे तो यह भी कहा जा सकता है कि, अथर्ववेदसे ही ऋचाएँ ऋग्वेदमें ली गयी हैं और ऋग्वेद ही अथर्ववेदके पश्चात् प्रस्तुत हुआ। सच तो यह है और यही बात सिद्ध भी होती है कि, एक ही अखण्ड वेदसे चारों संहिताएँ पृथक्-पृथक् विभक्त की गयी हैं। ऐसी अवस्थामें कुछ मंत्रोंका यहाँ और वहाँ भी आ जाना अनिवार्य्य ही है।

रह गयी पहली युक्ति। वह भी विचार-परीक्षामें नहीं ठहरती। 'अथर्वाणः', 'आङ्गिरसः' और 'भृगुः' ये वेदोंके प्राचीनतम ऋषि हैं—जैसा कि, आप स्वयं मानते हैं—इनका नाम आपके कथनानुसार प्राचीनतम ऋग्वेदमें भी आया है। यजुर्वेदकी वाजसनेय-संहिताके तेरहवें मण्डलमें भी अथर्ववेदकी गणना है। रह गयी स्वयं अथर्व-संहितामें ऋक्, यजुः और साम नामके आनेकी बात। इसका उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि, चाहे जहाँ हैं, ऋग्वेदमें या किसी वेदमें इन शब्दोंसे तात्पर्य संहिताओंसे नहीं है, प्रत्युत मंत्र-विशेषोंसे है। अथर्ववेद या किसी वेदमें इन तीन भाँतिके मंत्रोंको छोड़कर और कोई चौथा प्रकार है ही नहीं; फिर कोई चौथा नाम आवेगा कहाँसे?

अब इस बातके पुष्ट प्रमाण लीजिये कि, अथर्ववेद-संहिता ही मूल और प्रधान संहिता है और हरगिज बादकी नहीं बनी है—

(१) अथर्ववेदमें कुछ ऐसे प्राचीनतम शब्द हैं, जो इतर वेदोंमें नहीं मिलते और बादके साहित्यमें भी जिनका पता नहीं है।

(२) अथर्ववेदकी बातें बहुत पुरानी (Pre-historic age) हैं। पाश्चात्य विद्वानोंके मतसे ऋग्वेद आदिकी बातोंसे कहीं पहलेकी हैं।

(३) ज्यौतिष-गणनाकी जो युक्ति निर्माण-कालका पता लगानेके लिये प्रोफेसर जैकोबी (Prof. Jacoby) ने निकाली है, उसके हिसाबसे भी अथर्ववेद अति प्राचीन ही प्रमाणित होता है। नक्षत्रोंकी परिगणना जिस प्रकार यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता आदिमें कृत्तिकासे प्रारम्भ होती है, वैसे ही अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डमें पहले अनुवाकके अन्दर आठवें सूक्तके द्वितीयसे पञ्चमतक चार ऋचाओंमें है।

(४) यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहितामें ऋक्, यजुः और सामके साथ-साथ आंगिरसका भी प्रयोग है। 'आङ्गिरस' अथर्ववेदका नाम है।

(५) अथर्ववेदकी विशेष भावनाएँ प्रचुर मात्रामें यजुर्वेदके भीतर वर्तमान हैं; और, ऋग्वेदमें भी यत्र-तत्र मिलती हैं।

(६) आपको स्वयं मजबूर होकर मानना पड़ता है कि, अथर्ववेदकी भाषा बिलकुल वैदिक कालकी है; बादकी नहीं है। ब्राह्मण-कालसे पूर्वका ही निर्माण अथर्ववेदका आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ता है।

(७) कहीं, कभी, किसी, प्राचीन ग्रन्थमें, यह नहीं लिखा है कि, अथर्ववेदकी गणना वेदोंमें नहीं है।

(८) सभी प्राचीन ग्रन्थ एक स्वरसे अथर्ववेदको वेद मानते चले आये हैं—

(अ) यजुर्वेदकी वाजसनेय-संहितामें 'अथर्वाणः' तथा तैत्तिरीय-संहितामें ऋग्, यजुः, सामके साथ-साथ चौथे नम्बरमें 'आङ्गिरस' आया है, जिसका जिक्र पहले हो चुका है।

(आ) ऋग्वेदके शतपथ-ब्राह्मणके ग्यारहवें और चौदहवें तथा तैत्तिरीय आरण्यकके दूसरे और आठवें अध्यायोंमें अथर्ववेद वेदके रूपमें परिगणित है।

(इ) ऋग्वेदके सांख्यायन, आश्वलायन तथा समस्त श्रौत-सूत्रोंमें अथर्ववेदका वेदोंमें ही शुमार है।

(ई) गृह्यसूत्रोंने एक स्वरसे अथर्ववेदको प्रधान वेद माना है। राज-पुरोहितको अवश्य अथर्ववेदी होना चाहिये।

(उ) ऐतेरेय-ब्राह्मण तो डंकेकी चोट कहता है—यह यज्ञ, जो तुम्हें पवित्र करता है, उसके दो पक्ष हैं, एक वाणी और दूसरा मन। वाणी और मनसे ही यज्ञ होता है। यह तीनों वाणी हैं और वह चौथा मन है। ऋग्, यजुः और साम, इन तीनोंसे यज्ञके एक पक्षका संस्कार होता है। अकेला ब्रह्मवेदज्ञ ब्रह्मा ही मन द्वारा यज्ञके दूसरे पक्षका संस्कार करता है—

"अयं वो यज्ञो योऽयं पवते। तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च यज्ञो वर्त्तते। इयं वै वाग्। अदो मनः। तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति।"—ऐतरेय-ब्राह्मण (५।३३)

(ऊ) अथर्ववेदका गोपथ-ब्राह्मण इस विषयको एकान्त स्फीत कर देता है—प्रजापतिने यज्ञका विस्तार किया। ऋक्से होताका कार्य, यजुःसे अध्वर्युका, सामसे उद्गाताका तथा अथर्वाङ्गिरससे ही ब्रह्माका कार्य लिया। इस प्रकार तीन वेदोंसे यज्ञके एक पक्षका संस्कार होता है और ब्रह्मा मनसे अकेला ही दूसरे पक्षका संस्कार करता है। "प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। स ऋचैव हौत्रमकरोत्। यजुषा आध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्।.....स वा एष त्रिभिर्वेदैः यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति।'—(गोपथ-ब्राह्मण ३।२)।

अथर्ववेद सर्व-श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ वेद है—

"श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव।" (गोपथ-ब्राह्मण १-९)। कहा है—"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।"—(गो० ब्रा० २।१६)

(ऋ) यही बातें मनु, महाभारत एवं समस्त पुराणोंमें भी हैं।

(ॠ) पतञ्जलिके महाभाष्यमें अथर्ववेदकी गणना तो वेदोंमें है ही, स्थान-स्थानपर अथर्ववेदको ही प्रधान और मूल वेद करके लिखा गया है।

तात्पर्य यह है कि, अथर्वाङ्गिरस सर्व-प्रधान मूल वेद है। इसीसे मनुष्यको इह लोकमें सुख, कल्याण तथा स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

अथर्ववेदकी नौ शाखाएँ हैं—(१) पैप्पलाद, (२) तौद, (३) मौद, (४) शौनकीय, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद, (८) देवदर्श और (९) चारणवैद्य। किन्तु पैप्पलाद और शौनकीय दोका ही आजकल पता है।

अथर्ववेद-संहितामें कुल बीस काण्ड, प्रायः ७३० सूक्त एवं लगभग ६००० मन्त्र हैं, जिनमेंसे प्रायः १२०० मन्त्र ऋग्वेद—संहितामें भी, विशेषकर दसवें, पहले और आठवें मण्डलोंमें पाये जाते हैं। अथर्व-संहिताके बीसवें काण्डके प्रायः समग्र मन्त्र केवल 'कुन्ताप' सूक्तके एवं दो और मन्त्रोंको छोड़कर ऋग्वेद-संहितामें भी पाये जाते हैं।

अथर्ववेदका ब्राह्मण है 'गोपथ-ब्राह्मण,' जो सम्पूर्ण नहीं उपलब्ध होता।

व्याधियाँ दो प्रकारकी होती हैं, एक भोजनादिकी गड़बड़ीसे और दूसरी पूर्वजन्मके पापोंसे। भोजनकी गड़बड़ीसे जो रोग उत्पन्न होते हैं, उनकी चिकित्सा आयुर्वेदसे होती है। किन्तु जो व्याधि प्राक्तन जन्मके पापोंसे पैदा होती है, उसको दूर करनेके लिये अथर्ववेदमें मन्त्र, होम, बन्धन, पायन आदि अनेक प्रकारके टोटके, शकुन और चिकित्साएँ हैं। अथर्व-संहिताके मन्त्रोंका प्रयोग किस व्याधिमें या किस यज्ञ या किस कर्ममें किस प्रकारसे किया जाता है, उसका विधान अथर्ववेदके सूत्र-ग्रन्थोंमें है।

अथर्ववेदका श्रौत-सूत्र है "वैतान-सूत्र" और गृह्य-सूत्र है "कौशिक-सूत्र"। इसके पाँच कल्प-सूत्र हैं—(१) नक्षत्र-कल्प, (२) शान्ति-कल्प, (३) वितान-कल्प, [४] संहिता-कल्प और [५] आंगिरस-कल्प। इनके अतिरिक्त अथर्ववेदके ७०-७४ छोटे-छोटे परिशिष्ट हैं, जिनमें अथर्ववेदोक्त विविध मन्त्र, शकुन, टोटके, यन्त्र आदिका वर्णन है।

इसके सिवा 'चरण-व्यूह' और 'उपक्रमणिका' भी हैं, जिनमें अथर्ववेदके सूक्त, मन्त्र आदिकी संख्या तथा देवता, ऋषि आदिका वर्णन है।

यों तो अथर्ववेदमें और संहिताओंकी अपेक्षा अधिक ब्रह्म-विद्या है ही; किन्तु अथर्ववेदमें उपनिषदोंकी संख्या बहुत अधिक है। प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य, ये तीन प्रसिद्ध उपनिषदें अथर्ववेदकी ही हैं। इनको छोड़कर अथर्ववेदकी उपनिषदोंकी संख्या करीब दो सौ है।

अब अथर्व-संहितासे कुछ फुटकर मन्त्रोंके नमूने लीजिये—पहले काण्डके पाँचवें अनुवाकमें प्रथम दो सूक्तोंका प्रयोग श्वेतकुष्ठ और पलित रोगकी शान्तिके लिये भी किया जाता है। पहले सफेद दागको सूखे गोमयसे इतना घिसे कि, लाल हो जाय। तब उसपर मन्त्रों द्वारा चार ओषधियों, [१] भँगरैया, [२] हलदी, [३] म्यवारी और [४] नीलिकाको पीसकर लेप लगावे। रोग अच्छा हो जायगा। पहला मन्त्र नीचे है—

"नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥"

अर्थात् तुम रातको उपजी हो हे हल्दी! भँगरैये! इन्द्र-वारुणि! और नीलिके! ऐ रँगनेवालियो! यह जो श्वेतकुष्ठ और पलित है, इन्हें अपने रँगमें रँग दो।

तृतीय काण्डके तृतीय अनुवाकका प्रयोग बालग्रह रोग और निरन्तर स्त्री-संगतिसे उत्पन्न यक्ष्मा रोगमें भी होता है। सड़ी मछलीके साथ भातको मन्त्रोंसे खिलानेकी विधि है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

"यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शत शारदाय॥"

यदि च इस रोगीकी आयु क्षीण हो गयी हो, यदि यह मर ही चुका हो या यमराजके समीप ही क्यों न पहुँचा हो, मैं इसे (अभी) मृत्युके निकटसे इस लोकमें ला देता हूँ और इसे सौ वर्ष जीवित रहनेका बल प्रदान करता हूँ।

इसी काण्डके पाँचवें अनुवाकका चौथा सूक्त स्त्रीको वशमें लानेके निमित्त है। प्रयोग कई प्रकारसे हैं। दूसरा मन्त्र यों है—

"आधीपर्णां कामशल्यामिषुं, संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥"

हे कामिनि, कामदेव अपने बाणमें रति-अभिलाषाका शल्य विषय-संकल्पके कुल्मलसे जोड़कर और मानसी पीड़ाके पुंख लगाकर उसे खूब खींचकर तुम्हारे हृदयको बिद्ध करे। [बाणमें लौहमुख जोड़नेके पदार्थका नाम कुल्मल है]।

चतुर्थ काण्ड चौथे अनुवाकमें पहले सूक्तके पहलेके दो मन्त्रोंका प्रयोग कुछ और है। तीसरे मन्त्रसे लेकर अन्तिम मन्त्रतकका प्रयोग धूमकेतुके उत्पातकी शान्तिके लिये वरुणको स्तुतिमें होता है। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ मन्त्र क्रमसे नीचे दिया जाता है—

"उतेयं वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥"
"उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न समुच्याते वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्ती दमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ॥"
"सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमि-नोतितानि ॥"

यह पृथ्वी और वह बृहत् निःसीम आकाश भी राजा वरुणके वशमें है। दोनों समुद्र वरुणके दोनों तरफके उदर (कोख) हैं। तो भी वह इस तनिकसे जलमें छिपे हुए हैं।

वह शत्रु, जो आकाशसे भी भागेगा, वह भी राजा वरुणके पाशोंसे नहीं बच सकता। उनके चर आकाशसे उतरकर पृथिवीपर चारो ओर घूमते और सहस्र आँखोंसे भूमिका कोना-कोना देखते रहते हैं।

राजा वरुण सभी कुछ देखते रहते हैं—चाहे वह आकाश और भूमिके बीचमें हो, चाहे उसके भी परे हो; मनुष्योंके पलक-पलक गिन डालते हैं और जैसे जुआरी पासे फेंकता है, वैसे ही पापियोंके पापानुसार उन्हें सीख देते हैं।

पाँचवें काण्डके चौथे अनुवाकमें दूसरे और तीसरे सूक्तके मन्त्र ब्रह्मचारीकी गायोंको चुरानेवाले या उसे दुःख पहुँचानेवाले दुष्टोंके अभिचारके निमित्त प्रयुक्त होते हैं। तीसरेका चौदहवाँ मन्त्र देखियेः—

"येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
तं वै ब्रह्मज्यते देवा अपां भागमधारयन् ॥

ऐ ब्रह्मापकारिन्, जिस जलसे मृतकको स्नान कराया जाता है एवं जिससे उसकी दाढ़ी भिँगोयी जाती है, देवताओंने वही जल तेरे भागमें रखा है।

इसी अनुवाकके छठे सूक्तका प्रयोग दुश्मनकी फौजको डरानेके लिये किया जाता है। समस्त वाद्योंको धोकर उनपर तगर और उशीरका लेप लगाकर मन्त्र पढ़-पढ़कर तीन बार बजाकर तब बजनियोंको देनेकी विधि सूक्तोंमें लिखी है। छठा मन्त्र इस तरह है—

"यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वा दुन्दुभे मित्रानभिक्रन्दप्रत्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥"

जैसे बाजके डरसे पक्षी उद्विग्न होकर भागते हैं, जैसे लोग दिन-रात सिंहकी गर्जनासे काँपते हैं, उसी भाँति हे दुन्दुभे, तू गर्जना करके दुश्मनोंको डराओ और उनके चित्तको उद्विग्न करो।

छठे काण्डके ग्यारहवे अनुवाकके दूसरे सूक्तका प्रयोग कास, श्लेष्म आदि रोगकी शान्ति तथा अग्नि-दाह आदिकी निवृत्तिके निमित्त होता है। पहले तीन मन्त्र लीजिये—

"यथा मनोमनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोनु प्रवाय्यम् ॥"
"यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्
एवात्वंकासे प्रपत पृथिव्या अनु संवनम् ॥"
"यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥"

ऐ खाँसी, जैसे मन अपने विषयपर झट चला जाता है, वैसे ही तू भी इस पुरुषको छोड़कर उधर ही चली जा। ऐ खाँसी, जैसे तीखा सुसज्जित तीर सन्नसे निकल जाता है, वैसे ही तू भी इस पुरुषको छोड़कर पातालकी ओर निकल भाग।

ऐ खाँसी, जैसे सूर्यकी किरणें जल्द जल्द निकलती जाती है, वैसे ही तू इस रोगीको छोड़कर झट समुद्रकी लहरोंमें चली जा।

सातवें काण्डके दूसरे सूक्तकी पाँच ऋचाएँ (३ रीसे ७ वीं तक] सभामें जय लाभ करनेके निमित्त कई प्रकारसे विनियुक्त की जाती हैं। चौथी ऋचा यह है—

"विद्मते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥"

"हे सभे, मैं तेरा नाम जानता हूँ। तेरा नाम नरिष्टा है। अतएव जितने तुम्हारे सभासद् हों, सब मेरी हाँ-में-हाँ मिलावें (नरिष्टका अर्थ है अहिंसित वा अनभिभवनीय । चूँकि सभाकी बात सबको माननी पड़ती है; इसलिये इसका यह नाम है।)

आठवें काण्डके पहले अनुवाकमें पहले दो सूक्त अंघ-सूक्त कहलाते हैं। इनका विनियोग उपनयन-कर्मादिमें होता है। पहले सूक्तका चौथा मन्त्र नीचे है—

"उत्क्रामातः पुरुषमावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ।"

ऐ पुरुष, इस मृत्युके पाशसे बाहर निकल आओ; गिरो मत। मृत्युकी बेड़ीको काट डालो और इस लोकसे जुदा मत हो; चिरञ्जीव होकर अग्नि और सूर्यके दर्शन करते रहो।

ग्यारहवें काण्डके तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। पहले तीनमें ब्रह्मचारीका माहात्म्य बड़ी खूबीके साथ वर्णित है। कुछ ऋचाएँ देखिये—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्य्येणाश्वा घासं जिगीर्षति ॥"
"ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥"
"पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥"

ब्रह्मचर्यसे ही कन्या तरुण पति पाती है। बैल और घोड़े ब्रह्मचर्य्यसे ही घास खानेकी इच्छा करते हैं।

ब्रह्मचर्यकी ही तपस्यासे देवगण मृत्युका हनन करके अमर हुए और ब्रह्मचर्यके ही साधनसे देवोंके लिये इन्द्र स्वर्ग ले आये।

पृथिवीके या आकाशके, जङ्गलके या गाँवके सभी पशु एवं बे-पंखके प्राणी या पंखवाले पक्षी सभी ब्रह्मचारीसे ही उत्पन्न हुए हैं।

बारहवें काण्डके पहले अनुवाकका पहला सूक्त, ६३ मन्त्रोंका, बड़ा सुन्दर पृथिवी-सूक्त है। ४१ वाँ और ४३ वाँ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं—

"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलवाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां नदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥"
"निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥"

जिस भूमिपर विनाशवान् मनुष्य शोर गुल-मचाते और नाचते-गाते हैं, जिसपर युद्ध करते और नगाड़ा पीटते हैं; वह धरित्री हमारे शत्रुओंको मार भगावे और मुझे निष्कण्टक करे।

गुप्त स्थानोंमें बहुतसी निधियाँ छिपा रखनेवाली पृथिवी हमें धन, रत्न और स्वर्ण दे और भूरि सम्पत्ति प्रदान करके प्रसन्ना भूमि हमें अनन्त कल्याण अर्पण करे।

सतरहवें काण्डमें केवल एक अनुवाक एवं तीन सूक्त हैं। उपनयनादिमें इनका प्रयोग होता है। दूसरे सूक्तका नवाँ मन्त्र सांख्य-वेदान्त-बौद्धादि दर्शनोंका मूल है। देखिये—

"असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।
भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तदेव विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां माधेहि परमे व्योऽमन् ।

असत्, अभाव, शून्यमें—निरस्त समस्तोपाधिक नाम-रूप-रहित अप्रत्यक्ष ब्रह्ममें ही—सत्, भाव वा प्रत्यक्ष मायाका प्रपञ्च प्रतिष्ठित या अध्यस्त है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष मायाके प्रपञ्चमें सारी सृष्टि (भव्य) का उपादान भूत पृथिव्यादि पञ्च महाभूत निहित हैं; उसीसे उत्पन्न होते हैं। अथवा असत् यानी गुण-त्रय-साम्यावस्था अव्यक्त प्रकृतिसे सत् यानी प्रधान विकार महत् या बुद्धि-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है और उसमें समस्त सृष्टिके कारण-भूत पञ्च-महाभूत प्रतिष्ठित रहते हैं। वही पाँचो महाभूत समस्त

कार्य-जातमें विद्यमान रहते हैं और समस्त सृष्टि (कार्य-जात) उन्हीं महाभूतोंमें—पीपलके बीजमें पीपलके वृक्ष जैसी—वर्त्तमान रहती है। और, यही आत्माकी प्रपञ्चरूपकी महिमा, हे विष्णो, आपका अनन्त वीर्य-बल है। आप हम लोगोंको इस लोकमें सब तरहके पशुओंसे भरा-पूरा रखिये और (शरीर छोड़नेपर) परम कल्याण धाम पहुँचा कर हमें सुधा-अमृतमें (जिसके सेवनसे भूख-प्यास, जरा-मरण, शोक-मोह कुछ भी पास नहीं फटकता) सुरक्षित रख दीजिये। ऐसा ही ऋग्वेदमें भी कहा है—

"यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते॥"

[ऋ० ९-११३-७]

"स्वधा च यत्र तृप्तिश्च यत्र तत्र माममृतं कृधि।"

[ऋ० ९-११३-१०]

उन्नीसवें काण्डके सातवें अनुवाकका दसवाँ सूक्त एक ही ऋचाका है। सभी श्रौत-स्मार्त्त-कर्म्मोंके आरम्भमें इसे जपनेकी विधि है—

"अव्यसश्च व्यसश्च बिलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्म्माणि कृण्महे॥"

जीवात्मा और परमात्माके बिल अर्थात् हृदयको माया यानी अज्ञानसे रहित करके फिर इन्हीं आत्माओं द्वारा वेद अर्थात् कर्त्तव्य ज्ञानका उद्धरण करके तब नित्यादि कर्म करते हैं।

अथवा—व्यान और प्राणके बिल यानी मूलाधारको अभिमत व्यापारसे खोलकर उन्हीं दोनों वायुओंके द्वारा वदको निकाल कर तब नित्य, नैमित्तिक या काम्य कर्म करते हैं। [जब कोई पुरुष बोलना चाहता है, तब उसके प्रयत्नसे वायु उठते हैं और उनसे मूलाधार प्रकम्पित होता है जिसे परा वाक् कहते हैं। क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी द्वारा शब्दोंका उच्चारण होता है।]

ऋग्वेदमें वामनावतार

(१) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥

(ऋग्वेद १।२२।१७)

(२) शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥

(ऋग्वेद १।९०।९)

(१) वामनावतारधारी विष्णुने इस जगत्की परिक्रमा की थी। उन्होंने तीन प्रकारसे अपने पैर रखे थे और उनके धूलि-युक्त पैरसे जगत् छिपसा गया था।

(२) मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र और (वामनावतारमें) विस्तीर्ण-पाद-क्षेपी विष्णु हमारे लिये सुखकर हों।

(दोनों मंत्रोंके सायण-भाष्यका अनुवाद)

वेदोंकी नित्यता

प० सकलनारायण शर्मा काव्य-सांख्य-व्याकरण-तीर्थ
(प्रोफेसर, संस्कृत कालेज, कलकत्ता)

नित्य पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक अपरिणामी नित्य, जिसके स्वरूप अथवा गुणमें कोई परिवर्तन नहीं होता और दूसरा प्रवाह नित्य, जो लाखों हेर-फेर होनेपर भी सदा रहता है। पहलेके उदाहरण परमात्मा हैं और दूसरेका उदाहरण प्रकृति अथवा जगत् है। जगत् किसी-न किसी रूपमें सर्वदा रहता है, चाहे उसमें लाखों हेर-फेर हुआ करे। सृष्टिके प्रारम्भमें भी वह प्रकृति अथवा परमाणुके रूपमें विद्यमान रहता है, अतएव वह प्रवाह-नित्य है। पर उसे अनित्य इसलिये कहते हैं कि, उसका परिणाम होता है अथवा वह प्रकृति वा परमाणुका कार्य है। पर कारण-रूपसे नित्य है।

वेद शब्दमय है। न्याय और वैशेषिकके मतमें शब्द कार्य तथा अनित्य हैं, किन्तु वे भी मन्वन्तर अथवा युगान्तरमें गुरु-शिष्य-परम्परासे उनका पठन-पाठन स्वीकार कर उन्हें नित्य बना देते हैं। परमेश्वर प्रति कल्पमें वेदोंको स्मरण कर उन्हींको प्रकटित करते हैं, वे वेद बनाते नहीं।

"ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे
तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।" (यजुर्वेद)

इस मंत्रने वेदोंको ईश्वर-कृत नहीं माना है, बल्कि उनको वेदोंका प्रादुर्भाव-कर्ता माना है। वे उनके द्वारा प्रकटित हुए, इसीसे पौरुषेय अथवा ईश्वर-कृत कहलाते हैं। जैसे ईश्वर नित्य हैं, वैसे ही उनके ज्ञान वेद भी नित्य हैं। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। जैसे माता-पिता अपनी सन्तानको शिक्षा देता है, वैसे ही जगत्के माता-पिता परमात्मा सृष्टिके आदिमें मनुष्योंको वैदिक शिक्षा प्रदान करते हैं, जिससे वे भलीभाँति अपनी जीवन-यात्राका निर्वाह कर सके।

मीमांसाकार जैमिनि तथा व्याकरण-तत्त्वाभिज्ञ पतञ्जलिने शब्दोंको नित्य सिद्ध करनेके लिये कई युक्तियाँ लिखी हैं। उनसे शब्दमय वेदोंकी नित्यता प्रतिपादित होती है। हम उनकी चर्चा न कर विद्वानोंका ध्यान फोनोग्राफ तथा रेडियोकी ओर आकृष्ट करते हैं, जिनके द्वारा दूसरोंके शब्द ज्यों-के-त्यों सुन लेनेपर किसीको यह सन्देह नहीं हो सकता कि, शब्द अनित्य हैं।

'वेदोंमें स्थानों, मनुष्यों तथा नदियोंके नाम मिलते हैं, जिनका वर्णन वर्त्तमान भूगोल तथा इतिहासमें मिलता है। इससे वेद वर्तमान भूगोल-स्थान तथा ऐतिहासिक पुरुषोंके समयके बाद रचित हैं। वे नित्य नहीं हो सकते, इसका उत्तर यह है कि, वेदोंमें रूढ़िवाले शब्द नहीं, जिनके द्वारा स्थान, नदी तथा राज्य और ऋषिके नाम दिखाकर कोई उनकी नित्यताका खण्डन करे। वैदिक शब्द व्याकरण-निरुक्तके अनुसार सामान्य अर्थोंको कहते हैं—

"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्।" (जैमिनि-सूत्र)।

वेदोंमें लोक-प्रसिद्ध इतिहास अथवा भूगोलका वर्णन नहीं। वे त्रिकाल-सिद्ध पदार्थ—ज्ञान तथा शिक्षाओंके भाण्डार हैं। उनसे लोक-परलोक, दोनोंका बोध होता है। वेदोंकेवाक्य अर्थ तीनों कालोंमें एक-

से होते हैं। उनमें कुछ परिवर्त्तन नहीं होता। लोग उनके ध्वनि-रूप अर्थोंसे इतिहास अथवा भविष्य-त्कथाके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं। उनसे नित्यताकी हानि नहीं होती। वेदाङ्ग, निरुक्त और व्याकरण उनके वाच्य अर्थ बतलाते हैं। उनमें कहीं इतिहास आदि नहीं है। ध्वनि-बलसे जो मंत्रोंके विविध अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनकी चर्चा निरुक्तकार यास्क महर्षिने "इति याज्ञिकाः, इति ऐतिह्यम्" इत्यादि रूपसे की है। वे अर्थ सर्व-मान्य नहीं। किन्तु यह ईश्वरीय ज्ञानका चमत्कार है कि, एक शब्दमें कितने अर्थ भरे हुए हैं कि, समय पाकर उनसे इतिहास-भूगोलका तत्त्व भी ज्ञात होता रहता है। वेद महत्त्वके ग्रन्थ हैं। जो ईश्वर नहीं मानते, वे भी वेदोंको नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि, कोई निरपेक्ष विद्वान् वेदोंको किसीका बनाया नहीं कहते। वे पौरुषेय नहीं।

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।"
(सांख्यसूत्र)

उपनिषदोंका सिद्धान्त है कि, मनुष्य जिस प्रकार अपनी साँसोंको उत्पन्न नहीं करता; पर उनका स्वामी कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी वेदोंकी अध्यक्षता करते हैं; क्योंकि उनमें एक ब्रह्मकी ही विचार-धारा है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।" (बृहदारण्यक)

इसपर कुछ लोग सन्देह करते हैं कि, निराकार ब्रह्म शब्द-रूपमें अपनी विचार-धारा कैसे प्रकट करते हैं। यह बात बड़ी तुच्छ है। जिन्होंने निराकार होकर साकार जगत् बनाया, वे क्या नहीं कर सकते? योगवार्तिक-कार विज्ञानभिक्षुने लिखा है कि, परमात्मा कभी-कभी करुणामय शरीर धारण कर लेते हैं—"अनुभुतशरीरो देवो भावग्राह्यः।"
(योगवार्त्तिक)

यदि वेद नित्य हैं, तो ब्रह्म तथा ऋषि-महर्षियोंके नामसे उनकी प्रसिद्धि क्यों हुई? इस प्रश्नका उत्तर निरुक्त तथा मीमांसादर्शनने दिया है कि, उन्होंने उनकी व्याख्या भी लोगोंको समझायी है, उनका प्रवचन भी किया है। यही कारण है कि, लोग उनके नामसे वेदोंको प्रसिद्ध करते हैं—

"आख्या प्रवचनात्।" (जैमिनि)

"ऋषयो मंत्रद्रष्टारः।" (यास्क)

सृष्टिके आदिमें परमेश्वरने चारो वेद ब्रह्माको एवं एक-एक वेद अग्नि, वायु, रवि तथा अथर्वाको सिखलाये—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं सर्वांश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै।" (श्वेताश्वतर)

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः।"
(शतपथ)

"अथर्वांगिरसः।" (गोपथ)

यदि वे एक साथ चारोंकी शिक्षा ब्रह्माको नहीं देते, तो लोग कह सकते थे कि, वेदको अग्नि आदिने बनाया और भगवान्के नामसे प्रसिद्ध किया। जो वेद ब्रह्माको प्राप्त थे, वे ही अग्नि आदि महर्षियोंको मिले। इसीसे किसीको यह कहनेका अवसर नहीं मिल सकता कि, उन्होंने ईश्वरके नामसे मनगढ़न्त बातें लोगोंको समझायीं। किसी-किसीका यह कहना है कि, वेदोंके भिन्न-भिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी भाषा हैं, जिससे अनुमान करना पड़ता है कि, वे विविध समयोंपर बनाये गये हैं। किन्तु यह तर्क बड़ा तुच्छ है; क्योंकि एक ही सम्पादक अग्रलेख, टिप्पनी तथा समाचारोंकी भाषा भिन्न-भिन्न प्रकारकी, अपने समाचार-पत्रमें, रखता है। तब विद्यानिधि सर्वज्ञ ब्रह्म अपने ज्ञानको कठिन, सरल, भाषामें क्यों नहीं प्रकाशित कर सकते! उसके लिये क्या दो-चार शैलियोंकी भाषाएँ प्रकटित करनी कठिन कार्य है?

सृष्टिके आदिमें कोई भाषा नहीं थी। इसलिये परमात्माने अपनी मनचाही बोलीमें शिक्षा दी, जो परमात्माकी भाषा देववाणी कहलाती है। उन्होंने उसीके द्वारा लोगोंको बोलना सिखलाया। माता-पिता अपने लड़कोंको पानी शब्दका उच्चारण करना बतलाते हैं। उन्होंने अशुद्ध उच्चारणके द्वारा अपभ्रंश भाषा उत्पन्न की। उसे शुद्ध कर जो बोलने लगे, वे अपनी भाषाको संस्कृत—सुधारी हुई—कहते थे। सुधारी हुई भाषाके लिये संस्कृत शब्द वाल्मीकिजीकी रामायणके पहले किसी साहित्यमें नहीं मिलता। प्राचीन साहित्यमें वैदिक भाषा और विषय, दोनोंके लिये वेद, छन्द तथा श्रुति शब्द व्यवहृत होते थे। लौकिक भाषाके लिये केवल भाषा [संस्कृत] शब्द प्रयुक्त होता था। लौकिक संस्कृतसे वेद-वाणीकी, कई अंशोंमें, एकता है; पर उनके व्याकरण, नियम और कोष भिन्न हैं—यद्यपि संस्कृतकी उत्पत्ति वेद-वाणीसे हुई है।

कुछ लोगोंकी यह आपत्ति है कि, वेदकी नित्यता इसलिये सिद्ध नहीं होती कि, वे त्रयी कहे जाते हैं; पर हैं चार। आरम्भमें वे तीन थे; पीछे वे चार हो गये। उनमें एक अवश्य नवीन होगा। उनकी दृष्टिमें अथर्ववेद नया ठहरता है; क्योंकि ऋक्, यजुः, साम इन्हींके नाम संस्कृत साहित्यमें बार-बार मिलते हैं; अथर्वके नहीं। जो छन्दोबद्ध हैं, उनका नाम ऋक् है; जो गाने योग्य हैं, उन्हें साम कहते हैं और अवशिष्ट यजुः कहलाते हैं। अथर्वमें ऋक्, यजुः दोनों मिलते हैं; उसमें साम भी है। इसलिये वह ऋक्, यजुः और साम-रूप है। वह उक्त नामोंसे प्रसिद्ध नहीं हुआ कि, उसमें तीनोंका सामञ्जस्य होता है। कौन-सी विशेष संज्ञा उसे दी जाय। ऋग्, यजुः और साम वेद अपने प्रसिद्ध नामोंसे व्यवहृत होते हैं; क्योंकि उन नामोंके योग्य उनमें एक गुण, विशेष रूपसे, है—

"तेषामृग् यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था।" "गीतिषु सामाख्या।" "शेषे यजुःशब्दः।" (जैमिनिसूत्र)

अर्थात् त्रयी कहनेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद चारोंका बोध होता है और चारों ही नित्य हैं। सन्देहका कोई अवसर नहीं है।

मनुजीने कहा है कि, वेदोंसे सब कार्य सिद्ध होते हैं—"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।"

ऐसे गौरवशाली लाभदायक वेदोंपर जनताकी श्रद्धा क्यों नहीं, जो उनके नित्यानित्यके विचारमें प्रवृत्त होती है?

उक्त वेदोंमें परा और अपरा विद्याओंकी चर्चा है। उनसे पदार्थविद्या और आत्मविद्या, दोनोंका ज्ञान होता है। उनके अर्थ समझनेके प्रधान साधन व्याकरण और निरुक्त हैं; शाकपूणि तथा और्णनाभ आदिके निरुक्त अब नहीं मिलते*। इस समय जो भाष्य मिलते हैं, उन्होंने उपलब्ध यास्क-निरुक्तका भी पूरा आदर नहीं किया। उन्होंने गृह्य-सूत्र तथा श्रौत-सूत्रपर अपनी दृष्टि रखी। इससे उनके अर्थ केवल यज्ञपरक हो गये। वैदिक महत्त्व लुप्त हो गया। वेद सब विद्याओंकी जड़ है। वर्तमान भाष्य इस बातको सिद्ध नहीं कर सके। यदि विद्वन्मण्डली वैदिक साहित्यकी निरन्तर आलोचना करे, तो अर्थोंके बल उन्हें पूर्व प्रतिष्ठा दिला सकती है। विदेशी विद्वान् नहीं चाहते कि, वेदोंकी मर्यादा अक्षुण्ण रहे। उसकी रक्षा भारतीयोंको करनी चाहिये।

भारतीय यास्क महर्षिकी यह सम्मति याद रखें कि, ईश्वरकी विद्या नित्य है, जो कर्तव्यशिक्षाके लिये वेदोंमें विद्यमान है—

"पुरुषविद्याया नित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मंत्रो वेदे।"

आशा है, पाठक यदि उपर्युक्त पंक्तियोंपर ध्यान देंगे, तो वे वेदोंकी नित्यता स्वीकार करेंगे।

---

* "लुप्त वैदिक निघण्टु" शीर्षक लेख देखिये। —सम्पादक

वेदका प्रकाश वा उत्पत्ति

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री
(डी० ए० वी० कालेज, लाहोर)

वेदका प्रकाश वा उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इसके उत्तरमें ये परस्पर-विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं—(१) वेद अपौरुषेय है, (२) वेद ईश्वरीय है, (३) वेद आर्ष है, (४) वेद पौरुषेय है।

(१) वेद अपौरुषेय है।

मीमांसाका सिद्धान्त है कि, 'शब्द नित्य है'। अ, आ इत्यादि जितने वर्ण हैं, उनकी उत्पत्ति नहीं होती; किन्तु अभिव्यक्ति होती है। उत्पत्ति और अभिव्यक्तिमें यह भेद है कि, तलवारको जो लोहेसे बनाना है, यह उसकी उत्पत्ति है और जो घरमें पड़ी हुई, किन्तु अन्धेरेमें न दीखती हुई, तलवारको दीपक जलाकर देखना है, वह उसकी अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति उसकी होती है, जो अभिव्यक्त होनेसे पूर्व विद्यमान हो। फिर वह चाहे उत्पन्न होकर विद्यमान हुआ हो, चाहे अनादि-सिद्ध होकर विद्यमान हो। इससे कोई भेद नहीं पड़ता। वर्ण स्वतःसिद्ध सारी दिशाओंमें पहलेसे ही विद्यमान हैं; अतएव कण्ठ, तालु आदिके संयोगसे उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। जिह्वा, तालु आदिका संयोग केवल उनका अभिव्यञ्जक होता है, उत्पादक नहीं। इस प्रकार वर्णात्मक शब्द किसी पुरुषके रचे हुए न होनेसे अपौरुषेय हैं।

अब यद्यपि वर्ण अपौरुषेय हैं; तथापि उनको आगे-पीछे मेल करके उनसे शब्दों और शब्दोंसे वाक्योंकी रचनाके पुरुष-कृत होनेसे वह पौरुषेय होती है। इसी प्रकार शब्दों और वाक्योंका, जो अपने-अपने अर्थके साथ सम्बन्ध है, वह भी पुरुषका किया हुआ संकेत होनेसे पौरुषेय है। देश-भेद और जाति-भेदसे संकेत भिन्न-भिन्न होते हैं और नयी-नयी वस्तुओंके लिये नये-नये संकेत होते रहते हैं। सो, वर्णोंके अपौरुषेय होनेपर भी रचना और अर्थ-सम्बन्धके पौरुषेय होनेसे हम 'रघुवंश' आदिको पौरुषेय कहते हैं; पर वेदके जैसे वर्ण अपौरुषेय हैं, वैसे ही पद (शब्द), शब्दार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ, सभी अपौरुषेय हैं। 'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'। इस मन्त्रको किसी पुरुषने नहीं रचा; किन्तु इसी नियत रचनाके रूपमें इस विश्वके अन्दर अनादि कालसे चला आ रहा है। ऋषि अपने तपोबलसे इन अनादिसिद्ध मन्त्रोंको देखकर अभिव्यक्त भर कर देते हैं; अतएव ऋषि इन मन्त्रोंके द्रष्टा कहलाते हैं, कर्ता नहीं। वेदमें आये शब्दोंका जिन अग्नि, सूर्य आदि अर्थोंके साथ सम्बन्ध है, वे भी अपौरुषेय हैं और सम्बन्ध भी अपौरुषेय हैं। ऋषि जैसे शब्दोंके, वैसे शब्दार्थ-सम्बन्धके भी द्रष्टा ही होते हैं। मंत्रोंका जो लौकिक वा पारलौकिक फलोंके साथ सम्बन्ध है, वह भी स्वाभाविक है। वर्षाके लिये जो कारीरी इष्टि की जाती है और उसमें जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनका वृष्टिकी उत्पत्तिके साथ कोई नैसर्गिक या स्वाभाविक सम्बन्ध है। अतएव यथाविधि किये कर्मके अनन्तर वृष्टि होती है। इसी प्रकार पुत्रेष्टिके अनन्तर गर्भ-स्थिति होकर पुत्रोत्पत्ति होती है मन्त्रों वा इष्टियोंसे ये फल किस प्रकार मिलते हैं, इसका हम वर्णन कर सकें वा न कर सकें, इससे उनकी निज शक्तियोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; द्रव्यकी शक्ति ज्ञानकी परवाह नहीं रखती। अंगुलिमें टूटी सूईकी नोकको निकालनेके लिये पुरुषको इस बातके जाननेकी आवश्यकता होती है कि, अंगुलिको कहाँसे छीले; पर अयस्कान्त (चुम्बक) इस बातको जाने विना ही उसे खींच लाता है; क्योंकि उसमें लोहेको खींचनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसी प्रकार मन्त्रों और इष्टियोंकी शक्ति स्वाभाविक है। अतएव काम्य कर्मोंमें मन्त्रोंका शुद्ध उच्चारण और कर्मका यथाविधि पूरा होना आवश्यक है। वेदशब्दार्थ-सम्बन्धसे सर्वथा अनादि है। उसका प्रकाश ऋषियों द्वारा युग-युगमें होता आया है।

(२) वेद ईश्वरीय है।

उत्तर मीमांसा (वेदान्त) का सिद्धान्त है कि, वेद दिव्यवाक् है, जो सृष्टिके आरम्भमें परमेश्वरने ब्रह्माको दी और ब्रह्मासे ऋषियोंने पायी; जैसा कि, श्रुति-स्मृति

लोकमान्य प० बाल गङ्गाधर तिलक

आप वेदोंके उच्च कोटिके विद्वान् थे। वेदोंके आधारपर लिखे हुए आपके "ओरायन" और "आर्कटिक होम इन द वेदाज" ग्रन्थ विश्व-विदित हैं। आपके मतसे आजसे लगभग ६५०० वर्ष पहले ऋग्वेद बना।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

आपने वेद-प्रचारमें अपना जीवन ही बिता दिया। आप आर्यसमाजके संस्थापक और अनन्य देशभक्त थे। आपकी लिखी कई महत्त्व-पूर्ण वैदिक पुस्तकें हैं।

वेदांकके लेखक
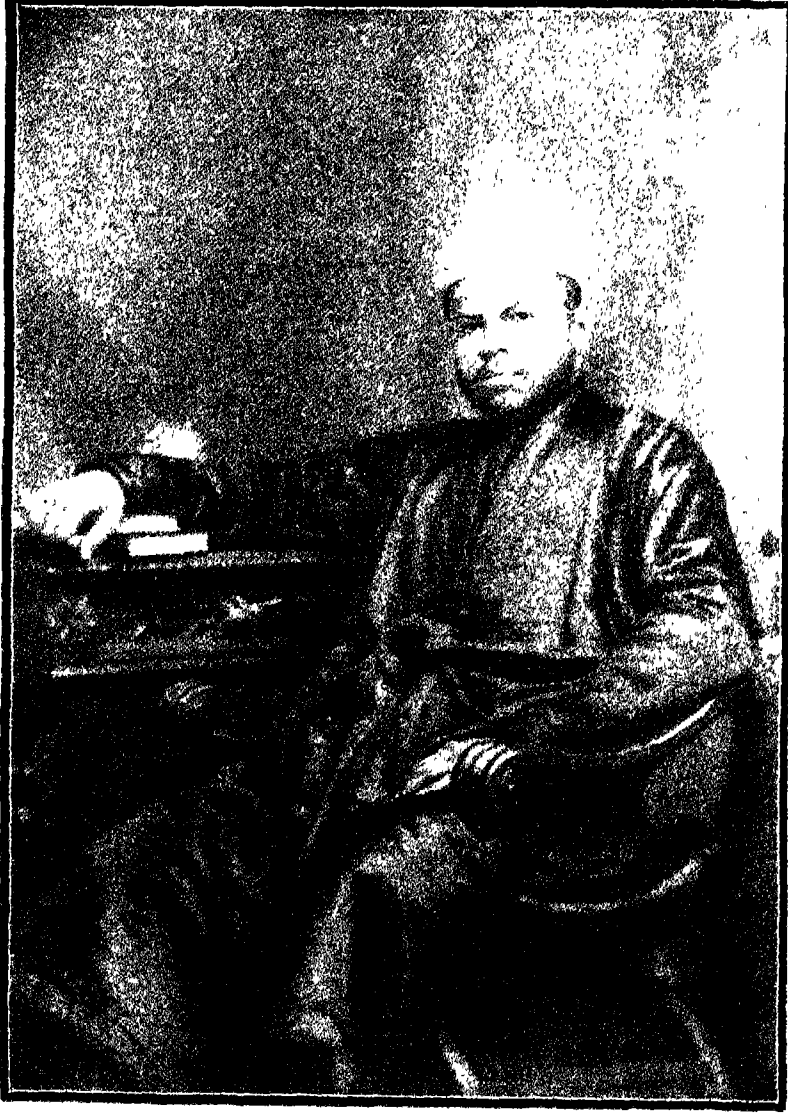
विद्यावाचस्पति प० मधुसूदन ओझा

महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जैसे विद्वानोंके मतानुसार "आप जैसा वेदज्ञ सदियोंमें भूमण्डलमें नहीं उत्पन्न हुआ।" आप मीमांसा-शास्त्रके भी पारगामी विद्वान् हैं।

कहा है, "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" (श्वेता० उप० ६।१८)। 'जो आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको भेजता है, उस देवकी मैं, मुमुक्षु, शरण लेता हूँ, जो आत्म-ज्ञानका प्रकाशक है, "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" (ऋग्वेद १०।७१।३)। 'यज्ञ (पूर्व पुण्य) के द्वारा लोग, जब वाक् (वेद) के ग्रहणकी योग्यताको प्राप्त हुए, तब ऋषियोंमें प्रविष्ट हुई उस (वेदवाक्) को उन्होंने ढूँढ पाया, इस मन्त्रमें पूर्व विद्यमान ही वाक्को ऋषियोंमें प्रवेश और लोगोंका उसे ढूँढ पाना बतलाया है। स्मृतिमें है—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।" 'युगके अन्तमें छिपे हुए वेदोंको महर्षियोंने ब्रह्मासे अनुज्ञा पाकर अपने तपोबलसे, इतिहासोंके समेत, पाया।' वंश-ब्राह्मणोंमें, जहाँ ऋषियोंकी परम्परा बतलायी है कि, यह उपदेश अमुक ऋषिने अमुक ऋषिसे और उसने भी पहले अमुक ऋषिसे पाया था, वहाँ अन्तमें जाकर यह आता है कि, उसने परमेष्ठी वा प्रजापतिसे और परमेष्ठीने ब्रह्मसे पाया। इस प्रकार सर्वत्र उसका आदि स्रोत ब्रह्मको बतलाया है। इस प्रकार वेद अनादि कालसे एक रूप चला आ रहा है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि पूर्व कल्पमें परमेश्वरने रचे थे, वैसे ही इस कल्पमें रचे हैं। जैसा कि, कहा है—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।" ऋग्वेद १०।१९०।३)। 'धाताने सूर्य, चन्द्र, द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्लोकको वैसा रचा है, जैसा कि, पूर्व कल्पमें रचा था।' इसी प्रकार उसने वेदको पूर्व कल्पके अनुसार प्रकट किया है। वही वेद, वही यज्ञ, वही वर्णाश्रमोंकी मर्यादाएँ, बल्कि ऋषियोंके नाम आदि भी वही, हैं, जो पूर्व कल्पमें थे। जैसा कि, स्मृति बतलाती है—"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु। यथाऽभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च।" ऋषियोंके नाम और वेदोंमें जो दृष्टियाँ (धर्म आदिके ज्ञान) हैं, वही प्रलयके अन्तमें उत्पन्न हुए (ऋषियों) को ब्रह्मा देता है। जैसे ऋतुओंकी अपनी-अपनी बारीपर उस-उस ऋतुके नाना प्रकारके चिन्ह अपने आप आ प्रकट हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार युगोंके आदिमें सारे पदार्थ (पूर्ववत्) देखे जाते हैं। जो अभिमानी देवता पूर्व कल्पमें थे, वे भी अपने नाम-रूपमें वही थे, जो इस कल्पके हैं।'

सारांश यह है कि, वेद ईश्वरीय है, नित्य है, उसका प्रकाश कल्पके आरम्भमें ऋषियों द्वारा हुआ। यही सिद्धान्त एक थोड़े से भेदके साथ श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीका है। भेद यह है कि, वेद, सृष्टिके आदिमें, साक्षात् परमात्मासे, चार ऋषियोंपर प्रकाशित हुए हैं। वे चार ऋषि हैं—अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा। वेदकी चार संहिताएँ हैं और उनमें इतिहास कहीं नहीं है।

(३) वेद आर्ष है।

निरुक्त आदि कई आर्ष ग्रन्थोंसे यह सिद्धान्त झलकता है कि, ईश्वर-परायण शुद्धात्मा विशालहृदय ऋषियोंके निर्मल हृदयोंमें तपोबलसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयोंका जो प्रतिभान (साक्षात् दर्शन) हुआ, वह आर्ष ज्ञान कहलाता है। उस आर्ष ज्ञानको उन द्रष्टाओंने अपनी भाषामें जिन वचनों द्वारा प्रकाशित किया, वही वेद है। वेदमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके जो अटल नियम वर्णित हैं, वे सदा एकरस रहते हैं। उनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। कल्प-कल्पान्तरोंमें उन्हींका प्रकाश होता है। वे ही मनुष्यों वा जातियोंकी उन्नतिके साधन हैं। हाँ, जिस भाषामें, जिस ढंगसे, जिन वचनोंके द्वारा, ऋषियोंने उनका उपदेश किया है, वह सब कुछ उनका अपना है। इस प्रकार ऋषियोंकी रचना होनेसे वेद आर्ष कहलाता है। आर्ष दृष्टिका एक स्पष्टीकरण सुनिये—

(१) वेदमें जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिके नियम आये हैं, वे अपौरुषेय वा ईश्वरीय हैं। वंश-ब्राह्मणोंमें सर्वत्र उस-उस विद्याका आदि मूल ब्रह्म बतलानेका यही तात्पर्य है और यही उन वचनोंका तात्पर्य है, जिनमें परमेश्वरसे वेदकी उत्पत्ति कही गयी है।

(२) वेदके वाक्य उस समयकी भाषामें ऋषियोंके अपने रचे हुए हैं। इसमें प्रमाण है मन्त्रोंमें "स्तोमं जनयामि नव्यम्।" 'मैं एक नये स्तोत्रको जन्म देता हूँ (१।१०९।२)।' इस प्रकारके मन्त्र, (२) राजाओं और ऋषियोंके इतिहासोंके बोधक वाक्य (देखिये निरुक्त २।१०, ११ देवापि-शन्तनुका इतिहास), (३) ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंका प्रमाण देते हुए

'तदुक्तमृषिणा', ऋषिने कहा है इत्यादि कथन, (४) बृहदारण्यकमें "अपि हि न ऋषेवचः श्रुतम्" 'क्या तूने ऋषिका वचन नहीं सुना ?' कहकर 'द्वे श्रुती अशृणवम्' (१०।८८।१५) मन्त्रका प्रमाण देना, (५) निरुक्त (१०।४२) में 'प्रतद्वोचेय...' मन्त्रपर विचार करते समय मन्त्रमें 'अवसर्वेत', पदके दो बार आनेका प्रयोजन कहकर कहा है, "तत्परुच्छेपस्य शीलम्", 'यह परुच्छेपका शील है' अर्थात् परुच्छेप ऋषिका शील है कि, वह अपनी रचनामें एक बार कहे शब्दको दुवारा लाता है। १।१२७ से १३४ तक १३ सूक्तोंका ऋषि परुच्छेप है। इन सूक्तोंमें यह विलक्षणता स्पष्ट है। इत्यादि कथन वेद-वाक्योंको ऋषियोंकी अपनी रचना बतलाते हैं, न कि, अपौरुषेय ?

(३) मन्त्र-रचनाका काल ऋषियोंको कुछ पीढ़ियोंतक बराबर चलता है। उसके अनन्तर ब्राह्मणों और ब्राह्मणोंके अन्तमें आरण्यकों और उपनिषदोंका काल है। यहांतक ऋषियोंका काल समाप्त हो जाता है।

(४) वेदमें कल्पित आख्यायिकाएँ भी हैं और सच्चे इतिहास भी हैं। तात्पर्य, दोनोंका प्रकृत कर्म, उपासना वा ज्ञान वा श्रद्धा उत्पन्न कराना है। फलतः वेद ऋषिकृत; अतएव आर्ष है।

(५) वेद पौरुषेय है।

पश्चिमीय विद्वान् और इस देशके भी कई विद्वान् वेदको पौरुषेय मानते हैं। उनको दृष्टिमें कोई भी धर्म पुस्तक वा धर्म किसी निराले ढंगपर साक्षात् परमात्मासे नहीं मिला; किन्तु मनुष्यने स्वयमेव उसमें उन्नति की; धर्म और परमात्माके समझनेका स्वयमेव यत्न किया। इस प्रकार यत्न करते हुए आर्योंने जिस धर्मका साक्षात् किया और उपासना तथा ज्ञानका जो भाग देखा, उसका मन्त्रों द्वारा उपदेश दिया। मन्त्रोंके पीछे ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् बनीं। इस पक्षवाले वेदमें आर्यजातिकी धर्मोन्नतिके साथ-साथ उनकी राजनीतिक उन्नति आदिका इतिहास भी देखते हैं तथा वेदकी पूरी-पूरी खोज करनेपर कई प्रकारके ऐतिहासिक तत्त्वोंके मिलनेकी आशा भी रखते हैं। इन सभी पक्षोंमें वेद उपादेय और विचारणीय सिद्ध होता है।

ऋग्वेदमें इतिहास

याभिरन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभिर्जिजिन्वथुः।
याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विनागतम्॥

(ऋग्वेद १।११२।६)

कूपमें फेंककर असुर लोग जिस समय अन्तक नामक राजर्षिकी हिंसा कर रहे थे, उस समय तुम लोगोंने जिन उपायों द्वारा उनकी रक्षा की थी, जिन सब व्यथा-शून्य नौका-रूप उपायोंके द्वारा समुद्रमें निमग्न तुग्र-पुत्र भुज्युकी रक्षा की थी और जिन सब उपायों द्वारा असुरों द्वारा पीड्यमान कर्कन्धु और वय्य नामके मनुष्योंकी रक्षा की थी, उनके साथ, हे अश्विनी-कुमार द्वय, आओ। (सायण-भाष्यका अनुवाद)

वेदकी नित्यता

महामहोपाध्याय प० सीताराम शास्त्री
(प्रोफेसर, विश्वविद्यालय, कलकत्ता)

इस विषयपर पुराने और नये लोगोंने असंख्य ग्रन्थ लिखे हैं। सबका अति संक्षिप्त परिचय लिखना भी सम्भव नहीं है। तो भी यथासाध्य कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है।

जैमिनि ऋषिकी पूर्व मीमांसावालोंके मतमें वेद किसीके बनाये नहीं हैं; किन्तु वे अनादि कालसे ऐसे ही चले आते हैं। प्रलय कालमें उनका तिरोभाव होता है। सृष्टि-कालमें भगवान् "सुप्त प्रतिबुद्ध" न्यायसे पूर्व कालके वेदको स्मरण करके उपदेश देते हैं। इसी रीतिसे बराबर चलता है। इसका कोई आदि काल नहीं है। वेदका आदि काल माननेमें कोई प्रमाण भी नहीं है। इतना ही नहीं, वरन यह युक्तिसे विरुद्ध भी है। लोग कहते हैं, यदि वेदोंको अनित्य माना जाय, तो उसे बनानेवाला चाहिये और वह बनानेवाला सिवा मनुष्यके कोई नहीं हो सकता। पुरुषने वेद अगर बनाया तो, वह पौरुषेय कहा जायगा; परन्तु पुरुषसे वेद बनाया नहीं जा सकता; क्योंकि वेदको पुरुष बनाता, तो कैसे बनाता? वर्ण बनाता या शब्द बनाता? शब्दोंका अर्थोंके साथ नया संबन्ध करता या वाक्योंको बनाता? क्या वह स्वतन्त्र अपना नाम देता? वर्णको तो पुरुष बना नहीं सकता; क्योंकि वे नित्य हैं। हजारों जगह हजारों वक्ताओं द्वारा कहे हुए वर्णोंकी "वे ही ये हैं," ऐसी पहचान होती है। यदि वर्ण अनित्य होते, तो उनके प्रत्येक बारके उच्चारणमें भिन्नता होनेसे "वे ही ये हैं", ऐसी पहचान न हो सकती। इसे शास्त्रकार प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण द्वारा वर्णोंके नित्य होनेसे मनुष्य वर्णोंको नहीं बना सकता। शब्द वर्ण-समुदाय-स्वरूप है और वह समुदाय शब्दोंसे अतिरिक्त वस्तु नहीं। इसलिये शब्दोंको आदमी नहीं बना सकता। वस्तुतः वर्णोंका समुदाय हो नहीं हो सकता; क्योंकि अनेक वर्ण एक कालमें अभिव्यक्त नहीं होते। शब्द बनाना भी संभव नहीं। बने शब्दोंके साथ अर्थोंका संबन्ध करना भी पुरुषकी शक्तिसे परे है। इसलिये जैमिनि महर्षिने कहा है कि, शब्दका अर्थके साथ स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है; किसीका बनाया हुआ नहीं। पुरुष केवल उसका उपदेश कर सकता है। वाक्य बनानेके द्वारा वेद बनाना भी ठीक नहीं; क्योंकि वाक्योंको अर्थ-बोधकत्व ही नहीं होता। शब्दसे अर्थ अपने सबन्धका बोध करता है, जिसको लोग वाक्यार्थ कहते हैं। वेदका यदि कोई कर्ता होता, तो उसको उसके समकालिक लोग जानते। वे लोग अध्ययनके समय अपने शिष्योंको भी उसका नाम बताते; क्योंकि कर्ताके प्रामाण्य और माहात्म्यसे ही उसके बताये हुए उपदेश प्रामाणिक माने जाकर उनका अनुष्ठान होता है। कर्त्ताको न जाननेसे वैदिक उपदेश अप्रमाण हो जाते और उनका कोई अनुष्ठान नहीं करता। प्रत्यक्षमें तो उसके विपरीत स्थिति है; क्योंकि कर्ताका तो किसीको नाम नहीं है और वेदमें कहे उपदेशोंका

प्रामाण्य अबाधित माना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि, अध्ययन-अध्यापन-परंपरामें कर्ताका नाम नहीं है।

प्राचीन लोगोंका कहना है कि, वेदका कोई कर्ता न होनेसे ही कर्त्ताका नाम अध्ययनाध्यापन-परम्परामें नहीं है। अगर होता, तो उसका विस्मरण कदापि संभव नहीं; क्योंकि उसीके प्रामाण्यसे स्वर्ग आदि वैदिक उपदेशोंका प्रामाणिकत्व है। कर्त्ताका विस्मरण होते ही इन सब उपदेशोंके अप्रामाणिक हो जानेसे उनका अनुष्ठान कोई नहीं करता। इसलिये वेदका कर्ता न होनेसे ही उसका नाम किसीने नहीं कहा; इसीलिये उसका ज्ञान नहीं होता। इसीको कर्ताकी प्रत्यक्षानुपलब्धि कहते हैं। प्रत्यक्षानुपलब्धि प्रत्यक्षके समान ही सभी प्रमाणोंसे प्रबल होती है। उसके विरुद्ध किया अनुमान भी बाधित हो जाता है। व्यासका 'भारत', कालिदासका 'रघुवंश'; इसी रीतिसे काठक, कौथुम इत्यादि नामोंसे कर्ताका अस्तित्व माने; यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि, काठक, कौथुम आदिका अर्थ कठने वेदका प्रवचन (पाठ और उपदेश) किया, ऐसा होता है, न कि कठने वह बनाया। अतः वेद अनादि; अतएव नित्य है।

उत्तर मीमांसक (वेदान्तिक) कहते हैं कि, नित्य केवल परब्रह्म ही हो सकता है। उसके व्यतिरिक्त सब पदार्थ अनित्य हैं। इसलिये वेद भी अनित्य ही है। उसको नित्य कहनेका मतलब यह है कि व्यवहार-कालमें, काल, आकाश इत्यादि पदार्थोंकी उत्पत्ति न होनेसे जैसे वे नित्य कहलाते हैं, वैसे ही वेदोंकी भी उत्पत्ति व्यवहार-कालमें नहीं होती है, इसलिये वे भी नित्य ही हैं। प्रकृतिसे सर्व-प्रथम सृष्टिमें काल, आकाश आदिकी तरह वेदकी भी उत्पत्ति होती है। पुरुष उसका उच्चारण करता है, इसलिये वह उसका कर्त्ता नहीं हो सकता।

न्याय, वैशेषिक प्रभृति दर्शनोंका कहना है कि, वेद उत्पन्न तो होता है; परन्तु उसको सिवा परमेश्वरके और कोई नहीं बना सकता; अतएव वह प्रमाण है। उन्हींमें किसी एक देशीयका कहना है कि, ईश्वर भी स्वतन्त्र शरीर लेकर वेदको नहीं बनाता; किन्तु कश्यपादि ऋषियोंके रूपको धारण कर वेदको बनाता है।

नवीन लोगोंका कहना है कि, वेद जरूर बनाया गया है। वह ज्ञात-अज्ञात ऋषियों द्वारा बनाया गया ग्रन्थ है; अतएव उसका कोई काल होना चाहिये।

प्राचीन लोगोंका कहना है कि, ऋषि केवल द्रष्टा होते हैं, कर्त्ता नहीं। यदि ऋषियोंको कर्त्ता माना जाय, तो विश्वामित्रने गायत्रीमन्त्रका दर्शन किया, इसलिये वह भी उसके कर्ता माने जायँगे। फिर उसके पूर्व कालमें गायत्री-मन्त्रका अभाव मानना पड़ेगा। यह बात नहीं है; इसलिये वेद नित्य है।

वेदका नित्यत्व

पं० बुलाकीलाल मिश्र, राजवैद्य
(छत्रहार, तारापुर, भागलपुर)

वेदको नित्यता, अनित्यता, अपौरुषेयत्व, पौरुषेयत्व आदिके ऊपर सैकड़ो मतवाद हैं। सब वादोंको संग्रह करना विकट व्यापार है, क्योंकि उनका अविकल संकलन निःसन्देह पुस्तक-राशि हो जायगा। वेदको जो, जिस नेत्रसे देखता है, वह उसके लिये उसी प्रकारकी दलीलें पेश करता है। मैं यहांपर नित्यताके विषयमें प्राचीनोंके कुछ मत उद्धृत करूंगा।

वेदकी नित्यताके विषयमें जैमिनि मुनिने बहुत कुछ कहा है। ये शब्दकी नित्यतासे ही वेदकी नित्यता सिद्ध करते हैं; अतः शब्दको अनित्य कहनेवाले गौतम, कणाद आदिकी जो दलीलें है, उनका इन्होंने युक्ति-युक्त खण्डन किया है

(१) अनित्यता-वादी कहते हैं—शब्द स्वयं उत्पन्न या स्वयम्भू नहीं है; वह कण्ठ, तालु आदिके प्रयत्नसे उत्पन्न होता है; अतः शब्द एक प्रकारकी उच्चारण-क्रिया है। उच्चारित हानेपर ही थोड़ी देरके लिये शब्द प्रत्यक्ष हाता है; इसलिये शब्द अत्यन्त अल्प समयके लिये ही आकाशमें ठहरता है। वह पहले पलमें उदित, दूसरेमें स्थित और तीसरेमें विनष्ट होता है। तब यह कहना, उचित नहीं कि, त्रिक्षण-वृत्तिवाला शब्द नित्य है। इसलिये जो प्रयत्नसे उत्पन्न है, वह कभी, नित्य नहीं हो सकता।

(२) "शब्द करो", "शब्द करता है"—ऐसे लौकिक प्रयोगोंसे भी शब्दकर्ता स्पष्ट ज्ञात होता है। जो किया जाता है, वह कार्य होता है और कार्य कभी नित्य नहीं होता। शब्द जब कार्य है ,तब उसकी नित्यता कैसी?

(३) एक ही समय जब हजारों मनुष्य, हजारों जगह, एक ही शब्दका उच्चारण करते हैं, तब यह कैसे कहा जाय कि, शब्द नित्य है। यदि शब्द नित्य होता, तो यह बात उसमें नहीं रहती।

(४) जो नित्य है, उसमें कुछ हेर-फेर नहीं होता है; किन्तु व्याकरण-ग्रन्थमें शब्दोंकी प्रकृति और विकृति होती है। ऐसी बात देखकर भी भला कौन शब्दको नित्य कहेगा? परिवर्तनशील वस्तु होनेके कारण अवश्य ही शब्द अनित्य है।

(५) दस आदमी जब मिलकर बोलने लगते हैं, तब शब्द बढ़ जाता है। रोगी और बच्चेके द्वारा जब शब्द उच्चारित होता है, तब वह कम हो जाता है। इसलिये ह्रासशील और वृद्धिशील शब्द नित्य कैसे?

(१) इन सब दलीलोंका उत्तर जैमिनि इस प्रकार देते है—शब्द उच्चारणके पूर्व उपलब्ध नहीं होता है, बोलनेपर ही उपलब्ध होता है; तो क्या इतनेसे ही उसमें कृतकत्व मान लिया जायगा? उच्चारण करनेके पहले नित्य अवस्थित और निराकार शब्द अनवबुद्ध यानी अव्यक्त रहता है। शब्द विनष्ट नहीं होता, केवल उच्चारण करनेके कुछ क्षणके बाद श्रवणेन्द्रियके अगोचर हो जाता है। संसारमें ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं, जो रहती हैं; पर इन्द्रियोंकी अगोचर होकर। उच्चारित होकर भी शब्द शब्द-कारीके साथ सम्बन्ध नहीं रखता। राम शब्द श्रुति-गोचर होकर जो एक ज्ञान कराजाता है, वही ज्ञान पुनः श्रवण-कर्त्ताके हृदयमें उच्चारित होनेपर दूसरे समयमें भी कराता है। अतः

शब्दके अर्थकी जो यह अभिन्नता अर्थात् दो समयोंमें उच्चारित शब्दका जो एक ही अर्थ होता है, उससे ही शब्दकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) "शब्द करो", यह जो कहा जाता है, उसका अर्थ शब्द-निर्माण नहीं है; बल्कि उच्चारण करानेके अर्थमें है। मनुष्य ध्वनिकर्त्ता है, शब्दकर्त्ता नहीं। गो शब्द उच्चारण करनेसे ही निखिल गो-पिण्डका ज्ञान हो जाता है। शब्दका यदि नित्य अवस्थान नहीं रहता, तो एक साथ गो-पिण्डका ज्ञान नहीं हो सकता। यह तो कोई भी नहीं कहता कि, आठ बार गो शब्दका उत्पादन करो; प्रत्युत यह कहा जाता है कि, आठ बार गो शब्दका उच्चारण करो। यह जो सार्वजनीन अनादि-सिद्ध व्यवहार है, वही शब्दोंका एकत्व और नित्यत्व सिद्ध करता है। उत्पन्न द्रव्यका ही उपादान कारण होता है; किन्तु शब्द-उत्पादनके लिये उपादान कारण दुर्लभ है। वायु शब्दका उपादान नहीं हो सकती। हाँ, ध्वनिमें वायुकी कारणता अवश्य है। ध्वनि और शब्दका पार्थक्य सर्ववादि-सम्मत है।

(३) नित्य अवस्थित सूर्य एक है और उसे सैकड़ो लोग बहुत जगहोंमें, एक ही समयमें, देखते हैं; इसी तरह शब्द भी एक-कालावच्छेदेन बहुतोंके द्वारा बहुत जगहोंमें एक ही समयमें उच्चारित होता है; तथा भिन्न-भिन्न व्यक्ति शब्दका एक रूप अर्थ ही ग्रहण करते हैं। निश्चय ही किसी शब्दको सुनकर प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें समभावसे या अभिन्न रूपसे वही अर्थावबोध होता है, जो कि, दूसरेको हुआ है।

(४) शब्दकी क्षय-वृद्धि नहीं होती है; क्योंकि बारम्बार उच्चारण करनेपर भी उसमें उसका रूप पूर्वकी तरह ही रहता है। व्याकरण ग्रन्थमें "इ" के स्थानमें "य" हो जाता है; पर यह प्रकृति-विकृति-भाव नहीं है; क्योंकि दोनों वर्ण पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

(५) शब्द ह्रासशील या वृद्धिशील भी नहीं है। दस आदमी जब इकट्ठे होकर बोलने लगते हैं, तब केवल शब्द-ध्वनि बढ़ती है। शब्द नहीं घटता-बढ़ता है। इसी प्रकार रोगी या बच्चेकी गल-ध्वनि क्षीण होनेके कारण—आवाज बुलन्द नहीं रहनेके सबबसे—ध्वनि या उच्चारणमें क्षीणता मालूम पड़ती है। ध्वनिकी कमी-बेशीसे शब्दका घटाव-बढ़ाव कैसा ?

इतनी युक्तियाँ तो एक दलकी हैं; और, दूसरे एक दलका मत है कि, वेद शब्दमय है, यानी अक्षर, वाक्य और शब्द आदिका जो समष्टि-स्वरूप है, वही वेद है; जैसे कि, मेघदूत और शाकुन्तल। इन दोनोंके कर्त्ता कालिदास हैं। इसी प्रकार वेदके रचयिता कठ, शाकल, कण्व प्रभृति ऋषि हैं। तब किसीका किया हुआ यह कार्य (वेद) कैसे नित्य हो सकता है ? जैसे कि, घड़ा कुम्हारके द्वारा बनाया जाता है—कार्य कहलाता है और आये दिन नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार वेद भी है ? इस लिये वेद अनित्य है और पौरुषेय है।

इसके उत्तरमें दार्शनिक कहते हैं कठ, कण्व आदि वेदके रचयिता नहीं हैं। उन्होंने अपने शिष्योंको पढ़ाया है। जिस शाखाको जिस ऋषिने पढ़ाया है, उस शाखाका नामकरण उनके शिष्योंने उन्हींके नामपर किया है। यदि एक ही ऋषिकी बनायी एक शाखा रहती, तो बहुत-सी ऋचाएँ प्रत्येक शाखामें अविकल रूपसे नहीं मिलतीं। क्या कभी कालिदास और भवभूतिके श्लोक, ज्यों-के-त्यों, दो पुस्तकोंमें मिल सकते हैं ? बात दर असल यों है कि, वेदके रचयिता कठ, कण्व, कपिष्ठल, शाकल, वाष्कल आदि ऋषि नहीं; बल्कि इन पुरुषोंके अतिरिक्त कोई एक वेद बनानेवाला है—जिसका नाम परमेश्वर है।

वेदमें केवल दो चार मनुष्योंके नामोंको देखकर ही कोई इसे अनित्य नहीं कह सकता; क्योंकि, ईश्वरीय ज्ञान

नित्य है और वेद भी नित्य है। ईश्वरीय ज्ञानके समक्ष सैकड़ों ब्रह्माण्ड हस्तामलकसे हैं, वहाँ दो-चार नामोंको कौन पूछे ?

वेद कुम्हारका घड़ा नहीं है यानो कार्य नहीं है; क्योंकि वेद परमेश्वरका निःश्वास है। जैसे मनुष्य साँस लेकर भी साँसका निर्माता नहीं हो सकता, वैसे ही वेदका निर्माता ईश्वर भी नहीं कहलाता। मतलब यह है कि, परमेश्वरके निश्वास-रूपमें वेद स्वतः अभिव्यक्त हुआ है। अतः वेदमें कार्यत्व लानेकी कोई गुँजाइश नहीं।

किसीकी एक यह भी दलील है कि, इन्द्र, मरुत आदिका जो इसमें नाम है, उसीसे वेदका कृतकत्व सिद्ध हो जाता है; क्योंकि उत्पन्न मनुष्योंका ही नाम रखा जाता है और जो उत्पन्न होता है, उसका प्रागभाव या उत्पत्तिके पहले अभाव अवश्य रहता है। फलतः वेदमें अनित्य जनका चरित वर्णित होनेके कारण वेद अनित्य है।

सच्ची बात चाहे जो हो; किन्तु हमारे प्राचीन दार्शनिकोंका कहना है कि, परम पुरुषके निश्वाससे—स्वाभाविक रूपसे—वेद आविर्भूत हुआ है। समस्त निश्वास इच्छा-निर्मित और पौरुषेय नहीं है; क्योंकि, सुषुप्ति-अवस्थामें जो निश्वास लिया जाता है, वह इच्छा-पूर्वक और पौरुषेय नहीं होता—स्वाभाविक है। इसी प्रकार वेद परमात्माका स्वाभाविक निश्वास है, अपौरुषेय है और नित्य है।

पुरूरवाके पौत्र नहुष

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम् ।
इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीं पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते ॥

(ऋग्वेद १।३१।११)

अग्नि ! देवोंने पहले पुरूरवाके मानवरूपधारी पौत्र नहुषका तुम्हें मनुष्यशरीरवान् सेनापति बनाया। साथ ही उन्होंने इलाको मनुकी धर्मोपदेशिका भी बनाया था। जिस समय मेरे पिता अङ्गिरा ऋषिके पुत्र-रूपसे तुमने जन्म ग्रहण किया था।

(सायण-भाष्यका अनुवाद)

वेदकी नित्यता

प० नाथूराम शास्त्री गौड़
(अध्यापक, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

यह बात निस्सन्दिग्ध है कि, वेदके पूर्व कोई भी अन्य ग्रन्थ नहीं था। इस बातको पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वेदमें ऐसे यज्ञ, योग, स्तुति, विज्ञान आदिका निरूपण किया गया है, जैसा कि, अन्यत्र संभव नहीं। ऐसा होना भी चाहिये; क्योंकि वेदका ही अवलम्बन करके सभी ग्रन्थ बनाये गये हैं। वेदके अति गम्भीर अर्थ-ज्ञानके लिये ही शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष्—ये छः वेदाङ्ग तथा धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, न्याय, ये चार वेदोपाङ्ग बनाये गये हैं। संसारके प्रायः सभी लोगोंको यह बात मालूम है कि, संसारमें १४ विद्याएँ हैं। वे चौदह विद्याएँ—छः अङ्ग, चार उपाङ्ग और चार वेद मिल कर ही कहलाती हैं। याज्ञवल्क्यने कहा है—

"पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥"

ये छः अङ्ग और चार उपाङ्ग मिलकर १० विद्याएँ केवल वेदके अङ्ग-उपाङ्ग मानी गयी हैं। जिस प्रकार मनुष्यादिके जन्मके निर्वाहके लिये हाथ, पैर, नाक, मुख आदिकी आवश्यकता है, इसी प्रकार वेद-पुरुषके लिये, यह भी नितान्त अपेक्षित हैं। इस प्रकार इन विद्याओंके अतिरिक्त वर्तमान कालकी जितनी शास्त्र-ज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे सभी साक्षात् परम्परया वेदके ही उपजीव्य हैं। क्या कोई संसारमें ऐसा विद्वान् है, जो यह प्रमाणित कर दे कि, वेदातिरिक्त कोई ग्रन्थ, कहीं भी, त्रैलोक्यमें ऐसा है, जिसके अर्थ-ज्ञानके लिये इतनी विद्याएँ अपेक्षित हों? आजकल देखा जाता है कि, जो लोग जन्मपर्यन्त परिश्रम करते हैं, उनको किसी प्रकार एक अङ्ग (व्याकरण) वा उपाङ्ग (पुराण) का कुछ मार्मिक ज्ञान होता है; बहुतोंको तो वह भी नहीं। अब इस बातको सोचना चाहिये कि, जब एक विद्याके ज्ञानके लिये दो अथवा तीन मनुष्य-जन्म अपेक्षित हैं, तब दश विद्याओंको जानकर तदनन्तर कुछ विचार कर अति गम्भीर वेदका अर्थ-ज्ञान करना मनुष्यके लिये कितना दुर्लभ है! वेदके कर्त्ताको कोई भी नहीं बता सका; इसलिये वेद नित्य है। किस कल्पमें वेद बनाया गया, यह कोई नहीं कह सकता है। वेद प्रत्येक कल्पमें अभिव्यक्त होता है—"प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते," यह वाक्य पूर्व-पूर्व कल्पोंकी श्रुतियोंके अस्तित्वको कहता है। पूर्व मन्वन्तरमें जिस प्रकारकी श्रुति थी, उसी प्रकार इस मन्वन्तरमें भी है और आगे भी रहेगी। यह बात युक्तियुक्त है; अतएव वेदराशिको ईश्वरकृत माननेवाले ग्रन्थकार लोग अपौरुषेय-वादी मीमांसकोंके बहुत दूर नहीं है; क्योंकि वे लोग भी ईश्वर-कृत माननेमें प्रमाण नहीं दे पाते। किन्तु शब्दोच्चारणको संसारमें पुरुषकृत देखते हुए वैदिक शब्दराशिको भी किसी पुरुष-विशेषने उच्चारण किया होगा; सो, 'हमलोग उच्चारयिता हो नहीं सकते, अतएव सबसे पहले होनेवाला ईश्वर ही हो सकता है,' यही युक्ति कहते हैं। इस प्रकारका अनुमान करनेसे ईश्वरकृतत्व कदापि नहीं सिद्ध हो सकता है। यह बात ईश्वरके पहले अपने अस्तित्वको बतलानेवाली—

"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट करती हैं। मीमांसक लोग तो कहते हैं कि, सभी उत्सर्ग अपवाद-युक्त होते हैं। अतः लौकिक शब्दका उच्चारण करनेवाला कोई पुरुष होता है। अतएव वेदका भी उच्चारण करनेवाला कोई पुरुष ही हो, यह नियम नहीं है। सभी बातें प्रमाणसे सिद्ध होती हैं। यदि इस विषयमें कोई उपयुक्त प्रमाण मिले, तो यह बात मानी जा सकती है।

लौकिक शब्दोंमें प्रत्यक्ष सदृढ़ प्रमाणसे कर्त्ताको देखकर संकर्तृकत्व अंगीकार करते हैं। वैदिक शब्दोंमें प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करनेपर भी कोई कर्ता उपलब्ध नहीं होता; इस-लिये उसको अपौरुषेय मानते हैं। जो बात प्रमाणसे सिद्ध न हो सके, उसकी, अपनी बुद्धिसे, कल्पना नहीं करनी चाहिये। इसलिये शब्दोच्चारणका सकर्तृकत्व सिद्ध होनेपर भी वैदिक शब्दोंका कर्ता नहीं माना जा सकता। इसी आशयको शाबर-भाष्य, शास्त्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें भली भाँति उपपादन किया गया है।

अतएव हमलोगोंके प्राचीन आचार्योंका और हम-लोगोंका आजतक यही निर्णय है कि, वेद कदापि कृत्रिम नहीं हो सकता।

वेदमें नदी, पर्वत, राजा आदिकी जो चर्चा उपलब्ध होती है, वह भी अपौरुषेयत्व माननेमें असंगत नहीं; क्योंकि वेदमें जो नाम, कथा, चरित्र आदि उपलब्ध होते हैं, वे किसी नदी अथवा पर्वत आदिको उद्देश्य करके नहीं हैं। व्यवहारके लिये अथवा प्ररोचनाके लिये परिकल्पित हैं। वे जो नाम वेदमें आ गये हैं, वे बड़े पवित्रतम हैं, ऐसा मान कर जब-जब लोग उत्पन्न हुए, तब-तब उन्हीं नामोंसे व्यव-हार करने लगे। उन व्यवहार करनेवालोंमें सबसे प्रथम प्रजापति हुए। उनके पश्चात् इस उपायको सभी लोगोंने ग्रहण किया। इसलिये वेदमें जो नाम थे, उन्हीं नामों लोगोंने व्यवहार किया। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, इन नामोंके प्रथम वेद ही नहीं था।

"वेदेन नामरूपे व्याकरोत् प्रजापतिः।" "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इत्यादि स्मृति-प्रमाण हैं। वेदसे ही सबके नाम-रूप बने हैं।

यद्यपि आजकलके पाश्चात्य विद्वानोंके तथा उनके संसर्गमें रहनेवाले देशी पण्डितोंके मनमें यह उपर्युक्त बात नहीं बैठती; तथापि इस विषयमें परिश्रम करके मैंने जो कुछ प्रमाण पाया, तदनुसार आप लोगोंके समक्ष उपस्थित किया है।

वेदकी अनित्यता

प० केशवलक्ष्मण दप्तरी, बी० ए०, एल-एल० बी०
(महाल, नागपुर)

पुराण-मतवादियों और मीमांसकोंका कथन है कि, जिस प्रकार आकाश, वायु आदि पञ्चभूत नित्य अर्थात् अनादि हैं, उसी प्रकार वेद भी नित्य है। इस लेखमें हम यह देखना चाहते हैं कि, क्या उनका यह कथन सत्य है?

वेद एक ग्रन्थ है। संसारके सभी ग्रन्थ किसी न किसी कालमें, मनुष्यके ही हाथों, निर्मित हुए हैं और वे अनित्य हैं, इसका हम प्रत्यक्षतया अनुभव करते हैं। यदि कोई कहे कि, वेद इस सामान्य नियमका अपवाद है और वह नित्य है, तो इस धारणाको सिद्ध करनेका उत्तरदायित्व उसपर ही होगा। हम देखते हैं कि, संसारके सभी मनुष्य अपनी माताकी गोदसे पैदा होते हैं। अतः जब कोई व्यक्ति इस अटल नियमके विरुद्ध आवाज उठाता है, तब उसे सिद्ध करनेका उत्तरदायित्व भी उसीपर होता है। वेदका भी ठीक यही हाल है। अन्य ग्रन्थोंके समान वेदके भी मनुष्यकृत, अतएव अनित्य होनेके कारण, 'वेद नित्य है', कहनेवालोंपर उसे सिद्ध करानेका उत्तरदायित्व है। जबतक वे, विश्वास-योग्य प्रमाणोंसे, इस बातको साबित नहीं कर पाते, तबतक वेद अनित्य हैं, ऐसा ही सबको मानना चाहिये। वेद नित्य है, यह सिद्ध करनेका प्रधान कर्म मीमांसकोंका है।

अब हम यह देखेंगे कि, मीमांसकोंने यह काम किस प्रकार सम्पन्न किया। मीमांसकोंका मुख्य ग्रन्थ है—शबर-स्वामिकृत जैमिनीय सूत्रोंका भाष्य; और, उसीमें वेदोंके नित्यत्वका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रतिपादनके आधारमें उसमें सिर्फ एक ही प्रमाण दिया गया है और वह यह है कि, वेदके रचयिताका किसीको भी स्मरण नहीं है। "यद्य एते पदसंघाताः पुरुषकृताः दृश्यन्ते इति, परिहृतं तदस्मरणादिभिः" (अ १, पा० १, सू० २५ का भाष्य) यद्यपि यह मान लिया जाय कि, वेदके रचियताका किसीको स्मरण नहीं है, तो भी उससे वेदका नित्यत्व नहीं सिद्ध होता। उदाहरणार्थ, किसी तालाबका ही दृष्टान्त लीजिये। यद्यपि आज कोई यह बता नहीं सकता कि, अमुक तालाबकी अमुक मनुष्यने रचना की है, तो भी अर्थापत्ति-प्रमाणसे हम यही मानते हैं कि, वह तालाब किसी मनुष्य द्वारा ही बनाया गया है। इसी प्रकार वेद भी, उसके रचयिताका विस्मरण होनेपर भी, मनुष्य द्वारा ही रचा गया है, ऐसा ही मानना चाहिये। और जब वह मनुष्यकृत है, तब वह अनित्य भी है, यह भी स्पष्ट है।

इसके अलावा भाषाका निर्माण होनेपर ही वेदकी रचना हो सकती है, उसके पहले नहीं। भाषा मनुष्य-निर्मित एवं अनित्य होती है। इसलिये वेद भी अनित्य और मनुष्यकृत है।

विना भाषाके वेदकी रचनाका होना असम्भव है, यह प्रमाण मीमांसकोंको बहुत खटकता है। शबर स्वामीने भी इस फंदेसे छुटकारा पानेकी बहुत कोशिश की है। यहाँतक कि, जिन शब्दोंकी भाषा बनी है,

वे शब्द भी नित्य हैं, ऐसा सिद्ध करानेका भी उन्होंने भरसक प्रयत्न किया है। किन्तु वे उसमें किसी हालतमें भी सफल-मनोरथ नहीं हो सकते। शब्द उस अक्षर-समूहको कहते हैं, जिससे कुछ अर्थबोध होता है। किसी अक्षर-समूहमें जो अर्थ होता है, वह मूलतः उसमें नहीं रहता; यदि वह रहता, तो एक ही अक्षर समूहका सब देशोंमें और कालोंमें एक-सा ही अर्थ होता। किन्तु वह वैसा नहीं होता, इसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। मनुष्योंने परस्परसे सङ्केत कर विशिष्ट अक्षर-समूहोंको विशिष्ट अर्थ दिये और इस प्रकार शब्द निर्मित हुए। इन सङ्केतोंसे जो प्रत्यक्षतया या परम्परया परिचित है, उन्हें ही उसके विशिष्ट अर्थोंका ज्ञान होता है, दूसरोंको नहीं। हम अब भी नवीन शब्दोंका निर्माण कर लेते हैं। इन सब प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि, शब्द और भाषा, दोनों अनित्य हैं; अतएव शब्द और भाषावाला वेद भी अनित्य है, यह स्पष्टतया दिखाई देता है।

शबरस्वामीके मतानुसार यद्यपि शब्द नित्य माने जायँ, तो भी वेद नित्य नहीं हो सकते। वेद एक ग्रन्थ है अर्थात् वह अनेक शब्दोंका व्यवस्थित समूह है, जो बिना मनुष्यके नहीं बन सकता। अतः शब्दोंके नित्य होते हुए भी जिस प्रकार अन्य ग्रन्थ नित्य नहीं हो सकते, उसी प्रकार वेद भी नित्य नहीं हो सकता। इसी लिये वेदको नित्य सिद्ध करनेके उद्देशसे शबर स्वामीने यह दलील पेश की है कि, वेदके रचयिताका स्मरण नहीं है। यह दलील कितनी थोथी है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब हम यहाँ यह भी दिखावेंगे कि, यह प्रमाण झूठ है अर्थात् वेदके रचयिताओंका स्मरण है और वेद मनुष्यने, विशिष्ट कालमें, बनाया था, इसका भी स्मरण है।

शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है कि, "संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः। स ऋचोव्यौहत्। द्वादशबृहती सहस्राण्येतावत्योहर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः। अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहती सहस्राण्यष्टौ यजुषां चत्वारि साम्ना एतावद्धैतयो वेदयोः प्रजापतिसृष्टम्।" (काण्ड १०, अ० ४, प्र० २, ब्रा० १८) 'संवत्सर ही प्रजापति और अग्नि है। उसने जब ऋग्वेदका व्यूह किया, तब उसकी संख्या बारह सहस्र बृहती हुई। प्रजापतिकी बनायी हुई ऋचाएं भी इतनी ही हैं। अनन्तर दूसरे दो वेदोंका व्यूह किया। तब यजुर्वेद आठ सहस्र और सामवेद चार सहस्र बृहतियोंका हुआ। दोनों वेद मिलाकर बारह सहस्र बृहती हुए। प्रजापति द्वारा निर्मित यजुर्वेद और सामवेद भी इतने ही हैं।'

शतपथ-ब्राह्मणके उपर्युक्त वचनसे प्रजापतिने अर्थात् संवत्सरने ऋग्, यजुष् और साम वेदोंका निर्माण किया है, यह स्पष्टतया प्रकट होता है। प्रतिवर्ष या कुछ वर्षोंके यानी युगके अन्तमें ऋग्, यजुष् और सामवेदोंकी नियमपूर्वक रचना किये बिना ही संवत्सरने वेद उत्पन्न किये हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि, प्रतिवर्ष अथवा कुछ निश्चित वर्षोंके बाद नये ऋग्, यजुष् और सामवेदोंकी नियमपूर्वक रचना होती थी।

इस सिद्धान्तको निम्नलिखित वचनोंसे सहारा मिलता है और उनसे यह भी सिद्ध होता है कि, एक युगके या मन्वन्तरके बाद नवीन मन्त्रोंकी रचना की जाती थी—

"प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।
ऋचो यजूंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम् ॥ १६॥"

(वायुपुराण, अ० ५९)

'प्रत्येक मन्वन्तरके समय नवीन श्रुतियोंकी रचना की जाती है। प्रत्येक देवताके लिये ऋग्, यजुष् और साम जिस रीतिसे पहले बनाये जाते थे, उसी रीतिसे बनाये जाते हैं।'

सम्भव है, इस अर्थसे कोई सज्जन सहमत न हों। वे कहेंगे कि, 'विधीयते' का अर्थ 'की जाती हैं' ऐसा न कर 'पहले मौजूद श्रुति ही काममें लगायी जाती थी' ऐसा करना चाहिये। किन्तु वह गलत है; क्योंकि उपरिनिर्दिष्ट वचनके बाद ही—

"ऋषीणां तप्यतामुग्रं तपः परमदुश्चरम्।
मंत्राः प्रादुर्बभूवुर्हि पूर्वमन्वन्तरेष्विह ॥ ६० ॥"

जो वचन है, उसमें मन्वन्तरोंके समय मंत्र हुए थे, ऐसा कहा है। इसके अलावा, आगे चलकर, श्लोक ८५ से १०४ तक, मन्त्रकर्त्ता (मंत्रकृतः) ऋषियोंके भी नामोंका उल्लेख है। इस 'मंत्रकृतः' शब्दसे भी 'विधीयते' का अर्थ 'की जाती है,' ऐसा ही करना पड़ता है।*

एक दूसरा आक्षेप और भी हो सकता है। हमने 'यथावत्' का अर्थ 'जिस रीतिसे पहले किये जाते थे, उसी रीतिसे' किया है। कोई उसका अर्थ 'पहले जैसी थी, वैसी' ऐसा भी करेंगे। यह अर्थ लेनेपर उनको यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि, यद्यपि उससे पहलेकी श्रुतियोंसे कुछ समानता पायी जाती हो, तो भी 'अन्या' शब्दसे कुछ भिन्नता भी अवश्य सिद्ध होती है। वह भिन्नता इतनी थी कि, नवीन मन्वन्तरमें रची हुई श्रुतियोंके लिये 'अन्य' विशेषण लगाया जा सका। शतपथ-ब्राह्मणके रचयिताके समय सभी मन्वन्तरोंमें बनाये हुए सभी मंत्र उपलब्ध थे और लगभग वे सभी आज भी उपलब्ध हैं। उन मंत्रोंकी ओर दृष्टिपात करनेपर नियमित समानता, केवल छन्दोंमें ही, पायी जाती है। कुछ मंत्रोंके अर्थमें भले ही समानता हो, किन्तु उससे उसके भिन्नत्वको कोई बाधा नहीं पहुँचती। इस प्रकारका अर्थ-साम्य अनेक कवियोंके काव्योंमें भी पाया जाता है। तथापि वे काव्य पृथक् माने जाते हैं; क्योंकि, "त एव पदविन्यासाः ता पदार्थविभूतयः। तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रन्थनकौशलात्।" यद्यपि अर्थ या शब्द एक हों, किन्तु ग्रथन-कौशलसे नवीन काव्य निर्माण होता है। प्रत्येक मन्वन्तरके समय मंत्रोंका विषय उन्हीं पुराने देवताओंकी स्तुति होनेके कारण अर्थ-साम्य होना असम्भव नहीं है। किन्तु इससे उसके भिन्नत्वका कोई बाधा नहीं पहुँचती।

"युगे-युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्"
(ऋग्वेद, ६।८।५)

'प्रत्येक युगमें नवीन स्तुति कहनेवाले हमको तुम यज्ञोपयोगी धन तथा यश प्रदान करो।' (यह अर्थ सायणाचार्यके अनुसार है।)

इस वचनसे प्रत्येक युगमें अर्थात् मन्वन्तरमें ऋषि नवीन वेदोंकी रचना करते थे, यह सिद्ध होता है।

---

*अभूतपूर्व वस्तुके उत्पादनके अर्थमें जन्, कृ, सृज्, तक्ष आदि धातुओंका प्रयोग, ऋग्वेद-संहिताके मंत्रोंमें, कई स्थानोंमें, आया है। इन धातुओंका प्रयोग ऐसे स्थानोंपर, ऐसे ढंगसे, आया है, जिससे विदित होता है कि, ऋषि लोग, आवश्यकतानुसार, बराबर नये-नये मंत्र बनाते थे—बहुत लोगोंकी ऐसी धारणा है, और, यह धारणा सायणाचार्यके ऋग्वेदभाष्यानुसार है। जो सज्जन इस विषयपर अधिक जानना चाहते हों, वे निम्नलिखित मंत्रोंका सायण-भाष्य देखें—ऋग्वेद १।३८।१४, १।२०।१, ७।६४।१, ६।११४।२, १०।८०।७, ४।१६।२१, १।६३।६, ७।१८।४, ६।१८।१५, ७।६७।६, ११।६६।१५, ८।८।१७, १०।२३।६, ७।२२।६, २।३६।८, १।१२।१२, १।१८४।५, ३।३०।२०, ४।६।११, १।४७।२, ५।२८।१, १०।१०।५ आदि, आदि। —सम्पादक

किन्तु इसपर भी पुराण-मतवादी लोगोंका आक्षेप बना रहता है। वे कहते हैं, "यद्यपि वेद-मंत्र ऋषियोंके मुखसे किसी कालमें निकले हों; किन्तु वे स्वयं उन्होंने नहीं बनाये हैं। वे ईश्वरी प्रेरणासे उन्हें केवल दृग्गोचर हुए और उन्होंने उनका उच्चारण किया।" किन्तु ऋषियोंके पीछे जो 'मंत्रकृत्' विशेषण लगाया गया है, वह इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। हम यहाँ यह भी मान लेनेको तैयार हैं कि, वेदों या अन्य स्थानोंमें पुराण-मतवादियोंके कथनके आधारमें कुछ वचन मौजूद हैं; किन्तु केवल उन वचनोंसे ही उनका कथन सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि ऋषियोंने मंत्र रचे हैं, इस अर्थके भी अनेक वचन वेदोंमें मिलते हैं, जिनमेंसे कुछ ऊपर दिये गये हैं। इन दोनों प्रकारके वचनोंका परस्पर समन्वय करना आवश्यक है। मीमांसकोंकी पद्धतिके अनुसार यह समन्वय करनेके लिये 'ऋषियोंको ईश्वरी प्रेरणासे मंत्र दृग्गोचर हुए' ऐसा कहना केवल ऋषियों और मंत्रोंकी स्तुति करना ही होता है। यदि किसी गवाहने अपने बयानमें परस्पर-विरुद्ध बातें कही हों, तो न्यायकी दृष्टिसे उसका वह बयान सत्य माना जाता है, जो उसे या उसके मित्रोंको हानिकर सिद्ध होता है। इसी दृष्टिसे वेदको ऋषिकृत एवं पौरुषेय सिद्ध करनेवाले वचन सत्य मानकर अन्य वचनोंको केवल स्तुत्यर्थक और आलङ्कारिक ही मानना चाहिये।

'अनादिवेद ऋषियोंने देखे थे,' इस सिद्धान्तके विरुद्ध और भी एक प्रमाण है। कोई भी भाषा मनुष्य-निर्मित होती ही है। संस्कृत भाषा भी इस नियमका अपवाद नहीं है। अनादि वेदका संस्कृत या किसी अन्य भाषाका रूप धारण करना असम्भव है, क्योंकि भाषा मनुष्य-निर्मित और अनित्य है। अतः वेद नित्य अथवा ईश्वरप्रेरित नहीं हो सकता। इस प्रमाणको टालनेके लिये कोई यह भी कहते हैं कि, ईश्वरने ऋषियोंको अर्थकी प्रेरणा की और उन्होंने उस अर्थको भाषाका रूप दे डाला। किन्तु यह कहना निरर्थक है। किसी भी ग्रन्थकारको प्रथम अर्थकी प्रेरणा होती है और तदनन्तर वह उसे भाषाका रूप देता है। क्या इस कथनमें कोई प्रमाण है कि—कालिदासकी प्रेरणा ईश्वरकृत नहीं थी और वेदके रचयिताओंकी प्रेरणा ईश्वरकृत थी? वास्तवमें सभी प्रेरणाएँ ईश्वरकृत मानी जानी चाहिये। कुछ प्रेरणाओंको ईश्वरकृत और कुछको पुरुष-बुद्धिकृत मानना असङ्गत है। अतएव वेद अनित्य है।

किन्तु इससे यह न खयाल करना चाहिये कि, वेद अप्रमाण है। यद्यपि वेद पुरुष-कृत है, किन्तु उसे उन ऋषियोंने बनाया है, जो उसे बनानेके अधिकारी थे। जबतक वैसे ही अधिकारी ऋषि उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं करते, तबतक वेद प्रमाण ही है। इस विषयका विशेष विवरण हमने अपने 'धर्म-रहस्य' नामक मराठी ग्रन्थमें लिखा है। अतः उसे छोड़कर अब युग अथवा मन्वन्तरमें कितना काल होता है, यहाँ यह देखेंगे।

वायुपुराणके ५६ वें अध्यायमें निम्नलिखित वचन है—

"एषां संवत्सरो ह्यग्निः सूर्यस्तु परिवत्सरः।
सोम इद्वत्सरः प्रोक्तो वायुश्चैवानुवत्सरः ॥२७॥
रुद्रस्तु वत्सरस्तेषां पञ्चाब्दा ये युगात्मकाः ॥२९॥"

इसमें पाँच वर्षोंके पाँच नाम देकर उन पाँच वर्षोंको युगकी संज्ञा दी गयी है। किन्तु अ० ५० के "संवत्सराद्यः पंच चतुर्मासविकल्पिताः ॥ १८३॥" वचनमें कहा है कि, जिसका मान चार है, ऐसे कालमें विकार कर संवत्सरादि पाँच माने जाते थे। इससे यह देख पड़ता है कि, ५ वर्षका युग

माननेके पूर्व चार वर्षका ही युग प्रचलित था और वास्तवमें तैत्तिरीय ब्राह्मणमें सिर्फ चार वर्षके ही नाम दिये हैं। उपर्युक्त पाँच नामोंमेंसे इद्वत्सरका नाम नहीं दिया गया है। सारांश, उन दिनों सिर्फ चार वर्षोंका ही युग माना जाता था।

अश्वमेध-सम्बन्धी निम्नलिखित वर्णनसे भी इस कल्पनाको सहारा मिलता है। शतपथ-ब्राह्मणमें लिखा है—

"प्रजापतिरकामयत् महान् भूयान् स्यामिति
स एतावश्वमेधे महिमानौ ग्रहावपश्यत्
तावजुहोत् ततो वै स महान् भूयानभवत् ॥१॥"

(काण्ड १३, अ० २, ब्राह्मण ५)

'प्रजापतिको अर्थात् संवत्सरको बड़ा होनेकी इच्छा हुई। उसकी इच्छापूर्ति करानेवाले दो ग्रह उसे अश्वमेधमें दिखे। उसने उनकी आहुति की और वह बड़ा हुआ। अश्वमेधसे प्रजापति बड़ा हुआ, इसका अर्थ यही है कि, उस समय बड़े वर्षमें अश्वमेध किये जाते थे। दूसरा वचन इस प्रकार है—

"प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवत्। यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वं तद् वा अश्वमेधे नैव प्रत्यदधुरेष ह वै प्रजापतिं सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते ॥१॥" (काण्ड १३, अ०३, ब्रा० ६)

'प्रजापतिके नेत्रको वृद्धि होने लगी और अन्त में वह गिर पड़ा और उसका घोड़ा बना। बैठनेके कारण अश्वको अश्वका नामाभिधान प्राप्त हुआ। बादको वह नेत्र देवोंने अश्वमेधसे ही पुनः लगा दिया। अतः जो अश्वमेध करता है, वह प्रजापति को पूर्णत्व देता है।

इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि, पहले ३६० दिनोंका जो वर्ष मानते थे, वह असली वर्षसे ५¼ दिनोंसे कम होनेके कारण असली संवत्सर और कृत्रिम सावन संवत्सरका अन्तर शनैः-शनैः बढ़ता जाता था और आगे चलकर वह अन्तर स्पष्ट-रूपेण निराला दीखने लगा। तब वह अन्तर अश्वमेध कर पूरा किया जाता था। संवत्सरकी यह पूर्ति, प्रत्येक चौथे वर्ष, की जाती थी, यह स्पष्ट है, क्योंकि उसी वर्ष पिछले अन्तरके पूर्णांक अर्थात् पूरे २१ दिन होते हैं।

इस अनुमानको निम्नलिखित वचनोंसे भी सहारा मिलता है—

"संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः। तस्य वा एतस्य संवत्सरस्य प्रजापतेः। सप्त च शतानि च विंशति-श्चाहोरात्राणि ॥१॥२॥"

(काण्ड १०।४।२)

"इसमें लिखा है कि, संवत्सरको ही प्रजापति कहते थे और वह ३६० दिनोंका था। दूसरा वचन इस प्रकार है—

"एकविंशतिः यूपाः सर्व एकविंशत्यरत्नयो रज्जुदालोऽग्निष्ठो भवति। पैतुदारवावभितः। षड् बैल्वास्त्रय इत्थास्त्रय इत्थाः। षट् खादिरास्त्रय एवेत्थास्त्रय इत्थाः। षट् पालाशास्त्रय एवेत्था स्त्रय इत्थान् ॥५॥"

'इक्कीस यूप और इक्कीस ही रस्सियाँ होती हैं। रज्जुदालका एक यूप अग्निके स्थानमें रहता है। पितुदारुके दो यूप अग्निके दोनों बगलमें होते हैं। बिल्वके छ यूप तीनके हिसाबसे अगल-बगलमें होते हैं। खैर (खदिर) के छ यूप तीनके हिसाबसे दोनों बगलोंमें होते हैं। इसी प्रकार पलाश (ढाक) के भी छ यूप होते हैं, तीन एक बगलमें और तीन दूसरीमें।'

ये यूप इक्कीस क्यों होते हैं, इसका कारण निम्न लिखित वचनमें दिया है—

"तद्यदेत एवं यूपा भवन्ति। प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत। तस्य यः श्लेष्माऽसीत स सार्धं समवद्र त्यमध्यतोनस्त उदभिनत्स एष वनस्पतिरभवद् रज्जुदालस्तस्मात्तश्लेष्मणः।" इत्यादि (काण्ड १३।४।४, ५-७)

'ये यूप इस प्रकार होते हैं। प्रजापतिके प्राण उत्क्रांत होनेपर उसकी शरीरवृद्धि होनेके लिये रखा गया। उसका श्लेष्मा नाकसे बाहर निकला और उससे रज्जुदाल वनस्पति बनी। उसका आपोमय तेज आंखोंसे बाहर निकला, जिससे पितुदार वनस्पति बनी। उसकी मज्जा कानोंसे निकलकर बिल्व वनस्पति बनी। उसकी अस्थिसे खदिर बना और उसके मांससे पलाश।'

इससे यह स्पष्टतया दिखाई देता है कि, किसी वर्षमें वर्ष समाप्त होनेपर भी उस वर्षको चालू रख कर ही उसमें २१ दिन ज्यादा गिने जाते थे। ३६० दिनोंका वर्ष माननेपर प्रतिवर्ष ५¼ दिनोंकी कमी होता है और फलस्वरूप उसे मिटानेके लिये चौथे वर्षमें ही २१ दिन ज्यादा लेने पड़ते हैं। अतः प्रत्येक चौथे वर्षमें संवत्सरको पूर्ण करानेके लिये २१ दिन ज्यादा लेते थे और उसी वर्ष अश्वमेध-यज्ञ किया जाता था, यह सिद्ध होता है।

इस यज्ञमें देवताओंकी अवश्य ही स्तुति होती होगी और वह नवीन मंत्रोंके द्वारा ही होती होगी; क्योंकि संवत्सरको पूर्ण करानेके लिये प्रत्येक चौथे वर्षमें यज्ञ किया जाता था, यह मालूम होनेपर उस यज्ञके लिये ही नवीन मंत्र बनाये जाते थे और इसी कारण शतपथ-ब्राह्मणने संवत्सरमें मंत्र बनानेका उल्लेख किया है, यह युक्तिसङ्गत जान पड़ता है।

पाँच वर्षोंका युग शुरू होनेके पूर्व वह चार वर्षोंका गिना जाता था, यह ऊपर बताया जा चुका है। अब यह भी सिद्ध हुआ कि, प्रत्येक चौथे वर्षमें २१ दिन ज्यादा लेकर अश्वमेधयज्ञ किया जाता था। युगका अर्थ है, "कोई कृति या घटना पुनः घटने या करनेका काल" अर्थात् उन दिनों चार वर्षोंका लोग युग मानते थे, यह स्पष्ट है। वायुपुराणके ७० वें अध्यायमें रावणके सम्बन्धमें जो "चतुर्युगाणि राजाऽत्रयोदश स राक्षसः।४५" कहा गया है, उससे भी इस सिद्धान्तको सहारा मिलता है। उसमें लिखा है कि, रावणने तेरह चतुर्युग राज्य किया था। तेरह चतुर्युगका काल सौसे बहुत कम रहा होगा। इस हिसाबसे एक चतुर्युगका काल भी आठ वर्षोंसे अवश्य ही कम रहा होगा। इस बातको ध्यानमें रखकर 'चतुर्युग'का विग्रह "चतुर्णां वर्षाणां युगं" ही हो सकता है। फलतः उन दिनों चार वर्षका एक युग माना जाता था, यह निस्सन्देह सिद्ध होता है।

इसी युगके कालसे पुनः-पुनः नवीन मंत्र-रचना की जाती थी, यह बात शतपथब्राह्मण और ऋग्वेदके वचनोंके संयोगसे निश्चित होती है।

इसपर कोई कहेंगे कि, यद्यपि प्रत्येक मन्वन्तरमें नवीन मंत्रोंकी रचना होती थी,तो भी एक मन्वन्तर का काल चार वर्ष जैसा अल्प नहीं हो सकता। किन्तु यह उनकी भूल है; क्योंकि स्वायंभुव मनुके बाद स्वारोचिष मनु हुआ। तदनन्तर स्वायंभुवके ही नाती जैसे उत्तम, तामस और रैवत नामक तीन बन्धु, क्रमानुसार, मनु हुए। इससे ज्ञात होता है कि, मन्वन्तर काल बहुत अल्प था और ज्योतिर्युग-पद्धतिके अनुसार ३० कोटि, ६७ लक्ष, २० हजार वर्षोंका नहीं था, यह स्पष्ट है।

सारांश, उन दिनों यद्यपि संवत्सर ३६० दिनोंका माना जाता था, तो भी उसे पूर्ण करानेके लिये

प्रत्येक चौथे वर्षमें अश्वमेधयज्ञ किया जाता था और उस यज्ञके लिये नवीन वेद-मंत्र-रचना की जाती थी। एक वर्षमें ३६५¼ दिवस होते हैं, उसका आविष्कार होनेपर ही इस पद्धतिका श्रीगणेश हुआ होगा। फलतः ऐतिहासिक दृष्टिसे भी वेद अनित्य है, यह स्पष्टतया सिद्ध होता है। वेदोंके ज्योतिर्विषयक उल्लेखोंसे स्व० तिलक आदि पण्डितोंने वेदोत्पत्तिका काल निश्चित किया है, जो शक-पूर्व ५००० से कम नहीं है। इस प्रमाणसे भी वेद अनित्य ही सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं।

(अनुवादक, प० आनन्दराव जोशी, नागपुर)

वेद-सत्ता

प० नोखेलाल शर्म्मा, काव्यतीर्थ

(तारड़, घोघा, भागलपुर)

ऋषियोंके एकान्त-शान्त-मानस-अवतारिणि !
प्रकृतिदेवि सहचरी, दिव्य मुनिजन-हिय-हारिणि !!
परम ज्ञान-विज्ञानमयी, सकलार्थसिद्धि दे !
नाना जगमतवादमूल जीवन-समृद्धि दे !!
तीन लोक त्रय कालमें, एक रूप अविकृत, अटल !
शब्द ब्रह्ममयि ! देवि ! श्रुति ! पूर्ण करो मंगल सकल ॥

वेदोंका प्रकाशन

पं० बदरीदत्त जोशी
(महाविद्यालय, ज्वालापुर, सहारनपुर)

वेद कब और किसके द्वारा प्रकाशित हुए, इस विषयपर विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। वेदोंके प्रकाशनके विषयमें तीन प्रकारके मत हैं। कोई कहते हैं कि, सृष्टिके आदिमें अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामके चार ऋषि हुए; उनके ही द्वारा वेदोंका प्रकाशन हुआ। कोई ऐसा मानते हैं कि, सृष्टिके आदिमें चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुए; उनके चारों मुखोंसे चार वेद प्रकट हुए। कोई ऐसा मानते हैं कि, वेदोंके मंत्र भिन्न-भिन्न कालमें ऋषियोंने बनाये हैं। वे पहले प्रकीर्ण दशामें थे। वेदव्यास ऋषि उन्हें वर्त्तमान संहिताओंके रूपमें लाये।

ये तीन मत हैं, जो वेदोंके सम्बन्धमें प्रकट किये जाते हैं। इनमेंसे पहला मत तो हमको बिलकुल निराधार मालूम पड़ता है; क्योंकि अग्नि, वायु आदि नामके कोई ऋषि नहीं हुए। यदि हुए होते, तो उनका कहीं तो उल्लेख पाया जाता। हाँ, अग्नि, वायु, आदित्य, ये तीन वैदिक देवता अवश्य प्रसिद्ध हैं। इनके वर्णनमें वेदोंकी अनेक ऋचाएँ और सूक्त भरे पड़े हैं। इनको ऋषि कहना वैदिक साहित्यसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। जब ऐसा है, तब फिर "अग्नेर्वै ऋग्वेदो जायते, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः" इत्यादि शतपथीय वाक्य तथा "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्" इत्यादि मनु-वाक्यकी संगति क्या होगी? इसका समाधान यह है कि, अग्निसे ऋग्वेद उत्पन्न होता है, इसका आशय यह नहीं है कि, अग्नि कोई ऋषि था, उसने ऋग्वेदको प्रकट किया, वायु ऋषिने यजुर्वेदको और सूर्य ऋषिने सामवेदको। इन दोनों वाक्योंका तात्पर्य यह है कि, ऋग्वेदमें अग्नि देवताका प्राधान्य है और वह अग्नि-सूक्तसे ही प्रारम्भ होता है; इसलिये उसकी उत्पत्ति अग्निसे कही गयी है। इस प्रकार यजुर्वेदमें वायु देवता प्रधान है और सामवेदमें सूर्य देवता प्रधान है; इसलिये इनकी उत्पत्ति वायु और सूर्यसे कही गयी है। लोकमें भी जैसे कहा जाता है कि, "अद्भ्योऽन्नं जायते" इसका यह मतलब नहीं कि, पानी अन्नको रचता है। ऐसा ही मंत्र या सूक्त चाहे किसी ऋषिका बनाया हुआ हो; अग्नि-दैवत्य, वायु-दैवत्य या सूर्य-दैवत्य होगा। जिन लोगोंने अग्नि, वायु, आदित्य शब्दोंसे ऋषियोंकी कल्पना की है, वे इनका ठीक तात्पर्य न समझकर ही भ्रममें पड़े हैं।

अब रहे दूसरे मतानुयायी, जो कहते हैं कि, सृष्टिके आदिमें ब्रह्मा हुए और उन्होंने चारों वेदोंको प्रकट किया। प्रथम तो सृष्टिका आदि कब हुआ, इसमें घोर मत-भेद है। बहुतसे विद्वान् सृष्टिको अनादि मानते हैं। जबसे मनुष्य-सृष्टिका आरम्भ हुआ, यदि उसीको सृष्टिका आदि मान लिया जाय, तो आदिके किसी मनुष्यमें ऐसा

छन्दोबद्ध भाषामें ऐसी स्वलंकृत प्रार्थनाएँ करना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि क्रमिक विकाशका नियम ही सारी सृष्टिमें अपना काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त वेदोंकी भिन्न-भिन्न रचना-शैलीको देखनेसे भी स्पष्ट अवगत होता है कि, वह एक कालमें, एक मनुष्यकी, चाहे वह देव या ऋषि ही क्यों न हो, रचना नहीं है। ऋग्वेदके प्रथम या द्वितीय मण्डलसे नवम या दशम मण्डलकी रचना भिन्न है। यजुर्वेदकी गद्य-रचनामें तो बहुत ही अन्तर हो गया है और सामवेदकी गीति तो अत्यन्त विलक्षण है। अथर्ववेदकी रचनामें तो पौराणिक अलंकारोंका भी आभास मिलता है। इन कारणोंसे हम दूसरे मतका भी समर्थन नहीं कर सकते। हाँ, आलंकारिक भले ही वह रहे, इसमें हमारी कोई क्षति नहीं।

पुराणोंमें ईश्वरकी तीन शक्तियोंका वर्णन ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रके रूपमें किया गया है अर्थात् उत्पादक शक्तिका नाम ब्रह्मा है, पालक शक्तिको विष्णु कहते हैं और संहारक शक्ति रुद्र कहलाती है। इन तीनों शक्तियोंको तीन व्यक्तियोंके रूपमें पेश किया गया है। ये व्यक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु शक्तियाँ हैं। शक्ति सूक्ष्म होती है, जिसको विद्वान् ही समझ सकते हैं। पुराणोंमें सूक्ष्म विषयोंकी व्यक्तियोंके अलंकारमें समझाया गया है। तदनुसार ब्रह्मा भी कोई व्यक्ति-विशेष नहीं। आदि सृष्टिमें जो ईश्वरको बढ़नेकी इच्छा होती है, "एकोऽहं बहु स्याम्" है। उसीका नाम ब्रह्मा है, इसलिये दूसरा मत भी हमारी दृष्टिमें काल्पनिक ही है।

अब रही तीसरी धारणा कि, वेदोंके मन्त्र भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न ऋषियोंने रचे हैं। हमारी दृष्टिमें यह मत युक्ति-युक्त और वैदिक साहित्यके मर्मज्ञ विद्वानोंसे समर्थित है। वेदोंके ऋषि होनेमें बहुतसे प्रमाण हैं। (ऋ० ८।२।२३।२) का अर्थ है—'छलनीसे पवित्र किये हुए सक्तुओंकी भाँति जहाँ धीर लोग मनसे वाणीको पवित्र करते हैं, वहाँ मित्र लोग मित्रताको प्राप्त होते हैं, जिनकी वाणीमें यह भद्रा लक्ष्मी रखी हुई है।' 'धीराः' बहुवचनका प्रयोग सिद्ध कर रहा है कि, ऋषि-लोग मनसे वाणीको पवित्र करके वेद-मन्त्र बनाते थे। ऋग्वेदके ही एक (ऋ० १।१।१।२) मन्त्रका भाव है—

'जो अग्नि पहले ऋषियोंसे पूजा गया और नवीनोंसे भी, वह देवताओंको यहाँ लाता है।' इसके अतिरिक्त यजुर्वेद (४०।१०) में भी है—

'हम धीरोंसे ऐसा सुनते हैं, जो हमको उपदेश कर गये हैं।' इत्यादि वेदोंके शतशः मन्त्र हैं, जिनसे स्पष्टतया अवगत होता है कि, वेद-मन्त्र न तो एक कालकी रचना हैं और न किसी व्यक्ति-विशेषकी; किन्तु वे भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न ऋषियोंके द्वारा बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त संहिताओंमें जो अबतक प्रत्येक मन्त्रमें देवता, ऋषि और छन्दः लिखनेकी परिपाटी चली आती है, तदनुसार भी प्रत्येक मन्त्र या सूक्तका बनानेवाला जो ऋषि है, उसका नाम उस मन्त्र या सूक्तके ऊपर लिखा जाता है। इसका क्या मतलब है? मन्त्रोंको जो लोग एक विकट समस्या बनाना चाहते हैं, वे इसका उत्तर देते हैं कि, वे ऋषि मन्त्रोंके कर्ता नहीं, द्रष्टा हैं। उनसे यह पूछना चाहिये कि, क्या कर्तामें द्रष्टृत्व नहीं होता? द्रष्टा ही यदि कर्ता न होगा, तो क्या अद्रष्टा होगा? जिसने उस विषयको जाना ही नहीं, उसका कर्त्ता कैसे हो सकता है? ऐतरेय-ब्राह्मणमें सर्प ऋषिका मन्त्रकृत् होना

स्पष्ट लिखा है—"सर्प ऋषिः मन्त्रकृत्"। निरुक्त-में सैकड़ो मन्त्रकृत् ऋषियोंके नाम आते हैं। आप्त ऋषियोंने वेदोंको बनाया; इसीलिये वेद आर्ष कहलाते हैं। और तो और कालिदासके समयमें भी मन्त्र ऋषिकृत् ही माने जाते थे। राजा दिलीप वसिष्ठ ऋषिसे कहते हैं:—

"तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥"

(रघु० स० १)

'दूरसे ही शत्रुओंको नाश करनेवाले तुम मन्त्रकर्त्ताके मन्त्रोंसे दृष्ट लक्ष्यको बींधनेवाले मेरे बाण निराकृत किये जाते हैं।'

यद्यपि लेखके बढ़ जानेके भयसे प्रमाणोंकी हमने उपेक्षा की है, तथापि एक प्रमाण निरुक्तकार महर्षि यास्कका उद्धृत करके हम इस लेखको समाप्त करते हैं। देखिये, इसमें कितनी स्पष्टतासे मन्त्रोंका ऋषिकृत् होना दिखलाया गया है।

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः, उपदेशेन ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।" 'धर्मको साक्षात् करनेवाले ऋषिलोग हुए। उन्होंने अपनेसे निकृष्ट लोगोंके लिये, जिन्होंने धर्मको साक्षात् नहीं किया था, उपदेशके द्वारा मन्त्रोंको दिया। उपदेशसे ग्लानि करते हुए अन्य लोगोंने रहस्यके जाननेके लिये निघण्टु और वेदको तथा वेदाङ्गको पढ़ा।'

निरुक्तके इस साक्ष्यके होते हुए कौन यह कहनेका साहस कर सकता है कि, वेद ऋषिकृत नहीं हैं? हाँ, हम यह मानते हैं कि, उनके समयका निर्धारण करना कि, अमुक समयमें अमुक संहिता या मंडल या सूक्त बना है, इस समय हमारे लिये असम्भव सा ही है; परन्तु किसी ग्रन्थके कर्त्ता या निर्माण-कालका पता न होनेसे वह ग्रन्थ ही अमनुष्य-कृत हो जाय, यह कभी नहीं हो सकता।

वेदोंका समय

प० हरिशङ्कर जोशी बी० ए० साहित्य-सांख्य-योग-शास्त्री
(हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी)

वेदोंका समय अभीतक, ठीक-ठीक, निर्णीत नहीं हुआ है। भारतीय प्राचीन प्रणालीके विद्वान् अभीतक वेदोंको नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। अपौरुषेय माननेवालोंके भी दो मत हैं। प्रथम मीमांसा-पक्षवाले अपौरुषेयका अर्थ 'किसी व्यक्ति या पुरुषका बनाया नहीं है,' यह अर्थ करते हैं अर्थात् वे यह मानते हैं कि, वेद सदा ऐसे ही थे और रहेंगे, जैसे ईश्वर। दूसरे मतवाले या न्याय-शास्त्र-वेत्ता यह मानते हैं कि, अपौरुषेयका अर्थ प्राणिमात्रका बनाया हुआ नहीं, किन्तु 'ईश्वरका बनाया हुआ' है। मीमांसकोंके सिद्धान्तमें ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रकाश डालना असम्भव है; अतः आज कलके वैज्ञानिक इस मतसे सहमत नहीं हैं। वे लोग यह कहनेके लिये बाध्य हैं कि, यदि हम वेदोंका ठीक-ठीक समय नहीं बतला सकते, तो इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि, वेद अमुक समयसे पहले लिखे जा चुके थे। वर्तमान प्राप्य ग्रन्थोंमें ऋग्वेद संसारमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। वेद कब लिखे गये; यह बात भाषा-विज्ञान (Philology) के और ऐतिहासिक प्रमाणोंकी सहायतासे जानी जाती है।

श्लेगेल (Schlogel) नामक जर्मन विद्वान् संस्कृतके प्रखर पण्डित थे। उनकी राय है कि, वेद संसारमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं और इनका समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। इनकी भाषा भारतीयोंके लिये भी उतनी ही कठिन है, जितनी अन्य देशीय भाषा-भाषियोंके लिये। उनके कहनेका यह मतलब है कि, जिस समय वेद लिखे गये थे, उस समय भारतीय आर्योंकी भाषामें Indo-Germanic भाषासे भेद नहीं हुआ था। वेबर (Weber) (जर्मन) कहता है कि, 'वेदोंका समय नहीं निश्चित किया जा सकता। वे उस तिथिके बने हुए हैं, जहाँतक पहुँचनेके लिये हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाण-राशि हम लोगोंको उस समयके उन्नत शिखरपर पहुँचानेके लिये असमर्थ है।'

मैक्समूलर (Max Muller) का कहना है कि, 'भगवान् बुद्धका समय निश्चित है। भगवान् बुद्धका समय ईसासे ५४७ वर्ष पूर्व है और बौद्ध धर्म वैदिक धर्मकी एक शाखा है। बुद्ध भगवान्के उपदेश उपनिषदोंके पवित्र एवं गम्भीर सिद्धान्तोंके आधारपर बनाये गये हैं। अब हमको वेदोंके अन्तिम समयका ज्ञान हो गया कि, बौद्ध धर्मके बाद वैदिक ग्रन्थ नहीं बने और जो कुछ बने, वे तबतक बन चुके थे। वैदिक साहित्यको देखकर यह विदित होता है कि, इसमें तीन श्रेणियाँ हैं। अन्तिम श्रेणी 'सूत्र' साहित्यकी है। उसके ऊपर 'ब्राह्मण' साहित्यकी श्रेणी और उससे ऊपर आगेकी श्रेणी संहिता (वेद) है।' मैक्समूलरका यह अनुमान है कि, प्रत्येक श्रेणीके साहित्यके बननेमें कम-से-कम २०० वर्ष लगे होंगे। इस मतके अनुसार सूत्रोंका काल ईसाके ६०० वर्ष पहलेसे लेकर ८०० वर्ष पहलेतक है और ब्राह्मणोंका समय ईसाके ८०० वर्ष पहलेसे लेकर १००० वर्ष पहलेतक। संहिताओंका समय ईसाके १००० वर्ष पूर्वसे लेकर १२०० वर्षतक है। अतः उनका कहना है कि, वेदोंका समय ईसासे १२०० वर्ष पूर्व है। अन्य पाश्चात्य विद्वानोंने इस सिद्धान्तको हृदयसे स्वीकार कर लिया। पर मैक्समूलरका यह वक्तव्य है कि, यह केवल एक रायके तौरपर मैंने

लिखा है और यह तिथि वेदोंके उद्भवकी अन्तिम तिथि भी हो सकती है। उनका फिर यह वक्तव्य है कि, वेदोंके समयके बारेमें कोई यह नहीं कह सकता है कि, इनकी यही ठीक तिथि है। साथ-ही-साथ मैक्समूलरका यह भी कहना है कि, वेदोंके आदि या प्रारम्भिक कालका पता लगाना किसीके लिये सरल काम नहीं है। शायद ही कोई इस बातका पता लगा ले कि, वेदोंका बनना कबसे शुरू हुआ।

कुछ दिनोंतक लोग इसी सिद्धान्तके फेरमें पड़े रहे। भारतवर्षका बिरला ही कोई साक्षर मनुष्य ऐसा होगा, जो स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलकका नाम न जानता हो। वे जैसे उत्तम नेता थे, वैसे ही धुरन्धर विद्वान् भी थे। आप ज्योतिःशास्त्रके पारङ्गत पण्डित थे और वेदके विद्वानोंमें शिरोमणि थे। आपको राजनीतिक आन्दोलनके सम्बन्धमें ६ वर्षका कारागार हुआ। उन्होंने यह समय व्यर्थ नहीं बिताया। यह समय उन्होंने वेदोंके गम्भीर अध्ययनमें लगाया। उन्होंने वेदोंके बारेमें पहले ही एक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें उन्होंने यह सिद्ध किया था कि, आर्य्यलोग पहले उत्तरीय सागरके निकटवर्ती प्रान्तोंमें निवास करते थे। तदनन्तर ज्यों-ज्यों वहाँकी जल-वायु उनके स्वास्थ्यके अनुकूल न होने लगी, वे नीचेके मैदानोंकी ओर आने लगे। साथ ही साथ उन्होंने वेदोंके समयका भी निर्धारण किया। इन्होंने बतलाया कि, ऋग्वेद तथा अन्य वेदोंमें ज्योतिः-सम्बन्धी अनेक ऐसे प्रमाण और संकेत पाये जाते हैं, जो वेदोंके मन्त्रोंके रचना-कालको निर्धारित करनेके लिये अनुपमेय प्रमाण हो सकते हैं।

उन्हीं दिनों जर्मनीके एक प्रखर विद्वान् जैकोबी (Jacoby) ने भी वेदोंके समयका निर्णय, ज्योतिषके सिद्धान्तोंके अनुसार, किया। इन दोनों विद्वानोंमें आपसमें कुछ भी सम्बन्ध या परिचय नहीं था। उन दोनों (लो० तिलक और जेकोबी) महाशयोंने अपनी-अपनी पुस्तकें स्वतन्त्र रूपसे लिखीं। दोनोंके सिद्धान्तोंके आधार एक ही हैं और वेदोंका समय भी दोनोंने एक ही प्रकारसे निर्णीत किया है, यद्यपि लो० तिलक कुछ अधिक काल मानते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि, वेदोंमें तीन श्रेणियाँ हैं, जिनके नाम 'संहिता,' 'ब्राह्मण' और 'सूत्र' हैं। ब्राह्मणोंके कालमें 'कृत्तिका' (Plaidos) नक्षत्रसे नक्षत्रोंकी गणना होती थी और कृत्तिका नक्षत्र ही सब, २७ नक्षत्रों, में आदि नक्षत्र गिना जाता था। यह भी विदित होता है कि, उन दिनों रात-दिनका बराबर होना (Vernal equinox) 'कृत्तिका' नक्षत्र ही में होता था। आजकल २१ मार्च और २३ सितम्बरको रात-दिन बराबर होते हैं और सूर्य्य अश्विनी नक्षत्रमें रहता है। खगोल और ज्योतिषके सिद्धान्तोंके अनुसार इतना परिवर्तन आजसे ४५०० वर्ष पहले हुआ होगा (ईसासे २५०० वर्ष पहले)। इस सिद्धान्तके अनुसार 'ब्राह्मणों' की रचनाका काल आजसे ४५०० वर्ष पहले या ईसासे २५०० वर्ष पहले हुआ।

जब हम 'संहिता' का अध्ययन करते हैं, तब पता चलता है कि, संहिताके समयमें नक्षत्रोंकी गणना 'मृगशिरा' नक्षत्रसे होती थी और 'मृगशिरा' ही नक्षत्रोंमें सबसे पहला नक्षत्र गिना जाता था तथा रात-दिनका बराबर होना भी इसी नक्षत्रके सूर्य्यमें होता था। इस प्रमाणके अनुसार इस नक्षत्रका अन्य नक्षत्रोंमें गिना जाना और इसी नक्षत्रमें रात-दिनका बराबर होना, ज्योतिष और खगोलके सिद्धान्तोंके अनुसार आजसे ६५०० वर्ष पहले या ईसासे ४५०० वर्ष पहले सिद्ध किया गया है। इस मतके अनुसार वेदोंका समय ६५०० वर्ष है। परन्तु तिलक महोदय इस समयमें २००० वर्ष और जोड़ते हैं और यह कहते है कि, ८५०० वर्ष पहलेसे ६५०० वर्षतक वेदोंका प्राचीन काल और उत्पत्ति-समय है। जेकोबी (Jacoby) का भी प्रायः यही मत है। परन्तु वे यह नहीं कहते कि, वेदोंका समय ६५०० वर्षसे भी अधिक है। वे इसी सीमामें सन्तोष करलते हैं। तिलक महाशय वेदोंके बननेके समयको फैलाव २००० वर्ष रखते

हैं; अतः वे ६५०० में २००० वर्ष और जोड़कर वेदोंका समय आजसे ८५०० वर्ष पहले मानते हैं।

गृह्य-सूत्रके विवाह-प्रकरणमें 'ध्रुव इव स्थिरा भव', यह मन्त्र पाया जाता है। जैकोबी (Jacoby) महाशयका कहना है कि, पहले ध्रुवतारा अधिक चमकीला और स्थिर था और उस ताराकी इस अवस्थाकी तिथि ईसासे २७०० वर्ष पूर्व है, जब कि वह उत्तरीय ध्रुवकी ओर सरका। इस मतसे गृह्य-सूत्रकी तिथि ईसासे २७०० वर्ष पूर्व हुई। गृह्य-सूत्र वेदोंकी सूत्र-श्रेणीमें गिना जाता है। अतः वेदोंकी अन्तिम श्रेणीका समय ईसासे २७०० वर्ष पहले हुआ अर्थात् आजसे ४७०० वर्ष पहले। संहिता और ब्राह्मण इन श्रेणीसे कई गुने पुराने हैं। अतः जैकोबी महाशयका अनुमान है कि, वेदोंका समय उक्त समयसे ४७०० वर्ष पहले या ईसासे २७०० वर्ष पहले या आजसे ४७०० वर्ष पहलेका है।

जर्मनीके एक अन्वेषक विद्वान्ने, जिनका नाम विङ्कर (Winkler) है, एशिया माइनर (Asia Minor) में एक शिला-लेखको ढूढ़ निकाला है। यह शिला-लेख बोघास्कोई (Boghaskoi) में मिला है। इस शिला-लेखमें वहाँकी दो जातियोंकी—जिनके नाम मितानी (Mitani) और हित्तेती (Hittati) हैं—सन्धिका ब्योरा है। उस सन्धि-पत्रमें इन्द्र, मित्र और वरुण आदि देवताओंके नामोंका उल्लेख है और चार भारतीय वैदिक देवताओंकी प्रतिमा भी उल्लिखित है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, उन जातियोंपर वैदिक धर्मका पूरा-पूरा प्रभाव पड़ चुका था। यहाँ तक कि, वे लोग भारतीय आर्य्य लोगोंके देवताओंको आदर तथा भक्ति-भावसे देखने लग गये थे। इस शिला-लेखकी तिथि ईसासे १४०० वर्ष पहले निश्चित हुई है अर्थात् आजसे ३४०० वर्ष पहले। कुछ लोग अबतक इस बातमें भिन्न-भिन्न विचार करते हैं; पर अधिक लोगोंकी यही सम्मति है कि, उन जातियोंपर वैदिक साहित्यका पूरा प्रभाव पड़ चुका था और वेदोंका समय बहुत प्राचीन है अर्थात् कमसे कम ईसासे १४०० वर्ष पहलेसे भी बहुत पहले है।

तिलक महोदयको छोड़कर अन्य भारतीय विद्वानोंने भी वेदोंके समयकी समस्या हल करनेके प्रशंसनीय प्रयत्न किये हैं। तिलकके बाद इस कलाप्रतानोपप्रथित क्षेत्रमें भूगर्भ-शास्त्रका शस्त्र लेकर दो माननीय सज्जन प्रकट हुए। नारायणराव पावगी महाशयने ऋग्वेदकी भूगर्भ-स्थितिपर चमचमाता प्रकाश डाला। उन्होंने इस विषयपर एक दिव्य और गम्भीर विवेचनापूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थमें उन्होंने पृथ्वीकी बनावट और स्थितिपर विशेष वर्णन करते हुए उनका मिलान ऋग्वेदमें दिये हुए वर्णनोंसे किया और यह सिद्ध किया कि, ऋग्वेदका समय बहुत प्राचीन है, इतना प्राचीन है कि, जितना आजतक किसीने स्वप्नमें भी नहीं समझा था। उन्होंने अपने ग्रन्थमें जो प्रमाण दिया है, वह अकाट्य और विश्वसनीय है।

इनके अनन्तर अविनाशचन्द्र दासने वेदोंके मुखको उज्ज्वल किया। उन्होंने दो रमणीय ग्रन्थ-रत्न लिखे। ये ग्रन्थ ऋग्वेद ही के विषयपर लिखे। पहलेका नाम (Rig-vedic India) 'ऋग्वेदका भारत' और दूसरेका (Rig-vedic Culture) 'ऋग्वेदकी सभ्यता' है। पहली पुस्तकमें ऋग्वेदमें वर्णित भारतके स्थानोंका विवेचन, भूगर्भ-विद्याके आधारपर, करते हुए उन्होंने ऋग्वेदके समयका निर्णय किया है। उनका कहना है कि, ऋग्वेदमें ऐसे बहुत कम मंत्र या ऋचाएँ हैं, जो इस बातको स्पष्ट रीतिसे कहते हैं कि, 'भारतके चारों तरफ समुद्र हैं।' उनका यह विश्वास है कि, जब आर्य-लोग काश्मीर या अफ़ग़ानिस्तान, गान्धार, पेशावर प्रभृति स्थानोंमें रहते थे, तब भारतके कई प्रान्त, जैसे राजपूतानेका रेगिस्तान और संयुक्त प्रदेशका आगरा और अवध, बिहार, बंगाल प्रभृति देश नहीं थे; बल्कि वे समुद्रमय थे। उस समय आर्य्यलोग पञ्जाबतक बसे थे और समुद्र केवल एक ही ओर था। ज्यों-ज्यों समुद्र हटता गया, आर्य्य लोग भी

आगेको बढ़ते गये। भूगर्भ-विद्याके अनुसार इस स्थितिका समय ईसासे १६००० वर्षसे २५००० वर्ष पहले हुआ होगा अर्थात् आजसे २७००० वर्ष पहले। इस बातका समर्थन करनेके लिये उन्होंने अनेक पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानोंके मतोंका उल्लेख किया है। दूसरी पुस्तकमें उन्होंने ऋग्वेदके समयमें भारतकी सभ्यतापर प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त तर्कोंके अनुसार पाठकोंको जो मत अच्छा जँचे, उसे अपना सिद्धान्त बना सकते हैं। वास्तवमें हमलोगोंको यदि दोनों पराकाष्ठाओंसे सन्तोष न हो, तो मध्यम श्रेणीका विचार अर्थात् तिलक और जैकोबीका मत मानना आवश्यक है। परन्तु भारतीय लोगोंको तो वेदोंको इतकोंसे जितना ही प्राचीन सिद्ध किया जायगा, उतना ही मनभावना लगेगा और दिलचस्पी होगी।

यदि विना पक्षपात-पूर्ण दृष्टिसे देखा जाय, तो अबतक वेदोंके समयका ठीक-ठीक पता नहीं लग सका है। अभी लोगोंको इस विषयमें बड़ी ढूँढ़-खोज करनेकी आवश्यकता है। हाँ, इतना अवश्य निश्चित है कि, वेदोंका उत्पत्ति-काल बहुत प्राचीन है।

वेदोंकी अमृत-निर्झरी

पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री

(गांगेय भवन, १२, आशुतोष दे लेन, कलकत्ता)

कनकमञ्जरी छन्द

रुचिर रश्मि ! हे रम्य भोरकी,
रसिक मोरकी मेघ-मालिके !!
सुकवि वृक्षकी मञ्जु मञ्जरी ?
अमृत-निर्झरी ! आ ! अरी ! यहाँ ॥१॥

छरहरी छटा ! इन्द्र-चापकी,
रवि-प्रतापकी दिव्य दीप्ति हे !
तिमिरहारिणि ! विश्व-पारदे !
जननि ! शारदे ! तार दे मुझे ॥२॥

मधुर मूर्ति ! हे चीर-चोरकी,
बुध चकोरकी चारु चन्द्रिके !!
रुचिर चिन्मयी ! चित्तहारिणी !
शिशिर-चारिणी ! शान्ति दे मुझे ॥३॥

सुखकरी घटा ! वारिवाहकी,
विषय-दाहकी हारिणी नदी !!
अमृत-माधुरी कण्ठ धारती,
जननि ! भारती ! भक्ति भाव दे ॥४॥

अयी ! कुहू कुहू ! कोकिलेन्द्रकी,
अलि-महेन्द्रकी मञ्जु गीतिके !!
ध्वनि ! मयूरकी पुत्रि ! वंशकी,
परमहंसकी वाणि ! प्राण दे ॥५॥

उदधिमन्थिनी ! विश्व-मोहिनी !
अमृतदोहिनी ! मञ्जु मोहिनी !!
सगुण सङ्गिनी ! सिद्ध-सत्कृति,
प्रिय चमत्कृति ज्योति दे मुझे ॥६॥

विषय-सर्पसे दष्ट, भ्रष्ट हूँ,
कलित-कष्ट हूँ तीव्र तापसे।
मुनि-मनोहरी ! वेद-निर्झरी !
सुखद शीकरी ! शान्ति दे मुझे ॥७॥

विकल हूँ यहाँ दीर्घ कालसे,
विपज्जालसे हन्त ! बद्ध हूँ।
सुत विचारके शीघ्र शारदे !
जननि ! प्यारसे पोंछ अश्रु ये ॥८॥

चरणसे चमत्कारचारिणी !
स्वर सुधारिणी ! तृप्तिकारिणी !!
सुखद सन्मयी ! हे दयामयी !
मधुरतामयी ! मुक्ति दे मुझे ॥९॥

वैदिक सूक्तोंका रचना-काल

ज्योतिषाचार्य प० सूर्यनारायण व्यास
(बड़े गणेश, उज्जैन)

वेदोंके सूक्तोंकी रचना किस समय हुई है, यह बात बता देना प्रायः असम्भव है। तथापि बुद्धिकी कसौटीपर चढ़ा देनेके लिये और आनुमानिक काल-कल्पना करनेके लिये कुछ साधन प्राप्त हैं। इस लेखमें उन्हीं साधनोंपर विचार किया जायगा।

मि० फ्रेजरका कथन है कि, सूक्तोंके रचना-कालको जान लेना सहज नहीं है। यह समय इतिहास-कालसे भी प्रथमका है। कुछ समय पूर्व यह माना जाता था कि, सूक्तोंकी रचनाका काल, अधिकसे अधिक, ई० सन्से पूर्व १२०० से १५०० हैं, परन्तु इस कल्पनाके लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं उपस्थित किया गया। जिन लोगोंकी यह कल्पना है, मालूम होता है, उन्होंने शायद यह नहीं सोचा कि, सूक्तोंकी रचना और उनका 'संहिता' के रूपमें संगठित किये जानेका काल एक ही है या भिन्न। हाँ, कोलब्रुकका कथन है कि, ई० सन्से पूर्व १४ वें शतकमें वेदोंके सूक्तोंकी संहिताके रूपमें व्यवस्था की गयी थी। इस मतके आधारपर वेदके साहित्यका आरम्भ-काल ई० स० पूर्व २००० से १००० वर्षतक होना चाहिये। रमेशचन्द्र दत्त महाशयका भी यही मत है।

प्रो० मैक्समूलर अपने कई पिछले ग्रन्थोंमें सूक्त-रचनाका समय ई० स० पूर्व १५०० स्वीकार करते हैं एवं ई० स० पूर्व १५०० से १००० में वेदकी रचना तथा सूक्तोंकी संहिताके स्वरूपमें व्यवस्था हो जाना मानते हैं। एक स्थानपर उक्त प्रोफेसरका कहना है कि, चार हजार वर्ष पूर्व अथवा इसके भी पहले पंजाबी नदियोंके दक्षिण दिशामें रहनेवाले आर्य लोग सूर्यको 'द्यौष्पिता' (स्वर्गके पिता) के नामसे संबोधित करते थे। प्रो० वेबरका मत है कि, आर्य लोग सिन्धुसे लेकर गण्डकी तकके विशाल प्रदेशमें आकर बस गये थे। उन्होंने यहाँ सुधारकर उसमें ब्राह्म-धर्मका प्रचार किया। इन सब बातोंमें लगभग १००० वर्षका समय व्यतीत हो जाना चाहिये। परन्तु इसी विद्वान्ने हिन्दुओंके गण्डकीके ऊपर आकर बसनेका जो समय ई० स० पूर्व सिर्फ ५०० वर्षका बतलाया है, वह स्पष्ट ही भ्रम-पूर्ण है। प्रो० ह्निटनी ऋग्वेदके सूक्तोंके लिये ई० स० पूर्व २००० से १५०० तकका समय बतलाता है। हाँ, मार्टिन हाग अधिकांश सूक्तोंके लिये ई० स० पूर्व २००० से १४०० तकका समय निश्चित करता है। किन्तु डा० मार्टिनका यह भी कहना है कि, जो सूक्त सबसे विशेष प्राचीन हैं, वे बहुत पहले समयमें अर्थात् ई० स० पूर्व २४०० तक निर्माण किये गये होने चाहिये।

स्व० लोकमान्य तिलकका मत है कि, अर्द्ध गद्य और अर्द्ध पद्यमें रचित 'निविद्' की रचना, जिसमें आवाहित देवताओंके मुख्य नाम, विशेषण और मुख्य कार्य गिनाये गये हैं, वह ई० स० पूर्व ६००० से ४००० तक निर्मित होना चाहिये तथा ऋग्वेदके अन्य कई सूक्त ई० स० पूर्व ४००० से २५०० तक लिखे जाने चाहिये।

मि० फ्रेजरका कथन है कि, खगोल-शास्त्रके आधारसे वेदका समय ई० स० पूर्व ४५०० वर्षतक पीछे ले जाया जा सकता है। यह (प्रो० जेकोबीका) मत कदाचित् ग्राह्य न हो; तथापि यह तो अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि, आजतक वेदके साहित्यकी रचनाका काल जितना पुराना समय कहा जाता था, उतना ही नहीं है; बल्कि उससे भी बहुत अधिक पुराना है। भारतीय खगोल-शास्त्रके वेत्ता लोग वेदकी काल गणना करते समय यह बतलाते हैं कि, ऋग्वेदके समय वसन्त-सम्पातकी स्थिति मृगशीर्ष नक्षत्रमें थी और यह वसन्त-सम्पात शकाब्दके पूर्व ४००० वर्षके लगभग था। अन्य भी अनेक प्रमाणोंसे सूक्तोंकी रचना अति पुरातन सिद्ध होती है।

हमने यहाँ भारतीयोंके प्रमाणोंकी अपेक्षा पाश्चात्य संशोधकोंके मतोंको देनेका प्रयत्न किया है। वेदके सूक्तोंके उद्धरण और उनका गणित-सहित विवेचन करनेमें बहुत समय और बहुत स्थानकी आवश्यकता थी। यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। जहाँ इस विषयमें केवल मौन ही रहा जाता है, वहाँ 'गंगा' ने यह प्रयत्न तो किया कि, वह वैदिक साहित्यपर कुछ नूतन प्रकाश डाले। ईश्वर करे, गंगाके "वेदांक" द्वारा भारतीय विद्वानोंका इस अगाध साहित्य भाण्डारकी ओर ध्यान आकर्षित हो।

इन्द्र-स्तुति

ऋषिहिं पूर्वजा अस्येक ईसाशान ओजसा।
इन्द्र चोस्कूयसे वसु॥
(ऋ ५।८।१७)

इन्द्र हे ऋषि-पूज्य हे ईशान एक अनन्त!
आदिकारण विश्व-पूर्वज! अतुल महिमावन्त!
ओज-निधि, उत्साह-दायक अभयदाननिधान।
वसुपते! हो शुभ धनोंके नाथ पुण्य पुराण॥

—प० लोचनप्रसाद पाण्डेय

मराठी-साहित्यमें वेद-चर्चा

पं० आनन्दराव जोशी
(फड़नीसपुरा, नागपुर)

'वेद' शब्दका वर्त्तमान अर्थ ज्ञान-ग्रन्थ है। यह हिन्दुओंका सर्व-श्रेष्ठ और परम पवित्र धर्म-ग्रन्थ है। एक समय था, जब यह पवित्र ज्ञान-ग्रन्थ हिन्दू-धर्म माननेवाली कुछ जातियोंको ही अप्राप्य था; फिर अन्य-धर्मियोंका तो कहना ही क्या? किन्तु अब समयने पलटा खाया है। अब तो इंग्लैण्ड और जर्मनी-जैसे 'म्लेछ' देशोंमें वेदोंका जितना अध्ययन-अध्यापन, उनकी जितनी चर्चा होती है, उतनी शायद ही कहीं होती हो। इस समय-परिवर्तनका प्रभाव हिन्दुस्थानकी सभी प्रमुख भाषाओंपर पड़ा है और उन भाषाओंमें आधुनिक ढंगसे वेदोंका अध्ययन और चर्चा होने लगी है। मराठी-साहित्यमें जो ऐसी चर्चा होती है, उससे पाठकोंको परिचित कराना ही इस निबन्धका उद्देश है। विषय बहुत बड़ा है और स्थान परिमित है; अतः संक्षेपमें इस विषयके कुछ विभिन्न पहलुओंका ही परिचय कराना सुविधा-जनक और उचित होगा।

(१) वेद-प्रामाण्य-मीमांसा।

पूनेके "केसरी" में श्रीयुत रघुनाथशास्त्री, कोकजे, तर्कतीर्थका 'वेद-प्रामाण्य-मीमांसा' शीर्षक लेख, धारावाहिक रूपमें, निकला है। इस लेखमें उन्होंने मीमांसकोंके सिद्धान्तके सम्बन्धमें जो विवरण दिया है, उसका कुछ महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ दिया जाता है—

मीमांसक वेदका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध मानते हैं। उनके मतानुसार वेदोंका प्रामाण्य सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वेद अप्रमाण क्यों नहीं? इस प्रश्नका उत्तर वे 'वेद अपौरुषेय है' ऐसा देते हैं। संक्षेपमें मीमांसकोंका वेद-प्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य और अपौरुषेयत्व, इन दो बातोंपर अवलम्बित है। इसी सिद्धान्तपर वे धर्माधर्मका निर्णय कराना चाहते हैं। पुरुष-बुद्धि अथवा तर्कको वे अप्रतिष्ठित मानते हैं।×

नैयायिकोंने इन दोनों कल्पनाओंका स्पष्टतया खण्डन किया है। वे न तो वेदोंका स्वतः प्रामाण्य (!) मानते हैं और न उनका नित्यत्व (अपौरुषेयत्व) ही। नव्य न्यायके आद्य प्रवर्तक गंगेशोपाध्यायने अपने 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थमें (जो नैयायिकोंका अन्तिम ग्रन्थ है) "तस्मात्तपस्तेपानाच्चत्वारो वेदा अजायन्त," "ऋचः सामानि जज्ञिरे" इति कर्तृश्रवणात्। "प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते" इति कर्तृस्मरणाच्च।" आदि श्रुति-स्मृति-वचन उद्धृत कर वेदोंका पौरुषेयत्व सिद्ध किया है। उनके मतसे वेदोंमें स्तोत्र-रचनाका अनेक बार उल्लेख है—

(१) "अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया। अकारि रत्नधातमः॥" (ऋ० १।२०।१), (२) "प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अंगिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥" (ऋ० १।४५।३), (३) "सनायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद्ब्रह्म हरियोजनाय।" (ऋ० १।६२।१३) आदि कतिपय वचनोंसे वे कहते हैं कि, वेद अनित्य है, वह भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा विरचित है। यह बात स्पष्टतया सिद्ध होती है।

(२) क्या ऋग्वेद पंजाबमें बनाया गया था?

पिछले वर्ष महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत चिन्तामण विनायक वैद्य एम० ए०, एल-एल० बी० ने "History of Sanskrit Literature (Vol. I.)"

× वेदान्त-सूत्र और शंकराचार्यके विचारानुसार भी तर्क अप्रतिष्ठित है। —सम्पादक

Vedic Period) नामक, लगभग ७५० पृष्ठोंका, एक बृहत् ग्रन्थ, अँगरेजीमें लिखकर प्रकाशित कराया था। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके प्रकाशित होनेके बाद नागपुरके प्रसिद्ध पण्डित श्रीयुत कृष्णशास्त्री घुले, विद्याभूषण, ने "महाराष्ट्र" नामक ख्यातनामा स्थानीय मराठी अर्द्ध-साप्ताहिकमें, लगातार नौ अंकोंमें, उसकी विस्तृत एवं विद्वत्ता-बहुल समालोचना की थी। इस धारावाहिक समालोचनामें आपने ऋग्वेदके निर्माण-स्थान और कालके सम्बन्धमें जो मार्मिक तथा पठनीय विवरण दिया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है। श्रीयुत घुलेजीने यह विवरण स्व० तिलकजीके 'वैदिक आर्योंका मूल स्थान उत्तर ध्रुव था', इस सिद्धान्तके आधारपर दिया है। घुलेजी लिखते हैं—

"वैद्यजी तथा बहुतेरे लोगोंका यह खयाल है कि, सम्पूर्ण ऋग्वेद हिन्दुस्थानमें अर्थात् पंजाबमें बनाया गया था; किन्तु यह उनकी भूल है; क्योंकि इस धारणाके आधारमें कोई विश्वास-योग्य प्रमाण नहीं पाया जाता। ऋग्वेद-में पंजाब या उसके समानार्थक शब्द नहीं मिलते। यह सच है कि, ऋग्वेदमें 'सप्तसिन्धु' और "अवेस्ता" में 'हप्तहिन्दु' शब्द मिलते हैं, परन्तु "सप्तसिन्धु" शब्दसे पंजाबकी सात नदियोंका निर्देश करना नितान्त अज्ञानता है। वेदकी कौन कहे, किसी काव्यमें भी पंजाबकी सात नदियोंके नामोंका उल्लेख नहीं मिलता। कमसे कम उन नदियोंपर बसे हुए किसी शहरका तो नामोल्लेख होना चाहिये था। किन्तु वह भी नहीं मिलता। ईरानमें भी ये सात नदियाँ नहीं हैं। स्व० तिलकजीके मतानुसार ऋग्वेदमें जिन दिव्य प्रवाहोंका वर्णन है, वे द्युलोकके प्रवाह ही इस 'सप्तसिन्धु' शब्दसे विवक्षित हैं, भूलोककी नदियाँ नहीं। वैद्यजीने लिखा है कि, "अवेस्ता" के 'हप्तहिन्दु' का वर्णन पंजाबके साथ पूरे तौरसे मिलता-जुलता है। किन्तु उनकी यह धारणा भी गलत है। ऋग्वेदमें 'सरस्वती' नदीका वर्णन है; किन्तु वह पंजाबकी किसी 'सरस्वती' का नाम कदापि नहीं हो सकता। अब कोई ऐसा कहे कि, जब ऋग्वेद पंजाबमें नहीं बनाया गया, तब उसके सूक्तोंमें पंजाबकी सिन्धु, सरस्वती, गंगा, यमुना आदि अन्य नदियोंके नाम कैसे आये? इसपर हम उनसे यह पूछते हैं कि, ऋग्वेदके सूक्त बनाये जानेके पूर्व पंजाबकी नदियोंके नाम सिन्धु, सरस्वती, गङ्गा आदि थे, यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ? हम तो जोरके साथ कहते हैं कि, वैदिक आर्योंके पंजाबमें आनेके पूर्व ही उनके पास वेद था। उसमें पहलेसे ही सिन्धु, सरस्वती आदि नदियोंके नाम थे और पंजाबमें आनेपर उन्होंने वे ही नाम वहाँकी नदियोंको प्रदान किये। हिन्दुस्थान तथा ईरानकी नदियोंके नामोंमें सादृश्य है।"

स्व० तिलकजीके "Arctic Home in the Vedas" से भी यही बात सिद्ध होती है।"

(३) ऋग्वेदका निर्माण-काल।

इसी लेख-मालामें आगे चलकर घुलेजीने ऋग्वेदके निर्माण-कालकी चर्चा की है, जिसका महत्त्व-पूर्ण अंश संक्षेपमें इस प्रकार है—

"श्रीयुत वैद्यजी लिखते हैं कि, ईसाके लगभग ४५०० वर्ष पूर्व वैदिक आर्य ईरानी आर्योंसे विभक्त हुए थे, यह बात स्व० तिलकजीने भली भाँति सिद्ध की है। साथ ही वह एक पुराने सूक्तके अधारपर यह भी मानते हैं कि, सुदास तथा उसका पुरोहित वसिष्ठ ईसाके लगभग ५००० वर्ष पूर्व हुए थे और वसिष्ठकी स्तुतिसे इन्द्र सन्तुष्ट हुए थे अर्थात् वसिष्ठके समय, यानी ईसाके ५००० वर्ष पूर्व या वैदिक आर्योंके हिन्दुस्थानमें आनेके पूर्व, इन्द्रकी स्तुतिमें कुछ सूक्त बनाये गये थे, यह स्पष्ट है। प्रो० मैकडानलका कथन है कि, ईरानी तथा भारती आर्योंके अविभक्त होनेके समयमें भी देवता-विषयक सूक्त मौजूद थे, यह "अवेस्ता" तथा ऋग्वेदकी समानताओंसे प्रमाणित होता है। आगे चलकर वैद्यजीने गणितका हवाला देकर ऋग्वेद-कालीन संस्कृतिको ईसाके ५००० वर्ष पूर्वकी बताया है। इसके बाद

इन्होंने स्व० तिलकजीके प्रमाणोंके आधारपर इस संस्कृतिको अदिति-काल अर्थात् ईसाके लगभग ६००० वर्ष पूर्वकी बताया है। वैदिक आर्य, पंजाबमें आनेके पूर्व, सोम-यज्ञ तथा सोम-गान करते थे। वैद्यजीके इस कथनसे तथा ईरानी 'छन्द' और वैदिक 'छन्द' शब्दोंकी समानतासे उस समय भी (अर्थात् ईसाके ६००० वर्ष पूर्व भी) वैदिक सूक्त या वेद थे, यह सिद्ध होता है। आगे चलकर वैद्यजीके उषा (देवता)-सम्बन्धी विवरणसे यह काल ईसाके ८००० वर्षतक पीछे लिया जा सकता है। उत्तरध्रुवमें हिम-प्रलय होनेके कारण वैदिक आर्योंने वह स्थान त्याग दिया था। यह प्रलय कमसे कम ईसाके १०००० से ८००० वर्ष पूर्व हुआ था। हिम-प्रलयके पूर्व आर्य लोग जिन वैदिक मन्त्रों अथवा सूक्तोंका पठन करते थे, उन्हीं सूक्तोंको साथ लेकर, वे प्रलयके पश्चात्, निर्जल प्रदेशमें उतरे और शनैः-शनैः पंजाबमें आ पहुँचे। वैद्यजीके मतानुसार यदि वैदिक आर्योंने ४५०० वर्षोंसे इन वेदोंको, विना किसी अक्षर या स्वरके भेदसे, कण्ठाग्र कर रखा था, तो उन्हीं वेदोंकी, उन्होंने बारह सहस्र अथवा उससे भी अधिक काल पूर्वसे, रक्षा की हो, तो इसमें असङ्गत अथवा असम्भव क्या है? इसी कारण हमारे प्राचीन मीमांसकोंने वेदोंको अनादि तथा ईश्वर-निर्मित भी माना है।"

इस प्रकार घुलेजीने विशेषकर वैद्यजीके कथनके तथा उनके स्वीकृत किये हुए स्व० तिलकजीके सिद्धान्तके आधारपर ही ऋग्वेदका काल ईसाके दस-बारह सहस्र वर्ष पूर्वका सिद्ध किया है। इसके बाद उन्होंने यही काल शतपथ-ब्राह्मणके आधारपर भी सिद्ध किया है।

(४) वेदोंकी रक्षा।

'वागीश्वरी' में श्रीयुत म० दा० साठेने सुप्रसिद्ध जर्मन प्रोफेसर ल्युडर्सके एक निबन्धको "संस्कृताध्ययनाचे पाश्चात्यांचे प्रयत्न" शीर्षक लेखमें संकलित किया है। इस उपयोगी लेखका कुछ अंश इस प्रकार है—

"पाश्चात्य पण्डितोंके मतके अनुसार भारतवर्षमें लेखन-कलाकी उत्पत्ति, ईसाके कई शताब्दियों पूर्व, हुई थी; क्योंकि जब अशोक-कालीन स्तूपोंपर बहुतसे लेख खुदे हुए मिलते हैं, तब लेखन-कला इसके पूर्व अवश्य रही होगी, यह सिद्ध होता है। आज कलके नये अनुसन्धानोंसे इस लेखन-कलाका काल इसके और भी पीछे ले जाना चाहिये। सुमेरियन सभ्यताका परिचय देनेवाले ईंटोंपर लिखे हुए लेखोंसे और इस सभ्यताके पहलेके सिक्कोंसे (जो पंजाबमें तथा सिन्धके 'मोहन जो दारो' में मिले हैं) यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि, लेखन-कलाका उद्गम ईसाके कई शताब्दियों पूर्व अवश्य हुआ होगा।

वेद-काल इसके भी पहलेका है और उस समय लेखन-कलाका प्रसार नहीं था। उस समय वेद-विद्या मुख-गत थी और वह इसी रीतिसे एक पीढ़ीसे दूसरीको और दूसरीसे तीसरीको सिखायी जाती थी। यही कारण है कि, उस समय 'इति श्रुतिः' (ऐसा सुना) कहनेकी परिपाटी चल पड़ी थी। 'ऐसा पढ़ा,' ऐसे शब्द तत्कालीन साहित्यमें नहीं पाये जाते। विद्वान् मनुष्यको 'बहुश्रुत' ही कहा जाता था। 'बहुद्रष्टा' या 'पण्डित' शब्दोंका प्रसार नहीं था। वैदिक ब्राह्मणोंने इन वेदोंकी खूब रक्षा की है—इतनी कि, यह प्राचीन साहित्य उनके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरोंके साथ सहस्रों वर्षोंके बाद भी ज्यों-का-त्यों ही हमारे हाथोंमें है। उन लोगोंने इन वेदोंमें—मूल संहिताओंमें—कुछ भी फर्क न होनेके लिये पद, क्रम, जटा, माला, घन आदि कई प्रकारोंसे उनका एक-एक अक्षरतक निर्धारित कर रखा है। इस प्रकारका वेद-पठन करनेवाले वैदिक आज भी—विशेषतः मद्रासकी तरफ—बहुत मिलते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ही सत्य है कि, वे वेदार्थसे अनभिज्ञ होते हैं, किन्तु इसमें उनका दोष नहीं है। वेद मुख-गत रखना

और इसके अर्थका भी ज्ञान रखना बड़ा कठिन व्यापार है। इसीलिये श्रम-विभागके सिद्धान्तपर ये दोनों काम करनेकी परिपाटी पड़ी—वैदिकोंका वेद-पठन हुआ और पण्डितोंका अर्थ जानना।"

(५) वेदोंमें 'इतर-जन' शब्दका अर्थ।

'वागीश्वरी' में श्रीयुत ना० गो० चापेकरने 'इतर-जन' शीर्षक एक छोटा-सा लेख लिखकर वेदोंमें व्यवहृत होनेवाले इस शब्दका अर्थ देनेकी चेष्टा की है। वे कहते हैं—

"यह शब्द (इतर-जन) ऋग्वेदमें नहीं पाया जाता; यजुर्वेदमें यत्र-तत्र दिखाई देता है। अथर्ववेदमें भी यह सिर्फ छः स्थानोंमें, जो नीचे उद्धृत किये गये हैं, पाया जाता है। यद्यपि इन उद्धरणोंमें 'इतर-जन' शब्दका अर्थ 'मनुष्य-समाज' हो सकता है; तथापि इस समाजके लोग कुलीन नहीं माने जाते थे, ऐसा दिखाई देता है। कदाचित् वे जादूगर थे; क्योंकि निम्नलिखित मंत्रके अनुसार ऐसा जान पड़ता है कि, वे जादूगरीपर अपनी जीविका चलाते थे। 'तिरोधा' का अर्थ पिशाच-विद्या या जादू-टोना है और इसी विद्यापर 'इतर-जनों' का निर्वाह होता था। दूसरे, एक मंत्रमें 'इतर-जन'का नामोल्लेख यक्ष, राक्षस, गन्धर्व आदिके साथ किया गया है और इससे उपर्युक्त अनुमान ही दृढ़ होता है। सायणाचार्य 'इतर-जन'का अर्थ सर्पजातिके अतिरिक्त देव-जातिके लोग भी करते हैं; किन्तु वह युक्तिसे समर्थित नहीं जान पड़ता। देव-जनोंके समान इतर-जनोंका भी एक स्वतंत्र समाज था, यह बात अथर्ववेद (६-१२-२७) से स्पष्टतया दिखाई देती है। वे लोग जादू-टोनापर अपना निर्वाह करते थे; और, असंस्कृत भी थे। देव, मनुष्य और राक्षस—इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य सब लोग 'इतर-जन' थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अथर्ववेद (११-११-१६) में 'इतर-जनों' के अतिरिक्त सर्प, यक्ष, गन्धर्वका भी नामोल्लेख किया गया है। अतः 'इतर-जन'का अर्थ कोई विशिष्ट समाज होगा, ऐसा अनुमान होता है।

अथर्ववेदके मन्त्र इस प्रकार हैं—

"सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति।" (अ० ८-१४-९)।

"तां तिरोधामितरजना उपजीवन्ति।" (अ० ८-१४-१२)

"देवजना गुदा मनुष्याऽआन्त्राण्यत्राऽउदरम् रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम्।" (अ० ९-१२-१६ और १७)।

"खड्रेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्। य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये सर्पा इतरजना रक्षांसि।" (अ० ११-११-१६)

"उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत।" (अ० ११-१२-१)

(६) वेद-कालीन राष्ट्र।

बम्बईके 'लोकमान्य' नामक भूतपूर्व राष्ट्रीय दैनिक पत्रने, सन् १९२४ की जनवरीमें, संक्रान्तिके शुभ अवसरपर, 'हिन्दुस्थान-अङ्क' नामक एक पठनीय विशेषांक प्रकाशित किया था। इस विशेषांकमें 'मराठी-ज्ञानकोश'के प्रबन्ध-सम्पादक श्रीयुत यशवन्त रामकृष्ण दाते बी० ए०, एल-एल० बी०, का 'वेद-कालीन राष्ट्र' नामक विस्तृत लेख निकला है। साधारण पाठकोंको वेद कालीन राष्ट्रोंके सम्बन्धमें, आवश्यक जानकारी प्राप्त करानेमें, यह लेख बहुत उपयोगी होगा। वेदोंमें ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार संहिताओंका अन्तर्भाव होता है, यह बात सभी जानते हैं। किन्तु वेदोंका, ऐतिहासिक दृष्टिसे, अध्ययन तथा अन्वेषण करनेवालोंको उनमेंसे सिर्फ ऋग्वेदका ही अधिक उपयोग होता है। ऋग्वेदमें अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओंके नामोल्लेख, देवताओं या दानकी स्तुतियोंमें, मिलते हैं। किन्तु वे यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। ऋग्वेदका सबसे महत्त्वपूर्ण कथा-सूत्र सुदासकी दिग्विजयसे सम्बन्ध रखता है। भरत-कुल-श्रेष्ठ सुदास अपनी चढ़ाईमें अनेक स्थानिक राष्ट्रोंसे लड़कर कुरुक्षेत्रतक आ पहुँचा और वहीं रहने लगा, जिससे इस देशको 'भरतखण्ड' का नाम

प्राप्त हुआ। ऋग्वेदके अधिकांश सूक्त सुदासकी इस चढ़ाईके अर्थात् "दाशराज्ञ-युद्ध" के बाद रचे गये हैं।

इसके बाद दातेजीने "दाशराज्ञ-युद्ध" के समय भरत-खण्डमें जो राष्ट्र थे, उनके सम्बन्धमें ज्ञातव्य बातें दी हैं। सबके पहले उन्होंने 'भरत'का विस्तृत वर्णन देकर भारत नामकी उत्पत्ति, भरतोंके दिवोदास, सुदास आदि वीरपुरुषों-की विजय, उनका कुल, उनका पुरोहित, उनके मित्र और शत्रु, उनका राज्य-विस्तार तथा उन प्रदेशोंके प्राचीन नाम आदि विविध विषयोंका दिग्दर्शन कराया है। इसके बाद उन्होंने भरतोंके सहायक राष्ट्रों—पञ्चजन, कुरु, सृञ्जय और पर्शु; उनके प्रमुख शत्रु-राष्ट्रों—पुरु, मत्स्य, तुर्वश, अनु, यदु और द्रुह्यु एवं कीकट उर्फ मगध, पक्थ, गन्धारि, निषाद, अंग, वंग, मूजवन्त, वाह्लीक, नहुष आदि अन्य राष्ट्रोंका भी विस्तृत वर्णन किया है। अन्तमें वे लिखते हैं—

"उपर्युक्त विवरणसे यह दिखाई देता है कि, ऋग्वेद-कालमें पार्थिवसे जमुनातक वैदिक परम्पराके लोगोंके उपनिवेश थे, जिनमें पाँच राष्ट्र प्रमुख थे। वे यज्ञादि कर्मोंके अतिरिक्त वैदिक देवताओंकी उपासना भी करते थे। बड़े राष्ट्रोंमें अनेक कुल थे और उन्हें उनके प्रमुख तथा वीर्य-शाली कुलोंसे भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त हुए थे। एक संस्कृतिके राष्ट्रोंमें भी यदा-कदा युद्ध होते थे और वे कभी अकेले और कभी गुट्ट बाँधकर लड़ते थे। इसके अलावा हीन संस्कृतिके पड़ोसी राष्ट्रोंसे भी वे लड़ते-झगड़ते थे। वैदिक आर्योंके अतिरिक्त अन्य जातिके आर्य भी उस समय, भरतखण्डमें, रहते होंगे और सम्भवतः उनमेंसे बहुतेरे भरतादि राष्ट्रोंके पहले ही आये होंगे। सारांश, महाभारत-कालमें वैदिक संस्कृतिका प्रसार उत्तर-हिन्दुस्थानमें हुआ था; किन्तु ऋग्वेद-कालमें वह केवल पंजाबतक ही सीमित था।"

(७) वेद-कालीन भूमिति।

'लोकमान्य' के इसी 'हिन्दुस्थान-अंक' में प्रो० विश्व-नाथ बलवन्त नाईक एम० ए०का 'वेद-कालीन भूमिति' नामक महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें उन्होंने भूमितिका प्राचीन इतिहास देकर यह सिद्ध किया है कि, इस शास्त्रके उदय और विकासके चिन्ह सबके पहले हमारे वेदोंमें ही पाये जाते हैं, अन्य पाश्चात्य ग्रन्थोंमें नहीं। आज-कल भूमिति (रेखा-गणित) और यूक्लिड—ये दोनों शब्द लगभग समानार्थक माने जाते हैं; क्योंकि भूमितिका सबसे पुराना तथा सर्वोत्तम ग्रन्थ यूक्लिडका ही है; और, इसी कारण बहुतेरोंकी यह धारणा होती है कि, इस शास्त्रका उद्गम यूक्लिडके मस्तिष्कसे ही हुआ होगा। किन्तु वास्त-वमें यह बात नहीं है। यूक्लिडके कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और कृतियोंसे उसके पहले भी अन्य देशोंके लोग परिचित थे। यूक्लिड ग्रीक था और वह ईसाके लगभग ३०० वर्ष पहले हुआ था। वह अलेक्जेंड्रियामें भूमितिका अध्यापक था। प्राक्लसका कथन है कि, यूक्लिडके पहले यूडाक्जस, पिथागोरस आदि ग्रीक पण्डितोंने भी इस शास्त्रके कुछ सिद्धान्त खोज निकाले थे। यूक्लिडने इस प्रकारके पूर्व-संचित ज्ञानके आधारपर ही अपना नया ग्रन्थ बनाया था। ग्रीकोंके पहले ईजिप्ट (मिसर) देशके लोग विद्या और कला-कौशलमें बढ़े-चढ़े थे और आगे चलकर उन्हींके प्रभावसे ग्रीक लोगोंमें ज्ञान-वृद्धि हुई। ईजिप्टके अतिरिक्त उस समय जो अन्य देश शास्त्र-कला-प्रवीण थे, उनमें भारतका स्थान सर्व-श्रेष्ठ था। भारतमें भूमितिका उद्गम यज्ञ-संस्थासे सम्बन्ध रखता है और फलस्वरूप उसका काल कमसे कम ईसाके ४००० वर्ष पहलेका माना जा सकता है। पाठकोंको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि, यज्ञमें अग्निकी स्थापना कर हवन किया जाता है और अग्निके स्थान (जिसे 'वेदी' कहते हैं) विशिष्ट आकार-प्रकारके

होते हैं। ब्राह्मण-कालमें इन नियमोंका एक शास्त्र-सा बन गया था। यूरोपियन पण्डितोंके मतानुसार सूत्र-ग्रन्थोंका काल ईसाके छ या सात शताब्दियोंके पहलेका हो सकता है। बुर्क नामक पाश्चात्य पण्डितने वेदी बनानेकी पद्धतिको ऋग्वेदके समान ही प्राचीन माना है। ऋग्वेदके "चितरपां इमे विश्वायुः सद्मेव धीराः सम्भाय चक्रुः।" (१-१२-६७) (!) आदि प्रमाणोंसे यह बात, भली भाँति, प्रमाणित हो सकती है।"

इसके बाद लेखक महोदयने गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीयके उदाहरण देकर वेदीकी रचनाके नियमोंका दिग्दर्शन कराया है और यह बताया है कि, आजकल विद्यार्थी रेखा तथा वर्तुलकी सहायतासे भूमितिकी जो आकृतियाँ बनाते हैं, लगभग वे सभी सूत्र-ग्रन्थोंमें दी गयी हैं। इस सम्बन्धमें उन्होंने समचतुरस्र, दीर्घचतुरस्र आदि आकृतियाँ बनानेके नियम देकर उनका विस्तृत विवरण लिखा है। सारांश, भूमितिका अध्ययन हमारे देशमें बहुत प्राचीन कालसे चला आता है और इस शास्त्रमें हमारे पूर्वजोंने, बिना किसीकी सहायतासे, पर्य्याप्त प्रगति की थी। इतना ही नहीं, बल्कि समकोण-त्रिकोण (Right-angled triangle) का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भी, जो अज्ञानवश पिथागोरसके नाम लिखा जाता है, सबके पहले हमारे वेदोंमें स्थापित किया गया था।"

(८) उपनिषदोंका उत्पत्तिकाल।

'चित्रमय-जगत्'में श्रीयुत मा० घों० विद्वांसका "उपनिषदांचा उत्पत्तिकाल" नामक विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें उन्होंने 'भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास' नामक ग्रन्थ-मालाके "उपनिषदांचा उत्पत्तिकाल" नामक विभागकी मार्मिक समालोचना की है। इस ग्रन्थमें उपनिषदोंका विवरण विशेषतः सुप्रसिद्ध दर्शन-शास्त्रज्ञ प्रो० रानाडेका लिखा हुआ है। डा० बेलवेलकरने उपनिषदोंके रचना-क्रमका इतिहास तथा उसके तत्त्व-ज्ञानकी ऐतिहासिक चिकित्सा की है। अबतक, साधारणतः, यही धारणा थी कि, प्रत्येक उपनिषद् सम्पूर्ण ग्रन्थ है तथा उपनिषदोंका प्रतिपाद्य (तत्त्व-ज्ञान) भी एक-सा ही है। किन्तु डा० बेलवेलकरने प्रत्येक उपनिषद्का पूर्ण विभाग कर उसके रचना-क्रम तथा उसके तत्त्व-ज्ञानके विकासका, ऐतिहासिक दृष्टिसे, विचार किया है। डा० बेलवेलकरकी इस नवीन विचार-प्रणालीका सर्वमान्य होना असम्भव-सा जान पड़ता है। डाक्टर महोदयने नये-पुरानेका निर्णय करनेकी निम्नलिखित नौ कसौटियाँ बतायी हैं—

(१) उपनिषदोंका नाम। यदि शाखाके अनुसार हो, तो वह पुराना है और यदि प्रारम्भके शब्दके अनुसार या अथर्ववेदका हो, तो वह नया है।

(२) भाषा-शैली, रचना इत्यादि। पुरानेमें आर्ष प्रयोग; किन्तु नयेमें अभिनव साहित्यकी भाषा-शैली रहती है।

(३) प्रतीक, उपमा इत्यादि। पुरानेमें याज्ञिक उपमाएँ रहती हैं।

(४) पुरानेमें इन्द्रादि देवताओंकी प्रधानता रहती है।

(५) डायसनके मतानुसार पुराने गद्यमें हैं।

(६) ओल्डेनबर्गके मतानुसार पुरानेमें दण्ड, फल-श्रुति, उपासना आदि हैं।

(७) देश, पहाड़, नदियाँ, नगर आदिके नामोल्लेखोंसे नये-पुरानेका निर्णय।

(८) परस्पर अवतरण, सन्दर्भ, शाब्दिक और काल्पनिक समानताएं।

(९) कल्पनाओंका विकास।

इन कसौटियोंके आधारपर उन्होंने उपनिषदोंका एक रचना-क्रम और उनका विवेचक विवरण दिया है। किन्तु केवल अन्तिम कसौटीपर अवलम्बित होनेके तथा अन्य कसौटियोंसे उसका सम्बन्ध न देखनेके कारण यह रचना-क्रम और विवरण पूर्णतया तर्क-शुद्ध तथा विश्वास-योग्य न हो सका, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? डा० बेलवेलकरके

मतानुसार उपनिषदोंका क्रम इस प्रकार है—ईश, ऐतरेय, तैत्तिरीय, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। किन्तु श्रीयुत विद्वांसके मतसे यह क्रम बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, केन, ईश, कठ, मुण्डक, प्रश्न और माण्डुक्य होना चाहिये। डायसनका क्रम भी इससे मिलता-जुलता है। फर्क इतना ही है कि, वह तैत्तिरीयके बाद ऐतरेय, कठके बाद ईश और अन्तमें मुण्डक देता है। डा० बेलवेलकरने अपने रचना-क्रमके आधारपर उपनिषदोंके तत्त्व-ज्ञानका विकास दिखाया है। किन्तु याज्ञवल्क्यकी आत्म-विद्याको उसमें, गलत स्थान देनेमें, उन्होंने भूल की है। श्रीयुत विद्वांसने इस सम्बन्धमें उत्पत्ति-प्रक्रिया, विश्व-कर्त्ता, आत्मन्, जीव, परलोक-मार्ग, अन्तिम सत्यका स्वरूप, प्रतीक, नीति आदि कल्पनाओंका विवरण देकर इस भूलका जो दिग्दर्शन कराया है, वह निस्सन्देह पठनीय है।

ऋग्वेद और इन्द्र

प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥

(ऋग्वेद १।१०१।१)

जिन इन्द्रने ऋजिश्वा राजाके साथ कृष्ण नामके असुरकी गर्भवती स्त्रियोंको निहत किया था, उन्हीं हृष्ट इन्द्रके उद्देशसे, अन्नके साथ, स्तुति अर्पित करो। हम रक्षण पानेकी इच्छासे उन अभीष्टदाता और दक्षिण हाथमें वज्रधारी इन्द्रको, मरुतोंके साथ, अपना सखा होनेके लिये, आह्वान करते हैं। (सायणभाष्यका अनुवाद)

वेदाङ्कके लेखक
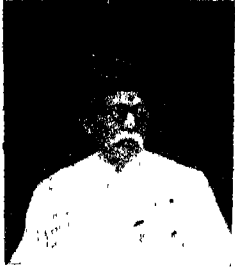
आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव एम० ए०

संसारके गिने-गिनाये विद्वानोंमें आपकी गणना है। बहुत लोगोंका विश्वास है कि, आपके समान भारतमें कोई हिन्दूधर्मका विद्वान् नहीं।

डा० हरदत्त शर्मा एम० ए०, पी एच० डी०

आपने १९३० में, जर्मन यूनिवर्सिटी प्राग से डाक्टर आफ फिलासफीको उपाधि प्राप्त की है। आपने वेदोंका खूब अध्ययन किया है।

विद्यानिधि प० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव

स्व० रमेशचन्द्र दत्तके बाद आपने ही सर्व-प्रथम सम्पूर्ण ऋग्वेदका देशी भाषा (मराठी) में अनुवाद किया है।

प० रुद्रदेव शास्त्री

आप भारतके गिने-चुने वेदज्ञोंमें हैं। हिन्दी-भाषा-भाषी वेदज्ञोंमें आपका वही स्थान है, जो बंगभाषियोंमें डा० पूर्णेन्दुनाथ घोषका है।

वेदांकके लेखक

श्रीधर वेङ्कटेशकेतकर एम० ए०, पी-एच० डी०

आप मराठी और हिन्दी ज्ञानकोषोंके प्रधान सम्पादक हैं। आप प्रसिद्ध गवेषणा-परायण पण्डित हैं।

प० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

आपने वर्षों वेदाभ्यास किया है। आपने "ऋग्वेदालोचन" नामका सुन्दर ग्रन्थ भी लिखा है।

प्रिन्सिपल रामाज्ञा द्विवेदी "समीर" एम० ए०

आप हिन्दीमें कई सुन्दर ग्रन्थ लिख चुके हैं। आप कवि और सुलेखक भी हैं।

प० नाथूराम शास्त्री

आपको वेदोंके सैकड़ों मंत्र कण्ठस्थ हैं। आप वेदों-के अनन्य सेवक और कर्मनिष्ठ पण्डित हैं।

वेदमें प्राचीन आर्य-निवास

पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०, एल-एल० बी०
(भारत-इतिहास-संशोधक-मण्डल, पूना)

इस विषयपर लेख लिखनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि, वेद शब्दसे "मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्", इतना विस्तृत अर्थ लेना ठीक न होगा। इस व्याख्यासे तो उपनिषदोंतक वेद-संज्ञा प्राप्त हो जाती है। परन्तु अपनेको तो प्राचीन आर्य-निवासका ही विचार करना है अर्थात मंत्र-भागको ही वेदशब्दसे मर्यादित करना अभीष्ट है। चारों संहिताओंमें, विशेषतः ऋग्वेदमें, इस विषयपर क्या प्रकाश मिलता है, यही अपनेको देखना है। दूसरे, आर्य शब्दसे यहाँ भारतीय आर्य ही लेना आवश्यक है। लोकमान्य तिलक महाराजने "Arctic Home in the Vedas" नामक अपने ग्रन्थमें आर्य-जातिके मूल पिता उत्तर ध्रुवके पास रहते थे—इस सिद्धान्तको वैदिक प्रमाणोंसे उपस्थित किया है। इस विषयमें 'अवेस्ता' आदिका भी सहारा लिया गया है। मैं इसको यहाँ नहीं लेना चाहता; क्योंकि, इस ग्रन्थमें तिलक महाराजने जो लिखा है, वह मुझे मान्य है और वह संसारमें भी प्रसिद्ध है। कुछ लोग लो० तिलकसे सहमत नहीं हैं, तथापि अधिकांश पाश्चात्य तथा प्राच्य पण्डित उनका मत ग्रहण करते हैं। अस्तु। उस विषयको मैं यहाँ नहीं उठाता। प्राचीन भारतीय-आर्य-निवास वेद-प्रमाणसे भारतवर्षमें किस प्रान्तमें था—इसीका विचार मैं इस लेखमें करूँगा। यह विषय ऐसा विवाद-ग्रस्त भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यह विषय पाठकोंके लिये कुछ नवीन तथा मनोरञ्जक भी होगा।

२१

मैंने अभी हालमें "History of Sanskrit Literature, Vedic Period" नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें इस विषयका बहुत कुछ वर्णन आया है। इस पुस्तकके अन्तमें एक नकशा भी दिया गया है, जिसमें इस बातको बतलानेकी चेष्टा की गयी है कि, संहिता-कालमें आर्योंका निवास, भारतवर्षमें, कहाँतक था (वह प्रदेश एक पोली लकीर की चक्कर बतलाया गया है)। ऋग्वेद-कालमें जो आर्य भारतवर्षमें आये, वे पंजाबसे गङ्गातक, हिमालयके निकट भागमें, आ बसे—ऐसा विदित होता है। इसी प्रदेशको ऋग्वेदमें "सप्तसिन्धु" कहा गया है। "अवेस्ता"में भी यह वर्णन है कि, आर्य ध्रुव-सन्निधि-देशसे, हिम-वृष्टिके कारण, निकले तथा ईरानमें बसनेके पहले "हप्तहिन्दु" में बसे। "हप्त-हिन्दु" "सप्तसिन्धु" का ईरानी रूप है। यह "सप्तसिन्धु" या सात नदियाँ कौन-कौन-सी हैं इसकी गिनती वेदमें नहीं मिलती। विद्वान् लोग विभिन्न प्रान्तोंको "सप्तसिन्धु" बतलाते हैं। कोई साइबीरियामें इन नदियोंको बतलाता है, कोई आक्सस (Oxus) के पास बतलाता है।

अमेरिकामें रहनेवाले एक बङ्गाली पण्डितसे जब मुझे मिलनेका मौका मिला, तब उन्होंने "सप्तसिन्धु" को काकेसस पहाड़ (Caucasus Mountain) के दक्षिणमें स्थित Armenia प्रान्तमें बतलाया और उसीको वह प्राचीन आर्यनिवास भी समझते हैं!

मेरा मत तो यह है कि, सिन्धु और पंजाबकी पाँच नदियों तथा सरस्वती—इन सात नदियोंके प्रदेशको "सप्तसिन्धु" कहना चाहिये और यही ऋग्वेद तथा अवेस्ताका "सप्तसिन्धु" अथवा "हप्तहिन्दु" है। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि, ऋग्वेदमें लिखा है कि, जब आर्य इस प्रदेशमें पहले (अहुरमज्दकी आज्ञासे) बसे, तब (शैतान) एंग्र मैन्युने इस मुल्कमें बड़ी उष्णता तथा सर्प भर दिये अर्थात् पंजाब और सरस्वती प्रदेशमें भारी उष्णता और सर्पोंका उपद्रव देखकर आर्य लोग शीतल ईरानमें चले गये। इस वर्णनसे भी यही प्रान्त "सप्तसिन्धु" निश्चित होता है।

ऋग्वेदमें एक नदी-सूक्त है। उसमें इसी प्रान्तकी नदियाँ दी हुई हैं। इस सूक्त (मण्डल १०, सू० ७५) की पहली चार ऋचाओंमें सिन्धु नदीकी प्रशंसा है। इस नदीको प्राचीन आर्य-निवासकी मुख्य नदी समझना चाहिये। इसके पश्चिम, खैबर घाटीतक, जो पेशावर-समेत बड़ा प्रदेश है, वह भी "सप्तसिन्धु" अर्थात् प्राचीन आर्य-निवासमें आता है। उसकी नदियाँ भी, आगेकी एक ऋचामें, परिगणित है। सिन्धुको प्रशंसा करनेके बाद पाँचवें मंत्रमें पूर्वकी नदियाँ परिगणित हैं। वह मंत्र यह है—"इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।" आश्चर्य है कि, पूर्वसे पश्चिमोत्तर सिन्धुतक, क्रमसे, एक-एक नदी इस मंत्रमें दी गयी है। पूर्वकी सीमा गङ्गा है। वहाँसे पश्चिमोत्तर जाते हुए आपको यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलज), परुष्णी (इरावती-रावी), असिक्नी (चिनाब-चन्द्रभागा), मरुद्वृधा (विपाशा) और वितस्ता (झेलम) मिलती हैं।

ग्रीक लोग आये, तब वेदोंके ये ही नाम यानी वितस्ता (Hydaspes), असिक्नी (Asekines) इरावती (Hydraotes), विपाशा (Hyphases) प्रचलित थे (देखिये हमारा नक्शा)। इसके आगेके मंत्रमें सिन्धुके पश्चिमकी नदियाँ, जो उसमें मिलती हैं, दी गयी हैं। रसा, श्वेत्या (स्वात), कुभा (काबुल), गोमती (गोमल) तथा क्रमु (कुर्रम)—ये नदियाँ उत्तरसे दक्षिण, क्रमसे, दी हुई है। "It may, thus, be rightly supposed that the land of the Rigvedic Aryans extended from the Hindukush on the north-west along the Himalayas as south-eastwards as far as the Gangetic valley" (पृ० ६०; मेरा लिखा "वैदिक इतिहास")। इसमे ज्यादा पवित्र भाग कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदीवाला था। इस नदीको प्रार्थना ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें की गयी है। इस प्रान्तसे आर्य बढ़कर, गङ्गा पार होकर, ऋग्वेद-कालमें ही, अवधमें आ गये थे; क्योंकि सरयू नदीका उल्लेख ऋग्वेदमे है।

स प्रदेशमें आर्य दो दलोंमें आये। प्रथम दल खैबर घाटीसे पंजाब-गान्धारमें आया। वही सूर्य-वंशी कहलाया। दूसरा दल गिलगिट गंगोत्तरीके बाद उतरा। चन्द्र-वंशी पुरुरवा और उर्वशीकी कथा इसी हिमालयके प्रदेशकी है। इस बातके प्रमाण बहुत हैं। हिन्दी-भाषा, जो दो किस्मकी दीखती है—पूरबी और पच्छाहीं—वह इसी कारणसे; भाषा-कोविद ग्रियर्सनने प्रथम ऐसा सिद्धान्त बनाया। यह ऋग्वेदके सूक्तों द्वारा प्रमाणित है। ऋग्वेद म० ७, सूक्त १८,१९ में "दाशराज्ञ-युद्ध"का जो वर्णन है, वह इन्हीं चन्द्रवंशी (अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश तथा पुरु) लोगोंका एक तरफ और सुदास (सूर्य-वंशी) का दूसरी तरफका

है। सुदासको वसिष्ठ मदद देते थे। यह विषय "महाभारत-मीमांसा" में मैंने विस्तारसे दिया है; अतएव यहाँ अधिक लिखना ठीक नहीं। पहले आये हुए सूर्य-वंशी "भारत" कहलाये। मनु-पुत्र भरतसे यह नाम प्रचलित हुआ। दूसरे आये हुए चन्द्र-वंशी पुरु नामसे प्रसिद्ध हुए। भरतके नामपर भारतवर्ष हुआ। कुरुक्षेत्रसे दक्षिण यमुना किनारे और चेदितक, ऋग्वेद-कालमें, आर्य लोग जा बसे। चेदिका उल्लेख ऋग्वेदमें है। फलतः कुरु-प्रदेश, गान्धारसे अवध, चेदितक है और यहीं प्राचीन आर्य-निवास समझना चाहिये।

मुख्य कुरुक्षेत्र सरस्वती तीर था। यहाँकी संस्कृत-भाषा ब्राह्मणोंमें प्रशंसित है। पाणिनि भी इसीको मध्यदेश भाषा (मुख्य संस्कृत) गिनकर, "प्राचां उदीचां", ऐसे दो अवान्तर भेद, अवध और पंजाब गान्धारको लक्ष्यकर, देते हैं। सिन्धु पारका गान्धार देश मुख्य आर्य-निवास था। इसका इस समय मुझको एक नया प्रमाण दीख पड़ा है। वह यह कि, उपनिषदमें एक जगह गान्धारका दृष्टान्त दिया है कि, यदि किसी पुरुषको पकड़कर और नेत्र बाँधकर बाहर—दूर देशको—ले जाकर छोड़ा जाय, तो वह तलाश करता हुआ गान्धारको फिर लौट आता है। इससे गान्धार आर्योंका मुख्य निवास है—यह भावना उस समय प्रचलित दिखाई देती है। इस प्रदेश-से सरस्वती-प्रदेशतक प्राचीन आर्य बसे थे, इसका सबसे भारी प्रमाण यह है कि, यहाँके लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) ऊँचे, गोरे और ऊँची नाकके होते हैं। भिन्न मानववंशोंकी जो भिन्न निशानियें मनुष्यशास्त्रमें निश्चित हुई हैं, उनमें आर्योंके निशान ये ही निश्चित हुए हैं। राजपुतानेमें राजपूतोंका भी स्वरूप ऐसा ही है (देखिये Census Report for 1901)। अन्तमें यह लिखना है कि, आर्य शब्द शुद्ध-रूपसे ऋग्वेदमें ही मिलता है और वहीं से पाश्चात्योंने उसे लिया है—"यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुता देव इन्द्र युधये चिकेतति" इत्यादि मंत्रोंमें आर्य शब्द स्पष्ट भारतीय आर्यका वाचक है। जर्मनीमें जो हर (Herr) बाकी है या Ireland, Irish में आयर है, वह इसी आर्यका रूप है। तात्पर्य यह कि, आर्य-निवास (भारतीय आर्य-निवास) गांधार, पंजाब और कुरुक्षेत्र है। यहाँके आर्य बाहर जानेको इच्छुक नहीं होते थे; क्योंकि बाहरकी संस्कृति हीन थी। इसी कारण धर्म-शास्त्रोंमें, आगे चलकर, यह नियम दिया हुआ है कि, "सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रान् तथा प्रत्यन्तवासिनः। अंगवंगकलिंगांश्च गत्वा संस्कारमर्हति।" इस श्लोकसे भी आर्य-निवासका प्राचीन प्रदेश निश्चित होता है। सिन्धु (Upper Sind), सौवीर (Karachi &c. Ophyr in Bible), सौराष्ट्र (Kathiawar) दक्षिणदेश थे और अंग, बंग पूर्व थे। प्रत्यन्त तिब्बत, सीथिया, बिलोचिस्तान आदि देश उत्तर और पश्चिम थे। परन्तु कालवश आर्य-धर्मियोंका मुख्य निवास अब गान्धार, पंजाब नहीं रहा।

वेदमें आर्योंका आदिनिवास

प्रोफेसर रुद्रदेव शास्त्री, वेदशिरोमणि, दर्शनालङ्कार
(काशी-विद्यापीठ, काशी)

संसारके भौगोलिक चित्रको देखनेसे विदित होता है कि, कोई भी देश प्राकृतिक परिस्थितियोंके द्वारा अन्य देशोंसे इतना पृथक् और सुरक्षित नहीं कर दिया गया है, जितना कि, भारतवर्ष। *

भारतवर्षकी भौगोलिक आकृति प्रायः त्रिभुजाकार है। काश्मीरके सबसे उत्तरीय भागसे लेकर कुमारी अन्तरीपके प्राकालीन दुर्गाजीके मन्दिरतक इसकी लम्बाई प्रायः १६०० मील होगी। चौड़ाई भी सिन्धु नदीके मुख-भागसे लेकर पूर्वमें ब्रह्मपुत्रा नदीके वक्र पथके कुछ और आगेतक लगभग इतनी ही है। इसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल १५ लाख वर्गमीलके लगभग होगा। विन्ध्य पर्वत भारतवर्षको मध्यसे दो असमान भागोंमें विभक्त करता है।

विन्ध्य पर्वतके उत्तरवर्ती भारतको उत्तरीय तथा दक्षिणवर्तीको दक्षिणीय भारत कहते हैं। भारतके उत्तरमें पश्चिमीय सीमा-प्रान्तसे लेकर पूर्वीय सीमा-प्रान्ततक फैला हुआ संसारका सबसे विशाल हिमालय पर्वत है। इसकी सम्पूर्ण लम्बाई १६०० मीलके लगभग होगी। इसके कोई-कोई शिखर २५ हजारसे लेकर प्रायः २६ हजार फीटतक ऊँचे हैं। इस महान् पर्वतसे निकलकर भारतमें प्रवाहित होनेवाली बहुतसी नदियाँ हैं। कैलास पर्वत तथा मानसरोवर झीलके समीपसे दो बड़ी नदियाँ ठीक विपरीत दिशाओंकी ओर बही हैं। इनमेंसे सिन्धु नदी लगभग एक हजार पाँच सौ मील बहकर अरब सागरमें गिरती है और दूसरी ब्रह्मपुत्रा नदी पूर्वकी ओर बहती हुई अपने वक्र पथसे बङ्गालकी खाड़ीमें गिरती है। इसकी सम्पूर्ण लम्बाई एक हजार आठ सौ मीलके लगभग होगी। तीसरी बड़ी नदी गङ्गा है। यह गङ्गोत्तरीसे निकल कर, एक हजार पाँच सौ चालीस मील बहकर, बङ्गालकी खाड़ीमें प्रविष्ट होती है। इन नदियोंकी सहायक, छोटी तथा मध्य श्रेणीकी, और सैकड़ों नदियाँ हैं। भारतके मध्यमें प्रवाहित होनेवाली नर्मदा नदी विन्ध्य पर्वतस्थ अमर कण्टक स्थानसे निकलकर खम्भातकी खाड़ीमें जाकर प्रवेश करती है। भारतके दक्षिणका भूभाग उत्तरके भूभागकी अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकारका है। वह पर्वत-बहुल है। उस भूभागमें भी प्रवाहित होनेवाली कई सुन्दर नदियाँ हैं। उनमें महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी मुख्य हैं। उस भूभागके पूर्वीय और पश्चिमीय तटोंपर पहाड़ हैं। उन्हें पूर्वीय घाट और पश्चिमीय घाट कहते हैं। इस प्रकार एक ओर पहाड़ोंसे तथा तीन ओर समुद्रसे घिरा हुआ भारतवर्ष अन्य देशोंसे प्रायः पृथक्‌सा है। भारतमें प्रवेश करनेके लिये समुद्री मार्गोंके अतिरिक्त कुछ पहाड़ी मार्ग (दर्रा) भी हैं। उनमेंसे कुछ मार्ग तो बहुत ही दुर्गम और दुःखद हैं। पामीरसे गिलगिट होते हुए, तिब्बतसे लेह होते हुए तथा सतलज नदीके गिरि-मार्गसे होते हुए और सिक्किमके द्वारा भारतमें प्रवेश करनेके मार्ग सरल नहीं हैं। पूर्वीय सीमा-प्रान्तपर पूर्वके दुर्गम वनोंको अतिक्रम करके आना भी बहुत भयावह है। इन दुर्गम तथा दुःखद मार्गोंकी अपेक्षा कुछ कम भयावह मार्ग केवल पश्चिमीय सीमाकी ओर है।

* प्राचीन आर्योंका वास-स्थान सिन्धु नदीके पूर्व तथा पश्चिम, दोनों ओर था। उस समय ईरान आदि देश इसी भारतमें सम्मिलित थे। पुनः ईरानके आगेसे सम्बन्ध न्यून हो गया। —लेखक

अफगानिस्तानसे बोलन, टोची और खैबरके मार्गोंसे आना कुछ सरल है। भारतके वर्त्तमान भौगोलिक चित्रका यह सामान्य वर्णन आर्योंके आदिनिवासको हृदयङ्गम करनेके लिये आवश्यक था।

आर्योंके आदिनिवासके सम्बन्धमें कई मत हैं। "ओरिजिन ऐण्ड इवाल्यूशन आफ द ह्यूमन रेस" नामकी एक पुस्तक अल्बर्ट चर्चवर्डने लिखी है। पुस्तकका प्रथम अधिकरण "अफ्रीका द बर्थ प्लेस आफ मैन" है। इस अधिकरणमें योग्य विद्वान्ने यह सिद्ध करनेका उद्योग किया है कि, मनुष्याकार बन्दरोंसे विकसित दृढ़ताके (विनष्टजातीय) चलनेवाले लङ्गूरके बाद जिन खर्वाकार (पिग्मी) मनुष्योंका सर्व-प्रथम जन्म हुआ, वे अफ्रीकामें ही जन्मे थे। नाइल नदीके समीपस्थ उस भूभागका नाम, अपनी सुविधाके लिये, चर्चवर्डने ओल्ड ईजिप्ट (पुराना मिस्र) रखा है। प्रथम मनुष्य (प्राइमरी मैन) का समय, उनके मतानुसार, बीस लाख वर्ष पूर्व रखा जाना चाहिये। एक दूसरे विद्वान् (डेनिस हर्ड एम० ए०) "ए पिक्चर बुक आफ इवोल्यूशन" नामकी पुस्तक, दो भागोंमें, लिखी थी। इस पुस्तकके द्वितीय भागमें, १७३ पृष्ठपर, एक चित्र दिया गया है। उस चित्रका नाम उन्होंने "द जिनीलाजिकल ट्री आफ मैन" रखा है। चित्रमें मोनर्स तथा एक कलाके सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव अमीबासे प्रारम्भ करके मनुष्यकी वैकासिक उन्नतिकी सभी सीढ़ियोंको चित्रित किया गया है। चित्रके अनुसार मनुष्यके प्राग्वर्त्ती यथाक्रम गोरिल्ला, ओराङ्ग, चिम्पाञ्जी और गिब्बन हैं। चित्रमें मनुष्य और गोरिल्लाकी बीचकी दो प्रधान तथा एक गौण शाखापर कोई नाम नहीं अङ्कित है। इन शाखाओंको (१) पिथेकन्थ्रोपस एरक्टस, (२) इवोअन्थ्रोपस् और (३) पिग्मी यदि मान लिया जाय, तो उक्त पुस्तकका भी तात्पर्यार्थ चर्चवर्डके अनुकूल हो सकता है। यद्यपि ग्रन्थकारने इस विषयकी विवेचना स्वयं नहीं की है।

एक तीसरे विद्वान् एच० जी० वेल्स हैं। वेल्सने "द आउट लाइन आफ हिस्ट्री" नामकी पुस्तक, दो वृहत् भागोंमें, लिखी है। उनके द्वितीयाध्यायका विषय है "द मेकिङ्ग आफ मैन।" इस अधिकरणको लिखनेमें उन्होंने बहुतसी पुस्तकोंकी सहायता ली है। उन पुस्तकोंमेंसे बहुतोंके नाम उन्होंने अपने ग्रन्थको पाद-टिप्पनीमें दे दिये हैं। पुस्तकके ५२ वें पृष्ठमें "द कमिङ्ग आफ मैन लाइक आवरसेल्वस" (हमारे सदृश मनुष्योंका जन्म) की विवेचना करते हुए उन्होंने इन मनुष्योंका आदि स्थान दक्षिणीय एशिया अथवा उत्तरीय अफ्रीका स्थिर करना चाहा है। उनके मतानुसार इनका समय आजसे २५ हजार और ४० हजार वर्षोंके मध्यमें होना चाहिये

हजारों वर्ष पूर्व संसारका भौगोलिक चित्र आजसे सर्वथा भिन्न था। एक ओर आस्ट्रेलिया और भारत स्थल-बन्धसे संयुक्त थे, दूसरी ओर यूरोप और अमेरिका भी परस्पर विभक्त नहीं हुए थे। इसकी विवेचना यहाँ आना आवश्यक है। पश्चिमीय विद्वानोंके अतिरिक्त कुछ भारतीय विद्वान् भी मनुष्योंके आदि स्थानके निर्णयमें प्रवृत्त हुए हैं। इनमें "आर्यविद्यासुधाकर" [पंजाब यूनिवर्सिटीकी ओरसे प्रकाशित] ग्रन्थके लेखक श्रीयुत यज्ञेश्वर चिमणाजी और "सत्यार्थप्रकाश" के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वतीका ही नाम पर्याप्त होगा। इन विद्वानोंका मत है कि, आदि-मनुष्योंका उत्पत्ति-स्थान त्रिविष्टप (तिब्बत) था। ये लोग क्रमिक विकासको भी नहीं अङ्गीकार करते। इनके मतानुसार सर्गारम्भमें, अमैथुनी सृष्टिमें, मनुष्यका इसी विकसित रूपमें ही जन्म हुआ था। चिमणाजीने भारतीय साहित्यका आश्रय लेकर तिब्बतको मनुष्यजातिका आदि-स्थान कहा है। मनुष्य, मनुज आदि शब्दोंका सामान्य अर्थ यह है कि, मनुका पुत्र। स्वयं मनुको ब्रह्मदेवका पुत्र कहा गया है। ब्रह्माजी देव थे। देवताओंका वास-स्थान स्वर्ग है। "अमरकोष"-कार अमरसिंहने स्वर्गके पर्यायवाची शब्दोंमें

'त्रिविष्टप' को भी रखा है। अतः प्रतीत होता है कि, त्रिविष्टपमें उन देवोंका वास-स्थान था, जो कि, मनुके पितृ-स्थानीय कहे जा सकते हैं। ब्रह्माजीको इसीलिये पितामह भी कहा जाता है। इसी स्वर्गके पर्य्यायवाची त्रिविष्टप शब्दका परिवर्त्तित रूप तिब्बत है। यही मनुष्योंकी आदि-जन्मभूमि है। सम्भवतः आख्यानोक्त सुमेरु पर्वतका परिवर्त्तित रूप आज कलका पामीर पर्वत हो गया है। उस समयकी स्थितिमें उस प्रदेशकी जल-वायु तथा वहाँके प्राणि-जात और ओषधि-जातका स्वरूप सर्वथा आजके सदृश ही था, इस भ्रम-पूर्ण कल्पनाको त्याग कर प्रकृत विषयका विचार करना सङ्गत होगा।

सर एच० एच० रिज़ले सी० एस० आई० ने "रिपोर्ट आन द सेन्सस आफ इण्डिया" [१९०१ ई०] में एक लेख "कास्ट, ट्राइब एण्ड रेस" शीर्षक दिया है। उसी लेखका संक्षिप्त अंश "इम्पीरियल गेजेरियल आफ इण्डिया" के प्रथम भागमें "इथनालाजी एण्ड कास्ट" शीर्षकसे उद्धृत किया गया है। उस लेखमें नासिका-संस्थिति [नैसल इण्डेक्स] और कपाल-संस्थिति [सफलिक इण्डेक्स] का विभाग और लक्षण करते हुए इस सिद्धान्तको पुष्ट किया गया है कि, इस समय भारतमें प्रधानतः मनुष्य-जातिके सात उपविभागोंके मनुष्य उपलब्ध होते हैं—[१] तुर्को-ईरानियन, [२] इण्डो-आर्यन्, [३] सीथो-द्रविड़ियन, [४] आर्यो-द्रविड़ियन अथवा हिन्दुस्तानी, [५] मङ्गोलो-द्रविड़ियन, [६] मङ्गोलाइड और [७] द्रविड़ियन। इन जातियोंकी विवेचना करते हुए उक्त प्रबन्धके लेखक इस विषय-की चर्चामें प्रवृत्त हुए हैं कि, आर्य भारतवर्षमें बाहरसे आये हैं। उन्होंने इस बातको भी स्पष्ट रूपसे अङ्गीकृत कर लिया है कि, आर्य भारतमें सर्व-प्रथम पश्चिमोत्तर प्रदेशके सीमाप्रान्त, स्थल मार्गसे, ही आ सके थे। उक्त प्रबन्धमें इस बातको भी स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि, वान श्लीगलसे लेकर उक्त तिथितकके सम्पूर्ण पश्चिमीय विद्वान् उक्त विचारको ही प्रतिपादित करते चले आ रहे हैं।

"केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया" के प्रथम भागमें पुरातन भारतकी विवेचनाके प्रसङ्गमें पी० गाइल्स डी० लिट्० का लेख "द आर्यन्स" शीर्षक है। इस लेखमें उन्होंने इण्डो-जर्मनिक अथवा इण्डो-यूरोपियन भाषाके बोलनेवालों का एक कल्पित नाम वीरोस (Wiros) रखा है। इन वीरोसका आदि स्थान, उनके मतानुसार, बोहेमिया, आस्ट्रिया और हङ्गरीके समीपका भूभाग, है।

इस विषयमें और भी बहुतसे विद्वानोंने अनेक मत स्थिर किये हैं। स्वीडेन और नार्वेके समीपके प्रदेशसे लेकर मध्य एशियातकके बहुतसे भूभाग (जिनमें कास्पियन समुद्रके पूर्व और दक्षिणी रूसके प्रत्यन्तवर्त्ती प्रदेशका एवं लिथआनियाको विशिष्ट स्थान दिया जा सकता है) आर्योंके आदिवास-स्थानके लिये समुचित कहे गये हैं। उपर्युक्त आदिस्थानके सम्बन्धमें मतभेद होते हुए भी इस विषयमें प्रायः सब पश्चिमीय विद्वान् एक मत हैं कि, भारतमें आर्योंका आगमन बाहरसे हुआ।

भारतमें आर्योंका प्रथम प्रवेश, "केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया" के मतानुसार, २५०० ईस्वी पूर्वमें हुआ था। इस पक्षके समर्थक विद्वानोंका यह भी कथन है कि, आर्योंका प्रधान दल अफगानिस्तान होता हुआ भारतमें प्रविष्ट हुआ था। पंजाब और युक्त प्रान्त आदिके मनुष्योंमें आकृति-गत प्रबल भेदको देखते हुए डा० हार्नलेका कथन है कि, इस प्रथम दलके आगमनके अनन्तर एक और दल, चित्राल एवं गिलगिट आदिके दुर्गम मार्गोंसे होता हुआ, भारतमें पुनः आया था। यह दल भारतमें अपरिवार ही अवतीर्ण हुआ था। यह लोग पंजाब होते हुए गङ्गा और यमुनाके मध्यवर्ती प्रदेशमें बस गये। यहीं इनके परिवारकी सृष्टि हुई। यहाँपर इन्होंने वेद-मन्त्रोंकी रचना आदि की। डा० हार्नलेके उक्त पक्षका समर्थन डा० ग्रियर्सनके उस लेखने भी किया है, जिसे उन्होंने भारतीय भाषाओंकी विवेचनाके निमित्त "रिपोर्ट आन द सेन्सस आफ इण्डिया" (१९०१ ई०) में लिखा था।

भारतमें इन आर्योंके आगमनके पूर्व द्रविड लोगोंका ही वास था। यह द्रविड़ सभ्य और सुशिक्षित थे। दूसरे कोल लोग भी भारतके आदि-वासी ही कहे जाते हैं; परन्तु उनकी सभ्यता द्रविड़ोंके समान समुन्नत नहीं थी। आर्योंने आकर द्रविड़ोंको जीता। इन युद्धोंका वर्णन ऋग्वेद्-में है। ऋग्वेदमें "कृष्णत्वक्" और "निनीसाः" आदि विशेषण दासों और दस्युओंके लिये प्रयुक्त हुए हैं। उक्त पक्षके समर्थकोंका कथन है कि, यह दोनों विशेषण भी द्रविड़ जातिकी ही विशेषताका सूचित करते हैं। अतः वेदके दास और दस्यु ही आदिनिवासी द्रविड़ हैं। उनको ही पराजित करके आर्योंने इस भारतमें अपना आधिपत्य स्थापित किया। वे इस सिद्धान्तकी पुष्टिकेलिये "भाषा-विज्ञान" का आश्रय लेकर कहते हैं कि, अफगानिस्तानमें आजतक एक छोटीसी जाति "ब्राहुई" है। "ब्राहुई" जातिकी ब्राहुई-भाषा द्रविड़ भाषाओंसे बहुत मिलती है; अतः भाषाका सादृश्य भी यही घोषित करता है कि, कभी वहाँ द्रविड़-भाषा-भाषी पुरुषोंका वास था।

भारतके दूसरे आदिनिवासी कोल लोग कहे जाते हैं। प्रधानतः इनकी बस्तियाँ छोटा नागपुर, सन्थालपरगना आदिमें हैं—यों तो बङ्गालसे लेकर मद्रासतक इनकी यत्किञ्चित् सत्ता है ही। जाति-विज्ञान (Ethnology) की दृष्टिसे इन कोल लोगोंको भी द्रविड़ जातिका कहा जा सकता है। परन्तु भाषा-विज्ञान (Philology) के आधारपर इन्हें द्रविड़जातिका मानना सर्वथा भ्रम-पूर्ण है। इन लोगोंकी भाषा आस्ट्रिक भाषाओंसे मिलती है, द्रविड़-भाषाओंसे नहीं। इस वैषम्यको सुलझानेका उद्योग भिन्न-भिन्न प्रकारोंसे किया गया है; परन्तु वास्तविक सन्तोषप्रद समाधान अद्यावधि नहीं किया जा सका है। भारतमें आर्योंका आगमन बाहरसे हुआ है, इस पक्षके समर्थकोंका यही संक्षिप्त मत है, यद्यपि "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" की उक्तिके अनुसार और भी बहुतसे अवान्तर मतोंकी कमी नहीं है।

हम इस प्रसङ्गमें जर्मन विद्वान् ब्रन होफरका नाम भी सूचित कर देना उपयुक्त समझते हैं। उक्त विद्वान्ने अपने ग्रन्थके तीन बृहद् भागोंमें काल्पनिक बातोंकी लड़ी लगा दी है। उनके ग्रन्थको कल्पनाका पुञ्ज कह देना कदाचित् अत्युक्ति न होगी।

उनकी कल्पनाओंमें यह भी है कि, भारतमें आकर वेद नहीं बनाया गया; अपितु वेदकी रचना कास्पियन समुद्रके तटवर्त्ती प्रदेशमें ही हो चुकी थी। कुछ विद्वानोंका मत उपर्युक्त मतसे सर्वथा भिन्न है। महाशय हालकी पुस्तक "एन्शयण्ट हिस्ट्री आफ नियर ईस्ट" में उक्त सिद्धान्तसे सर्वथा विपरीत पक्षको सिद्ध किया गया है। उनका कथन है कि, सुमेरियाके सुमर लोग, जिनकी सभ्यता पाश्चात्य विद्वानोंके मतानुसार संसारकी समस्त सभ्यताओंमें प्राचीन है, वस्तुतः भारतके आदिवासी व्यक्तियोंके द्वारा ही सुशिक्षित किये गये थे। मिश्रके प्रथम फरोहका समय यदि ईसासे ४५०० वर्षसे भी अधिक पूर्व रखा जा सकता है, तो सुमर लोगोंके निप्कुर और ईरिड आदि नगरोंकी सभ्यताको ईसासे ५५०० वर्षसे भी अधिक पूर्वका समझना चाहिये। इस सभ्यताके जन्मदाता भारतके ही व्यक्ति थे। डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए० ने "ऋग्वेदिक इण्डिया" में इस बातको भली भाँति सिद्ध किया है कि, पंजाबमें आर्य माइओसीन कालमें ही बसे हुए थे। मिश्र आर्यो-द्रविड़ लोगोंके द्वारा ही अधिवासित किया गया था तथा सुमर लोगोंपर भी आर्यो-द्रविडियनोंका ही प्रभाव पड़ा था।

आर्य और द्रविड़के भेदको सम्प्रति स्पष्ट करना हमारी विषय-सीमासे बाहर है; तथापि इतना स्पष्ट कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि, आर्य भारतके सभ्य, सुशिक्षित और आचार सम्पन्न व्यक्तियोंकी संज्ञा थी। अन्य लोग, जो कि आर्योंसे उपर्युक्त विषयोंमें न्यून थे, आर्येतर कहलाते थे। उन्हीं आर्येतर पुरुषोंकी, काल-भेदसे, भिन्न-भिन्न समयोंमें, नाना प्रकारकी संज्ञाएँ रखी गयीं। वेदको

ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेवालोंके दस्यु और दास आदि शब्द भी आर्येतर पुरुषोंकी तत्कालीन संज्ञामात्र ही हैं। ऋग्वेदमें इन आर्यों और आर्येतरोंके वास-स्थानका स्पष्ट निर्देश किया गया है। ऋग्वेदमें आर्योंके सर्वाङ्ग-सुन्दर वास-स्थानको 'सुवास्तु' कहा गया है। 'वास्तु' का अर्थ है वास-गृह; 'सु' का अर्थ है सुन्दर; अतः इससे यही प्रतीत होता है कि, आर्योंके वास-स्थानका केन्द्र 'सुवास्तु' था। कनिङ्घमके मतानुसार सुवास्तु आज कलकी स्वात नदी थी। इस नदीके तटकी भूमि भी सुवास्तु कही जाती थी। यास्काचार्यने निरुक्त (४।२।७) में ऋग्वेदके उस मन्त्रके खण्डको उद्धृत किया है, जिसमें सुवास्तुका उल्लेख है। "सुवास्त्वा अधि तुग्वनि"। (नि० ४।२।७) इसका अर्थ यास्काचार्यने यह किया है कि, 'सुवा नदी तुग्वतीर्थं भवति तूर्णमेतदायान्ति।" अर्थात् सुवास्तु नदीका नाम है। इस नदीके किनारे [तुग्व] तीर्थ थे। उस समय उन्हीं तीर्थों-पर लोग बहुधा आया करते थे। पाणिनिने [न्यूनातिन्यून ४०० वि० पू०] सुवास्त्वादिभ्योऽण् [४।२।७७] सूत्रमें इस सुवास्तु-पदका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख किया है। ×इसका अर्थ यह है कि, सुवास्तुके समीपकी जगह 'सौवास्तव' और वर्णुके समीपकी जगह वार्णव कह लायगी। ऋग्वेदके एक मन्त्र [५।५३।९] में आर्योंकी वास-भूमिकी सीमाका उल्लेख है। उस सूक्तके मन्त्रोंका ऋषि श्यावाश्व आत्रेय है और मन्त्रोंका देवता (वर्णनीय विषय) मरुत् हैं। मरुत्का अर्थ ऋत्विग् अथवा मनुष्य है। "मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मावः सिन्धुर्निरीरमत्। मावः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत् सुम्नमस्तु वः।" (अनितभा) नहीं दूर होता है जल-प्रभाव जिसका, अर्थात् सर्वदा बहनेवाली रसा नदी※ [वः] तुम्हें [मा निरीरमत्] क्लेश न पहुँचावे। [कुभा] कुत्सित स्थानसे निकलनेवाली काबुल नदी भी और [क्रुमुः] कुर्रम तथा [सिन्धुः] सिन्धुनद और [परिष्ठात् पुरीषिणी सरयुः] कुर्रम तथा सिन्धुके सम्मिलन स्थानसे परेकी सदा जलवाली सरयु नदी भी तुमको क्लेश न पहुँचावे। [सुम्नं इत् अस्तु वः] तुम्हारे लिये कल्याण ही हो।

इससे उस वास-भूमिकी उत्तर सीमा रसा नदी तथा पश्चिम सीमा काबुल नदी प्रतीत होती है। तक्षशिलाके समीपकी सरयु नदी (कोसल देशकी नहीं) पूर्वकी सीमा तथा कुर्रम और सिन्धुका सङ्गम उस सुवास्तु भूमिकी दक्षिण सीमा थी। ऋग्वेदके दशम मण्डलके पचहत्तरवें सूक्तके ऋषि सिन्धुक्षित् प्रैयमेध हैं। देवता (वर्णनीय विषय) नदियाँ हैं। उसके प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि, सात-सात नदियोंकी तीन श्रेणियाँ। इन सबके बलोंसे सिन्धु बहुत बढ़ा हुआ है।

"प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा।" (१०।७५।१) [उत्तरार्द्ध]

इस सूक्तमें पञ्चम मन्त्रसे लेकर आठवें मन्त्रतक बहुतसी नदियोंके नाम दिये हुए हैं।

मन्त्रोंमें पूर्वसे लेकर पश्चिमकी ओर परिगणन किया गया है—

[१] गङ्गा, [२] यमुना, [३] सरस्वती, [४] शुतुद्रि [सतलज], [५] परुष्णी [यास्कके समय इसका नाम इरावती था], [६] असिक्नी [चन्द्रभागा], [७] वितस्ता, [८] मरुद्वृधा [इरावती, चन्द्रभागा और वितस्ताका जब परस्पर सम्मेलन हो जाता था,

× गण-पाठमें सुवास्त्वादिगणमें निम्न शब्दोंका पाठ है—सुवास्तु, वर्णु, भण्डु, भणडु, सेवालिन्, कर्पूरिन्, शिखण्डिन्, गर्त्त, कर्कश, शकटीकर्ण, कृष्णकर्ण, कर्कन्धुमती, गोह, अहिसक्थ। यह सब तत्कालीन ग्राम और प्रदेश थे। —लेखक

※ अवस्तामें जिस नदीको 'रहा' कहा है, वही वेदोक्त 'रसा' है। यह खुरासान देशकी नदी है [विश्वकोष]। —लेखक

तब उसी सम्मिलित धाराका नाम मरुद्वृधा हो जाता था,+ [९] आर्जीकीया [यास्कके समय इस नदीका नाम विपाड् था, उसके पूर्व इस नदीका ही नाम उरुञ्जिरा था, आजकल इसका नाम व्यास है], [१०] सुषोमा (सिन्धु)।⊛ यह सिन्धु नदीके पूर्व भागकी नदियाँ हैं। मनूक्त ब्रह्मर्षिदेश भी प्रायः यही है। सिन्धुके पश्चिमकी नदियोंके नाम षष्ठ मन्त्रमें दिये हुए हैं—(१) तृष्टामा ÷, (२) सुसर्त्तु √, (३) रसा >, (४) श्वेती △, (५) कुभा ∵, (६) गोमती ==, (७) मेहत्नुके साथ मिली हुई क्रमु ⁂। इन नदियोंके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेशकी और नदियोंके नाम भी शेष दो मन्त्रोंमें आये हैं—(१) ऊर्णावती, (२) हिरण्मयी, (३) वाजिनीवती, (४) सीलमावती, (५) सुषमी, (६) एनी, (७) ऋजीती। इन नदियोंके नाम आजकल बदल गये हैं। यह सब नदियाँ बिलोचिस्तान और चित्राल आदि प्रदेशोंकी हैं। इन सब नदियोंको ठीक-ठीक बतानेकी चेष्टा आनुमानिक ही है, और, हम किसीकी ऐसी चेष्टाका अपहरण नहीं करना चाहते। इन्हीं सात-सात नदियोंके त्रिकको ऋग्वेदमें कहा गया है कि, "प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः।" इन इक्कीस नदियोंसे सभ्यका देश उस समयका मुख्य आर्यावर्त्त था। ×

ऋग्वेदके [१।१०३) एक सूक्तमें कहा गया है कि, इन्द्रने शुष्ण, पिप्रु, कुयव, वृत्र, शम्बर आदिको मार डाला है।

अगले सूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि, "योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि।" अर्थात् हे इन्द्र, तुम्हारा स्थान निषदमें भी कर दिया गया है। इस निषद (पर्वतीय प्रदेश) की नदियों—अञ्जसी, शिफा, कुलिशी और वीरपत्नीके नाम भी ऋग्वेदके एक मंत्र(ऋ० १।१०४।४) में है। इसका सरलार्थ यह है कि, पहाड़ी स्थानके मुख्य स्थलको, मनुष्योंका शूर वीर राजा, रक्षा करता है। पूर्वकी ओर बहनेवाली नदियोंसे वह स्थान प्लावित हो जाया करता है। अञ्जसी, कुलिशी और वीरपत्नी नामकी नदियाँ पानीको बहाती हुई इस स्थानको जलसे भर देती हैं।

ऋग्वेदके तृतीय मण्डल (३।५८।६) में जह्नावी अर्थात् जाह्नवीका उल्लेख है। यह जह्नावी नदी गङ्गासे भिन्न है। सिन्धुके पश्चिम, पाँचकोटाके पूर्व तथा बुनार प्रदेशके उत्तरमें जह्नावी प्रदेश है। इस प्रदेशको पुराण ओक अर्थात् पुराना घर भी कहा गया है।⊛ परन्तु इसके पहले (३।२३।४) में सरस्वती और दृषद्वतीके मध्यकी उर्वरा भूमिको संसारमें सर्वश्रेष्ठ भूमि कहा गया है।

इस मन्त्रका तथा मनु (२।१७) के ब्रह्मावर्त्त-स्वरूप-प्रतिपादक श्लोकका बहुत साम्य है।

ऋग्वेद (१०।२८।१७) में 'अक्षा' शब्द अफगानिस्तानके उत्तरमें बहनेवाली औक्सस नदीके लिये आया है।

+"मरुद्वृधाः सर्वा नद्यः मरुत एना वर्द्धयन्ति " [निरुक्त, दैवतकाण्ड]

⊛"सुषोमा सिन्धुः यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः।" [निरुक्त, ९ अ०]

यहाँ मरुत् शब्दका अर्थ मानसून हवा है। मानसूनसे वृष्टि और वृष्टिके जलसे नदियोंका बढ़ना इसका तात्पर्यार्थ है। Dr. Aurel stein के मतसे सुषोमा आजकलकी सोहन और आर्जिकीया या तो किशनगङ्गा अथवा कुनहार (कुथनारो) है।—लेखक

÷चित्रालकी एक नदी, जो पूर्वको बहती है।√ सुवास्तु (स्वात्)।> रहा। कोई-कोई सेहूँको भी रसा समझते हैं। △डेरा इस्माइलखाँके समीपकी अर्जुनी नदी।∵ काबुल नदी।== गोमल।⁂ कुर्रम।× प्रथम मन्त्रोक्त दस नदियोंमें मुख्य सात ही हैं।—लेखक

⊛ "पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्नाव्याम्।" [ऋ० ३।५८।६]

"अनुप्रत्नस्यौकसो हुवे" (ऋ० १।३०।९)। यहाँपर भी प्रत्न ओक शब्द आया है।—लेखक

ऋग्वेदके "उपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः" (८।९६।१४) मन्त्र-प्रतीकमें अंशुमती नदीका भी नाम आया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद (१०।५३।८) में अश्यन्वतीका भी नामोल्लेख है। अश्यन्वती सम्भवतः दृषद्वतीका ही पर्यायवाची नाम है।

ऋग्वेदके (६।२७।५,६ मन्त्र) दो मन्त्रोंमें हरियूपीया और यव्यावती नदियोंके नाम आये हैं। सम्भवतः अफगानिस्तानके हेरात प्रदेशकी हरिरुद नदीका ही नाम हरियूपीया था। परन्तु डा० हापकिन्सने "रिलीजन्स आफ इण्डिया" में भारतवर्षका जो चित्र दिया है, उसमें हरिरुदका नाम सरयु स्वीकृत किया है।

ऋग्वेदमें स्वीडेन और काकेशस आदिका कहीं भी उल्लेख नहीं है। इन सम्पूर्ण मंत्रोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेसे इस बातमें लेश भर भी संशय नहीं रह जाता कि, ऋग्वेदादिमें जिन आर्योंका उल्लेख है, वे स्वीडेन, काकेशस अथवा मध्य एशिया आदिसे यहाँ नहीं आये थे; अपितु वे यहांके ही रहनेवाले थे। स्वीडेन, काकेशस और मध्य एशिया आदिसे आर्योंकी भिन्न-भिन्न शाखाओंका सर्वत्र प्रसार नहीं हुआ, अपितु प्राचीन आर्यभूमि उक्त नदियोंके मध्यमें ही थी और इस स्थानसे ही इनका चतुर्दिक्में प्रसार हुआ।

पतञ्जलि मुनिने महाभाष्य (२।४।१०) में आर्यावर्त्तकी सीमा इस भाँति निरूपित की है—आदर्श या अञ्जन पर्वतसे सुलेमान पहाड़ लेकर कालकवन * अर्थात् जरासिन्धके मित्र कालयवनके राज्यस्थानकी सीमातक और हिमालयसे लेकर पारिपात्रतक‡ आर्यावर्त्त है। पतञ्जलिके वाक्यका यह तात्पर्य कदापि नहीं निकालना चाहिये कि, किसी अन्यभूमिमें आर्योंका वास ही नहीं था। पतञ्जलिका तात्पर्यार्थ केवल यही है कि, उक्त सीमाके अन्तर्गतका प्रदेश ही आर्य सभ्यताका केन्द्र था। परन्तु आर्य-सभ्यता वस्तुतः चतुर्दिक्में फैली हुई थी। निरुक्तमें ऋग्वेदके एक मंत्र (३।५३।१४) को उद्धृत किया गया है—"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः।"+ इस मंत्रमें आये हुए कीकट शब्दका अर्थ यास्क मुनि करते हैं कि, "कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः"। कीकट नामका देश (दक्षिण मगध) अनार्योंके रहनेकी जगह है।

पाणिनिके गणपाठमें बहुतसे देशोंके नाम दिये हुए हैं। वे सम्भवतः सभी विस्तृत अर्थमें आर्यदेश अथवा संस्कृत-भाषा-भाषी लोगोंके सम्पर्कमें रहनेवाले देश होंगे। बहुतसे नगरोंके नाम भी मिलते हैं। यह सब लङ्कासे लेकर बाह्लीकके मध्यके हैं।

पाणिनिके वरणादिभ्यश्च (४।२।८२) सूत्रके साथ वरणादिगण दिया हुआ है। उसमें ये नाम आये हैं—वरणा, शृङ्गी, शाल्मलि, शुण्डि, शयाण्डी, पर्णी, ताम्रपर्णी (दक्षिण) गोद, आलिङ्ग्यायन जानपदी, जम्बू, पुष्कर (अजमेर), चम्पा (भागलपुर, बिहार), पम्पा (निजाम स्टेट), वल्गु, उज्जयिनी, गया, मथुरा, तक्षशिला, उरसा, गोमती, वलभी। नद्यादिभ्यो ढक् (४।२।९७) के नद्यादिगणमें वाराणसी, श्रावस्ती (सहेटमहेट, जि० गोंडा), कौशाम्बी (इलाहाबादके समीप), वनकौशाम्बी, काशफारी और माया (हरद्वार) नाम भी आये हैं। कत्र्यादिभ्यो ढकञ् (४।२।९५) के कत्र्यादिगणमें कुण्डिन नगरी और माहिष्मती नाम भी आये हैं। प्रस्थोत्तरपलधादिकोपधादण् (४।२।११०) के पलधादिगणमें शूरसेन और यकृल्लोम नाम भी आये हैं। काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ (४।२।११६) के साथ काश्यादिगणमें काशि और चेदि दो नाम आये हैं। चेदि देश वर्त्तमान बुन्देलखण्ड है। धूमादिभ्यश्च (४।२।१२७) के धूमादिगणमें विदेह, राजगृह, आनर्त्त (द्वारका), साकेत

* बक्सरके समीप। ‡विन्ध्यपर्वतका भाग। —लेखक

+ "कीकटेषु गया पुण्या"—इस स्मृतिवचनसे गयाके पार्श्ववर्त्ती प्रदेशका नाम कीकट प्रतीत होता है।—लेखक

(अयोध्या), दक्षिणापथ, मद्रकूल (मद्रास प्रान्तके समुद्र-तटका प्रदेश)✽, साङ्कस्थली, आनकस्थली, अजस्थली, मद्रकस्थली, समुद्रस्थली और आवयतीर्थके नाम आये हैं। कच्छादिभ्यश्च (४।२।१३३) के साथ कच्छादि गणमें कच्छ, सिन्धु, वर्णु, गन्धार, कम्बोज, कश्मीजर, साल्व, कुरु और अनुषण्डद्वीपके नाम आये हैं। अनुषण्डद्वीपसे किस द्वीपका अभिप्राय है, यह बात चिन्तनीय है। सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४।३।९३) के साथ सिन्ध्वादिगणमें सिन्धु, वर्णु, मधुमत्, कम्बोज, शाल्व, कश्मीर, गन्धार, किष्किन्धा, उरसा, दरद और गन्दिका नाम आये हैं। तक्षशिलादिगणमें तक्षशिला, वत्सोद्धरण, किंनर, बर्बर पर्वत, अवसान आदि नाम आये हैं। दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठाच्छः (५।३।११६) में त्रिगर्त्त और उनके साथ एक सङ्घमें रहनेवाले अन्य और पाँचका उल्लेख है। पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ (५।३।११७) में पर्शु, असुर, बाह्लीक, दशार्ह और पिशाच आदि नाम आये हैं।† यौधेयादिगणमें त्रिगर्त्त, भरत, उशीनर आदि नाम आये हैं।* इनमेंसे बहुतसे नाम ऋग्वेद और अथर्ववेद आदिमें भी मिलते हैं। कुल्लूकभट्टने मनुस्मृतिमें आये हुए "तं देवनिर्मितं देशं आर्यावर्त्तं प्रचक्षते" का अर्थ करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, "आर्याः अत्र पुनः पुनरावर्त्तन्त उद्भवन्तीति ।" यही आर्यावर्त्त आर्योंकी सनातन भूमि है। यही उनकी जन्मभूमि और पुण्यभूमि है। पुराणोंमें इस आर्यावर्त्तकी उक्त सीमा और अधिक विस्तृत दी हुई है। वैदिक भारतकी पश्चिमी सीमा रसा नदीतक कही जा सकती है। देवशुनी सरमा पणि लोगोंके द्वारा अपहरण की गयी देवताओंकी गायोंको जब ढूँढ़ने गयी थी, तब उसे रसा नदीको पार करना पड़ा था। रसाके उस पार पणि या पणिक् अर्थात् फिनीशियन लोगोंका प्रभाव था। हमें इतिहाससे विदित होता है कि, ईसासे पूर्व नवीं और आठवीं शताब्दियोंमें पणिक् लोग बड़े कुशल नाविक और व्यापारी थे।

वितस्ता (वेहद अथवा व्यास्त) अर्थात् झेलम नदीके उत्तर त्रिककुत् पर्वत था, इसका उल्लेख वेदमें है। पाणिनि-

✽ विन्टरनिट्ज़ने अपनी पुस्तक "A History of Indian Literature" में मद्रदेश मद्रासको माना है।—लेखक

† यह यद्यपि जातियोंके नाम हैं, तथापि इनका देश भी इनके नामके साथ सम्बद्ध है। —लेखक

* पाणिनिके समय प्राच्य, उदीच्य और अनुदीच्य नामके तीन बड़े दैशिक विभाग थे। पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें आये हुए "एङ् प्राचां देशे" (१।१।७५) की वृत्तिके अवसरपर काशिकाकार वामन और जयादित्यने एक श्लोक उद्धृत करके यह बात भली भाँति प्रकट कर दी है कि, प्राच्य देश और उदीच्य देशकी सीमा "शरावती" नदी थी। "प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा। विदुषां शब्दसिध्यर्थं सा नः पातु शरावती ।" इस श्लोकसे यह सूचित होता है कि, जिन सूत्रोंमें प्राचाम्, उदीचाम् और अनुदीचाम् शब्द आये हैं, वे उक्त श्लोकोक्त देशको अभिलक्षित करके प्रयुक्त हुए हैं, कालको अभिलक्षित करके नहीं। परन्तु टीकाकारों और वृत्ति आदिके लिखनेवालोंने उन्हें कालपरक मान लिया है। यह कदाचित् भ्रमपूर्ण है। "उदक् च विपाशः" आदि सूत्रोंमें व्यास नदीके उत्तरके कूपोंकी संज्ञा आदिके जिस प्रकारसे नियम दिये गये हैं, उसी प्रकारसे प्राच्य, उदीच्य और अनुदीच्य देशोंके मोटे-मोटे नियम उन सूत्रोंमें दिये हुए हैं, जहाँपर उपर्युक्त शब्दोंका प्रयोग करके किसी प्रकारका मतभेद दिखलाया गया है। कालपरक अर्थकी अपेक्षा देशपरक अर्थ ही अधिक उचित और शुद्ध प्रतीत होता है। यदि किसी व्यक्तिका सन्तोष दोनों अर्थोंके अङ्गीकार करनेसे ही होता हो, तो उसमें हमारा कोई दुराग्रह नहीं है। —लेखक

को अष्टाध्यायीमें भी 'त्रिककुत्पर्वते' सूत्रमें उसी वेदोक्त पर्वतका वर्णन किया गया है। त्रिककुत्पर्वत (त्रिकोट) आर्यावर्त्तका ही पर्वत था। इस पर्वतसे भी और उत्तरकी ओर मूजवान् पर्वत था। यजुर्वेदके तृतीयाध्यायके एक मन्त्रमें रुद्रका वर्णन करते हुए मूजवान् पर्वतका उल्लेख मिलता है। उसके तात्पर्यार्थसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, मूजवान् पर्वतके उधर आर्योंका वास नहीं था अर्थात् मूजवान् पर्वत भी सीमापर्वत ही था। इस प्रकार उपर्युक्त इक्कीस नदियोंके मध्यवर्ती भागको मुख्य आर्यावर्त्त एवं सुवास्तु नदीके तटपर आर्योंके आदिवास एवं उसीके निकट उनकी जन्मभूमिको मानना ही युक्ति-प्रमाणानुकूल है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना"की उक्तिके अनुकूल लोगोंकी नाना दृष्टियाँ स्वाभाविक ही हैं।

विषयकी स्पष्ट विवेचनाके लिये यहाँ कुछ अन्य अपेक्षित बातोंपर भी प्रकाश डाल देना परमावश्यक है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके भाषा-विज्ञानाध्यापक फ्रेडरिक मैक्समूलरने भाषा-विज्ञानका आश्रय लेकर सर्वप्रथम इस बातकी घोषणा की थी कि, मध्य एशियाके ही किसी स्थलसे केल्ट, ट्यूटन, स्लाव, ग्रीक, रोमन, ईरानी और भारतीय आर्य, प्रागैतिहासिक कालके किसी समयमें, दो भिन्न-भिन्न दिशाओंकी ओर अर्थात् उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्वकी ओर प्रस्थित हुए थे। "आर० जी० भाण्डारकर कम्मेमोरेटिव वाल्यूम"में एक लेख डा० नाहर गोपाल, सर देसाई एल० एम० एस० का "द लैण्ड आफ़ सेविन् रिवर्स" दिया हुआ है। उसका सारांश यह है कि, "सप्तसिन्धु" नाम पंजाबकी अपेक्षा रूसी तुर्किस्तानके अन्तःपाती समीरेचन्स्की-क्राईका अधिक उपयुक्त है।×

यह प्रदेश अल्तउ पर्वतश्रेणीके उत्तर, इली नदीके पूर्व और लेप्सा नदीके पश्चिममें, अवस्थित है। इस प्रदेशके उत्तरमें बाल्कश झील है। इस प्रदेशकी सात नदियाँ अर्थात् (१) लेप्सा, (२) बस्कन, (३) अक्सु, (४) सर्कन्, (५) बियेन, (६) कर्तल और (७) कोक्सु इसी झीलमें आकर प्रवेश करती हैं। यहाँके आदिनिवासी, जिन्हें आजकल घल्वा कहते हैं, अर्पन् तजिक थे। सम्भवतः इन्होंने भारतकी ओर प्रस्थान कर, भारतके अधिवासियोंको पराजित कर, इस देशका नाम भी 'सप्तसिन्धु' ही रख लिया हो। इस 'सप्तसिन्धु' में पंजाबकी पाँच नदियोंके अतिरिक्त सरस्वती और कुभा अथवा गङ्गा तथा यमुना सम्मिलित करनी होंगी।※

हम इस कल्पनाको ठीक विपरीत अर्थमें देखना चाहते हैं। हमारा विचार है कि, यहाँसे प्रस्थित हुए आर्योंने ही उपर्युक्त रूसी तुर्कीस्तानकी भूमिका नाम 'सात नदियोंकी भूमि' रखा। अवस्तामें आये हुए 'आर्येनेवेजो' अर्थात् 'आर्याणां बीजम्' नामक स्थलको भी हम आर्योंकी जन्मभूमि नहीं, प्रत्युत आर्य सभ्यताके विस्तारका एक केन्द्र अर्थात् पार्श्ववर्त्ती प्रदेशके लिये आर्य-सभ्यताका गढ़ ही समझते हैं। इस विषयमें वादी पक्षकी सम्पूर्ण युक्तियाँ भी उपपन्न हो जायँगी। १८८७ई० के हिबर्ट लेकचर्समें प्रो० एच० सेकने यह बात बतलायी थी कि, अक्कद लोग सिन्धु नामके वस्त्रको काममें लाते थे। यह सिन्धु नामक वस्त्र भारतकी

× Semiretchenski-Krai का अर्थ उस प्रदेशकी भाषामें सात नदियोंकी भूमि अर्थात् 'सप्तसिन्धु' ही है। —लेखक

※ हम यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, वेदके बहुतसे मन्त्रोंमें सरस्वती शब्द सिन्धु नदीके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने निरुक्तमें सरस्वती नदीके लिये जिस ऋचाको उद्धृत किया है, उसमें भी सरस्वती पद सिन्धुके लिये ही उपयुक्त हो सकता है। सरस्वती नामकी अन्य किसी भी नदीका ऐसा तीव्र प्रवाह सम्भव ही नहीं है, जैसा कि, मन्त्रमें वर्णित है। —लेखक

सिन्धु नदीके तटवर्त्ती प्रदेशसे, उस प्राचीन कालमें कैल्डिया-तक जल-मार्गसे पहुँच चुका था। यदि यह शब्द स्थल-मार्गसे वहाँ पहुँचता, तो इसका 'स'कार ईरानियोंके मुखमें पहुँचकर 'ह'कारमें परिवर्त्तित हो गया होता।

जब व्यापारकी इस घटनाके साथ हम बोगाजकोईके उस शिलालेखपर दृष्टिपात करते हैं, जिसे जर्मन पुरातत्त्व-वेत्ता ह्यूगो विन्कलरने, १९०७ ई० में, सव्यक्त किया; तब हम निश्चयतः इस परिणामपर पहुँच जाते हैं कि, ईसासे १४०० वर्ष पूर्व हिटाइट और मितानी [उत्तरी मेसोपोटामिया] × राजाओंने अपनी सन्धिके अवसरपर जिन इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्या अर्थात् अश्विनौ नामक देवताओंको साक्षी रूपसे सम्मुख रखा था, वे भारतीय ही हैं। कुछ विद्वानोंने मिस्रकी तत्कालीन राजधानी टेलेलमर्नामें उपलब्ध इन राजाओंके उन पत्रोंको पढ़कर विशद किया है, जिन्हें ईसासे १४०० वर्ष पूर्वके ही लगभग मितानी राजाओंने, मिस्रके फरोहाके पास, उनके महत्त्व और प्रभुत्वको अङ्गीकार करते हुए भेजा था। उन पत्रोंमें इन राओंके नाम अटटम [आर्त्ततम], सतर्ण, तुश्रत् [तुशरत=दशरथ] आदि दिये हुए हैं।

बहुतसे विद्वान् उपर्युक्त नामोंको ईरानियन समझते हैं। उनका आधार यह है कि, आर्त्तजर्क्सीज आदि नामोंकी भाँति आर्त्ततम इत्यादि नामोंमें भी 'आर्त्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः उक्त नाम भी ईरानी भाषाके ही सम्भव हैं। आर्त्ततमः; सुतर्यः, तुशरतः अथवा दशरथः इत्यादि नाम तो शुद्ध संस्कृतके ही हैं। इसमें तो लेशभर भी विचिकित्साका स्थल नहीं है। इसलिये हम मि० हालके उस विचारसे, जिसे उन्होंने "द एंशन्ट हिस्ट्री आफ् नियर ईस्ट" में प्रतिपादित किया है, पूर्ण रूपसे सहमत हैं कि, पश्चिमोत्तरकी ओरसे, दक्षिण-पूर्वकी दिशाकी ओर, मनुष्योंका प्रसार नहीं हुआ है; अपितु भारतसे ही उत्तर-पश्चिमकी ओर मनुष्योंका अभिप्रयाण हुआ है। प्रो० ए०बी० कीथने "रिलीजन ऐण्ड फिलासफी आफ् वेद ऐण्ड उपनिषद्" के प्रथम भागके १० वें पृष्ठमें मि० हाल तथा डा० अविनाशचन्द्र दासका उक्त मत समीक्षार्थ उद्धृत किया है। मि० हालने "एंशन्ट हिस्ट्री आफ् नियर ईस्ट" में सुमरलोगोंकी आदिसभ्यताको—जिसका समय एच० जो० वेलसकी "द आउट लाइन आफ् हिस्ट्री" के अनुसार ईसासे लगभग ५५०० वर्ष पूर्व है—भारतके द्रविड़ लोगोंकी सभ्यतासे ही समुत्पन्न कहा है। डा० अविनाशचन्द्र दासने सुमरलोगोंकी सभ्यतापर तथा मिस्रवासियोंकी सभ्यतापर—जिनके प्रथम फरोह मेनेस (मनु)का समय ईसासे लगभग ४५००वर्ष पूर्व है—आर्यद्रविड़-सभ्यताके प्रभावोंको सूचित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि, मिस्रको अधिवासित और सुविभक्त एवं सुव्यवस्थित करनेवाले यही भारतीय व्यक्ति ही थे। यदि भारतके आदिवासी पुरुष द्रविड़ ही मान लिये जायँ, तो डा० अविनाशचन्द्र दासके मतानुसार, अन्थ्रापालाजी (मानवविज्ञान) और इथनालाजी (मनुष्यजातिविज्ञान) के आधारपर सुमेरियाके सुमर, अफ्रीकाके बान्तू और यूरोपके पिरीनीज पर्वतके समीपके रहनेवाले बास्क लोग एक ही जातिके सिद्ध होते हैं।

हम उक्त विद्वानोंसे एक अंशमें, पूर्ण रूपसे, इस बातपर सहमत हैं कि, मनुष्योंका अभिप्रयाण पश्चिमोत्तरकी ओरसे दक्षिण-पूर्वकी ओर नहीं हुआ है; अपितु दक्षिण-पूर्वकी ओरसे ही पश्चिमोत्तरकी ओर अर्थात् भारतसे मैसोपोटामिया, अफ्रीका और यूरोपकी ओर ही मनुष्योंका अभिप्रयाण हुआ है। एक अंशमें अर्थात् उनकी आदि संज्ञाके विषयमें हम यद्यपि मि० हालकी अपेक्षा डा० अविनाशचन्द्रदाससे अधिक सहमत हैं, तथापि हमें उनके पक्षमें भी एक अंश त्याज्य ही प्रतीत होता है। उन आदिपुरुषोंकी संज्ञा द्रविड़ नहीं थी; अपितु उनका नाम 'आर्य' ही था। द्रविड़ शब्द तो भाषाकी दृष्टिसे बहुत ही आधुनिक है।

× श्रीयुत चिन्तामण विनायक वैद्यके मतानुसार मितानी आर्यराजा ही थे।—लेखक

उस प्राचीन समयमें इस शब्दका जन्म भी नहीं हुआ था। अतः इस शब्दको त्यागकर प्राचीन 'आर्य' शब्दका प्रयोग ही उन लोगोंके लिये उपयुक्त और यथार्थ वस्तु-स्थितिका द्योतक होगा। कुछ विद्वानोंने (जिनमें प० बाल गङ्गाधर तिलक, फ्रेडरिक मैक्समूलर, रुडाल्फ राथ, प्रो० एल० ए० वेडल और आर्थर वेरिडेल कीथके नाम विशेष रूपसे लिये जा सकते हैं) सोदाहरण इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि, वेदमें अन्य देशकी भाषाओंके भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वे इस बातसे इस परिणामको सिद्ध करना चाहते हैं कि, वैदिक आर्य उन-उन देशोंका अतिक्रमण करके पुनः भारतमें आये, जिन देशोंकी भाषाओंके शब्द अथवा जिन देशोंसे सम्बद्ध तुलनात्मक आख्यान वेदमें उपलब्ध होते हैं। लो० बाल गङ्गाधर तिलकने आर्योंके आदिस्थानके निर्णयार्थ एक पुस्तक "आर्टिक होम इन द वेदाज" लिखकर कुछ शब्दों और वेदोक्त घटनाओंके आधारपर आर्योंका आदिस्थान उत्तरी मेरुका आसन्नवर्त्ती प्रदेश स्वीकार किया था। तिलक (टिलक) महाशयका एक लेख 'भाण्डारकर स्मृति सम्पुट' में 'कैल्डियन ऐण्ड इण्डियन वेदाज' शीर्षक (अधिकरण) दिया हुआ है। एम० लेनार्मण्टने कुछ इष्टका-लेखोंको विशुद्ध रूपसे अधिगत करके उन लेखोंका नाम 'कैल्डियन वेद' रखा था। कैल्डियन लोग, तिलकके मतानुसार, तूरानियन जातिके थे। एच० जो० वेल्स इनको सेमेटिक जातिका तथा मि० हाल और अविनाशचन्द्र दास द्रविड़जातिका मानते हैं। कदाचित् ऋग्वेदमें आये हुए तौरयाण शब्दका अपभ्रंश ही तूरानियन शब्द है। यह तूरानियन लोग मङ्गोलियाके समीपसे वहाँ पहुँचे। यह लोग जादू, टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदिपर अधिक विश्वास रखते थे। इनके देवता भी इसी प्रकारकी सिद्धियोंके अधिष्ठाता हैं। लो० तिलकका कहना है कि, 'त्रयी विद्या' में ऋक, यजुः, साम—ये ही तीन वेद सम्मिलित हैं, चतुर्थ अथर्ववेद नूतन है। इस नूतन वेदके निर्माण करनेवालोंपर कैल्डियाके लोगोंके धर्मका प्रगाढ़ प्रभाव पड़ा था। अतः अथर्ववेदके मंत्रोंमें जादू, टोना, इन्द्रजाल और वशीकरण तथा रोगनिवारण आदिको ही प्राधान्येन गुम्फित किया गया है। इस सामान्य प्रभावके अतिरिक्त कुछ अंशोंमें कैल्डियाके विस्पष्ट प्रभावको भी लो० तिलकने दिखानेका उद्योग किया है। लो० तिलकका कथन है कि, 'अथर्ववेदके कई मंत्रों (५।१३।६,७,८) में तो कतिपय कैल्डियन शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं।' इनमें [१] तैमात, [२] आलिगी, [३] विलिगी, [४] ताबुवम् आदि शब्द, लो० तिलकके मतानुसार, कैल्डियन भाषाके ही हैं। तैमात [स्त्री] तो आदिजलसे उत्पन्न दैत्य-स्त्री है। यह उरुगुल = अब्जु = अप्सुकी पत्नी है। अब्जु [जिसे कैल्डियनमें उरुगुल लिखा जाता है और अब्जु पढ़ा जाता है] वेदका वृत्र है। इसको जीतनेवाला मर्दूक वेदोक्त इन्द्र है, जिसका विशेषण, कहीं-कहीं, अप्सुजित भी दिया हुआ है। अथर्ववेदका समय चिन्तामणि विनायक वैद्यके मतानुसार ईसासे २७०० वर्ष पूर्व है। एक ओर अथर्ववेदमें कैल्डियन शब्द हैं, दूसरी ओर कैल्डियाकी भाषाका यह्व शब्द [जिससे यहूदियोंके जहोवाकी उत्पत्ति हुई है] वेदका ही शब्द है; कैल्डियन भाषाका नहीं। वेदमें यह्वतीः, यह्वीः, यह्वम् आदि बहुतसे शब्द उसी मूलसे निकले हैं। कैल्डियनमें ऐसे शब्दोंका अभाव है। अतः यह 'यह्व' शब्द वैदिक ही है। इसमें किसी प्रकारके संशयका स्थल नहीं।

डा० हेस्टिंग्स द्वारा सम्पादित "इन्साइक्लोपीडिया आफ एथिक्स ऐण्ड रिलीजन" में यह्वः अर्थात् जहोवाके शुद्ध उच्चारणके सम्बन्धमें भी कुछ विवेचना की गयी है, परन्तु परिणाम उसका "नेति नेति" ही है। आजकल नूतन कोष इसका उच्चारण और उद्भव 'यह्' धातुके आधारपर व्यवस्थित करते हैं। हम इस प्रकारके शब्दोंकी सत्ताके आधारपर यह बात स्पष्ट रूपसे स्वीकार करनेको बाध्य हैं कि, किसी न किसी प्रकार इन दोनों सुदूरवर्त्ती जातियोंमें

परस्पर सम्बन्ध था ही। यदि यह मान भी लिया जाय कि, कैल्डियन भाषाके शब्दोंकी सत्ता वेदमें इसलिये है कि, भारतमें आनेसे पूर्व आर्यलोगोंने कैल्डियामें भी प्रवेश किया था, तो भी दूसरे अंशका उत्तर (अर्थात् कैल्डियन भाषामें वैदिक शब्द कैसे पहुंचे) विचारणीय रह ही जाता है। यदि यह शब्द अग्नि, पितृ, मातृ, दुहितृ और सूनुः आदि शब्दोंके समान प्राचीन होता, तो सम्पूर्ण इण्डो-जर्मन अथवा इण्डो-यूरोपियन भाषाओंमें इसकी सत्ता होती; परन्तु यह बात उपलब्ध निदर्शनोंके सर्वथा प्रतिकूल है। यदि भारतीय आर्योंका उस प्राचीन कालमें कैल्डिया, बेबिलोन इत्यादिमें अभिगमन मानना ही पड़ेगा, तो हमें इस बातको भी मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि, तैमात, आलिगी, विलिगी और तावुवम् आदि शब्द भी वैदिक ही हैं, कैल्डियन नहीं। अथर्ववेदमें प्रयुक्त ये शब्द कैल्डियाकी भाषामें उसी प्रकारसे दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे संस्कृतका पन्था शब्द अंग्रेजीमें 'पाथ' के रूपमें। इस प्रकार इन शब्दोंकी सत्ता ही इस बातका सिद्ध करनेमें प्रमाणभूत है कि, आर्योंका प्रयाण पश्चिमोत्तरकी ओर हुआ है, दक्षिण पूर्वकी ओर नहीं। अतः यही, आर्यावर्त्त ही, वस्तुतः आर्योंकी जन्मभूमि है।

प्रोफेसर कीथने "रिलीजन ऐण्ड फिलासफी आफ् वेद ऐण्ड उपनिषद्" में परशु, सृञ्जय, पारावत आदि शब्दोंको ईरानियन माना है। इस विषयमें हमारा समाधान उपर्युक्त ही है। ऋग्वेदके एक मन्त्र-खण्ड "सचा मना हिरण्यया" में आये हुए 'मना' शब्दपर प्रो० मैक्समूलर, कीथ, डा० अविनाशचन्द्र दास आदिने विचार करते हुए इसे बैबिलोनियन मान लिया है। इसीके समान लैटिनका 'मिना' शब्द भी 'मना' के ही अर्थका द्योतक है। सायणने इसका अर्थ आभूषण किया है। शङ्काका बीज और स्वरूप ठीक पहली जैसी शङ्काओंके समान है। अतः विनिगमनाके अभावसे इसका प्रत्युत्तर भी पूर्ववत् ही है। इन सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक पक्ष प्रो० एल० ए० वैडलका है, जिसे उन्होंने अपनी अभी हालमें ही प्रकाशित पुस्तक 'इण्डो-सुमेरियन सील्स डिसाइफर्ड'में उद्घोषित किया है। प्रोफेसर वैडल हरप्पा (जि० माण्टगोमरी, पंजाब) तथा मोहञ्जो-दड़ो (जि० लरकाना, सिन्ध) में उत्खननके द्वारा उपलब्ध मुद्राओं और भग्नावशिष्ट जीर्ण-शीर्ण वस्तुओंके आधारपर इस बातकी घोषणा करनेका साहस कर सके हैं कि, ईसासे ४ हजार वर्ष पूर्वसे लेकर लगभग ३ हजार वर्ष पूर्वतक, किसी समयमें, सिन्धमें सुमेरियन लोग बसते थे। वे वहां सम्भवतः समुद्र-मार्गसे गये। वहां उन्होंने अपनी सभ्यता फैलायी। उसी सभ्यताके अभिव्यञ्जक यह सब उत्खननोपलब्ध द्रव्य हैं। प्रो० वैडलका यह भी कहना है कि, ईसवी सन्से लगभग ७ सौ वर्ष पूर्व मैसोपोटामियाके सुमर लोगोंका दूसरा आक्रमण भारतवर्षपर हुआ। यही स्थिर प्रभावोत्पादक आक्रमण इतिहासमें "आर्योंके आक्रमण" के नामसे संस्मरण किया जाता है। प्रो० वैडलका यह मत, न केवल बाल गङ्गाधर तिलकके मतसे विपरीत है [जो ईसासे ४ हजार वर्ष पूर्व मध्य एशियासे आर्योंके आक्रमणका स्वीकार करते हैं]; अपितु "केम्ब्रिज हिस्टरी आफ् इण्डिया" के उस मतसे भी सर्वथा विरुद्ध है, जिसे उन्होंने "क्रानोलाजी" के परिशिष्टमें दिया है। उपर्युक्त ग्रन्थके "क्रानोलाजी" नामक परिशिष्टमें आर्योंके आक्रमणकी तिथि सम्भवतः ईसासे २५०० वर्ष पूर्वकी स्वीकार की गयी है। बहुतसे यूरोपीय विद्वान् इस तिथिको ईसासे १४०० वर्ष पूर्वकी मानते हैं। परन्तु प्रो० वैडलका मत तो "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"का प्रतिस्पर्धी है। प्रो० वैडलने बहुतसे सुमेरियन नामोंकी, वैदिक नामोंके साथ, समता दिखलाते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि, वैदिक नामोंपर सुमर नामोंकी प्रतिच्छाया पड़ी है। प्रो० वैडलका कहना है कि, सुमेरियन असोरितेस् वैदिक मरुत्स हैं। उन्होंने इस विषयमें ऋग्वेदके

दो मन्त्र (५।५३।६ तथा ३।२०।२४) उद्धृत किये हैं। इन मन्त्रोंमें मरुत्सका उसी भाँति वर्णन है, जिस भाँति अमोरितेरूका सुमेरियनमें। दोनों ही अन्तरिक्ष और द्युलोकसे आते हैं और वृष्टिके जनक हैं। अन्य बातें भी इनके ही सदृश हैं। दोनोंके ही वस्त्र ऊनके कहे गये हैं। ईसासे ४ हजार अथवा ३१ सौ वर्ष पूर्व 'सिन्ध' सुमरलोगोंका 'एदिन' था। उस समय यह सुमेरियन राजा उस अंशके अधीन था। उस अंशको पुराणोंमें हर्यश्व नामसे याद किया गया है। सुमर लोगोंका मदुगल वैदिक मुद्गल है। हरप्पामें उत्खनन द्वारा उपलब्ध द्रव्योंपर अङ्कित ये नाम शुद्ध रूपसे ही पढ़े गये हैं। इस बातको भी अभी दृढ़ प्रमाणोंसे सम्पुष्ट नहीं किया जा सकता है; तथापि प्रो० वैडलने अपना यह सिद्धान्त उद्घोषित कर ही दिया है कि, पुराणोंमें जिन राजाओंके नामादिक दिये हैं, वे भारतीय राजा नहीं हैं। अपितु सुमर लोगोंने यहाँ आकर अपने राजाओंको स्मरण किया है, वे ही पुराणों द्वारा हमें ज्ञात हो रहे हैं। पुराणोक्त राजाओंने भारतमें राज्य नहीं किया था; अपितु मैसोपोटामियाके ही वे अधिपति थे। पुराणोंमें 'हर्यश्व' तो राजाका नाम है; परन्तु ऋग्वेदमें 'हर्यश्व' शब्द केवल इन्द्रके लिये प्रयुक्त हुआ है। इस दशामें, पुराण और ऋग्वेदका विरोध होनेपर, ऋग्वेदकी ही बात अधिक प्राचीन और पुष्ट मानी जायगी। उस अवस्थामें प्रो० वैडलकी कल्पना भी डाँवाडोल होने लगेगी; क्योंकि ऋग्वेद ७०० बी० सी० से तो पूर्वका ही ग्रन्थ माना जा चुका है। हरप्पामें एक मुद्रा (मोहर) उपलब्ध हुई है। प्रो० वैडलका कहना है कि, इसमें ऋग्वेद (१०।१०२) में आये हुए मुद्गलके उस उपाख्यानको चित्रित किया गया है, जिसका स्पष्ट वर्णन इस मन्त्रमें है—"इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठायाः मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु" (ऋग्वेद १०।१०२)। हमें इस मन्त्रकी व्याख्या यास्कके निरुक्तमें भी उपलब्ध होती है। दैवतकाण्डके नवें अध्यायमें इस मन्त्रकी व्याख्याकी अवतरणिकामें यास्क लिखते हैं। "तत्रेतिहासमाचक्षते। मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभञ्च द्रुघणञ्च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्भवति।" अर्थात् भृम्यश्वके पुत्र मुद्गलने गाड़ीमें एक ओर लकड़ीके बने द्रुघण और दूसरी ओर अपने बैलको जोतकर उस गाड़ीको युद्धमें उपयुक्त कर संग्रामको जीत लिया था। यह ऋचा उसका ही वर्णन करती है। इस आख्यायिकाको विस्तृत रूपमें प्रो० वैडलने इस भाँति किया है—'मुद्गलके पास खूब हृष्ट-पुष्ट, लगभग एक लाख गायें थीं। जब मुद्गल कहीं बाहर गया हुआ था, तब कुछ लोगोंने, जो कि, उसकी ज्ञातिके नहीं थे, उन गायोंको वहाँसे भगा लिया। केवल एक बैल ही शेष रह गया। मुद्गल जब लौटकर आया और उसने यह सब देखा, तब उसने अपनी गाड़ीमें एक ओर उस बैलको जोत लिया और दूसरी गाड़ीको व्यवस्थित रखनेके लिये एक द्रुघण अर्थात् पत्थरकी गदा अथवा पत्थरके मूसलको* लगा लिया। मुद्गलकी पत्नीने सारथिका काम किया। मुद्गलने इन्द्रके पवित्र वज्रसे बैलको छुआ। बैल ऐसी तेजीसे दौड़ा कि, मुद्गलने उन डाकुओंको पकड़ लिया और पराजित कर अपनी गायोंको पुनः लौटा लाया। प्रो० वैडलने हरप्पाकी एक मुद्रा [मोहर] पर उपर्युक्त आख्यानके खचित किये जानेकी बात कही है। उनके मतानुसार यह घटना भारतकी नहीं, अपितु सुमेरियाकी है। इसमें असीरियाके विषयके अन्य पण्डित सहमत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० वैडलके कथनमें बड़ी क्लिष्ट कल्पना की गयी है, जिसे सामान्य बुद्धिका पुरुष यदि असम्भवोक्ति कहे, तो उचित ही होगा। अमदुगल नामको भी उस विषयके अन्य पण्डित अकुर्गल पढ़ते हैं। प्रो० वैडलने बहुतसे अन्य नामोंकी भी पारस्परिक समता दिखायी है। उदाहरणार्थ दो-चार ही पर्याप्त होंगे।

* प्रो० वैडलने द्रुघणका अर्थ 'Stone mace' किया है। यह अर्थ यास्कके अर्थके विपरीत है। —लेखक

कन्व [सुमेरियन]=कण्व [भारतीय];बरम [सु०] = ब्राह्मण [भा०]; अंसिअश [सु०] = औशिज [भा०]; तस्स [अक्कदके सगुनका मन्त्री] = दक्ष [भा०]; सरगों प्रथम [अक्कद और सुमेरके सम्मिलित राज्यको प्रतिष्ठापित करनेवाला] = सगर [अयोध्याका सूर्यवंशी राजा]; गुदिया [सु०] गाध = [भा०]; इत्यादि।

उस समय सुमर लोगोंकी भाषामें सिन्ध प्रान्तका नाम 'एदिन' था। संस्कृतके किसी शब्दके साथ इस 'एदिन' शब्दको समता प्रो० वैडलने नहीं सूचित की है। हाँ, एक पृथक् प्रदेशका वर्णन करते हुए प्रो० वैडल कहते हैं कि, स्वात [सुवास्तु] नदीके समीपस्थ भू-भागको उस समय उदयन कहा जाता था। उदयन शब्द तो स्पष्ट ही संस्कृतका है। 'न्याय-कुसुमाञ्जलि', 'बौद्ध-धिक्कार' आदि ग्रन्थोंके लेखक प्रसिद्ध नैयायिकका नाम उदयन ही था। कालीदास-प्रणीत मेघदूतके एक परम प्रख्यात उदयन राजाका नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस उदयनका नाम संस्कृतके अन्य कई सुन्दर-सुन्दर प्रबन्धोंमें भी आया है। यदि यह उदयन शब्द सुमेरियन था, तो हम इस बातको निःशङ्क कह सकते हैं कि, 'उदयन' शब्द संस्कृतका शब्द पहले भी था और आज भी उसी प्रकारसे संस्कृतका ही शब्द है। हमारी सम्मतिमें सिन्धका प्राचीन नाम यदि 'एदिन' ही मान लिया जाय, तो इसको संस्कृतके 'अदीन' शब्दका विपर्यस्त रूप मानना सङ्गत होगा।

यह प्रदेश कला-कौशलमें बढ़ा हुआ था; अतः उस प्रदेशका 'अदीन' नाम अन्वर्थ ही होगा। वेदके 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' इत्यादि मन्त्र-खण्डमें सौ वर्ष-तक अदीन रहनेकी प्रार्थना भी इस नामकरणमें हेतुभूत मानी जा सकती है। मोहञ्जो-दड़ो और हरप्पाके उत्खनन-में उपलब्ध द्रव्यजात भारतकी प्राचीन विभूतिको कलङ्कित करनेके लिये आजतक भारतभूमिके ही गर्भमें निहित थे—यह कल्पना हम तो कदापि नहीं कर सकते।

हम समझते हैं कि, भारतके आबाल-वृद्ध-नर-नारी बड़ी उत्कण्ठाके साथ उस दिनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब कि, मोहञ्जो-दड़ो* के इन उत्खननोपलब्ध पदार्थों से यह बात इतिहासके पृष्ठोंपर लिखी जायगी कि, "जिस समय सुमर, अक्कद, मिश्र और चीन सभ्यताकी प्रथम उषाके दर्शनकी बाट जोह रहे थे, तब भारत वस्तुतः भारत हो चुका था। मनुस्मृतिकी वह सुन्दर उक्ति किसी न किसी रूपमें उन लोगोंके कर्णगोचर हो चुकी थी, जिसे स्मरण कर आज भी हमारे नेत्र आनन्दाश्रुओंसे आप्लुत हो जाते हैं और शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

* स्व० राखालदास वन्द्योपाध्याय और जे० मार्शलका इस विषयमें सर्वथा भिन्न मत था। राखालदासकी असामयिक मृत्युसे इस विषयके जिज्ञासुओंको महती क्षतिका सामना करना पड़ा है। —लेखक

विषयको अच्छी तरहसे हृदयङ्गम करनेके लिये डा० अविनाशचन्द्र दासकी 'ऋग्वेदिक इण्डिया, डा० मकडानल और प्रो० कीथ द्वारा प्रणीत 'वैदिक इण्डेक्स', हापकिन्स द्वारा लिखित 'रिलीजन्स आफ इण्डिया' तथा चिन्तामण विनायक वैद्य द्वारा विरचित 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' आदिमें दिये हुए 'भारतवर्ष' के रेखाचित्रोंसे सहायता ली जा सकती है। एक बात और। यह सब विवेचन ऐतिहासिक पक्षके मतानुकूल है। जो लोग वेदको अपौरुषेय मानते हैं, वे तो मीमांसादर्शनोक्त उसी सिद्धान्तके अनुयायी हैं; जिसे मीमांसकारने 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इत्यादि सूत्रोंमें प्रतिपादित किया है। अपौरुषेय-वादियोंके कथनमें और पौरुषेयवादियोंके कथनमें केवल थोड़ा-सा ही परिवर्त्तन करना आवश्यक है। पौरुषेय-वादियोंका कथन है कि, लोकोक्त विषय ही वेदमें गुम्फित किया गया है। इसके विपरीत अपौरुषयवादियोंका कहना है कि, वेदोक्त शब्दोंको ही लोकमें ग्रहण किया गया है। दोनों पक्षोंके समर्थक व्यक्तियोंका अभाव नहीं है। दोनों युक्ति और प्रमाणके अनुकूल अपना-अपना पक्ष उपस्थित करते हैं।—लेखक

दाशराज्ञ-युद्ध

बा० जयशंकर 'प्रसाद'
(सराय गोबर्द्धन, बनारस)

"काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा" के कोषोत्सव-स्मारक-ग्रन्थमें प्रकाशित "प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथमसम्राट्" नामके लेखमें यह दिखलाया जा चुका है कि, उस अत्यन्त प्राचीन वैदिक कालमें आर्योंके दो शाखाओंमें विभक्त होनेका कारण त्वष्टा और इन्द्रका सङ्घर्ष था। त्वष्टा वेदोंमें विश्वकर्मा अर्थात् आविष्कारक कहे गये हैं। वैदिक कालका एक प्रमुख व्यक्ति होनेके कारण इनके बहुतसे अनुयायी थे; किन्तु इन्द्रका सम्प्रदाय भी प्रबल हो चला था, और, इसमें कारण था धर्म-सम्बन्धी गहरा मत-भेद। त्वष्टाका सम्प्रदाय ईश्वरीय महत्तासे पूर्ण धर्मका शासन स्वीकार करता था; किन्तु इन्द्र आत्म-विश्वासके प्रचारक और आत्म-वादके समर्थक थे। सम्भव है कि, उस प्राचीन कालमें इन दोनों सिद्धान्तोंके साथ साथ कुछ फुटकर आचार-विचार भी, अपनी विशेषताओंके कारण, मत-भेद बढ़ानेमें सहायक रहे हों, जैसे, सोम-सम्बन्धी भली-बुरी धारणाएँ। बड़े-बड़े धार्मिक विरोधोंके मूलमें सिद्धान्त-सम्बन्धी मत-भेद युद्धोंका होना अनिवार्य बना देता है।

ऋग्वेदमें इस धार्मिक सङ्घर्षका स्पष्ट परिचय मिलता है। वरुण उस प्राचीन कालमें एक माननीय देवता थे और त्वष्टा इत्यादि वरुण-पूजाके प्रधान समर्थक थे। वरुण और त्वष्टाका सम्बन्ध अनेक वैदिक मन्त्रोंमें मिलता है। वरुण राजा और असुर कह कर पूजित थे। वसिष्ठ-कुलके लोग इस उपासनाके प्रधान याजक थे। यही असुर वरुण असीरियाके उपास्य देवता असुर, ईरानके अहुरमज्द, बेबिलोनके अस्सरमआजश और सुमेरियाके ईओस थे। वैदिक आर्योंसे अलग होकर पिछले कालमें ईरानी आर्योंके द्वारा प्रचलित यही असुर वरुणकी उपासना अनेक रूपोंमें पश्चिमी एशियाके प्राचीन सभ्य देशोंमें फैली और इधर इन्द्र-पूजा वा इन्द्रका सम्प्रदाय वैदिक आर्योंमें प्रधानता ग्रहण करने लगा। कुछ ऐतिहासिकोंका अनुमान है * कि, इन्द्र-पूजा चैल्डियन लोगोंसे सीखी गयी। इम्दिङ्गिर (जो चैल्डियन लोगोंके आँधी और गरजके देवता हैं) आर्योंके यहाँ आकर इन्द्र बन गये। इसके विवरणमें उनका यह कहना है कि, आर्योंके पहले भारत-भूमि दक्षिणी अनार्य-द्रविड़ोंके स्थानपर तूरानी द्रविड़ोंके द्वारा अधिकृत थी और कौशिक लोग इन्द्र पूजाके प्रचारक थे। इन कौशिकोंको वे कुसाइटके साथ सम्बद्ध बताते हैं। कुसाइट लोगोंको कुछ विशेष कारणोंसे वे तूरानी-द्रविड़ मानते हैं। यहाँपर हम इन विद्वानोंको उसी भ्रममें सम्मिलित देखते हैं, जिसने रैगोजिन जैसे विद्वान्‌को भी पुरु-वंशियोंको अनार्य-वंशीय माननेके लिये प्रेरित किया था। पुरु अनार्य द्रविड़ नहीं थे, इसका प्रमाण तो आगे दिया ही जायगा। यहाँ तो हमें इन्द्र-पूजाकी विशेषतापर ही ध्यान देना है। कहा जाता है कि, ऋग्वेदके तीसरे मण्डलमें वरुणका स्तव बहुत ही कम मिलता है और जो कुछ थोड़ासा उल्लेख भी है, वह इन्द्रके

* J. B. O. R. S, Page 221 Vol. VI P. T. I

पीछे या विश्वेदेवोंके मन्त्रोंमें है। कौशिक लोग भारतसे ही अन्य देशोंमें गये, यह तो वे भी स्वयं मानते हैं। तब इन्द्र-पूजा चैल्डियासे आर्योंमें न आकर भारतीय कौशिकोंके द्वारा ही चैल्डियामें गयी हो, यह कल्पना अधिक सङ्गत मालूम होती है। विश्वामित्र इन्द्रपूजाके प्रधान प्रचारक थे और अधिक सम्भव तो यह है कि, इन्द्रके समयमें हो उनके बाहुबलसे प्रवर्तित उस नवीन अभ्युदय कालमें वे इन्द्रके व्यक्तिगत समर्थक हों। कौशिकोंके और पौरवोंके द्राविड़ होनेकी कल्पना वेदोंमें नहीं पायी जाती। हाँ, इनके विरुद्ध पौरवोंके आर्य होनेका प्रमाण वैदिक मन्त्रोंमें, प्रचुरतासे, मिलता है। ऋग्वेद (६।१६।५) में दिवोदास पुरुको आर्य कहा गया है और कौशिकोंके सूक्तोंमें आर्यों (भरतों) की रक्षाके लिये बहुतसी प्रार्थनाएँ भी मिलती हैं।

वरुणकी पूजासे हटकर इन्द्रका अनुयायी होनेका प्रमाण भी मिलता है। ईरानी आर्य "अहुर-मज्द" या असुर वरुणकी प्रशंसा करते हुए इन्द्रको पाप-मति कहते हैं। ठीक उसी तरह वरुणका उपासनासे हटकर इन्द्र-पूजाकी ओर आकृष्ट होते हुए आर्योंका उल्लेख ऋग्वेदके चौथे मण्डलके ४२ वें सूक्त (२, ५ और ७ मन्त्रों) में है। ऋषिने वरुण और इन्द्रका संवाद कराया है और उसमें वरुणके ऊपर इन्द्रको ही प्रधानता दी है। इसी तरह दसवें मण्डलके १२४ वें सूक्त (३ और ४ मन्त्रों) में भी वरुणको छोड़कर इन्द्रका आश्रय ग्रहण करनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऊपरके प्रमाणोंसे यह स्पष्ट देखा जाता है कि, इन्द्रके अनुयायी वरुण-पूजासे मुँह मोड़ रहे थे और इसी कारण त्वष्टाके पुत्र वरुणोपासक वृत्रने असुरोंका नेतृत्व ग्रहण किया। यह तो पौराणिक गाथाओंसे भी स्पष्ट है कि, सुराके लिये ही देवासुर-संग्राम हुआ था। देवासुर-संग्रामके फल-स्वरूप आर्यावर्तमें आन्तरिक कलह भीषण हो चला। प्राचीन आर्यों में कुल-शासन-प्रथा प्रचलित थी, जिसमें कुल मुख्य था, और, पुरोहितोंकी प्रधानता रहती थी। छोटे-छोटे आर्यों के दल विभक्त भूखण्डोंमें अपने परिवारके साथ बसते थे। वरुणोपासना, अपनी प्राचीनताके कारण, इन कुलोंमें प्रायः प्रचलित थी। देवासुर-संग्राम होनेके समय ऐसा अनुमान होता है कि, इन कुलोंमेंसे धर्म-भीरुओंने (जो प्राचीन उपासनासे विरोध रखनेका साहस न रखते थे) असुरोंका पक्ष ग्रहण किया था। उन लोगोंका वह विशिष्ट दल टूटकर सामूहिक रूपसे असुर-सम्प्रदाय संगठित हुआ था। कुल और वंशकी तथा आर्य-आभिजात्यकी मर्यादाका स्थान धार्मिक एकताने ले लिया था। उन लोगोंने अपनी प्राचीन शासन प्रणालीका अन्त करके राज-पदको एकनिष्ठ बनाया; किन्तु वैदिक आर्यों में जो देव कहे जाते थे, उन्होंने अपनी पुरानी प्रथा प्रचलित रखी थी। इसका प्रमाण ऐतरेय-ब्राह्मण (१—१४) में मिलता है।

स्त्री, भूमि और आचार-सम्बन्धी वैमनस्य तथा अन्य कारणोंसे भी परस्पर विरोध होना कभी-कभी अनिवार्य हो पड़ता है। यदि उसमें धार्मिक उत्तेजना भी मिल गयी, तब तो अधिक तीव्रता विरोधमें बढ़ती ही है। आर्यों में गृह-युद्ध होनेके उस समय जहाँ और बहुतसे कारण रहे होंगे, उनमें देवासुर-संग्रामसे हुई हानियोंकी स्मृति भी कुलोंमें सजीव रही होगी। कर्मकाण्ड करानेवाले पुरोहितोंकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंको प्रधानता देनेकी भी प्रतिद्वन्द्विता इसमें अधिक काम कर रही थी। फल-स्वरूप दाशराज्ञ-युद्ध हुआ। ऋग्वेदके सातवें मण्डल (३३।३ और ५ तथा ८३।६) में इस दाशराज्ञयुद्धका उल्लेख है।

इस दाशराज्ञ-युद्धमें सुदाससे अन्य दस राजाओंका घोर सग्राम हुआ था। उस युद्धमें इन्द्रने सुदासकी रक्षा और सहायता की थी। देवासुर संग्राममें, सरस्वती-तटपर वृत्रके मारे जानेका उल्लेख ऋग्वेद (६।६१।५ और ७) में है और इसी लिये सरस्वतीकी महिमामें उसे वृत्रघ्नी कहा गया है। किन्तु उस वृत्र-युद्धमें कितने ही खण्ड-युद्ध, इन्द्र और वृत्रके अनुयायियोंमें हुए, जिनमें सुदासके पिता दिवोदास और वृत्रके अनुयायीशम्बर भी लड़े थे। इन्द्रने दिवोदासके लिये शम्बरके ९९ दुर्ग नष्ट किये थे (ऋग्वेद ९।६१।१ और २] और दिवोदासकी ही रक्षाके लिये तुर्वशों और यदुओंको भी नष्ट किया था। तुर्वशों और यदुओंके साथ यह युद्ध सरयू-तटपर हुआ था (ऋग्वेद ४।३०।१७ और १८)। दिवोदासकी तरह त्रसदस्युके नेतृत्वमें पुरुओंने भी इन्द्र-पक्षमें युद्ध किया था और त्रसदस्युके पिता आर्जुनि कुत्सने भी शुष्ण और वृत्रानुयायी कुयवसे युद्ध किया था (ऋग्वेद ७।१९।२ और ३)।

उक्त मन्त्रोंसे यह प्रमाणित होता है कि, यदु, तुर्वश और पुरु आदि तथा भरतोंका प्रमुख आर्य-वंश इन्द्रके पक्ष और विपक्षमें, वृत्र-युद्धके समय, किस प्रकार लड़ चुके थे। जब इन्द्रकी प्रचण्ड शक्तिके द्वारा वृत्रकी धार्मिक सत्ताका, आर्यावर्तके त्रिसप्तक प्रदेशसे, नाश हुआ और असुरोपासक लोग ईरान तथा उसके पश्चिममें हटनेके लिये बाध्य हुए, तब भी उस युद्धकी कटु स्मृति और कुल-मुखियोंका बध भिन्न-भिन्न आर्य-वंशोंमें विरोधका कारण-स्वरूप विद्यमान था। जैसा कि, हम पहले कह आये हैं, कुछ धार्मिक पुरोहितोंके सङ्घर्षके कारण प्राचीन कुल-सम्बन्धी बुराइयोंको लेकर आर्यावर्तमें जो गृह-युद्ध हुआ, वही दाशराज्ञ-संग्राम है। त्रिसप्तक प्रदेशमें यद्यपि इन्द्रके अनुयायियोंकी प्रधानता हो चली थी, फिर भी वृत्र-हत्यामें हानि उठाये हुए यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु आदि आर्य-वंश रक्तका प्रतिशोध चाहते थे। वृत्र-युद्धमें भरत-जातिके प्रमुख दिवोदासने इन्द्रकी सहायता की थी, जिससे आर्योंके भिन्न-भिन्न वंशोंको क्षति उठानी पड़ी। इसी कारण आर्योंकी मूल भरत-जातिके नेता दिवोदासके वंशसे अन्य आर्य-दल द्वेष करने लगे और उक्त कालमें दिवोदासके साहसी तथा उद्दण्ड कुमार सुदाससे तथा उनके कुल-पुरोहित वसिष्ठसे विरोध भी हो गया, जिसके कारण सुदासने विश्वामित्रको अपना कुल-पुरोहित और प्रधान याजक बनाना चाहा। विश्वामित्रने अपने तीसरे मण्डलके सूक्तोंमें सुदासका यज्ञ करानेकी बात भी कही है। कुछ लोगोंका अनुमान है कि, वसिष्ठकी होम-धेनु छीन लेनेका यह तात्पर्य है कि, विश्वामित्रने सुदास आदि राजाओंके कुलकी पुरोहिता ले ली थी और यही वसिष्ठके होम-धेनु हरण करनेकी कथाका मूल है। सुदास और वसिष्ठसे जो विरोध हुआ था, उसका उल्लेख विष्णुपुराणके ४ थ अंशके चौथे अध्यायमें है। यही नाम वाल्मीकि रामायणमें सौदासके रूपमें मिलता है, जिन्होंने वसिष्ठको शाप देनेके लिये जो जल ग्रहण किया था, उसे अपने पैरोंपर गिराकर कल्माषपादकी उपाधि ग्रहण की थी (वाल्मीकि-रामायण, उत्तर-काण्ड, ६५।६)। अम्बरीष और त्रिशंकुकी कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि, वसिष्ठके हाथसे उन दिनोंकी पुरोहिती छीनी जाकर विश्वामित्रके हाथों जा रही थी। शुनःशेपवाली कथासे प्रकट है कि, वरुणोपासनाके सम्बन्धमें ही वसिष्ठ और विश्वामित्रका झगड़ा तीव्र हुआ और वरुणकी बलिके

लिये लाया गया शुनःशेप मुक्त हुआ तथा उसमें विश्वामित्रकी विजय हुई। विश्वामित्रकी ओर प्राचीन राज-कुल अधिक आकृष्ट हुए। विश्वामित्र इन्द्रको अधिक महत्ता देते थे, जैसा कि, उनके तीसरे मण्डलके सूक्तोंमें अधिक दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि, महावीर इन्द्रके अत्यन्त प्रशंसक होनेके कारण इन्द्रकी सहायता पानेकी आशा रखनेवाले राज-कुल विश्वामित्रको ही अधिक मानने लगे। इन्द्रकी सहायता उस कालके वृत्र-युद्धोंके बाद अत्यन्त आवश्यक हो गयी थी; क्योंकि वही उस समय प्रधान राज-शक्ति के केन्द्र थे (ऋग्वेद ३।४६।२)। दूसरी ओर वसिष्ठके सूक्तोंसे उनकी धार्मिक विधियोंमें सन्दिग्धता प्रमाणित होती है। ऐसा जान पड़ता है कि, वे पुरोहितोंके लिये अत्यन्त चञ्चल-चित्त हो रहे थे। इन्द्रकी प्रशंसामें कहे गये उनके बहुतसे सूक्त हैं, किन्तु वरुणके लिये भी कम नहीं है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपनी द्विविधा-जनक मनोवृत्तिसे उत्पन्न अनेक किंवदन्तियों तथा जन-रवोंसे अपनी व्यकुलताका भी स्पष्ट उल्लेख किया है, जिसमें उन्होंने अपनेको झूठे देवोंकी उपासना करनेवाला यातुधान, मायावी इत्यादि कहनेवालोंसे अपनी रक्षाकी प्रार्थना की है (ऋग्वेद ७।१०४।१४ और १६)।

उस समय मायावी वरुणके समर्थक होनेके कारण इन्द्रके अनुयायियोंके द्वारा वसिष्ठके लिये ऐसी बातें कही जाती थी और विश्वामित्र इन्द्रकी सहकारिताके कारण अधिक प्रशंसित होते थे। वसिष्ठ कभी सुदासके विरोधके कारण अपने प्राचीन घरानेकी मान-मर्यादाकी रक्षाके लिये चल-चित्त होकर इन्द्रका समर्थन करते हैं और कभी वरुणसे, अपने प्राचीन धर्मसे विचलित होनेके कारण, अपराधोंकी क्षमा चाहते हैं (ऋग्वेद ७।८६।४,७।८८।५, तथा ७।८६।५)। कभी तो वरुणसे अपनी पुरानी सहकारिताका उल्लेख करते हुए उनसे कृपाकी प्रार्थना करते हैं और कभी इन्द्रकी प्रशंसा भी करते देखे जाते हैं। वसिष्ठके समयमें ही अग्निकी एक उपासना-पद्धति प्रचलित हुई थी, जो नव-जात थी और जिसे "इन्द्राग्नी" कहते थे। यह वरुण-पूजासे अवश्य ही भिन्न प्रकारकी उपासना रही होगी (ऋ० ७।१३।१)। किन्तु विश्वामित्र, वरुणके उतने प्रशंसक न होनेके कारण, इन्द्र-पक्षके राज-कुलोंके प्रधान पुरोधा हो गये और भरत-वंशके प्रमुख राजकुमार सुदासने वसिष्ठसे विरोध करके जब विश्वामित्रको अपना प्रधान याजक बनाया, तब तो उनकी महत्ता अन्य पुरोहित-कुलोंके डाहके लिये यथेष्ट कारण हुई। सुदासकी उच्छृङ्खलता के कारणसे या और किसी कारणसे वसिष्ठने उस यज्ञमें भाग नहीं लिया। ऐसा अनुमान होता है कि, वह सुदासका अश्वमेध-यज्ञ था, जिसे विश्वामित्रने कराया (ऋ० ३।५३।६, १०, ११, १२)।

अश्वमेध-यज्ञ इन्द्रके प्रीत्यर्थ ही किया जाता था और यह अश्वमेधयज्ञ, हरिवंशके अनुसार, जनमेजय-के द्वारा वर्जित किया गया। अश्वमेध राज-सत्ताकी प्रधानताका द्योतक एक प्राचीन आर्य-अनुष्ठान था। इन्द्रके अनुयायी भरतवंशी सुदासने जब उसका आरम्भ किया, तब वरुणोपासनासे प्रेम रखनेवाले, अन्य आर्य-राज-कुलोंके साथ घनिष्ठता रखनेके कारण, वसिष्ठका उस यज्ञमें याजक पदको अस्वीकार कर देना बहुत सम्भव है और वह ऐसा अवसर था कि, इन्द्रकी सहायता करनेवाले भरत-प्रमुख राजन्यके विरुद्ध अन्य प्रतिस्पर्धी राजकुल सहजमें ही उत्तेजित हो सकते थे। जिस सरयूके युद्धमें यदु-तुर्वशोंके नेता अर्ण और चित्ररथ मारे गये थे, उसकी स्मृति अभी

मलिन नहीं हुई थी। वसिष्ठसे सुदासका झगड़ा भी हो गया था। इसी समय सुदासने अश्वमेधका भी अनुष्ठान किया। इससे बढ़कर दाशराज्ञ-युद्धके लिये और कौन अवसर आता? ऋग्वेदके तीसरे मण्डलके ५३ वें सूक्तके जिन मन्त्रोंकी बातें कही गयी हैं, वे इस के साक्षी हैं। "अश्वं रायं मुञ्चता सुदास." इसी घटनाका संकेत करता है। इसी सूक्तके (२०,२१,२२ और २३) मन्त्र विश्वामित्रके कहे हुए वसिष्ठके अनुयायी लोगोंसे वर्जित और अश्राव्य हैं। सातवें मण्डलके १०४ वें सूक्तमें जो मन्त्र, अपने ऊपर किये गये आक्षेपोंसे सुरक्षित होनेके लिये, वसिष्ठने, प्रार्थना रूपसे, कहे हैं, वे भी अधिकतर विश्वामित्रकी ही ओर संकेत करते हैं। तीसरे मण्डलके ५३ वें सूक्तमें तो विश्वामित्रने यहाँतक कहा है कि, "न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" (३।५३।२२)। वसिष्ठके बाँधे जाने, छूटने और उनके पुत्रोंके मारे जानेकी भी कथा प्रसिद्ध है। उक्त अश्वमेधको पुरोहितीका लेकर वसिष्ठका जो अपमान हुआ, उससे भी इस युद्धको अधिक सहायता मिली। एक प्रकारसे यह अश्वमेध रण-निमन्त्रण था। फलतः यमुनासे लेकर शुतुद्री और परुष्णीके तटोंतक कई युद्ध हुए, जिनमें सुदास एक ओर और अन्य दस राजा एक ओर होकर लड़े। इसीका नाम दाशराज्ञयुद्ध है।

इस दाशराज्ञ-युद्धमें लड़नेवाले दस राजा कौन थे, इस सम्बन्धमें कई मत हैं।

दाशराज्ञ युद्धके सम्बन्धमें रौगोजिनका मत है कि, तृत्सु प्रधान आर्य आक्रमणकारी जातिके लोग हैं, जिन्होंने पंजाबपर पहले आक्रमण किया था। द्रविड़-जातिके पुरु लोग अन्य राजाओंके साथ मिलकर उस आक्रमणको रोकनेके लिये लड़ते थे और इस युद्धमें इनके प्रधान पुरु थे। भरत-जाति भारतकी प्राचीन रहनेवाली अनार्य-जाति थी, जिसे विश्वामित्रने शुद्ध किया था। अनु तो स्पष्ट ही कोल जातिके थे। इन लोगोंने पुरु-जातिके प्रमुख कुत्सके नेतृत्वमें सुदास तृत्सुसे युद्ध किया। सी० वा० वैद्य महोदयका मत है कि, जो आर्य पञ्जाबमें आकर पहले बसे थे, सूर्य-वंशके हैं। भरत सूर्य-वंशी हैं और प्रथम आनेवाले वे ही हैं। सिन्धु नदीसे सरयूतक वे फैल गये। मैक्डानलके अनुसार वही अयोध्यावाली सरयू है। वे सूर्यवंशी खैबरकी घाटीसे पञ्जाबमें आये। पीछे आनेवाले दूसरी टोलीके आर्य चन्द्र-वंशी थे, जो गंगाको दरीसे होते हुए चित्राल-गिरि-पथसे आये। सरस्वती-तटपर उन्होंने राज्य स्थापित किया। इसका प्रमाण, भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे ग्रियर्सन और हार्नलेके अनुसार वैद्यजीने माना है कि, यही चन्द्र-वंशी आर्य धीरे-धीरे दक्षिणमें फैले, जिनकी भाषा अवधी, राजस्थानी और पञ्जाबीसे भिन्न है। वैद्यजीका यह भी कहना है कि, प्रयागमें चन्द्र-वंशियोंके आदि पुरुरवाकी राजधानी बताना पुराणोंका भ्रम है। ये लोग गिलगिट-चित्रालके पथसे आकर पहले पहल अम्बाला, सरहिन्द स्थानोंमें बसे। फिर ये दक्षिणकी ओर फैले। पहले आये हुए सूर्य-वंशी भरतोंसे पीछे आये हुए चन्द्र वंशी यदु, तुर्वश आदिसे युद्ध हुआ। यदु, तुर्वश पूर्वमें सरयूतक बस चुके थे, जिनसे भरतोंका युद्ध हुआ। अमेरिकाकी ५ जातियोंके युद्धका उदाहरण देकर वैद्यजीने यह प्रमाणित करना चाहा है कि, इन यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु और पुरु इत्यादि नवागत चन्द्र-वंशी आर्यों के साथ ५ अनार्य (पक्थ, भलान, भनन्तालिन, विषाणिन् और शिव) जातियोंका (ऋग्वेद ७।१८।७) युद्ध भरत-वंशी राजाके विरुद्ध संघटित हुआ अर्थात् वह दाशराज्ञ—युद्ध पहलेके आये हुए सूर्य-वंशी और पीछेके आये हुए चन्द्र-वंशी आर्यों का, भूमि-

लिप्साके लिये, पारस्परिक युद्ध हुआ, जिसमें सूर्यवंशी भरतकी ही विजय रही।

संक्षेपमें रैगोजिन इत्यादि पाश्चात्योंके मतमें दाशराज्ञ-युद्ध अनार्य भारतीयोंपर विदेशी आर्योंका आक्रमण है और वैद्यजीने उसमें इतना संशोधन और किया है कि, युद्धमें कुछ अनार्य भले ही सम्मिलित रहे हों; किन्तु प्रधानतः उसमें आक्रमणकारी और आक्रान्त, दोनों ही आर्य थे। इस कल्पनाके द्वारा वैद्यजीने सूर्य वंश और चन्द्र-वंशकी पौराणिक आख्यानकी संगति लगा ली है। इन दोनों समीक्षकोंके मतके मूलमें पाश्चात्य शोधकोंकी वही मनोवृत्ति या विचारधारा है, जो भारतको आरम्भमें अनार्यदेश मानकर उसपर विदेशी आर्योंका आक्रमण करना युक्ति-युक्त समझती है, जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि, आर्य लोग यहाँके अभिजन नहीं, प्रत्युत विदेशी हैं।

'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्" नामक निबन्धमें यह दिखलाया जा चुका है कि, प्राचीन आर्यावर्त त्रिसप्तकप्रदेशमें सीमित था। सरस्वती, सिन्धु और गंगाकी सहायक नदियोंसे सजला सफला भूमि वैदिक कालके आर्यावर्तका सीमाके भीतर मानी जाती थी। किन्तु सरस्वतीसे मेरा तात्पर्य पंजाबकी सरस्वतीसे नहीं है। अफगानिस्तान की हिलमन्द नदी ऋग्वेदकी सरस्वती है। वर्तमान भारतके मान-चित्रको सामने रखकर ऋग्वेदकालकी ऐतिहासिक आलोचना असम्भव है। उस समयकी ऐतिहासिक घटनाओंको समझनेके लिये ऊपर कहे हुए त्रिसप्तकप्रदेशके आर्यावर्त (जो हिमालय और विन्ध्य के मध्यमें था) को आँखोंके सामने रखना होगा। तब यह कहना व्यर्थ है कि, आर्य लोग कहीं दूसरे स्थानसे आये थे; क्योंकि खैबरकी घाटी तब भारतवर्षकी उत्तर-पश्चिमकी सीमा नहीं थी। ऐसा समझ लेनेपर दाशराज्ञ-युद्धको विदेशी आर्य और भारतीय द्रविड़ोंका युद्ध न कहकर आर्यावर्तके आर्योंका ही गृह-युद्ध कहना संगत होगा। दाशराज्ञके सम्बन्धमें जिस त्रसदस्युका उल्लेख हुआ है, वह सुवास्तुप्रदेशका था, जिसे अब सुवात्क कहा जाता है।

इसी सुवास्तु प्रदेशको सत्यव्रत सामश्रमीने आर्योंका मूलस्थान बताया है। "तुग्व" सुवास्तु प्रदेशका एक प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। रैगोजिनका यह कहना असङ्गत है कि, पुरु लोग पश्चिमके रहनेवाले द्रविड़ जातिके थे। उन लोगोंकी अध्यक्षतामें अन्य राजाओंने तृत्सुओंसे युद्ध किया; क्योंकि पौरवोंका सरस्वतीके दोनों तटोंपर रहना ऋग्वेदसे प्रमाणित है (ऋ० ७।९६।२)। इस मन्त्रमें पुरु-जातिका उल्लेख "पुरवः" बहुवचनसे है। ऋग्वेद-कालकी सरस्वती ('हिलमन्द') के तटोंपर इनका राज्य था। ये पुरु लोग वृत्र युद्धमें दिवोदास और इन्द्रके सहकारी थे। उस युद्धमें पुरुवंशी कुत्स शुष्णसे और दिवोदास शम्बरसे लड़े थे (ऋ० १।५१।६)। त्रसदस्युका स्वातकी घाटीतक अधिकार होनेका प्रमाण भी हम ऊपर दे आये हैं। तब यदि यह माना जाय कि, वर्तमान हिलमन्द और स्वात प्रदेशकी रहनेवाली पुरुजाति भारतपर आक्रमण करती है, तो रैगोजिनके अनुसार द्रविड़ पौरवोंका पंजाबके आर्योंपर उलटा आक्रमण हो जाता है! वास्तवमें तो इन लोगोंकी कल्पना यह है कि, विदेशी आर्योंने भारतीय द्रविड़ोंपर आक्रमण किया। जिन तृत्सुओंको रैगोजिनने आक्रमणकारी आर्य बताया है, वे तृत्सु आर्य सैनिक नहीं, किन्तु भरतोंके पुरोहित थे और इसी लिये वासिष्ठको प्रधान या आदि तृत्सु भी कहा गया है (ऋ० ७।३३।६ और ७।८३।४)

वैद्यजीका कहना है कि, चन्द्र-वंशी आर्य अर्थात् पुरु, तुर्वश, अनु और द्रुह्यु आदि गङ्गाकी घाटीसे होते हुए कुरुक्षेत्रमें आये और यहाँपर बसने और राज्य करनेके लिये उन्हें सूर्यवंशी भरतोंसे लड़ना पड़ा। आप पुराणोंमें वर्णित प्रयागको पौरवोंकी आदि राजधानी भी नहीं मानते; किन्तु ४ थे मण्डलके ३० वें सूक्तमें वर्त्तमान सरयू-तटपर यदु-तुर्वशोंका भरतोंसे युद्ध होनेका उल्लेख आप प्रमाणमें देते हैं। आश्चर्यकी बात होगी कि, गङ्गासे पूर्वकी नदीका तो दाशराज्ञ-युद्धसे सम्बन्ध लगाया जाता है; किन्तु गङ्गाका कोई उल्लेख नहीं। वास्तवमें तो दाशराज्ञ-युद्धकी पूर्वीय सीमा यमुना नदी ही थी (ऋ० ७।१८।१६)। दाशराज्ञ-युद्ध-सम्बन्धी सूक्तोंमें परुष्णी और यमुनाका ही उल्लेख मिलता है। विश्वामित्रके तीसरे मण्डलके ३३ वें सूक्तमें भरतोंके एक युद्धका उल्लेख है। यदि उसे भी दाशराज्ञ-युद्धका एक अंश माना जाय, तो सतलज और व्यासके तटोंपर भी युद्धका होना प्रमाणित है। जिस यदु-तुर्वशोंके युद्धका होना सरयू-तटपर कहा जाता है, वैद्यजी उसे वर्तमान अयोध्याके समीपकी सरयू समझते हैं; यह ठीक नहीं। ऋग्वेद (४।३०।१८) की सरयू अफगानिस्तानकी हरिरुद या अवस्ताकी हरयू नदी है। वहीं यदु-तुर्वशोंसे युद्ध हुआ था। यादवोंका उस सरयू तटपर रहना इससे भी प्रमाणित होता है कि, वे वृषपर्वा आदि असुरोंके सम्बन्धी थे। असुरोंके देशके समीप वही सरयू हो सकती है, वर्तमान अयोध्याके समीपकी सरयू नहीं। और, पुरु लोग तो स्पष्ट ही ऋग्वेदीय मंत्रोंमें आर्य कहे गये हैं। जिन प्रमाणोंके आधारपर रैगोजिन यदु-तुर्वशोंको अनार्य या द्रविड़ मानते हैं अथवा वैद्यजी उन्हें भरतोंके विरोधी चन्द्र-वंशी समझते हैं, वे भ्रामक हैं; क्योंकि यदु-तुर्वश जातिके लोग भी इन्द्रके द्वारा सुरक्षित किये गये हैं (ऋ० १।५४।६)।

वैद्यजीका यह कहना भी सुसंगत नहीं है कि, भरत सूर्य-वंशी राजा था या उसके वंशज सुदाससे नवागत चन्द्र-वंशी आर्योंका युद्ध हुआ। भाषा-शास्त्रके अनुसार आर्योंकी जिस दूसरी टुकड़ीके भारतमें आनेकी कल्पना की गयी है, वह अधिक विश्वसनीय नहीं है; क्योंकि वर्तमान भारतके मानचित्रका और प्राचीन अर्यावर्तकी सीमाका विभेद ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह देखना होगा कि, भरतको सूर्यवंशका प्रमाणित करनेमें वैद्यजी कहाँतक सफल हुए हैं। उनका कहना है कि, निरुक्तके अनुसार भरतका अर्थ सूर्य है और साथ ही आदि भरतमें एक व्यक्तित्व मानकर पौरवोंके आदि पुरुष पुरुसे संघर्ष होनेका भी अनुमान करते हैं; किन्तु वैदिक कालका इतिहास ढूंढनेमें निरुक्तके अर्थका अवलम्बन नितान्त भ्रम-पूर्ण होगा। जिस वृत्रको ऐतिहासिक लोग असुर, त्वष्टाका पुत्र, मानते हैं, उसे निरुक्तकार मेघ बतलाते हैं! इन रूपक कल्पनाओंसे इतिहासका बनना असम्भव हो जायगा। दूसरा प्रमाण वे पुराणोंसे भरतके स्वायम्भुव मनुके पौत्र होनेका देते हैं। इसे भी मान लेनेपर उन्हींके कथनानुसार भरतको सूर्य-वंशी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पुराणोंके अनुसार सूर्य-वंशके आदि पुरुष वैवस्वत मनु थे। स्वायम्भुव मनुके वंशजका सूर्य-वंशी बनना असम्भव है।

वैद्यजीका यह भी मत है कि, चन्द्रवंशी आर्योंकी ५ जातियाँ थीं और यही वैदिक साहित्यमें "पञ्चजनाः" के नामसे पुकारी गयी है। अनु, द्रुह्यु, पुरु, यदु और तुर्वशको एक मन्त्र (ऋ० १।१०८।८)

में एकत्र देखकर उन्होंने इस सिद्धान्तकी कल्पना की है। किन्तु इसमें इन लोगोंके चन्द्र-वंशी होनेका कोई प्रमाण नहीं। पुराणोंमें इन्हें चन्द्र-वंशी माना गया है; इसलिये वैद्यजी इन्हें चन्द्र-वंशी और दिवोदास या सुदासको पौराणिक वंशावलीमें सूर्य-वंशका देखकर भरतोंको सूर्य-वंशी मान लेनेका आग्रह करते हैं—यद्यपि भरतजाति पुराणोंके द्वारा चन्द्र-वंशकी ही स्पष्टतः मानी जाती है। इधर वाल्मीकिने नहुष और उनके पुत्र ययातिको सूर्य-वंश में माना है। दिवोदास तथा उसके पुत्र 'प्रतर्दन'का उल्लेख विष्णुपुराणके चौथे अंशके आठवें अध्याय में चन्द्र-वंशावलीमें किया गया है।

इस प्रकार वैदिक राजाओंकी नामावली लेकर, पिछले कालमें घटनाओंका उनसे सम्बन्ध जोड़कर, जो पौराणिक वंशावली पुराण-प्रादुर्भाव-कालमें प्रस्तुत की गयी है, उससे वैदिक कालके इतिहासका निर्णय करना ठीक नहीं है। और, जब कि, चन्द्र और सूर्य-वंशका उल्लेख वेदोंमें स्पष्ट नहीं मिलता, तब वैद्यजीका यह प्रयत्न केवल पाश्चिमीय मत (जो आर्योंके बाहरसे आनेका है) का समर्थन मात्र है। आर्योंकी दो टोलीमें आनेका वैद्यजीने सूर्य और चन्द्र-वंशमें सामञ्जस्य किया है। वस्तुतः यह दाश-राज्ञ-युद्ध भरत-जातिके प्रमुख राजाके विरुद्ध अन्य आर्य-राजकुलोंका विद्रोह था, आर्यों और अनार्यों, चन्द्र-वंशियों तथा सूर्य-वंशियोंका युद्ध नहीं। ऋग्वेदके ७ वें मण्डलके १८ वें सूक्तके आधारपर दाशराज्ञ-युद्धमें लड़नेवाले दस राजाओंका जो चयन किया गया है, वह समीचीन नहीं। दाशराज्ञ-का स्पष्ट उल्लेख तो ७ वें मण्डलके ३३ और ८३ सूक्तोंमें है। इन दोनों सूक्तोंमें उन दस राजाओंका नाम नहीं (ऋ० ७।३३।३ और ७।८३।६)। हाँ, ८३ वें सूक्तमें यह तो अवश्य मिलता है कि, सुदाससे लड़ने-वाले दसो राजा यज्ञ-विरोधी थे (ऋ० ७।८३।७) तब हमारे उस मतको यह दृढ़ आधार मिलता है कि, सुदासके अश्वमेध-यज्ञके विरोधमें ही यह दाश-राज्ञ-युद्ध हुआ। सुदासका वह यज्ञ यमुनाके तटपर पूर्ण हुआ, जहाँपर इन्द्रको अश्वके सिर उपहारमें मिले (ऋ० ७।१८।१९)। यदि १८ वें सूक्तके अनुसार ही दस राजाओंका चयन करना संगत हो, तो उक्त सूक्तमें पुरु, अनु, द्रुह्यु, भृगु, मत्स्य, विकरण, शिग्रु, यदु, तुर्वश और अज्र लोगोंके नाम स्पष्ट ही मिलते हैं और ये आर्यजातिके नाम हैं। फिर उसी सूक्तमें उल्लिखित पाँच अनार्योंके (पक्थ, भलान, भनन्ता-लिन, विषाणिन, शिव इत्यादिको भी जोड़ देनेसे दस न होकर ये १५ राजा हो जाते हैं। पक्थ, भलान आदि अनार्य तो उसी सूक्तमें गायें चुरानेवाले कहे गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि, जब भरतवंशी आपसमें लकड़ियोंकी तरह छितराये हुए थे और परस्पर लड़ रहे थे, तब इन अनार्योंको भी इनकी गायें चुरानेका अवसर मिला होगा (ऋ० ७।३३।६)। वास्तवमें तो यह युद्ध इन्द्रानुयायी सुदास और यज्ञ न करनेवाले वृत्रानुयायी अन्य आर्य-कुलोंसे हुआ था। दाशराज्ञ-सम्बन्धी ८३ वें सूक्त (६ मन्त्र) में इनके वृत्रानुयायी होनेका स्पष्ट उल्लेख है।

इस युद्धके सम्बन्धमें ही सम्भवतः वसिष्ठ विपाशा-तटपर छोड़े गये और राजनीतिके अनु-सार उन्हें दक्षिणा भी दी गयी। तब उन्होंने भी कहा कि, मनुष्यो! सुदासके अनुयायी बनो, जैसा कि, तुम लोग उसके पिताको मानते थे (ऋ० ३।१८।२५)। ऐसा अनुमान होता है कि, तृत्सुओंकी पुरो-हिती बनी रही; किन्तु भरतोंके आचार्यका पद विश्वामित्रको मिला। विश्वामित्र भरतोंके दीक्षा-गुरु हुए और वसिष्ठवंशी कर्मकाण्डी पुरोहित बने रहे। विश्वामित्र इन्द्रके परम प्रशंसक थे और उन्हींकी प्रेरणासे इन्द्रने सुदासकी सहायता की।

वेद और तत्कालीन पारसी व्यक्ति

प० सत्यप्रकाश एम० एस-सी०

(दयानिवास, प्रयाग)

ऋग्वेदके विषयमें अनेक दृष्टियांसे मीमांसा की जा चुकी है। ऐतिहासिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्षोंके समर्थकोंने अपनी-अपनी कल्पनाओंके अनुसार इन ऋचाओंकी आलोचनाएं की हैं। फिर भी हमारा यह प्राचीनतम साहित्य उसी प्रकार रहस्यमय बना हुआ है, जैसा कि, किसी भी समयमें था। इस लेखमें हम अवस्ता-साहित्यका आश्रय लेकर ऋग्वैदिक साहित्यपर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि, जिस प्रकार आर्य्य-साहित्यकी प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद है, उसी प्रकार पारसी अथवा जरथुस्त्री साहित्यकी प्राचीनतम पुस्तकोंका नाम गाथा है। पाँचों गाथाएं (अहुनवद, ओहुक्षत्र, उश्तवद, स्पेन्तोमद और वहिश्तोइश्त) अहुरमज्दके पवित्र वचनोंका संग्रह कहा जाता है, जिनका प्रकाश महात्मा जरथुस्त्र द्वारा हुआ।

महात्मा जरथुस्त्र और उनके समस्त अनुयायी वस्तुतः आर्य ही थे। यह भी कहा जा सकता है कि, ये सब लोग ऋग्वेदकालीन ही थे। जरथुस्त्री साहित्यमें जिस प्रकार ऋग्वेदकालीन देवताओं और ऋषियोंकी झलक मिलती है, उसी प्रकार ऋग्वेदमें भी पारसी सम्प्रदायके आदि-आचार्यों का स्थान ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। थोड़ी देरके लिये यदि इस कल्पनाको मस्तिष्कसे निकाल दिया जाय कि, वेद अथवा गाथाएं, दोनों ही किसी ईश्वरके अलौकिक वचन हैं, तो फिर दोनों साहित्योंकी तुलना करनेपर बहुत ही सुन्दर परिणाम निकाले जा सकते हैं। इस लेखमें हम इसी दृष्टिसे विचार करेंगे।

ऋग्वेद एक महाकाव्य है। इसी प्रकार रामायण और महाभारत भी आर्य्य-साहित्यके सर्वोच्च महाकाव्य हैं। यह स्पष्ट है कि, रामायण और महाभारतकी रचनाके आधार दो महायुद्ध थे, जिनके ऐतिहासिक महत्त्वमें सन्देह करना व्यर्थ है। जिस प्रकार इनके आश्रयपर लौकिक संस्कृतमें इन दो ऐतिहासिक महाकाव्योंकी रचना की गयी, उसी प्रकार क्या यह सम्भव नहीं है कि, वैदिक संस्कृतमें भी किसी महान् ऐतिहासिक काव्यकी रचना की गयी हो, जिसका भी आधार कोई महायुद्ध ही हो? किसी भी बड़े ऐतिहासिक महाकाव्यके लिये एक महायुद्धका आश्रय लेना स्वाभाविक ही है और हमारी यह धारणा है कि, हो न हो, ऋग्वेद भी किसी एक महायुद्धके विवरणको चिरस्थायी बनानेके लिये ही रचा गया होगा। ऐतिहासिक महाकाव्योंका प्रचार जनतामें बहुत ही शीघ्र हो जाता है और कालान्तरमें ये महाकाव्य ही जनताके आदर्श बन जाते हैं तथा इनको धार्मिक ग्रन्थोंका सम्मान प्राप्त हो जाता है। संस्कृतकी रामायण और महाभारतको भी जनताने इसी प्रकार अपनाया और इसी प्रकार हिन्दीके रामचरितमानसको भी हिन्दू जनता अत्यन्त प्रामाणिक धार्मिक पुस्तक मानती है। इसके पाठ कविता अथवा इतिहासकी दृष्टिसे नहीं किया जाता, प्रत्युत परम पूज्य धार्मिक ग्रन्थके रूपमें। बहुत सम्भव है कि, यही अवस्था ऋग्वेदके सम्बन्धमें भी हो। आरम्भमें यह किसी महायुद्धका उल्लेख करनेवाला ऐतिहासिक महाकाव्य ही है, जिसे लोक-प्रचारके कारण ईश्वर-ज्ञानके समान धार्मिक स्थान दे दिया गया है।

कल्पना कीजिये कि, हमारे पास इस समय राम-रावण-युद्धको चित्रित करनेवाले दो महाकाव्य होते। एकका रचयिता रामके पक्षका कोई व्यक्ति होता और दूसरेका रावणके पक्षका। बहुत सम्भव है कि, दोनों पक्षोंके व्यक्तियोंकी भाषामें भी, स्थानान्तरके कारण, कोई भेद होता, जैसा कि, इंगलिश-जर्मन-महायुद्धके विषयमें स्पष्ट ही है। ये दोनों महाकाव्य दो विरुद्ध दृष्टियोंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखे जाते। रामके पक्षवालोंके लिये रावणके समस्त मित्र-मण्डल शत्रु, राक्षस और धर्म-विरोधी प्रतीत होते और रावणके पक्षवाले यदि राम और उनकी वानर-सेनाका चित्रण करते, तो वे भी उनकी घोर निन्दा करते और उन्हें अपमान-सूचक विशेषणोंसे सम्बोधित करते। ऐसा होना स्वाभाविक है।

यही बात जरथुश्त्री और वैदिक साहित्यकी भी है। यह सौभाग्यकी बात है कि, जरथुश्त्रके अनुयायियों और इन्द्रके अनुयायियोंमें जो घोर संग्राम, वर्षों तक, चलता रहा, उसका वर्णन दोनोंके ग्रन्थोंमें मिलता है; भेद केवल दृष्टिकोणोंका है। इन्द्रके शत्रुओंको जरथुस्त्री साहित्यमें सम्मानकी दृष्टिसे देखा गया है; पर इन्द्र और उनके सहकारी देवताओंकी बड़ी निन्दा की गयी है। इस लेखमें हम देवासुर-संग्रामकी विवेचना नहीं करेंगे; केवल यही दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि, हमारी यह धारणा कि, असुर‡ या दस्यु ही पुराने पारसी लोग हैं, जिनके नेताका नाम जरथुश्त्र था और जो अहुरमज्दके उपासक थे, कहाँतक ठीक है।

जब पारसियों अथवा प्राचीन असुरों और दस्युओंके नेता जरथुस्त्र थे, तब उसका उल्लेख भी तो ऋग्वेदमें होना चाहिये। इसके सम्बन्धमें शापुरजी कावसजी होडीवालाने कुछ खोज की है, जिनके मन्तव्योंका यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि, यदि जरथुश्त्रका नाम ऋग्वेदमें आया भी, तो वह कुछ आदरकी दृष्टिसे न आवेगा, तिरस्कार-की ही भावना उसमें अधिक होगी। पहले कुछ लोगोंका विचार था कि, जिस हिरण्यकश्यपका उल्लेख पुराणोंमें आता है, वह जरथुश्त्र ही है; क्योंकि 'जरथश्त्र' शब्दके अर्थ हैं "जर्द या पीले कपड़ोंवाला", जो भावना 'हिरण्यकश्यप' शब्दमें भी है। पर बहुत सम्भव है कि, ऋग्वेदमें जो 'जरूथ' शब्द आया है, वह ज़रथुश्त्रका ही वाचक हो। निम्न मंत्र देखिये—

"विश्वा अग्नेऽपदहारातीर्येभिस्तपोभिरदहो । जरूथं" (ऋग्वेद ७।१।७)

'हे अग्नि! जिस तपसे तूने जरूथको जलाया, उसीसे दुष्टको जला।' "त्वामग्ने समिधानो वसिष्ठो जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम्।" (ऋ० ७।१०।६) 'हे अग्नि! वसिष्ठने तुझे प्रज्वलित करके जरूथको मारा। हमें समुचित धन दे।' "अग्निर्हत्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम्।" (ऋ० १०।८०।३) 'पानीसे अग्निने जरूथको जलाया।'

ऋग्वेदमें इन तीन स्थानोंपर जरूथका नाम आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि, जरूथकी मृत्यु आगमें जलाकर अथवा अग्नि-बाण चलाकर (बन्दूक या तोपसे fired at) की गयी। पारसियोंके दीन कर्द, बेहेराम यश्त, दाहेस्तान आदि ग्रन्थोंमें भी स्पष्ट उल्लेख है कि, जरथुश्त्रकी मृत्यु अग्निद्वारा हुई। अतः यह स्पष्ट है कि, ऋग्वेदका जरूथ पारसियोंका पैगम्बर जरथुश्त्र ही है।

ऋग्वेदमें दस्यु शब्द कहीं एक वचनमें और कहीं बहुवचनमें आता है। पारसियोंके ग्रन्थोंमें जरथुश्त्रको दस्यु (दख्युम) और कहीं-कहीं दख्युनाम सूरो (दस्युओंमें विद्वान्) भी कहा गया है। यद्यपि वैदिक साहित्यमें दस्युको बड़े अनादरसे देखा जाता है और अथर्ववेदमें तो उसके सर्वदमन और सर्व-संहारकी प्रार्थनाएँ की गयी हैं; पर पारसी साहित्यमें दस्यु शब्द सम्मानसूचक है। दस्युका अर्थ 'दीप्यमान' (दस्=चमकना) है; पर बादको यह शब्द 'दस' धातुसे भी निकाला गया, जिसका अर्थ 'काटना' है।

दस्यु असुर अथवा अहुरमज्दके उपासक थे। इसी लिये वे असुर भी कहलाते थे। दस्यु और असुर एक ही हैं, यह बात ऋग्वेदसे भी स्पष्ट है। ऋग्वेदमें दो मन्त्र इस प्रकारके हैं—

"अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून्" ऋ० ३।२९।९। "तदद्य वाचः प्रथमंमसीय येनासुरान् अभि देवा असाम्" (ऋ० १०।५३।४)

दोनों मन्त्रोंका तात्पर्य्य एक ही है। पहले मन्त्रका अर्थ है कि, यह अग्नि युद्ध-विजेता वीर है, जिसकी सहायतासे देवोंने दस्युओंको जीता और दूसरे मन्त्रका भाव है कि, मैं इस प्रथम वाणीको अब कहूँगा, जिससे देवता असुरोंको जीत लें। यह मंत्र भी अग्नि द्वारा कहलाया गया है। तात्पर्य यह है कि, वेदमें असुर और दस्यु शब्द एक ही भावके प्रदर्शक हैं। दस्यु और असुर एक ही हैं, यह बात अथर्ववेदके मन्त्रसे और भी स्पष्ट हो जायगी —

"राजा देवो वनस्पतिः। स मे शत्रून् विबाधताम्
इन्द्रोदस्यूनिवासुरान्।" (अथर्व० १०-३-११)

इसमें दस्यु और असुर दोनों शब्द साथ-साथ एक ही भावके लिये प्रयुक्त हुए हैं। समस्त जरथुश्त्री साहित्य इस

‡ ऋग्वेद १।२४।१४ में वरुण, १।५४।३ में इन्द्र, १।३५।१० में सविता, १।६४।२ में मरुद्गण, १।१०८।६ में ऋत्विक्गण और १।११०।३ में त्वष्टाके लिये असुर शब्द आया है। ऋग्वेदमें अन्य देवोंके लिये भी अनेक बार असुर शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके सिवा शत्रु और दुष्टके लिये भी असुर शब्द आया है। —सम्पादक

बातका प्रमाण है कि, प्राचीन पारसियोंका नाम ही असुर या अहुर था। प्रारम्भमें देव और अहुर दोनों एक ही देशमें भाई-भाईके रूपमें रहते थे। दोनों ही आर्य-संस्कृतिके थे। महाभारतमें असुरोंका तो देवोंका बड़ा भाईतक कहा है।

महात्मा जरथुस्त्रका जरूथ नाम तो वेदमें है ही, पर जहाँ एकवचन दस्यु शब्दका प्रयोग किया गया है, वहाँ भी जरथुस्त्रसे ही तात्पर्य समझना चाहिये। जरथुस्त्र समस्त दस्युओंका नेता था; अतः वैदिक साहित्यवाले इसे अकेले दस्यु शब्दसे ही सम्बोधित करते थे। ऐसा होना बहुत ही स्वाभाविक है। हाँ, बहुवचनान्त दस्यु शब्दका भाव उन समस्त अहुरमज्दिवन दस्युओंसे था, जो जरथुस्त्रके अनुगामी थे।

मूल वैदिक धर्म एकेश्वरोपासक था। उसमें कर्मकाण्डका आडम्बर न था और न अन्धविश्वास ही था। जबतक उसकी ऐसी अवस्था रही, तबतक देव और असुर, दोनोंमें कोई विरोध न हुआ। दस्यु अथवा असुर, जिन्हें व्यापार-वृत्तिके कारण पणि (ऋ० १०।१०८) भी कहा गया है, धन-धान्यसे पूरित थे। ये व्यापार-कुशल तो थे ही, साथ ही साथ इनके बड़े-बड़े जहाज थे और इनकी सम्पत्ति अतुल थी। लोकमें महान थे। यह लोक-चतुर थे। देवगण सीधे-सादे कुछ अधिक आध्यात्मिक थे। पर राज्यके अधिकारी ये अवश्य थे। इन्होंने असुरों या पणियोंसे धन लेना चाहा। कदाचित् राज्य-कर + बढ़ाया। बस, असुरोंकी ओरसे असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया। यही नहीं, यहाँतक बढ़ा कि, असुरोंने देवताओंका, सभी बातोंमें, विरोध किया। आर्य्य-देवताओंकी निन्दा की। उनके कर्मकाण्डोंका बायकाट किया गया। देवगण उन्हें नास्तिक, कर्मकाण्ड-विरोधी, अमानुष आदि कहने लगे—

"अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः,
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय।" (ऋ० १०।२२।८)

इसमें दस्युओंको अकर्मा कहा गया है; क्योंकि ये देवताओंके कर्मकांडको नहीं मानते थे। अन्यव्रती इसीलिये कहा गया है कि, दस्युओंकी श्रद्धा इन्द्रादि देवताओंमें नहीं रह गयी थी। ये जरथुस्त्र द्वारा स्थापित अहुरमज्दके उपासक हो गये थे। दस्युओंने देवतावाद और याज्ञिक कर्मकाण्डपर कुठाराघात किया। पर दस्यु कभी नास्तिक नहीं रहे, प्रत्युत उनकी आस्तिकता आर्य्योंकी आस्तिकतासे ऊँची हो गयी। आर्य्य एक ईश्वरके स्थानमें अनेक देवताओंके उपासक हो गये थे; पर जरथुस्त्री प्राचीनतम गाथाओंमें एकमेव अहुरमज्दकी उपासनाका वर्णन है। हाँ, यह बात अवश्य है कि, वे जरथुस्त्री-सम्प्रदायके व्यक्ति भी गाथाकालके अनन्तर अवस्ता-कालमें अनेक 'यजदों' (पारसी देवताओं) के उपासक हो गये और इनमें भी यज्ञ और सोमरसका व्यवहार बढ़ गया। पहलवीकालमें तो ये भी वैदिक आर्य्योंके समान बिलकुल अन्ध-विश्वासी कपोल-कल्पित पौराणिक हो गये। गाथाओंमें जरथुस्त्रके साथ-साथ अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियोंका भी निर्देश हुआ है।

उदाहरणतः राजा वीश्तास्पका नाम अहुनवद्गाथामें इस प्रकार आया है—

"दाइदी तू आरमइते वीश्तास्पाइ इषम मइब्याया।"
(हा० २८।७)

ऋग्वेदमें एक स्थलपर आया है—

"किमिष्टाश्व इष्टरश्मिरेत ईशानासस्तरुष ऋञ्जते नॄन्।"
(ऋ० १।१२२।१३)

संस्कृतका अश्व शब्द जरथुस्त्री भाषामें अस्प हो गया। ऋग्वेदका इष्टाश्व पारसी साहित्यमें इश्तास्प अथवा वीश्तास्प हो गया। व का लोप वैदिक साहित्यमें भी बहुत देखा गया है। वायु और आयु, वृषभ और ऋषभ शब्द, कई स्थलोंपर, एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। अतः आश्चर्य ही क्या है कि, ऋग्वेदका इष्टाश्व और गाथाका वीश्तास्प एक ही व्यक्ति हो। वीश्तास्प जरथुस्त्रका साथी था; अतः वैदिक साहित्यमें इसे तुच्छ दृष्टिसे देखा गया है। इसी भावनाको प्रदर्शित करनेके लिये उक्त मन्त्रमें इष्टाश्वके पहले किम् शब्द लगा दिया है। 'किंपुरुष', 'किन्नर' आदि शब्द लौकिक साहित्यमें भी उपेक्षा-की दृष्टिसे प्रयुक्त हुए हैं। वीश्तास्प गुश्तहम वंशका था। सम्भव है कि, ऋग्वेदके उक्त मन्त्रमें इष्टरश्मिसे तात्पर्य्य गुश्तहम ही हो। ('श' और 'स' का 'ह' तो बहुत हो जाता है— अस्मि अहि)।

+ऋग्वेद १० मंडलके १०८ सूक्तसे स्पष्ट है कि, देवोंने पणियोंके पास सरमा नामक चतुर श्वाको राजस्व माँगनेके लिये भेजा था; पर पणियोंने उसे घूस देकर अपनी ओर मिला लिया। —लेखक

कामास्मारक ग्रन्थमें शहेरियारजीने ऋग्वेदके निम्न मन्त्रकी ओर संकेत किया है—

"ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः"

(ऋ० १।१००।१७)

इनका कथन है कि, ऋज्राश्व शब्दसे पारसियोंके ज़रजास्प व्यक्तिसे तात्पर्य है। ज़रजास्पके पिताका नाम 'बानदरे मैनो' था। इस शब्दका अर्थ भय-रहित है। बहुत सम्भव है कि, यह शब्द उक्त मन्त्रके 'भयमान' शब्दका अपभ्रंश हो। ज़रजास्पके भाईका नाम हुमयक था। 'हुमयक'का अर्थ धनवान् है, जो 'सुराधाः' शब्दका ही भाव है।

पारसी साहित्यमें जामास्प नामक व्यक्तिका उल्लेख पाया जाता है। इस व्यक्तिका पूरा नाम जामास्प वएतस भी कभी प्रयुक्त होता है। यह नाम 'वेतस' शब्द द्वारा ऋग्वेदमें भी आया है—

"स वेतसुं दशमायं दशोणिं तूतुजिमिन्द्रः स्वभिष्टिसुम्नः।" (ऋ० ६।२०।८)

सायणने वेतसके विषयमें लिखा है कि, यह एक असुर था। जामास्प वेतस ज़रथुस्त्रका साथी होनेसे असुर कहा गया है।

पारसी विद्वानोंने पारसी साहित्यके ऐतिहासिक व्यक्तियोंको वैदिक कालीन सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है, उसका दिग्दर्शन मात्र यहाँ कराया गया है। यदि आर्य्य और पारसी साहित्योंका साथ-साथ अध्ययन किया जाय, तो बड़े मनोरंजक सिद्धान्तोंका पता चल सकता है। †

† इस लेखके और दाशराज्ञ-युद्ध लेखके विषयमें जिन सज्जनोंको अधिक जाननेकी इच्छा हो, वे डा० बनर्जी-शास्त्री (पटना) की लिखी "असुर इण्डिया" नामकी पुस्तक देखें। —सम्पादक

सर्वज्ञ ईश्वर

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर
शुद्धमपाप-विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः।" (यजुर्वेद ४०:८)

आकाश-सा व्याप्त चराचरोंमें, है शुक्रतेजोमय सृष्टिकर्त्ता।
अकाय है व्रण, अछेद्य, सूक्ष्म, विशुद्ध है पाप-विहीन नित्य॥
कविर्मनीषी—परिभू—स्वयंभू, सर्वज्ञ, विज्ञानज पूर्ण आदि;
अनादि संवत्सरसे वही है, प्रजागणोंको उपदेश देता।
यथार्थका वेद महान् ज्ञानका, अज्ञानरूपी तमको मिटाने॥

—प० लोचनप्रसाद पाण्डेय

वेदमें रहस्यवाद

प० गोपीनाथ कविराज एम० ए०

(प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस)

उन प्राच्यविद्याविशारद पाश्चात्य विद्वानोंको धन्यवाद है, जिनके स्पृहणीय उत्साह और अध्यवसायसे वेदाध्ययनमें आज हमें अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है। मैक्समूलर तथा अन्यान्य पाश्चात्य पण्डितोंने जबसे वेद-विषयक अज्ञात बातोंकी खोज की है, तबसे वैदिक ग्रन्थ-प्रकाशनकी पुस्तक-विद्या अधिक सुगम और उन्नतिशील हो रही है। वेद-विषयक सामग्रियोंके प्राप्य होनेके कारण श्रद्धापूर्वक वैदिक साहित्यके गूढ़ विषयोंके रहस्योद्घाटनका भगीरथ-परिश्रम हो रहा है। वेद-सम्बन्धी विवरणोंकी बहुत कुछ शाखाएँ आज मिलती हैं; और, चूँकि वेदाध्ययनकी प्रवृत्ति दिनों-दिन बलवती होती जा रही है, इससे आशा की जाती है कि, आगे भी अन्यान्य विलुप्त शाखाएँ मिलेंगी।

भारतवर्षमें वैदिक निरुक्तोंकी विभिन्न शाखाएँ थीं। निरुक्तको स्थूल दृष्टिसे देखनेपर मालूम होता है कि, महर्षि यास्कके समय भी वैदिक मंत्रोंका निरूपण, विभिन्न प्रकारसे, किया जाता था। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि, वेदोंके यथार्थ भावोंको समझने तथा समझानेकी कठिनाईका अनुभव सदासे ही किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि, केवल साधारण पुस्तक-ज्ञान वेद-निहित गूढ़ भावोंको समझानेका कोई सफल मार्ग नहीं बता सकता था। सदासे ही इस बातका अनुभव किया जा रहा है कि, वेदमें कुछ ऐसे अस्पष्ट रहस्यपूर्ण भाव हैं, जो साधारण बहिःस्थ निरूपकको नहीं मालूम हो सकते; और, इन बातोंको मान लेनेसे यह बात भी माननी पड़ती है कि, वेदमें रहस्यवाद है।

परन्तु वेद क्या है? यह बात सर्वविदित है कि, द्विजोंके सिवा और किसीको भी वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है; बल्कि यों चाहिये कि, उचित संस्कारके बिना इसके गूढ़ तत्वोंका ज्ञान होना बिलकुल असम्भव है। वास्तवमें उपनयन-विधि अथवा गायत्री-दीक्षा ऐसी संस्कार-क्रिया है, जिससे आध्यात्मिकतया वैयक्तिक पुनरुद्धार होता है और जिसके बिना उन सात्त्विक तत्त्वोंको समझनेकी योग्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रोंसे, उपनयनका वास्तविक तत्त्व समझनेमें, हमें बहुत कम सहायता मिलेगी; क्योंकि विध्यनुरूपोंसे, आभ्यन्तरिक तत्त्वोंको, केवल आचारानुगत बातोंका ही पता चलता है। दीक्षामें आचार्यका कर्त्तव्य पिताका-सा है, अर्थात् जन्म देना। उपनयन वह गुप्त प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति, अपनी ही आध्यात्मिकताको चेतनामें डूबकर अपनी आध्यात्मिक शक्तिके अंशको गर्भमें फेंक देता है; मानो ये अन्तःप्राणके हों अथवा नव शिष्यके 'लिङ्गदेह' हों। यह उस पापनिवृत्तिकी प्रक्रियाकी दीक्षा देती है, जिसके फलस्वरूप दीक्षित व्यक्तिके शरीरमेंसे आध्यात्मिक सत्त्व (अस्तित्व)की रचना

होती है। आध्यात्मिक शक्तिका संचार पवित्र स्वरोंके सहारे किया जाता है। इस प्रक्रियाके तात्कालिक परिणाम-स्वरूप तुन्दिका (नाभि) केन्द्रमें उत्तेजना उत्पन्न करना है, जिसे बादके साहित्यमें 'तुन्दिका स्थानकी ग्रन्थियोंका कसना' कहा गया है। ज्योंही इस स्थानमें उत्तेजना उत्पन्न होती है, त्योंही शिष्यकी आध्यात्मिक शक्तियाँ (Spiritual Potentialities) विकाशका स्थान पा जाती है। इन शक्तियोंका क्रमिक विकाश—जो प्रत्येक व्यक्तिमें, गुप्तरूपसे, विद्यमान रहता है और जिसका अनुभव उसे तबतक नहीं होता, जबतक उसके शरीरके भीतरसे, उसके दीक्षागुरु, इन शक्तियोंके प्राणोत्पादक संस्पर्श द्वारा उत्पन्न नहीं कर देते—स्थूल शरीरके आर्णावक विकाशसे सम्बन्ध रखता है। इस वैकाशिक प्रक्रियाकी समाप्तिसे अर्थ है, पूर्वारम्भिक आध्यात्मिक अंशोंकी पूर्ण प्रौढ़ता। इसी तरह मनुष्यके विकारपूर्ण—स्वाभाविक शरीरसे विभिन्न —इस आध्यात्मिक शरीरकी रचना होती है।

इस प्रसिद्ध श्लोकसे कि, "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। वेदपाठाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः" यह प्रकट होता है कि, सच्चे ब्राह्मणके जीवनकी चार अवस्थाएँ हैं। लिखा है कि, आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे इस शरीरका जन्म निम्नतम अवस्थाका द्योतक है, जो शूद्रावस्थाके समान है। यह वह अवस्था है, जिसमें वैदिक अनुशीलनका प्रश्न ही नहीं उठता। ब्राह्मण माता-पितासे उत्पन्न होनेपर भी विशेष विभिन्नता नहीं रहती; क्योंकि एक ब्राह्मणका पुत्र वेदाध्ययनके अधिकारसे उतनी ही दूर है, जितना एक शूद्रका पुत्र। विभिन्नता केवल इतनी ही है कि, ब्राह्मणमें—काल्पनिकतया ही—निस्सन्देह वह गुण है, जिसे दार्शनिक दृष्टिसे नैसर्गिक स्वरूपयोग्यता (Inherent Potentialities) कहते हैं; और, शूद्रमें यह गुण नहीं होता। शक्ति स्वयं जन्मजात गुण है, जो वंश-परम्परागत, किसी व्यक्ति-विशेषमें विद्यमान रहता है। वंशमें संस्कारका अर्थ उपनयन अथवा दीक्षा है, जिससे पुनर्जन्म या पुनरुद्धार होता है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बपतिस्माकी संस्कार-विधिके बाद क्रिश्चियन नास्तिकों [Christian Gnostics) का पुनर्जन्म होता है। इसलिये 'द्विज' वही है, जिसका पुनर्जन्म हो या यों कहिये कि, जिसका (जिसके शरीरका) आध्यात्मिक प्रकाश तथा ज्ञानपूर्ण पुनर्जन्म हो। वैदिक साहित्यके रहस्यमय वाक्य-निबन्धमें अध्यात्मीकरणकी सम्पूर्ण प्रक्रिया—ज्ञानपूर्ण शरीरकी रचना 'स्वाध्याय' के भीतर छिपी हुई है, जिसका वर्णन, उपर्युक्त विप्रावस्थाके श्लोकमें किया जा चुका है। 'स्वाध्याय'का मर्मार्थ—जैसा कि, लगाया जाता है—पवित्र वेद-पाठ करना नहीं है। यह अर्थ तो उसके मौलिक एवम् वास्तविक अर्थका अनुमानमात्र है। हमें यहाँ वेद-पाठ या मन्त्र-जपके सिद्धान्तोंको लेकर तर्क नहीं करना है; किन्तु स्वभाविक भ्रमको दूर करनेके लिये यहाँ यह प्रतिपादित कर देना उचित जान पड़ता है कि, गुरुकी इच्छा-शक्ति द्वारा प्रोत्साहित किया हुआ प्रकाश (ज्ञान) शक्ति-संचालन-क्रियाका गुण-दोष विवेचन करता है। उपनयन इसी विधिकी प्रारम्भिक प्रक्रिया है। वह शब्द, जिसे शिष्य अपने दीक्षा-गुरुसे ग्रहण करता है (जो उसके ही अंगसे दीक्षा-गुरुके प्रभावसे अभिमन्त्रित होता है), वास्तवमें आन्तरिक ज्ञानका बाह्य वस्त्र है और सूक्ष्मा वाक् (Subtle Sound) की प्रकृतिका होता है। यही

सूक्ष्मा वाक् बुद्धि या ज्ञानके रूपमें प्रकट होती है, जिसके बाद इच्छा जागरित हो उठती है और चित्त प्रोत्साहित हो पड़ता है। फिर शान्त चित्त चलायमान होने लगता और फलस्वरूप 'कायाग्नि' उत्पन्न होती है, जिसका धारा-प्रवाह स्वभावतः उन्मुख होता है। तत्पश्चात् प्राणोंकी तदनुरूप गति (Corresponding movement of Prana) की उत्पत्ति होती है। इसे ही नाभिकी कमल (Naval Lotus) का खिलना कहते हैं। प्रोत्साहित की हुई चेतना (प्राण), नाभि स्थानसे उठकर, मस्तिष्कमें विद्युत्की भाँति, एक झटका लगाती और फिर नीचे उतर आती है। इसी बीच मस्तिष्क, पिण्ड-स्थानसे उत्पन्न, चेतना-शक्तिके दूसरे वैद्युतिक प्रवाहसे टकराकर, पुनर्झंकृत हो उठता है। इसी प्रक्रियासे स्पष्टध्वनि (Audible Sound) की उत्पत्ति होती है। बात यह है कि, वायु या प्राण आभ्यन्तरिक अग्निके घर्षसा और इसके गुणोंसे परिपूर्ण हो जाता है। अग्निसे प्रभावान्वित होकर यह स्वयम् फैलने लगता है; और, इसी बीच विभिन्न श्रुतियोंके सहारे यह सभी ग्रन्थियोंको खोल देता है और तब वर्णोंकी उत्पत्ति होती है। अन्तर्भूत सूक्ष्मा वाक् या ध्वनि (Subtle Sound) अग्निके परिमाणोंके साथ मिल जाती है। इसका रूप अथवा आकार, जो अपूर्व और अविभाज्य है, उपर्युक्त साकार तथा अभिव्यक्त वाक्में प्रतिबिम्बित होता है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह प्रमाणित होता है कि, आभ्यन्तरिक स्वर (Inner Sound) की अभिव्यक्ति या व्यञ्जनाकी प्रक्रिया ज्ञानके आनुक्रमिक शुद्धीकरणसे अभिन्न है। अतः स्वाध्याय विप्रावस्थाका द्योतक है। जब इस अवस्थामें पूर्णता आ जाती है, तभी किसी भी व्यक्तिको प्रकाशोन्मुख होना कहा जाता है, जो एक ब्राह्मणका विशिष्ट लक्षण है। सत्य अथवा परब्रह्मका पूर्ण ज्ञान उस आत्मामें कभी उदित नहीं हो सकता, जिसने शब्द ब्राह्मणके (वैद्युतिक) धाराप्रवाहसे जो आन्तरिक शिराओंकी अभिशुद्धि [संस्कार] के पश्चात् उत्पन्न किया जाता है—प्रारम्भिक अवस्थाका उपक्रम नहीं किया हो और उपनयनके द्वारा दीक्षागुरुने उसके आध्यात्मिक केन्द्रोंको नहीं खोल दिया हो।

इस प्रकार वेद ही ज्ञान अथवा आत्मज्ञान × [Self Knowledge] का एकमात्र मार्ग है, जिसके बिना आत्मग्रन्थियाँ [Bonds of the Soul) कदापि नहीं खोली जा सकतीं—

"प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य [ब्राह्मणः] वेदो महर्षिभिः। × × समाम्नातः × × ×"

जो कुछ भी साधन अङ्गीकार किया जाता है, वस्तुतः वह वेदका केवल साधारण अंशमात्र है।

परन्तु उन साहित्यिक लेख-प्रमाणोंसे हम क्या समझते हैं, जो बचे हुए हैं और जिनका संग्रह वैदिक साहित्यके नामसे किया गया है? सच कहा है कि, ये वास्तविक वेद नहीं हैं; किन्तु उनके अनुकार (अनुकरण) मात्र हैं। इस बातपर जोर दिया जाता है कि, जब ऋषियोंको मन्त्रोंका ज्ञान हो जाता है और वे धार्मिक तत्त्वोंको समझ जाते हैं, तब उन्हें नित्या [Eternal], अतीन्द्रिया

× आत्मज्ञान अथवा ब्राह्मणकी प्राप्ति केवल अहङ्कार-ग्रन्थिका अतिक्रमणमात्र है, जो कि, 'मैं' और 'मेरा' के रूपमें देखा जाता है। —लेखक

[Supersensuous] तथा सूक्ष्मा [Subtle] वाक्का अन्तर्दर्शन होता है, जिसके विषयमें पहले ही कहा जा चुका है । यह सूक्ष्मा वाक स्वभावतः प्रकाश तथा ज्ञानका निष्कर्ष है । जब इसे बाह्य-केन्द्रमें प्रतिपादित किया जाता है, तब इसके वर्णनके आधार-स्वरूप भाषाकी प्रचलित वर्णमाला-की शरण लेनी पड़ती है । वेद-ग्रन्थ, जैसा कि, साधारणतया समझा जाता है, इसी प्रकारके हैं और उन्हें [वेद-ग्रन्थोंको] विल्म [Vilm] कहते हैं—

"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात् कृतधर्माणो मन्त्रद्रशः पश्यन्ति, तामसाक्षात्-कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणाः विल्मं समामनन्ति, स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमा-चिख्यासन्ते ।" अतः वेद तत्वतः एक और अविभाज्य है । इसका विभाजन अनवस्थित भाषा (Discursive Language) की दृष्टिसे ही हो सकता है ।

यह बात निरुक्तके परिशिष्टसे स्पष्ट थी कि, मन्त्र-ज्ञान एक ऋषिका मुख्य लक्षण-विशेष था, जिसमें लिखा है कि, तपोबलके द्वारा केवल ऋषिको ही मन्त्रोंका ज्ञान होना सम्भव है ।

इससे मन्त्र-ज्ञानके द्विगुण मार्गकी पूर्व कल्पना होती है—धर्म अर्थात् 'ऋषित्वका अन्तर्ज्ञान' और कठिन 'तपस्या' । वैदिक साहित्यके साधारण आचार्य, जिन्होंने श्रुति-परम्पराको जीवित रखा, 'पारोवर्यवित' * कहलाते थे; किन्तु उन्हें वेद-रहस्य मालूम नहीं था ।

इस कारण वेदका निष्कर्ष दिव्य ध्वनि (Radiant Sound) में भरा है, जिसका ज्ञान स्वतः किसी जिज्ञासुको प्राप्त हो जाता है, जो ब्रह्मनाड़ी, केन्द्रीय आकाश अथवा परव्योममें पार्थिव वायु (Cosmic Vayu) के मोहके परे पहुँचने-की चेष्टा करता है । मध्यकालीन रहस्यवादियोंके अनाहता वाक्के साथ तथा उसके वास्तविक रूपमें प्रणवके साथ इसकी तुलना करनी चाहिये । यह भर्तृहरिकी एकपदागमा विद्या (Monosyllabic Vidya) है ।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि, प्राचीन भारत-वर्षकी प्रत्येक विचार-पद्धति वेदके विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बने, जिसके बिना सत्यका अन्त-र्ज्ञान होना एकान्त असम्भव समझा जाता था । व्याकरणके वाग्-योगकी विधिसे स्थूला वाक् या ध्वनि (Physical Sound) की शुद्धि और बाह्य अंशों (Adventitious Elements) से मुक्त हो सकी, जिसके फल-स्वरूप यह ब्रह्माण्डमें चिरस्रो-तस्विनी ध्वनिसी दीख सकी और जिसके द्वारा अनन्त नित्य सत्यका ज्ञान प्राप्त होता है । यह शुद्धी-करण उसी ध्वनि (सूक्ष्मा वाक्) की संस्कार-क्रिया ही है । दैवी वाक् (Godly Sound), जिसे संस्कृत या सिद्ध भाषा कहते हैं, की उत्पत्तिका मूल कारण है । इस प्रकार विशुद्ध होकर ध्वनि

*निरुक्तके परिशिष्ट [१३।१२] में यह लिखा है कि, यह जानते हुए भी कि, ऋषियों अथवा तपस्वियोंके अति-रिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति वेद-मन्त्रोंका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, लोगोंको भय था कि, ऋषियोंके अन्तर्धान हो जाने पर, भविष्यमें, वेद-मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनाई उपस्थित होनेकी सम्भावना है । लोगोंने यह बात देवता-ओंसे कही, जिन्होंने वैसी दशा आ जानेपर, ऋषियोंके स्थानमें 'तर्क' का नाम बतलाया । साधारण आचार्योंमें जो बहुश्रुत (भूयोविद्यः) थे, उन्हें ही प्रशस्य व्याख्याता (Interpreter) समझा जाता था ।"—लेखक

उत्पादक शक्ति (Creative Potency) के साथ संयुक्त हो जाती है। संस्कारकी अन्तिम अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है। व्याकरणका स्फोट, जो नित्य और स्वयं प्रकाशमान है, वही शाश्वत शब्दब्रह्म अथवा गुप्तवेद (Mystic Veda) है। शब्दके जैसा स्फोट भी नित्यरूप होकर परब्रह्मसे अथवा सृष्टिकी सत्ताके साथ अर्थकी भाँति लगा रहता है; और, यही उस प्रकाशका निरूपक होता है, जिससे सत्ताका ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु इसके द्वारा सत्ताका ज्ञान होनेके पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनि [Audible Sound] से प्रकट किया जाता है। हठयोग और तन्त्र समानाधारपर निर्मित हैं। व्याकरणमें जिसे स्फोटका प्रत्यक्षीकरण कहा गया है, उसे ही यहाँ कुण्डलिनीकी जागरूकता—सृष्टिकी सार्वलौकिक गर्भाशय—के रूपमें प्रकट किया जाता है। यह शब्द-ब्रह्मसे मिलता जुलता है, जो प्रत्येक मानव शरीरमें, उत्तेजित करनेवाले संस्पर्शकी प्रतीक्षामें, सुप्तप्राय विद्यमान रहता है। वक्रगति-शक्ति (Surpentine Energy) का उन्मुखीभूत आवेग—जब इसमें जागरूकता उत्पन्न कर दी जाती है—स्वाध्यायकी अवस्थाका द्योतक है, जैसा कि, उपर्युक्त श्लोकमें वर्णित है; और, जिसका भाव ज्ञानका क्रमशः संस्कृत होना है। आज्ञाचक्रमें, ज्ञानकी विशुद्धता, अपनी चरम सीमाको पहुँच जाती है, जिसके परे सहस्रारका अनिर्वचनीय प्रकाश है और जहाँ ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय एकतत्त्व या अद्वैतमें विलुप्त हो जाते हैं। यही सत्य ब्राह्मण है। भावानुसन्धान तथा अन्य क्रमादि—शब्द-ब्राह्मण-तक—उसके वास्तविक रूपमें—पहुँचनेकी चेष्टा-मात्रको ही लक्षित करते हैं। इस विषयमें मीमांसकोंका अपना अलग मार्ग है। कारण, यद्यपि वे ब्राह्मबोध (Brahma Concept) से कुछ लाभ नहीं उठाते, तो भी उनका वेद-बोध, नित्या वाक् [Eternal Sound] की ही भाँति, अन्य रहस्य-मार्गों [Mystic Systems] के तुल्य है। शब्द-विचारमें वैयाकरणों और मीमांसकोंके बीच अवश्य एक मूलभूत पार्थक्य है; किन्तु इस बातको वे दोनों स्वीकार करते हैं कि, शब्द द्वारा ही सत्यका ज्ञान [चाहे जिस प्रकार भी अवधारणा की गयी हो] प्राप्त होता है। हम यहाँ सभी प्रणालियोंकी अलग-अलग समीक्षा करना नहीं चाहते; पर न ध्यान-पूर्वक व्यवच्छेदसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, गुप्ता वाक् (Mystic sound) की प्रधानता प्रायः सब जगह मानी गयी है। मैंने यहाँ 'प्राय.' इसलिये कहा है कि, जहाँ यह (गुप्ता वाक् प्रकट नहीं भी होती, वहाँ यह विवक्षित रहती है।

कहा भी जाता है—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" अर्थात् एक ही शब्दके पूर्णज्ञान और सम्यक् प्रयोगसे—ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों फलोंकी प्राप्ति हो सकती है। यही वैदिक ज्ञानका रहस्य है। इस सम्बन्धका पूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि, शब्द (विशेषतः ध्वनि) बाह्यतत्त्वोंसे विमुक्त और परिमार्जित किया जाता है। जैसा कि, हमें मालूम है, कोई भी ध्वनि सर्वदा विशुद्ध नहीं रहती, योगकी प्रक्रियासे ही उसमें विशुद्धता लायी जा सकती है। इस विशुद्धीकरणके बाद ही, पूर्ण ज्ञानकी उपलब्धि, आपसे आप हो जाती है। इस प्रकार व्युत्पन्न और विशुद्ध होकर वह योगियोंके हाथमें, नैसर्गिक गुणोंसे पूर्ण, एक अनन्तशक्तिशाली यन्त्र बन जाता है। स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन—जिसके विषयमें यह कहा जा चुका है कि, यह

विप्रावस्थाका लक्षण-विशेष है—इस संस्कार या शुद्धीकरणके ही जैसा है, जिसे सामान्य बोल-चालमें हम 'संस्कृतभाषा' कहते हैं। रहस्यवादकी दृष्टिसे यह वही शुद्धीकृत ध्वनि है, जो दिव्य शक्तियोंसे ओत-प्रोत होकर 'दिव्या' कहलाती है।

मनुजीने स्पष्ट रूपसे कहा है कि, वेद ब्राह्मणमें अन्तर्भूत आध्यात्मिक शक्तिका सार है। वैदिक साहित्यके "भूः"का अर्थ विश्वकी निम्नतम मेखला तथा "स्वः" का उच्चतम अर्थात् निराकार (Spiritual) लोक स्वर्ग है और इन दोनोंका मध्य-स्थित प्रदेश "भुवः" अथवा अन्तरिक्ष है। यद्यपि इन "भूः", "भुवः" तथा "स्वः"का अर्थ विभिन्न रूपसे किया गया है; किन्तु वास्तवमें यह तीनों केवल एक ही मण्डल हैं। निम्नलोक (पृथ्वी) का सार स्वयं प्रकाशरूपमें प्रकट होता है; जिसे अग्नि कहा जाता था। आध्यात्मिक अभ्यासकी सारी विधि—जिसे वैदिक वाणीमें क्रतु (यज्ञ) कहा गया है—इसी पवित्र एवम् गुप्त अग्निके जलनेके साथ प्रारम्भ हुई। अग्नि-मन्थनका गुप्त कार्य अर्थात् अरणियोंके द्वारा प्राण तथा अपान या आत्मा तथा मन्त्रका प्रतिरूप अग्नि उत्पन्न करना वास्तवमें वही प्रक्रिया या विधि है, जिसे तन्त्र तथा हठ-योगमें 'कुण्डलिनीमें उद्दीपन उत्पन्न करना' कहा गया है। जब अग्नि पृथ्वीपर विस्तृत हो जाती है, तब नियमित रूपसे संस्कृत (शुद्ध) होने लगती है। तत्पश्चात् यह प्रकाशका सच्चा रूप धारण करती है और अन्तरिक्षका सार बन जाती है। इसे तब वायु कहते हैं। पूर्णरूपसे परिमार्जित या संस्कृत हो जानेपर, स्वर्गीय दिव्य दीप्तिका रूप धारण करती है, जिसे 'रवि' कहते हैं। तब ये तीनों तरहके प्रकाश, जो उपर्युक्त लोकोंके सार हैं, एकीभूत होकर एकप्रकाश हो जाते हैं। वस्तुतः यही वेद हैं—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ-सिध्यर्थमृग्-यजुः-साम-लक्षणम्॥" †

[मनु० १।२३]

कहना नहीं होगा कि, इस प्रकाशके बिना सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। इस भावको समझ लेनेपर—जो विषयविशेषमें निर्धारित किया जा चुका है—यह निष्कर्ष निकलता है कि, वेद ही स्वभावतः सार्वलौकिक ज्ञानका निर्झर एवम् विशुद्ध अन्तर्ज्ञानका मुख्य द्वार है।

सृष्टि-नियमकी दृष्टिसे वेद समस्त उत्पादक तथा वैकाशिक प्रसरणका आधार है। यह वेद ही है, जिससे विश्वके अस्तित्वका संचालन होता है। वेदमें यह बात भी लिखी है कि, प्रलयकालमें इसकी [वेदकी] आत्मता जाती रहती है।

छान्दोग्य उपनिषद्में भी, वेदके इस गूढ़ ज्ञानके विषयमें, कई जगह उल्लेख मिलते हैं। मधुविद्या-खण्डमें लिखा है कि, वेद 'आनन्द' और 'हर्ष'के रूपमें अमृत देनेवाला एक प्रकारका पुष्प है; और, वह अमृत सूर्यमें उसी प्रकार जमा होता रहता है, जिस प्रकार मधु-कोषमें मधु। सूर्यमें विभिन्न वर्णोंके रंगका कारण यह रस ही है, जो उपर्युक्त विधिसे उत्पन्न होता और सूर्यको परिवेष्टित कर लेता है।

† छान्दोग्य उपनिषद् (२।२३२) में स्पष्ट लिखा है कि, त्रयी विद्याएँ (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) प्रजापतिके, लोकोंके विषयमें, ध्यानमग्न होनेसे निकली हैं—"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्।" वेदसे तीन व्याहृतियाँ (अक्षर) निकली हैं, जिनसे प्रणव अर्थात् 'ओंकार' आविर्भूत हुआ है (छा० उप० ४।१७। १-३)।—लेखक

वेद

पं० ईश्वरीदत्त दौर्गादत्ति शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०
(सुपरिण्टेण्डेण्ट, बिहार-उड़ीसा-संस्कृत-एसोसियेशन, हाईकोर्ट, पटना)

विद्वानोंने वेदका परिचय देनेमें त्रिविध विकल्पोंकी कल्पना की है। वेदके सदृश गुरु और गम्भीर, अमित और अनन्त, विमल और विशाल वस्तु कदाचित् ही शब्द-ब्रह्माण्डमें उपलब्ध हो। ऐसी दशामें स्वभावतः विकल्प ही विद्वानोंके कल्पतरु बन बैठते हैं। इन विकल्पोंका मूल वेदका अगाध अर्थ-गाम्भीर्य और विचारोंकी विस्मयजननी विचित्रता ही नहीं, वरन् परिचय-प्रदाताओंके वैयक्तिक रुचि-विशेष, दृष्टि-विशेष और भाव-विशेषकी प्रवणता भी हैं। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" के अनुसार जिस विद्वान्ने जिस भावना-विशेषसे भावित दृष्टिसे उसे देखा, उसके लिये वह उस समय वैसा ही भासित हुआ और तदनुसार ही उसने उसका परिचय भी दिया। यही कारण है कि, वेद-वेत्ताओंने कभी वेदको आर्योंकी सबसे विस्तृत और विश्वसनीय धर्मपुस्तक कहा है और कभी ईश्वरका अनादि-आदेश, कभी ज्ञान-विज्ञानका विशाल विपिन और कभी कमनीय कामनाओंकी कामधेनु, कभी धर्म-प्राण हिन्दुओंका सर्वस्व धन और कभी पुण्य-पापके परिचयका एक मात्र पवित्र साधन।

ऐसी स्थितिमें यदि मैं भी वेदका परिचय देनेमें विकल्पोंके जटिल-जालमें फँस जाँऊ, तो आश्चर्य नहीं। वेद विश्वरूप है और मनोवृत्ति भी विश्वरूपा है। तब वेद-परिचयका ही क्या अपराध है कि, वह विश्वरूप न हो?

जब मैं वेदकी बाहरी ओर दृष्टि डालता हूँ, तब मुझे प्रतीत होता है कि, भगवती त्रयी नाद-ब्रह्म-रूपी हिमालयसे निकली हुई हिम-हिमांशु-भासुरा सुरसरीकी धारा है, अथवा आदिपुरुषकी लोकोत्तर-तपस्या-रूपिणी यमुनोत्तरीसे उतरी हुई कलि-कल्मष-नाशिनी कलिन्द-कन्या है, अथवा हिरण्य-गर्भ-रूपी गिरिके गर्भसे निर्गत सरस्वतीका स्रोत है, अथवा पुरुष-सूक्तमें प्रतिपादित सर्वप्रथम प्रयाग (उत्तम यज्ञ) से आविर्भूत तापत्रयनिवारिणी त्रिवेणी है, अथवा चतुर्मुखके मुखपङ्कजोंसे निर्गलित चार मकरन्द-धाराओंकी समष्टि है, अथवा शब्द-महासागरकी सबसे उत्तम और उत्तुङ्ग तरङ्ग है, अथवा तपोवनोंमें सह-कारिता रूपी सहकार-तरुओंमें स्थित परमानन्द-मग्न महर्षि-पुंस्कोकिलोंकी कान्त काकली है, अथवा परम पुरुष-रूप प्रिय मयूरका सहसा आविर्भाव देखकर मदोन्मत्ता महामाया-मयूरीकी कान्तिमती केका है, अथवा श्रद्धा-सरोवरोंमें खिले हुए भगवद्भजन-पङ्कजोंके ऊपर मँडराते हुए प्राचीन भक्त-भृङ्गोंकी प्रमोद-ध्वनि है, अथवा वाग्देवताकी मधुर वीणाकी सबसे प्रथम झंकृति है, अथवा भारतीकी सर्वप्रथम अभिव्यक्त-स्वरूपा वैखरी वृत्ति है, अथवा मनुष्योंकी भाषाका सबसे प्रथम विकास है।

जब मैं वेदकी भीतरी ओर दृष्टि निक्षेप करता हूँ, तब मुझे ज्ञात होता है कि, वेद केवल परमेश्वर-रूपका सबसे पवित्र और सबसे प्रथम शाब्द परिवर्तन

है, अथवा स्वयंभूके मस्तिष्क-महाम्भोधिसे निर्गत उदात्त और उत्तम विचाररूपी रत्नोंका महाकोष है, अथवा आदि कालमें साम्प्रयोग-निद्रामें निलीन योगीन्द्रोंकी तुरीयावस्थामें आविर्भूत गूढ़तत्वोंकी शब्दमयी मञ्जूषा है, अथवा संसार-नाटकके अभिनयमें दीक्षित मानव-समाजकी महानटेश्वरसे प्राप्त उपदेशावली है, अथवा अविद्यान्धकारके कारण पथ-च्युत संसार-यात्रियोंके लिये एक अटूट 'टार्च-लाइट' है, अथवा अनुराग-मार्तण्डके प्रचण्ड तापसे सन्तप्त विषय-मृग-तृष्णामें भटकते हुए मानव-मृगोंकी क्लान्तिहारिणी कादम्बिनी है, अथवा यह अत्यन्त स्वच्छन्द-मनसि द्विजराज-हंसोंके स्वच्छन्द आहार-विहारके लिये मनोज्ञ-मुक्तामयी भूमि है, अथवा यह पवित्र आम्नायपंक्ति अतीतके तपोधनोंकी अतीन्द्रिय-दर्शिनी दृष्टिके दुरन्त दृश्योंकी अद्वितीय प्रदर्शिनी है, अथवा यह निगम-माला अविवेक-वारिधिमें डूबी हुई कर्त्तव्य-पद्धतिरूपिणी पृथिवीकी उद्धरण-क्षमा महावराह-दंष्ट्रा है, अथवा विषय-विषसे मूर्छित मनुष्य-समाजकी अमृतमयी संजीविनी है।

असीम साम्राज्यशालिनी श्रीमती भगवती श्रुतिका विषय इतना विशाल है कि, मेरे जैसे क्षुद्र व्यक्तिकी क्षोदिष्ठ दृष्टिके लिये यह केवल दुःसाध्य ही नहीं, वरन् सर्वथा असम्भव है कि, वह उसके किसी भी अंशका पूरा पार पा सके। अतः उस व्यर्थ व्यापारसे विरत होना ही मुझे उचित जान पड़ता है।

(१) "वेद" नामकी प्रसिद्धिके कतिपय कारण।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि प्राचीन तथा नवीन ग्रन्थोंसे विदित होता है कि, वेदके अनेक नाम हैं— आम्नाय, समाम्नाय, आगम, निगम, छन्द, श्रुति, अनुश्रव, त्रयी, विद्या, वेद आदि। किन्तु वेद-संज्ञा सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय प्रतीत होती है। इसका क्या कारण? इसके अनेक कारण हैं, जिनमेंसे कतिपय नीचे दरसाये गये हैं—

१ म कारण—संज्ञा सुन्दर, सुबोध, सुवच और संक्षिप्त अर्थात् दो या चार अक्षरोंकी (द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। व्या० म०) होनी चाहिये। 'वेद' में सभी गुण हैं। अन्य नामोंमें कोई दीर्घ, कोई दुर्बोध और कोई कर्कश है।

२ तीय कारण—संसारके साहित्यमें स्तुतिसे बढ़कर कुछ भी पवित्रतर नहीं है; अतः उसका नाम भी वैसा ही होना चाहिये। वेद शब्दका साधारण अर्थ ज्ञान है और ज्ञानसे बढ़कर पवित्र वस्तु और कोई नहीं है—"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" इससे वेद संज्ञा सर्वथा श्रुतिके अनुरूप है।

३ तीय कारण—वेदका मुख्य मंत्र भगवती गायत्री है। गायत्री शब्दका अर्थ वेदने ही (गयाः प्राणाः तांस्तत्रे इति गायत्री) प्राण-रक्षिका किया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, वेदका मुख्य लक्ष्य प्राण-रक्षणपूर्वक संसार-रक्षण है। ऐसी दशामें वेदकी वही संज्ञा अनुरूप कही जा सकती है, जो प्राण-रक्षणमें कुछ भी सहायता करे। प्रत्येक प्राणीको प्राणों (साँसो) की परिमित संख्या मिली हुई है और उनके व्ययकी इयत्तापर ही जीवनकी दीर्घता और अल्पता निर्भर करती है। जिस वस्तुसे प्राण-व्यय जितना अधिक होगा, वह उतनी ही प्राण-हारिणी होगी। वेद शब्दके 'वे' और 'द' दोनों अल्पप्राण हैं अर्थात् उनके उच्चारणमें प्राणोंका व्यय महाप्राणवाले (वर्गोंके द्वितीय, चतुर्थ और श, ष, स, ह,) वर्णोंकी अपेक्षा न्यून होता है। अतः इन दो व्यञ्जनोंसे बनी हुई संज्ञा अवश्य प्राणोपकारिणी कहलायगी और अपने संज्ञी (वेद) के उचित होगी।

४ थे कारण—वेद-संज्ञासे वेदके आदिकारण, आविर्भाव क्रम, विभा[illegible] और फल आदि की सूक्ष्म सूचना मिलती है।

आदि कारण—"शास्त्र-योनित्वात्।" वेद शब्दमें 'व' अन्तस्थ है और 'द' स्पर्श है। दोनोंके संयोगसे "अन्तस्थ-स्पर्श" समस्त शब्द निकलता है। उसका अर्थ 'भीतर रहनेवालेके साथ स्पर्श करनेवाला' भी हो सकता है। यहाँपर किसी वस्तु-विशेषका नाम निर्दिष्ट नहीं, अतः 'सब किसीके भीतर रहनेवालेसे सम्बन्ध रखनेवाला'—यह अर्थ होगा। सर्वान्तर्वर्ती केवल सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही है, अतः उक्त समस्त पदमें वेदका परब्रह्मसे (कार्य-कारण-भाव) सम्बन्ध सूचित होता है, जिससे सिद्ध होता है कि, परब्रह्म ही वेदका मूल कारण है।

(२) आविर्भावक्रम।

प्रथम आविर्भाव—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।" "यस्य निश्वसितं वेदाः।" "अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टाऽशरीरिणा"।

वेदका सर्व-प्रथम आविर्भाव ब्रह्माजीसे हुआ है। यही बात 'वेद' शब्दसे भी निकलती है; क्योंकि वेद शब्द 'वे', 'उ', 'द' के संयोगसे भी हो सकता है। 'उ' ब्रह्माका नाम है और 'द' वाग् बीजका विकृत रूप है। अतः सामीप्यसे वेद माता सावित्री (ब्रह्माकी स्त्री) का बोधन कराता है। तब वेद शब्दका अर्थ हुआ (दाता इति दौ उश्च दश्च दौ आविर्भावकौ यस्य सः), जिसके ब्रह्मा और सावित्री आविर्भावक हैं, वह। यद्यपि सावित्रीसे वेदकी उत्पत्तिका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि वह पति-पत्नीके ऐक्यके कारण वेदमाता कहलाती हैं।

द्वितीय आविर्भाव—"त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेदोऽग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् तान् वेदानभ्यतपत्"। त्रयीकी द्वितीय आविर्भूति क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्यसे हुई है। इसी बातको वेद शब्द भी कहता है। वेद पदसे 'वा', 'अ', 'आ', 'ई' और 'द' शब्द अनायास निकल सकते हैं। 'वा' वायुका, 'अ' अग्निका और 'आ' आदित्यका आदि अक्षर हैं, अतः नामैकदेश होनेसे ये क्रमशः वायु, अग्नि और आदित्यके बोधक हैं। लोकमें सत्यभामाको भामा और सत्या भी कहते हैं। 'ईद' समस्तपद है। 'द' का अर्थ (ददातीति दः) 'देनेवाला' है और 'ई' का अर्थ "लक्ष्मी अर्थात् सम्पत्ति" है। तब सारे 'वेद' शब्दका अर्थ हुआ, "अग्नि, वायु और आदित्यने जिसको सम्पत्ति बढ़ायी है।" पहले ब्रह्माने ही वेद प्राप्त किया; तत्पश्चात् उक्त तीन देवताओंसे अपनाये जानेके कारण वेदकी महत्ता और सुषमाकी अभिवृद्धि हुई।

(३) विभाग।

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"।

वेदके विषय अथवा कर्मके भेदसे मुख्य दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। यह विभाग भी वेद शब्दसे होते हैं। वेद शब्दके भी दो विभाग हैं। प्रथम विभाग 'वे' केवल एक स्वर-समुदाय है अर्थात् 'उ', 'आ', 'ई' मिलकर 'वे' बन जाते हैं। स्वर-व्यञ्जनोंको स्पष्ट उच्चारणकी योग्यता प्रदान करते हैं। अतः उच्चारण-योग्यता प्रदान करनेवाले अनेक स्वरोंसे निर्मित 'वे' शब्द उच्चारण मात्रसे कृत-कृत्य होनेवाले मन्त्रभागकी ओर संकेत करता है। वेदके दूसरे विभाग 'द' की उत्पत्ति 'दा' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ दान-क्रिया है। दान आदि क्रियाका साक्षात् सम्बन्ध ब्राह्मण भागसे ही है, क्योंकि ब्राह्मण भाग ही क्रियाप्रवर्त्तक विधि-वाक्योंकी विहार-स्थली है। अतएव "कर्म-चोदना ब्राह्मणानि",

यह आपस्तम्बोक्त ब्राह्मणोंका लक्षण उनमें संगत होता है। सुतरां 'द' खण्डसे ब्राह्मण-भागकी सूचना मिलती है।

मन्त्र-भागके भी ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके भेदसे चार भाग हैं। इनका बोध भी वेद शब्दसे हो जाता है। वेदमें 'व,' 'ई,' 'द' तीन पद हैं, जो क्रमशः 'वाणी', 'लक्ष्मी' (शोभा) और 'देनेवाला' के बोधक हैं। तीनोंके समाससे अर्थ निकलेगा, जो वाणी [[illegible]न] की शोभा प्रदान करता है। वाणीकी शोभा गद्यसे नहीं होती, किन्तु पद्यसे होती है। केवल पद्य-स्वरूप ऋग्वेद ही है। यद्यपि पद्य और वेदोंमें भी मिलते हैं; किन्तु वे प्रायः ऋग्वेदसे ही लिये गये हैं। अतः मुख्यतः पद्यरूपता ऋग्वेदकी ही है। इसलिये इस प्रसङ्गमें वेद शब्द ऋग्वेदका ही बोधक होता है। वेदसे 'व', 'इ', 'द' पद भी निकल सकते हैं, जिनका अर्थ क्रमशः 'अमृत' [जल], 'इच्छा' और छेदन है। उक्त तीनों शब्दोंके संयोजनसे [वम् अमृतं जलम् इः कामो यस्याः सा ओषधिः तस्याः दः छेदनं यत्र सः] "जलाभिलाषिणी ओषधिका छेदन जहाँ है, वह" अर्थ निकलेगा। औषधिके काटनेकी चर्चा यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रमें है। अतः यहाँ वेद शब्द यजुर्वेदपरक हुआ। 'वेद' ['व' 'ई', 'द') शब्दका [वः अमृतं सोमः एव ई लक्ष्मीः धनं तस्याः दः दाता] 'सोम-रूपी धनका देनेवाला' अर्थ भी होता है। पितरोंकी सोम-सम्पत्ति सामवेदके पाठसे होती है—"यत्सामानि सोम एभ्यः पवते"। अतः वेद शब्द इस प्रकार सामवेदका बोधक है। वेद शब्दको 'व,' 'ई,' 'द' में विभक्त करनेसे [वस्य बलिनः याः लक्ष्म्याः दः दाता) "बलवान्को ऐश्वर्य [बल या विजय] देनेवाला,"—यह अर्थ निकलता है। बलके विना विजय नहीं हो सकती और बल स्वास्थ्यके विना नहीं हो सकता। स्वास्थ्य, बल और शत्रु-विजयके मुख्य साधन आथर्वण मन्त्र हैं। अतः यहाँ वेद शब्द अथर्ववेदका बोधक होता है।

(४) उपकार्य।

वेदका भूलोकमें अवतार किसी सम्प्रदाय-विशेषके लिये ही नहीं है, किन्तु वेद सभी सम्प्रदायोंकी सम्पत्ति है। इसका भी सङ्केत वेद शब्दमें है—

शैव—वेद ('व', 'इ', 'द') शब्दका अर्थ (वे पर्वते इः अभिलाषी यस्य सः शिवः स चासौ दश्च) "पर्वतवासी दानशील देव" अर्थात् शिव होता है और शिव शैवोंका उपास्य ठहरा। अतः शिव-बोधक वेदमें उनका स्नेह होना सहज है।

सौर—वेद ('व', 'ई', 'द') का अर्थ (वानाम् बलिनाम् याः लक्ष्म्याः दः दाता) "बलवानोंकी सम्पत्ति (बल) का देनेवाला देव" अर्थ होता है। बिना स्वास्थ्यके बल कभी नहीं हो सकता और स्वास्थ्यका देनेवाला भगवान् सूर्य है, अतः वेद शब्द सूर्यदेवका बोधक भी है। सुतरां सूर्यकी महिमाका गान करनेवाली श्रुतिमें सौर सम्प्रदायकी प्रीति प्रकृतिसिद्ध है।

शाक्त—वेद ('व', 'ई', 'द',) का (वस्य पर्वतस्य ईः लक्ष्मीः ऐश्वर्य्यजननीत्यर्थः सा-पार्वती दा दात्री यत्र) का अर्थ "पर्वत (हिमालय)का महत्त्व बढ़ानेवाली दानशीला पार्वतीका जिसमें वर्णन है", यह भी होता है। इस अर्थके अनुसार वेद शब्द शक्तिका भी वाचक हो जाता है। अतः शक्ति-सामर्थ्य-सूचक वेदमें शाक्तोंकी भक्ति-भावना स्वाभाविक है।

वैष्णव—वेद ('व', 'इ', 'द') पदका (वस्य राहोः इम् पीयूषपानस्याभिलाषं द्यति खण्डयति) अर्थ "राहुके अमृतपानाभिलाषका खण्डन करनेवाला अर्थात् विष्णु" होता है; जिससे कि, वैष्णव सम्प्रदायकी वैदिकताका परिचय मिलता है। इसलिये श्रुतिका

वैष्णवोंका प्रीति-पात्री होना आश्चर्यजनक नहीं है।

गाणपत्य—वेद ('व', 'ई', 'द' शब्दका अर्थ वः मङ्गलम् ई लक्ष्मी तयोर्दः दाता) "मंगल और सम्पत्तिका देनेवाला देव अर्थात् गणेश" भी होता है। इससे गणेशोपासनाकी श्रुतिमूलकता सिद्ध होती हैं और इसी कारण गणपतिके भक्तोंकी, श्रुतिके चरणोंमें, भक्ति क्यों न होगी ?

(५) फल।

भगवती श्रुतिकी सपर्य्याके मुख्य चार फल हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। उन चारों फलोंका उल्लेख भी वेद शब्दके गम्भीर उदरमें ढूंढ़नेसे मिल सकता है। वेद शब्दको 'व', 'ई', 'इ', 'द' खण्डोंमें विभक्त कर सकते हैं। 'व' अमृत-वाचक शब्द है। मरणका अभाव रक्षापर निर्भर है और रक्षा केवल धर्मसे ही होती है—"धर्मो रक्षति रक्षितः।" अतः 'व' खण्ड धर्म नामक प्रथम पुरुषार्थकी ओर इङ्गित करता है। लक्ष्मीवाचक 'ई' शब्दसे द्वितीय पुरुषार्थ 'अर्थ' का बोध होता है। 'इ' साक्षात् काम तृतीय पुरुषार्थ का नाम है और 'द' जिसका अर्थ "भव-नाशक" (द्यति खण्डयति संसारम्) होता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्षकी ओर संकेत करता है।

उक्त प्रकारसे वेद शब्दके असंख्य अर्थ हो सकते हैं, जिनके उल्लेखसे वेदका ही नहीं, वरन् सारे ब्रह्माण्डका पूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। मैं वेदके कतिपय अन्य अंशोंपर भी प्रकाश डालता, यदि कार्य-व्यग्रता-पिशाची कुछ कालके लिये भी मेरा पिण्ड छोड़ देती। किन्तु ऐसा सौभाग्य मुझे नहीं मिल सका और इसी कारण मैं भगवान् "वेदाङ्क" के चरण-पङ्कजोंमें इससे उदार और उत्तम उपहार नहीं समर्पण कर सका।

वेदांकके लेखक

डा० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल०

आपने वेदोंका गम्भीर परिशीलन किया है। आप ऋग्वेद-प्रातिशाख्यपर एक ग्रन्थ भी लिख चुके हैं। आपका वैदिक साहित्यका ज्ञान अत्यन्त उच्च है।

प० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०

आप त्यागी और तपस्वी वेदाभ्यासी हैं। आप वैदिक साहित्यपर बहुत कुछ लिख चुके हैं और आजकल एक उच्च कोटिका वैदिक कोश लिख रहे हैं।

प० ईश्वरीदत्त दौर्गादत्ति शास्त्री एम० ए०

आप संस्कृत-भाषाके उच्च कोटिके विद्वान् और चिन्ताशील लेखक हैं।

साहित्याचार्य प० विश्वेश्वरनाथ रेउ

आप पुरातत्त्व-विज्ञानके प्रसिद्ध विद्वान् हैं। हिन्दीके नामी लेखक और कई ऐतिहासिक ग्रन्थोंके प्रणेता हैं।

प० रामनारायण मिश्र बी० ए०

आप वेद-धर्मके परम भक्त, स्वाधीनचेता विद्वान् और हिन्दीके सच्चे उपासक हैं।
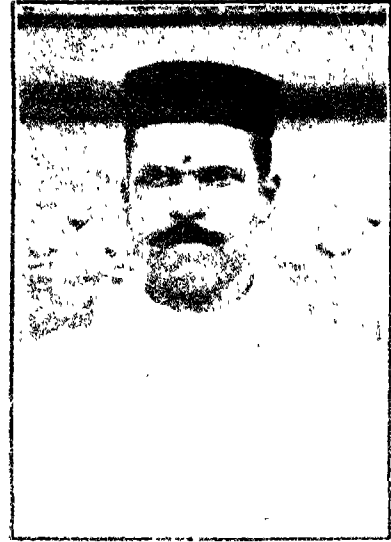
साहित्याचार्य प० बलदेव उपाध्याय एम० ए०

आप संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि कई भाषाओंके लेखक और विद्वान हैं। आप वैदिक साहित्यका निरन्तर परिशीलन करते हैं।

मुन्शी महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल

आप अरबी और फारसीके भारत-प्रसिद्ध विद्वान् और वेदोंके बड़े भक्त हैं।

चतुर्वेदोपाध्याय प० कालीचरण झा

आपका अधिकांश समय वेदाध्ययनमें ही जाता है। आप यजुर्वेदका भाष्य लिख रहे हैं। मैथिल ब्राह्मणोंमें आपके समान गिने-चुने वेदज्ञ हैं।

वेदमाता गायत्री

प्रज्ञाचक्षु प० धनराज शास्त्री

(तेकडाकमभारी, दुधार, बस्ती)

"क्वाहं मन्दर, क्वेदं मन्थनं क्षीरवारिधेः।
किं तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति मन्दरः॥"

वैदिक साहित्य अत्यन्त गहन है। इसके ऊपर सहसा प्रकाश डालना तो और भी कठिन व्यापार है।

जो वस्तु यहाँ दीखती है, वह किसी कर्त्ताके द्वारा उत्पादित है; अतः वेद भी कर्त्ताके विचार-यंत्रमें स्थित है।

जो त्रितयसे उत्पन्न है और जिसमें त्रितय-क्रम विद्यमान है, वही त्रिभुवन है। जो देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, जहाँ शब्दादिकी पहुँच नहीं, जिसके लिये यत् शब्दका प्रयोग अवाच्य है, जो अनुभवनीय एक सत्त्वविशेष है, उसका स्वभाव मायोपहित प्रकाश-स्वरूप है। उससे ज्ञान, इच्छा और क्रिया उत्पन्न होती है।

ज्ञानकी अन्तर्वर्तिनी इच्छा और इच्छाकी अन्तर्वर्तिनी क्रिया है; और, इन तीनोंका समूहवाचक शब्द 'ओं' है। 'ओं'का दूसरा नाम प्रणव भी है।

गायत्री स्वयंभूता सार्वभौम इच्छाकी वाचिका है और विशेष स्वभाव प्राप्त करानेवाली समस्त क्रियामात्रकी वाचिका व्याहृति "भूर्भुवः स्वः" है। क्रिया इच्छा-वेष्टित रहती है; अतः गायत्री भी व्याहृति-वेष्टित है।

तत् शब्द प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले सविता देवताका निरूपण करता है। सवितामें क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, स्वप्न, स्तुति, मोद, मद, कान्ति, गमन, ज्ञान, प्रापण और मोचन आदि व्यापार स्वाभाविक रूपसे विद्यमान हैं। जिसका वचन-गोचर तेज उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता हुआ सबकी बुद्धिका प्रेरक है यानी बाह्य वृत्तिसे खींचकर बुद्धिको अपनी ओर कर लेता है, वही सबका ध्येय है। ध्येयकी प्राप्ति जबतक लोगोंको नहीं होती है, तबतक वह संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

ब्रह्मवादी वेदान्तके ये चार महावाक्य हैं—"अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।" यहाँ यह ज्ञात होता है कि, वह सविता देवता ब्रह्म है और उसीका वरणीय तेज एतत् है। "वरेण्यं भर्गः" इस पदसे तत्त्वमसि महावाक्य बनता है। "धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"—जो सबकी धीका प्रेरक है, वही ध्येय है, सबका लक्ष्य है। वह सात्त्विक ज्ञान अनन्त ब्रह्म है। ये चारो महावाक्य गायत्रीसे उत्पन्न हुए हैं और एक-एक महावाक्यका एक-एक वेदसे लगाव है।

"अहं ब्रह्मास्मि"—इसमें ऋग्वेदके अर्थ सन्निहित हैं। यह केवल ज्ञानमात्रका निरूपण करता है। ऋग्वेदके निरूपित वस्तु-उत्पत्ति, देश-काल-संख्या ज्ञान, वस्तुओंका सन्निधान-दूरीकरण, संयोग-वियोग, उत्क्षेपण-आक्षेपण आदि विषय इसके अर्थ हैं। इसीसे अर्थवेद[उपवेद] अर्थात् सम्पत्ति-शास्त्र भी बना है।

"तत्त्वमसि" क्रिया-विधायक, कर्मविज्ञापक यजुर्वेद है। इसमें क्रिया-प्रतिक्रिया, वस्तुओंकी उत्पत्ति, पालन-प्रयोग, अनुयोग, संयोग-वियोग, एक दूसरेका वजन, समर्पण, समरक्षण, प्रणाम, आशीर्वचन आदि विधेय हैं। इसके धनुर्वेद [उपवेद]में अस्त्र-शस्त्रकला, परमाणुओंका आक-

र्षण-विकर्षण आदि हैं। शिल्पसम्बन्धी सारी बातें भी इसमें वर्णित हैं। इस वेदके शुक्ल-कृष्ण नामक दो भेद हैं। कृष्णमें तम-उद्भूत पदार्थोंका उल्लेख है और शुक्लमें प्रकाशोद्भूत पदार्थोंका वर्णन है। धातु-सृष्टि और वनस्पति-सृष्टिका भी इसमें वर्णन है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—यह महावाक्य इच्छाका वाचक है। इसका मूल "धीमहि धियः" है। इससे सामवेद उत्पन्न है। इसका ध्येय तत्त्व भक्ति है। यह उपासनाका मूल है। इसमें स्वयम्भूता इच्छा समस्त प्रमितीकरण विधय है। माया, योगमाया आदि त्रिधा शक्तिका निरूपण है। कब किस स्वरके उच्चारणसे किस वस्तुका स्थानान्तर होता है और स्थान, प्रस्थान, प्रसव, द्रवण, स्मरण, अनुस्मरण, प्रति-स्मरण, एकत्रीकरण, विलोम, प्रतिलोम, अनुलोम, औरस, अनौरस, नदी, पर्वत, स्थल, शून्य, अशून्य, जाग्रत, स्वप्न, ज्ञान, प्रतिभा, भ्रम आदिका अवस्थान विधेय है। इसका उपवेद गान्धर्व है। इसमें प्रकृति-प्रयोजनकी व्याख्या भी पूर्ण-रूपसे की गयी है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन"—यह चतुर्थ महावाक्य ज्ञान, इच्छा और क्रियाका समाहार-वाचक है। इसका मूल "वरेण्यं भर्गः" है। इससे अथर्ववेदकी संभूति हुई है। इसमें काल, देश, वस्तुका परिणाम है और उनका सप्रयोजन एकत्व-निरूपण है। इच्छासे प्रति वस्तुका देश-काल नियत है। इसमें कौन-से और कितने जीव, किन कारणोंसे, कब लोकान्तरमें निविष्ट-प्रविष्ट हुआ करते हैं और कब किस प्रकारकी सम्बन्धाभ्युपहित उपाधि पाते हैं, किस प्रकारके जीवोंका, किन कारणोंसे, कब योन्यभिनयन-प्रणयन हुआ करता है, कितने प्रकारके जीव प्रकृतिके अनुरोधसे चलते हैं आदि विषयोंका यथाक्रम वर्णन है। इसका आयुर्वेद उपवेद है। इसमें इसका परमाणु-लक्षण आधिभौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक विकृति, ज्ञान और उसका पूर्ती करण विधेय है। इससे तीन भेद बनते हैं; ज्योतिःशास्त्र, कल्पशास्त्र और वैद्यकशास्त्र। ज्यौतिषसे काल-ज्ञान होता है। कल्पमें सात्त्विक, राजस, तामस कर्मोंका अधिष्ठातृ-देवता, प्रत्यधि-देवता, प्रेरक, नियोजक आदि सबका अध्य-वसाय निरूपित है। आयुःशास्त्रमें परमाणु, ज्ञान, विकृति, निदान, निःश्वास, प्रश्वास आदिका परिज्ञान है। औषधोंका भी विषय विशद-रूपसे वर्णित है। अथर्ववेदमें बहुत बातें हैं। वास्तवमें यह कलाओंका कारण-वारिधि है।

वेदोंमें विमान

डा० बालकृष्ण एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ई० एस०
(प्रिन्सिपल, राजाराम कालेज, कोल्हापुर)

यूरोपीय विद्वानोंके मतानुसार वेदोंमें उच्च सभ्यताके नमूने नहीं हो सकते। "ह्रास-वादके अनुसार वेद एक प्राचीन और प्राथमिक मनुष्योंके गीत ही हो सकते हैं। वस्तुतः विकास-वादके सिद्धान्तको सत्य मानकर ही वेद-विषयक ऐसी अटकल लगायी जाती है। मेरे विचारमे तो वेद इनके विकास-वादकी सत्यतापर ही कुठाराघात करते हैं। इसका एक प्रमाण वेदोंमें विमानोंका वर्णन होना है। यदि वैदिक युगमे विमान बनाये जाते थे, तो उस कालकी सभ्यता अवश्यमेव उच्च होनी चाहिये। निम्न प्रमाणोंसे पाठक स्वयं निश्चित कर सकते हैं कि, वेदमें "उड़नखटोलियों"का वर्णन है, कवियोंकी कपोल—कल्पनाका चित्र है अथवा सच्चे विमानोंका वर्णन।

ग्रिफिथने ऋग्वेदके चौथे मण्डलके ३६ वें सूक्तकी इस बुरी तरह हत्या की है कि, वह बोधगम्य ही नहीं रहा है! यदि सायणके भाष्यसे काम लिया गया होता, तो इस विवादग्रस्त प्रश्नपर अवश्य प्रकाश पड़ता। जो हो, इस सूक्तके निम्न लिखित मन्त्रोंके अर्थसे सरलता-पूर्वक निर्धारित किया जा सकता है कि, जिस वायुयानके विषयमें वर्णन मिलता है, वह काल्पनिक है या वास्तविक। मैंने सायणके अनुवादको ही अपनाया है।

"हे रेभव! तुमने जो रथ निर्माण किया, उसमें न तो अस्त्रोंकी आवश्यकता है और न धुरीकी। यह तीन पहियोंका प्रशंसनीय रथ वायु-मण्डलमें विचरण करता है। तुम्हारा यह आविष्कार महान् है। इसने तुम्हारी तेजोमयी शक्तियोंको पूज्य बनाया है। तुमने इस कार्यमें स्वर्ग एवं मर्त्यलोक, दोनोंको दृढ़ एवं धनी बनाया है।"

(४।३६ का प्रथम मन्त्र)

"प्रखरबुद्धि रेभवने ऐसे सुन्दर घूमनेवाले रथका निर्माण किया, जो कभी गलती नहीं करता। हम इन्हें अपना सोम-रस पान करनेके लिये आमन्त्रित करते हैं।"

(द्वितीय मन्त्र)

"हे रेभव! तुम्हारी महत्ताका लोहा बुद्धिमानोंने मान लिया है।" (तृतीय मन्त्र)

"जिस रथका विभवनने निर्माण किया, तुम जिसकी रक्षा या प्यार करते हो, उस रथको मानव-समाजमें प्रशंसा है।" (पञ्चम मन्त्र)

ऋभुओं द्वारा निर्मित रथ एक ऐसा अभूतपूर्व आविष्कार था कि, उसकी प्रशंसा जन-साधारण एवं विद्वान्, दोनों द्वारा होती थी। इस रथने संसारमें एक सनसनी फैला दी थी।

इस वायुयानसे किसी प्रकारका शोर-गुल या आवाज नहीं होती थी। यह ठिकानेसे वायु-मण्डलमें विचरण करता था और इधर-उधर न जाकर सीधे अपने गन्तव्य स्थानको जाता था। यह सूक्त इतना सीधा और साफ है कि, वायुयानके अस्तित्वमें सन्देह करनेको कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती है।

"यह रथ बिना अश्वके संचालित होता था।" (ऋ० १।११२।१२ और १०।१२०।१०) यह स्वर्णरथ त्रिकोण एवं त्रिस्तम्भ था।

ऋभुओंने एक ऐसे रथका निर्माण किया था, जो "सर्वत्र जा सकता था" (ऋ० १।२०।३; १०।३९।१२; १।९२।२८ और १२९।४; ५।७५।३ और ७७।३; ८५।२९; १।३४।१२ और ४७।२;

१।३४।२ और ११८।१—२ तथा १५७।३),

कुछ और मंत्र देखिये—

"हे धनदाता अश्विनो ! तुम्हारा गरुड़वत् वेगवान् दिव्य रथ हमारे पास आवे। यह मानव बुद्धिसे भी तेज है। इसमें तीन स्तम्भ लगे हैं, तो भी इसकी गति वायुवत् है (ऋ० १।४७।२)।" "तुम अपने त्रिवर्ण, त्रिकोण दृढ़ रथपर मेरे पास आओ।" (ऋ० १।११८।२)

"अश्विनो ! तुम्हें तुम्हारा शीघ्रतासे घूमनेवाला विचरणशील यन्त्र-युक्त गरुड़वत् रथ यहाँ ले आवे" (ऋ०१।११८।४)

यहाँ विल्सन तथा कुछ दूसरोंने अश्वों द्वारा संचालित पतंग अर्थ किया है, विमान नहीं; किन्तु इन उदाहरणोंसे यह अर्थ नहीं निकलता है। कमसे कम यह तो साफ वर्णित है कि, अश्विनोंका रथ यन्त्र-कलासे निर्मित किया गया था और उसे संचालनार्थ अश्व नहीं लगे थे (ऋ० १।११२।१२ और १।१२०।१० देखिये) एक दूसरे स्थानमें सर्वत्र विचरणशील सुन्दर रथका वर्णन है (ऋ० १।२०।३)।

"ऋभुओ ! तुम उस रथसे आओ, जो बुद्धिसे भी तेज है, जिसे अश्विनोंने तुम्हारे लिये निर्माण किया है" (ऋ० १०।३९।१२)।

"तुम्हारा रथ स्वर्णाच्छादित है। इसमें सुन्दर रंग है। वह बुद्धिसे भी तेज एवं वायुके समान वेगवाली है" (ऋ० ५।७७।३)। "अश्विनो ! अपने त्रिकोण त्रिस्तम्भ रथके साथ आओ" (ऋ० १।४७।२)।

ऋग्वेदमें वायु तथा समुद्रवाले दोनों रथोंका साफ-साफ वर्णन है। (ऋ० १।१८२।५)।

"तुमने तुग्र-पुत्रोंके लिये महासागर पार करनेके निमित्त जीवनसंयुक्त उड़ते जहाजका निर्माण किया, जिसके द्वारा तुमने तुग्र-पुत्र भुज्युका उद्धार किया और आकाशसे उतरकर विशाल जल-राशिको पार करनेके हेतु रथ तैयार किया।"

इसी प्रकार यजुर्वेदमें भी वायुयान-यात्राका बड़ा ही मनोहर वर्णन है लिखा है—

"आकाशके मध्य यह विमानके समान विद्यमान है। द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष, तीनों लोकोंमें इसकी बेरोक गति है। सम्पूर्ण विश्वमें गमन करनेवाला और मेघोंके ऊपर भी चलनेवाला, वह विमानाधिपति इहलोक तथा परलोकके मध्यमें सब ओरसे प्रकाश देखता है।" (वाजसनेय संहिता १७।५९)

ऋग्वेद और यजुर्वेदके मंत्रोंसे ही इस लेखमें विमानोंकी विद्यमानताके प्रमाण मैंने दिये हैं। अथर्ववेदमें भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं; परन्तु लेखके बढ़नेके भयसे वे यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि, वैदिक सभ्यताके इस नमूनेपर पाठक विचार करेंगे।

वेद और विज्ञान

श्रीयुत गङ्गाप्रसाद एम० ए०

(चीफ जज, रियासत टेहरी, गढ़वाल)

इतिहाससे मालूम होता है कि, यूरोपमें धर्म्म और विज्ञान (Science) के बीच सेकड़ों वर्षोतक घोर संग्राम होता रहा। इसका कारण यह था कि, ईसाई मतमें बहुत-सी बातें विज्ञानके विरुद्ध हैं। इसलिये जब विज्ञानकी उन्नतिका आरम्भ हुआ, तब पादरियोंको भय हुआ और उन्होंने अपने धर्म्मकी रक्षाके लिये नाना कार्य किये। विज्ञानवादियोंको अनेक प्रकारके कष्ट दिये गये। संवत् १४८१ में उनका दमन करनेके लिये एक विशेष अदालत, Court of inquisition नामसे, स्थापित हुई, जिसमें ऐसे विज्ञानवादियों (Scientists) पर, जो ईसाई मतके विरुद्ध विज्ञानके किसी सिद्धान्तका प्रचार करते हों, अभियोग चलाये जाते थे, अनेक कष्ट और यन्त्रणाएँ देकर उनसे यह कहलाया जाता था कि, जिस सिद्धान्तका वह प्रचार करते हैं, वह झूठा है। जो ऐसा कहना स्वीकार नहीं करते थे, उनको कठिन कारागारमें डाल दिया जाता था; बहुतोंको तो जीते ही जला दिया जाता था। उक्त अदालतकी आज्ञासे प्रथम ही वर्षमें २००० विद्वान् जलाये गये ! तारकी माडा नामक मनुष्य (जो १८ वर्षतक उक्त अदालतका अध्यक्ष रहा) के समयमें १०२२० मनुष्य जीते जलाये गये और ८७३२१ को अन्य प्रकारके दण्ड दिये गये ! दूरदर्शक यन्त्र (Telescope) के आविष्कर्ता प्रसिद्ध गैलेलियोको केवल इसलिये कारागारमें डाला गया कि, वह पृथ्वीका भ्रमण करना बताता था ! ब्रूनोको इसलिये जीता जलाया गया कि, वह सृष्टिमें, पृथ्वीकी तरह, अनेक लोक-लोकान्तर बतलाता था ! परन्तु अन्तमें सत्यकी ही जय होती है। घोर यन्त्रणा और अमानुषिक अत्याचारोंसे भी पादरी लोग विज्ञानकी उन्नतिको नहीं रोक सके। पादरियोंकी हार हुई और विज्ञानकी जय। ईसाइयोंने हारकर ऐसी बहुत-सी बातोंको मान लिया, जो पहले ईसाई मतके विरुद्ध समझी जाती थीं।

प्राचीन भारतवर्षमें धर्म्म और विज्ञानके बीच कभी संग्राम या विरोध नहीं हुआ। हमारे धर्म्मका आदि मूल वेद है। वेद शब्द "विद् ज्ञाने" धातुसे बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है। जब वेद और विज्ञान समानार्थक शब्द हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीने वेदोंको सब विद्याओंका मूल माना है; और, उन्होंने अपनी "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में अनेक वेद-मन्त्र इस बातको दिखानेके लिये दिये हैं कि, वेदोंमें भौतिक विज्ञान आदि सब विद्याओंके बीज पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इसको आर्य्यसमाज वा स्वामी दयानन्द सरस्वतीजीकी निरी कल्पना समझते हैं; परन्तु यह भारी भूल है। प्राचीन समयसे वेदोंके विषयमें यही मत चला आ रहा है। शतपथ-ब्राह्मण (१०।४।२।२१-२२) में लिखा है, 'प्रजापति परमेश्वरने सृष्टिको देखकर कहा, 'सब पदार्थ त्रयी विद्या अर्थात् वेदके अन्तर्गत हैं। मैं त्रयी विद्यासे ही आत्माका शोधन करूँ (अर्थात् आत्माओंका कल्याण करूँ)।' तैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है— 'परमेश्वरने सब पदार्थोंको देखा, उसने सब पदार्थोंको

त्रयी विद्यामें ही पाया। इसीमें सब छन्दः, स्तुति, प्राण और ज्ञानका बीज है। यही एकमात्र पदार्थ है। यही अमृत है। जो अमृत है, वही एकमात्र है और यही मर्त्य (जीवन कालका उपयोगी) है।' मनुस्मृतिमें भी कहा गया है—

'चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, जो कुछ है, हुआ, होगा, सब वेदोंसे जाना जाता है।' रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, यह पाँचो भूत अपनी उत्पत्ति, गुण और कर्मके विचारसे, वेदोंसे ही जाने जाते हैं।' इसकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि, प्राचीन समयमें जितनी विद्याएँ प्रचलित थीं, लगभग सब वेदोंके उपवेद, वेदाङ्ग और उपाङ्गके अन्तर्गत मानी जाती थीं। उपवेद इस प्रकार है (१) आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा शास्त्र—Sciences of Medicine, Surgery, Hygene, Chemistry, Physiology, Anatomy etc. (२) अर्थवेद अर्थात शिल्प-शास्त्र—Sciences of Mechanics, and Technology. (३) गान्धर्ववेद अर्थात् गायन-वाद्य-नाट्य-शास्त्र—Science of Music, including dancing, drama etc. (४) धनुर्वेद अर्थात अस्त्र-शस्त्र-विद्या—Military Sciences.

६ वेदाङ्ग इस प्रकार हैं— (१) शिक्षा—Science of Phonetics and Orthoepy, (२) व्याकरण—Grammar, (३) छन्दःशास्त्र—Prosody, (४) ज्योतिःशास्त्र—Astronomy, (५) निघण्टु अर्थात् वैदिक-कोष—Philology, and Lexicon और (६) कल्प—जिसमें धर्मसूत्र अर्थात् प्रजाशासन-सम्बन्धी नियम, श्रौतसूत्र अर्थात् वैदिक-कर्म, गृह्यसूत्र अर्थात् गृहस्थ-कर्म और शुल्वसूत्र अर्थात् यज्ञोंके लिये वेदी बनानेके रेखागणित-सम्बन्धी नियम आदि हैं।

वेदोंके ६ उपाङ्ग ये हैं—(१) सांख्य, (२) योग, (३) वैशेषिक, (४) न्याय, (५) पूर्वमीमांसा और (६) वेदान्त, जिनको, षड्दर्शन भी कहते हैं। इनमें तर्क-विज्ञान (Logic), मनोविज्ञान (Metaphysic), आत्म-विज्ञान (Psychology, Ethics) और पदार्थ-विज्ञान (Physics) हैं।

इससे स्पष्ट है कि, विज्ञान और सकल विद्याएँ बीज-रूपसे वेदोंके अन्तर्गत मानी गयी हैं। इसलिये वेद और विज्ञानमें विरोध होनेकी सम्भावना ही नहीं हो सकती।

वेद और विज्ञान

साहित्याचार्य प० कालीचरण झा चतुर्वेदोपाध्याय

(जिला स्कूल, पुर्निया)

"विज्ञान" शब्दसे परिचित व्यक्तिको वैदिक साहित्यके सिंहावलोकनसे अच्छी तरह मालूम हो सकता है कि, वेद, वैज्ञानिक विषयोंसे उसी प्रकार परिपूर्ण है, जिस प्रकार समुद्र रत्नोंसे। जिस प्रकार समुद्र-स्थित अमूल्य रत्नोंको गम्भीर गवेषक अपने असीम अध्यवसायसे निकाल लेते हैं, उसी प्रकार वेद-समुद्रसे वैदिक ऋषिगण वैदिक विज्ञान-रत्नोंको निकाल लेते थे। जिस प्रकार देवताओंने समुद्र मन्थनकर चन्द्रमा, लक्ष्मी, अमृत आदि निकाले, उसी प्रकार प्राचीन आर्य ऋषियोंने वेद-समुद्र मन्थन कर आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान निकाले।

"वेद" शब्दका अर्थ भी "विज्ञान" ही है। वह विज्ञान भी ऐसा-वैसा नहीं, ईश्वरीय विज्ञान! वह विज्ञान, ऐसा अलौकिक विज्ञान है, जिसमें प्रायः सब विषयोंका विज्ञान-रहस्य निहित है। वस्तुतः वैदिक साहित्य विज्ञानमय है। वैदिक ऋचाओंकी तो बात ही क्या, प्रत्येक वैदिक शब्दमें वैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है।

चार रहनेपर भी वेदका इसलिये "त्रयी" नाम पड़ा कि, वैज्ञानिक संसारके मूलभूत अग्नि, वायु तथा सूर्य-सम्बन्धी पूर्ण विज्ञान इसमें बतलाया गया है। पहले पहल वेदको देखकर वास्तविक अर्थसे अनभिज्ञ पाश्चात्य पण्डितोंने तो यह भी कह डाला कि, वेदमें तो अधिकाधिक मन्त्र अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक विषयोंके ही हैं! इन तीनों शक्तियोंमेंसे एक-एक शक्तिके विषयको प्रधान रखकर एक-एक वेदका आरम्भ किया गया है—

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः"

यहाँ यह भी कह देना अनुचित नहीं कि, उक्त वाक्यका अथवा इस भावके वाक्योंका जैसा ऊटपटाङ्ग अर्थ किया जाता है, इससे सर्वसाधारण व्यक्ति बड़े ही सन्देह-जालमें फँस जाते हैं।

अग्नि, वायु और सूर्य-रूपी शक्ति-त्रयमेंसे एक-एक शक्तिका प्रधानतः एक-एक वेदमें वर्णन रहनेपर भी कार्य-भेदसे उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्यान्य देवताओं (शक्तियों) का भी वर्णन कर दिया गया है अर्थात् जिन शक्तियोंके साथ प्रधान शक्तिको वैज्ञानिक बातें सिद्ध होतीं, उन शक्तियोंका भी उस प्रधान शक्तिके साथ वर्णन किया गया है, जिसका उदाहरण हम आगे देंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि, जो कोई वेदमें पुनरुक्ति-दोष देते हैं, उन्हें इन बातोंपर ध्यान देना उचित है। साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि, वेदमें सर्वत्र यौगिक शब्द ही भरे पड़े हैं। एक जगह, जो एक शब्द कहा गया है, वही शब्द दूसरी जगह, दूसरे अर्थमें, प्रयुक्त किया गया है; जैसे "इन्द्र" शब्द। "इन्द्र" का अर्थ कहीं सूर्य, कहीं वायु, कहीं आत्मा आदि किया गया है।

सर्वसाधारणमें सबसे प्रसिद्ध "ऋषि" शब्द ही है। किन्तु "ऋषि" शब्दका प्रयोग वेदमें प्राणोंके अर्थमें भी किया गया है। "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।" (यजुर्वेद, अ० ३४, म० ५५)

यहाँ शरीरमें ऋषियोंका निवास बतलाया गया है। इस मन्त्रमें जैसे ऋषि शब्दका लोक-प्रसिद्ध "ऋषि" अर्थ करना

अनर्थ-कारक है, वैसे ही "सत्र" शब्दका लोकप्रसिद्ध "यज्ञ" अर्थ करना भी असंगत और अनर्थ-कारक है।

एक-आध उदाहरण और लीजिये। "मित्र" का अर्थ सामान्यतः सूर्य है। किन्तु जब वह "वरुण" नामक शक्तिके साथ व्यवहृत होता है, तब उसका अर्थ वह शक्ति है, जिसके मिश्रण या सहायतासे जल बनता है। वेदमें जहाँ "मित्र" और "वरुण" का एक जगह (एक मंत्रमें) "मित्रा-वरुण" करके उल्लेख देखा जाता है, वहाँ विशेषतः जल-निर्माण आदि किसी न किसी रूपमें जल-विषयक वर्णन ही पाया जाता है।※

"मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताची साधन्ता।" (ऋग्वेद १।२।७) इस मंत्रमें भी "घृताची साधन्ता" से स्पष्टतासे "जल-निर्माता" बतलाया गया है। यहाँ भी "घृत" शब्द यौगिक है, जिसका अर्थ जल है। अब यह देखा चाहिये कि, उपर्युक्त तीनों देवताओंके विषयमें वेदका विचार (विज्ञान) क्या है। हम यहाँ संक्षेपसे उसका दिग्दर्शनमात्र करानेका यत्न करेंगे। वेदमें तीनों शक्तियोंके विषयमें यथाप्रसङ्ग जो अलौकिक विज्ञान-विषय बतलाये गये हैं, उनका उल्लेख न कर केवल तीनों वेदोंके आरम्भिक मंत्रोंका ही भावार्थ लिखते, जो कि, तीनों शक्तियोंके विषयमें अलग अलग कहे गये हैं।

तेजःशक्ति होनेके कारण वेदमें, अग्निको, प्रधान शक्ति माना गया है और उसीके विषयको लेकर ऋग्वेद (जिसका अर्थ "अग्नि-विज्ञान" है) आरम्भ हुआ है—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥" (ऋग्वेदका प्रथम मंत्र)

'हे अग्निशक्ति, मैं तुम्हारी स्तुति—वैज्ञानिक गुण-वर्णन करता हूँ; क्योंकि, तुम "पुरोहित"—वैश्वानररूपसे शरीरमें स्थापित हो। "यज्ञस्य देवः"—तेजःशक्ति होनेके कारण सूर्य और शरीरके प्रकाशक हो। "ऋत्विक्"—ऋतुओंमें अथवा समय-समयपर आकर्षक शक्ति द्वारा शरीर और सूर्य-मण्डलमें रस पहुँचाते हो। "होता"—शक्तियों और रसोंके देने-लेनेवाले हो। "रत्नधातमम्"—प्राण अथवा तेजःशक्ति-रूपी उत्कृष्ट धन देनेवाले हो।'

उक्त विषयोंके प्रमाण, उदाहरण तथा समर्थनके विषयके वेदके बहुतसे वाक्य दिये जा सकते हैं, जिनसे और अधिक वैज्ञानिक प्रकाश पड़ता है; किन्तु स्थानाभावसे उनका उल्लेख नहीं किया गया।

सबसे पहले अग्निका आविष्कार कैसे और किसने किया, यह बड़ी स्पष्टतासे वेद बतलाता है—

"अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।" (यजुर्वेद) 'हे अग्नि, अथर्वा नामक ऋषि (वैज्ञानिक) ने तुम्हें मन्थन कर (घिस कर) निकाला।' यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि, वेद-मंत्रोंका तीन प्रकारसे (आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक) अर्थ किया जाता है। इस कारण, आधिभौतिक पक्षमें उक्त मंत्रका भावार्थ यह होगा कि, 'अथर्वा नामक किसी वैदिक ऋषि × (वैज्ञानिक) ने कमलके

※ आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त भी यही है कि, आक्सिजन (Oxygen) और हाइड्रोजन (Hydrogen) नामकी दो वाष्पात्मक शक्तियाँ हैं, जिनमेंसे एक शुद्ध वायु और दूसरी प्रकाश और प्राणोंके लिये आवश्यक वायु है। इन दोनोंके योगसे पानी बनता है। संभवतः ये दोनों शक्तियाँ मित्र और वरुण ही हैं, क्योंकि वेदमें कहे गये इन दो (मित्र, वरुण) शक्तियोंके गुणोंके अनुसार ही आधुनिक वैज्ञानिक आक्सिजन और हाइड्रोजनके पारिभाषिक लक्षण बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। —लेखक

× "ऋषि" शब्दका अर्थ "वैज्ञानिक" ही है। वैदिक समयमें वैज्ञानिक तत्त्वका आविष्कार करनेवालोंको "ऋषि" कहा जाता था। इन्हीं वैज्ञानिकोंके आविष्कृत वैज्ञानिक तत्त्वको मंत्ररूपमें संगृहीत किया गया और उन आविष्कारकोंके नामपर ही मंत्रोंका नाम (ऋषियोंका उल्लेख) किया गया। —लेखक

पत्तेपर अरणि नामक लकड़ीको घिसकर अग्नि निकाली और अग्नि तत्त्वका आविष्कार किया; जैसा कि, निम्न लिखित मंत्रोंमें भी कहा गया है—"त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।" (ऋ० ६।१६।१३) इस मंत्रका अन्यान्य वैदिक वाक्योंसे यह भी अर्थ निकलता है कि, अथर्वाने जलको मथकर उससे अग्निको निकाला। वेद-मंत्रोंमें अनेक जगह जलमें वड़वाग्नि रूपसे अग्निका अस्तित्व बतलाया गया है। "अग्निः अपः प्रविश्य निलिल्ये।" 'वह अग्नि जलमें प्रवेश कर छिप गया।' वेदमें "पुष्कर" शब्दसे जल लिया गया है—"आपो वै पुष्करम्" अर्थात् 'पुष्कर जल ही है।' यह भी बतलाया गया है कि, सूर्य-किरणसे भी अग्निको अथर्वाने निकाला। अग्नि-तत्त्वको निकाला तो अथर्वाने; किन्तु अग्निको प्रज्वलित करनेका आविष्कार किया अथर्वाके पुत्र दध्यङ् ऋषिने। यह बात वेदसे ही मालूम होती है—"तमुत्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः।" (यजुर्वेद) 'हे अग्नि, तुम्हें अथर्वाका पुत्र दध्यङ्ने प्रज्वलित किया।'

यजुर्वेदके प्रथम मन्त्रको देखनेपर विदित होता है कि, वायुका वृष्टि करना, बल तथा आरोग्य देना, सबको शुद्ध करना, बड़े-बड़े भयानक रोगोंको नष्ट करना, सूर्यसे उत्पन्न होना, उसके साथ रहना, सर्व-व्यापक होना आदि अनेकानेक विज्ञान-विषय इसमें बतलाये गये हैं। वायु-सम्बन्धी अन्यान्य सैकड़ों मन्त्रोंकी क्या कथा, यदि एक इसी मन्त्रके एक-एक शब्दके ऊपर वैदिक विज्ञानका विशेष उल्लेख किया जाय और प्रमाण दिये जायँ, तो वैदिक वायु-ज्ञानकी और भी अधिकाधिक विशेषताएँ मालूम हो सकती हैं; किन्तु इस छोटेसे लेखमें इस क्षुद्रज्ञानी लेखकसे लिखे जाने योग्य थोड़े बहुत विषयोंका भी समावेश होना कठिन है।*

अब रहा, सूर्य-विज्ञान। सूर्य-विज्ञानके विषयोंसे तो वेद भरा पड़ा है। उसका दिग्दर्शन मात्र कराना भी यहाँ असम्भव है। तो भी उसके सम्बन्धमें, वैदिक भाव दिखलानेके लिये ही, एक-दो बातें लिख देना आवश्यक है। वेदमें, सूर्यके विषयमें जितनी वैज्ञानिक बातें बतलायी गयी हैं, वे सब वस्तुतः असाधारण और अद्भुत दैवी विज्ञान हैं।

वेदमें सैकड़ों मन्त्रों, रूपकों, उपाख्यानों द्वारा सूर्य-विज्ञान-सम्बन्धी सैकड़ों रहस्यमयी बातें बतलायी गयी हैं। वेद कहता है कि, सूर्य ही सब मुख्य शक्तियोंका केन्द्र (उद्गम-स्थान) और सर्व-प्रधान शक्ति है। इसीसे अग्नि (साधारण दृश्य अग्नि), वायु तथा प्रकाशक तेजःशक्तिका उद्भव होता है। उसीसे ग्रह-नक्षत्रोंकी उत्पत्ति हुई है और उसीकी शक्तिसे सृष्टि-सम्बन्धी सब काम, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे, चलते हैं। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयका कारण सूर्य ही है।

वेद कहता है, "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।" 'सूर्य ही वृक्ष आदि जड़ तथा मनुष्य आदि चलनशील प्राणियोंकी आत्मा है।' इस सिद्धान्तके समर्थनमें, वेदमें, बहुतसी युक्तियाँ दी गयी हैं। वेद बतलाता है—(ऋ० १०।१२१।५) "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा", "सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमाम्"—जिस सूर्यके द्वारा द्यौ [ग्रह-नक्षत्र-लोक] और पृथिवी आकाशमें टिकी हुई है, उसको निम्न लिखित मन्त्रमें कैसी वैज्ञानिक युक्ति देकर स्पष्ट किया गया है—

"व्यस्कम्ना रोदसी विष्णवे ते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः।" (ऋग्वेद) 'हे व्यापक सूर्य, तुम मयूखें—अपनी किरणोंसे—विस्तीर्ण ग्रह-लोक और पृथिवीको धारण

* लेखकके लिखे हुए शुक्ल-यजुर्वेद-संहिताके "विज्ञान-भाष्य" (अमुद्रित और समाप्त) में उक्त मन्त्रके ऊपर यथासाध्य वैदिक विज्ञानका उल्लेख किया गया है, जिससे "वायु-विज्ञान"का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है।—लेखक

किये हुए हों।' सूर्य-किरणोंमें वैद्युतिक शक्ति रहनेका कारण ही आकर्षक शक्ति है। इसी भावको वेदमें प्रकाशित किया गया है। इतना ही नहीं, वेदका कहना है कि—

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शत-मदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।" (यजुः)

'पूर्वकी ओर सूर्यरूपी जो तेजः-शक्ति उदित हुई है, उसीके द्वारा हम बहुत दिनोंतक सुख-पूर्वक जियें, सुनें, बोलें तथा अदीन (रोग आदि दुःख-रहित) हों।'

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, वेदमें किसी देवता-शक्तिके विषयमें जो कुछ कहा जाता या उससे प्रार्थना-रूपमें निवेदन किया जाता है, वह उसकी शक्तिके अनुकूल ही। लोक-व्यवहार भी यही है। धन माँगनेके लिये धनीके पास ही, विद्या प्राप्त करनेके लिये विद्वान्के पास ही, आदमी जाते हैं। फलतः वेद-वाक्यका भी यही स्पष्ट भाव है कि, बोलने, सुनने, रोग-रहित रहने आदिके कार्य जिन इन्द्रिय-शक्तियोंके द्वारा होते हैं, उनका मूल सूर्य शक्ति है। उसी सूर्य—शक्ति द्वारा परिचालित होकर वे सब अपने-अपने कार्योंको कर रही हैं। इसी प्रकार बल, शम्बर, दास पणि आदिका बध, हड्डियोंसे वृत्रका और जल-फेनसे नमुचिका हनन, नाचिकेतोपाख्यान, यम—यमी—संवाद आदि अनेकानेक रूपक उपाख्यानों द्वारा आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विज्ञान-सम्बन्धी कितनी ही बातें बतलायी गयी हैं।

वेदके सूर्य-रश्मि-विज्ञान, जल-विज्ञान, अग्नि-विज्ञान, वायु-विज्ञान, इन्द्रिय-विज्ञान आदिके द्वारा ही ऋषियोंने प्रलयाग्निके समान अग्नि-वर्षा करनेवाला आग्नेयास्त्र, बादलोंसे भी अधिक तेजीसे वर्षा करनेवाला वारुणास्त्र, सबको सुला देनेवाला जृम्भकास्त्र, सबको उड़ा देनेवाला वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, लक्ष्यको सर्वथा विनष्ट कर देनेवाला अनिवार्य और अमोघ ब्रह्मास्त्र आदि अनेकानेक अद्भुत अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण किया था। बड़े-बड़े आसन्न-मरण वृद्धको नवयुवक बनानेकी वैज्ञानिक प्रक्रिया, एकके सिरको काटकर या कटे हुए सिरवाले शरीरपर दूसरा सिर जोड़ देना, एक बालको चार टुकड़े कर देनेवाला शस्त्र, टूटी हुई हड्डीकी जगह लोहा देकर जोड़ना, अन्धेको फिर दृष्टिवान् बनाना आदिकी अद्भुत जल-चिकित्सा, बड़े-बड़े असाधारण राजयक्ष्मा, कुष्ठ आदि भयङ्कर रोगोंको एकाएक छुड़ा देनेवाली सूर्य-रश्मि-चिकित्सा, मृतप्राय घायलोंको एक क्षणमें चङ्गा कर देनेवाली चिकित्सा, औषध-विज्ञान, भूत-प्रेतोंका पूरा पता लगाना, उनसे बातचीत करना, अग्नि, वायु, सूर्यकी सैकड़ों शक्तियोंका विश्लेषण, उनकी अलग-अलग शक्तियोंका वैज्ञानिक वर्णन, चतुःषष्टिकला-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान आदि सैकड़ों विज्ञानों और कलाओंकी शिक्षा किस शास्त्रसे वैदिक आर्य ऋषि पाते थे? और, किस शिक्षाके फलसे पूर्वोक्त वैज्ञानिक आविष्कार और पुष्पक विमान सरीखे अनेक प्रकारके आकाश-यान, आकाश-वाणी [Wireless telephone] आदि अनेकानेक यन्त्र बनाते थे? किस शिक्षाके द्वारा, वे खेचरी (आकाशमें चलनेकी) विद्या, दूसरेके मनकी बात जानना, भूत, भविष्य, वर्त्तमान विषय जानना आदिका यौगिक "विज्ञान"—ज्ञान रखकर संसारको चकित करते थे? कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, सबका उत्तर "वैदिक विज्ञान"में आ जाता है।

अब यहाँ यह सवाल है कि, ऐसे अलौकिक विज्ञानमय वेदके रहते हुए भी हम उतना लाभ क्यों नहीं उठा रहे हैं, जितना हमारे प्राचीन पूर्वज उठाते थे? इसके उत्तरमें बहुतसे कारण दिखलाये जा सकते हैं—

(१) वेदरूपी वैज्ञानिक परिभाषाके उपवेद-रूपी भाष्योंका, जिनमें क्रियात्मक विज्ञान हैं, वेदसे निकाले गये अन्यान्य वैदिक पुस्तकोंका, जिनसे हमें उन वैज्ञानिक शब्दों और रहस्योंका अर्थ स्पष्ट मालूम हो सकता था, जिनका

अर्थ अभी ठीक-ठीक मालूम नहीं हो रहा है, उनका सर्वथा अभाव। अभावके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(क) देवासुर-संग्राम, महाभारत आदि प्राचीन लड़ाइयोंमें अच्छे-अच्छे वैदिक वैज्ञानिकोंका मारा जाना और असुरोंके द्वारा वैदिक पुस्तकोंका नष्ट-भ्रष्ट किया जाना। *

(ख) उसके बाद भी बराबर विदेशियों द्वारा अच्छी-अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकोंका विदेशोंमें जाना। †

(ग) मुसलमान शासकोंके समय वैज्ञानिक पुस्तकोंका जलाया जाना या अन्यान्य प्रकारसे नष्ट-भ्रष्ट किया जाना।

(घ) कहीं कुछ बची और छिपायी हुई पुस्तकोंका मूर्ख मालिकोंके कारण कीड़ों-मकोड़ों और अग्निके द्वारा चौपट होना।

उपर्युक्त कारणोंसे वैज्ञानिक पुस्तकोंका अभाव होनेपर बड़े-बड़े ऋषियों, महर्षियों और रावण सरीखे अनेकानेक प्रकाण्ड वेद-वेत्ताओंके बनाये वैदिक भाष्योंका सर्वथा अभाव हो गया। वेदका एक भी पूर्ण वैज्ञानिक भाष्य न रहा! उस समय सायण सरीखे प्रकाण्ड विद्वान्‌ने सर्व साधारणमें प्रचलित यज्ञ-प्रथाके कारण व्याकरणके बलसे याज्ञिक अर्थ करके किसी तरह लोगोंको वेदार्थ समझाने और वेदोद्धार तथा वेद-प्रचार करनेका प्रबल प्रयत्न किया। वैदिक-विज्ञान-सम्बन्धी विशद व्याख्यान न रहते हुए भी उनका यह प्रयत्न स्तुत्य है, जिसके कारण थोड़ा बहुत भी वेदार्थ ज्ञान हो रहा है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि, सायणाचार्यके याज्ञिक अर्थसे वैदिक विज्ञानपर उतना पर्दा नहीं पड़ा, जितना उव्वट, महीधर सरीखे वैयाकरण भाष्य-कारोंके भाष्योंसे पड़ा। इन लोगोंने तो लौकिक व्याकरणके बलसे वैदिक शब्दोंको इतना तोड़ा-मरोड़ा कि, वैदिक विज्ञान "निहितं गुहायाम्" हो गया है!

कहनेका सारांश यह है कि, उपर्युक्त भाष्यकारोंके भाष्योंसे हमें वैदिक-विज्ञान-रहस्योंका पूरा पता नहीं लगता; प्रत्युत हमें कई जगह उलझनों और सन्देहोंमें पड़ जाना पड़ता है। जहाँ "गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे" आदि अतिशय प्रसिद्ध और विज्ञान-महत्त्व-प्रतिपादक मन्त्रोंका अतिशय असंगत अर्थ किया जाता है, वहाँ लौकिक व्याकरण-साहित्यसे सर्वथा अप्रसिद्ध और अज्ञेय मन्त्रोंके समुचित अर्थ होनेकी आशा कैसे की जा सकती है? यहाँ उदाहरणार्थ और पाठकोंके मनोरञ्जनार्थ एक ही मंत्र दिया जाता है—

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायुः"॥
(ऋग्वेद १०।१०६।६)

ऐसे-ऐसे अनेक वेद-मंत्र हैं, जिनके प्रचलित अर्थसे पूरा सन्तोष नहीं होता। तो भी हम उन आचार्योंके भी अतिशय कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हमें अतिशय कठिन वेद-मन्त्रों-को समझानेके लिये प्रबल प्रयास किया है।

---

* पुराणोंमें कहा गया है कि, असुरोंसे विग्रह होनेके कारण देवता लोग वेद भूल गये थे। बड़े प्रयत्नसे फिर वेद-लाभ किया गया।—लेखक

† संस्कृत-पुस्तकोंकी सूची देखनेसे ज्ञात होता है कि, केवल जर्मनीकी बर्लिन लाइब्रेरीमें ही ४० हजार हस्त-लिखित संस्कृत पुस्तकें हैं और लण्डनके इण्डिया हाउसके पुस्तकालयमें ३० हजार। हम आशा करते हैं कि, हमारे वैदिक-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ पुस्तकें भी वहाँ जरूर होंगी, जिनमें मय आदि वैज्ञानिकोंकी बनायी "विमान-चन्द्रिका", "आकाश-यान-रहस्य" आदि प्रसिद्ध पुस्तकें भी हो सकती हैं। बहुतसे विद्वानोंका कहना है कि, जर्मनीमें इतनी वैज्ञानिक उन्नतिका बहुत कुछ कारण वैदिक विज्ञान भी है। इसी कारण वहाँ संस्कृतका इतना प्रचार तथा सम्मान है। वहाँ वैदिक साहित्यका जितना प्रचार है, वह भी सर्व-विदित ही है। अभी, सुना जाता है कि, सबकी वैज्ञानिक गवेषणा वहाँ सफलताके साथ हो रही है।—लेखक

वैदिक सभ्यताका युग

प० नाथूराम शुक्ल बी० ए०

(पुरानी मछरहाई, जबलपुर)

वैदिक सभ्यताका प्रधान ग्रन्थ ऋग्वेद है। यह निश्चय है कि, ऋग्वेदका पुस्तक-रूपमें निर्माण अधिक कालकी घटना नहीं है; परन्तु इसे ऋषियोंने उस समय रचा था जब कि, हमारी सभ्यताका प्रकाशमान मार्त्तण्ड चमक रहा था। उस समय लेखनी और पत्रका उपयोग नहीं किया गया था। सम्भव है इन्हें हमारे पूर्वज नाशवान् सामग्री समझते हों। उनकी महत्वशाली कृतियाँ मनुष्यके मस्तिष्ककी पुस्तकमें रहा करती थीं। सहस्रों पंक्तियोंको कंठस्थ करना मानसिक विकासको एक आश्चर्यमें डाल देनेवाली बात है। पिता पुत्रको, गुरु शिष्यको, बूढ़े अपनेसे छोटोंको इन मंत्रोंका अध्ययन कराते थे। यह क्रिया जारी रही और हमारा ज्ञान-भाण्डार इसी शैलीके द्वारा एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीके पास, बड़ी ही उत्तमतासे, पहुँचता गया। आगे चलकर ग्रन्थोंका निर्माण हुआ और साथ ही समय-समयपर उनमें कुछ नवीन उत्साहियों द्वारा वृद्धि भी होती रही। अतएव हमारा ऋग्वेद पूर्ण रूपसे एक ही कालकी रचना नहीं कहा जा सकता। फिर भी उसमें पर्याप्त सामग्री है जिससे उसके कालका निर्णय किया जा सकता है और विना काल-निर्णय किये हम अपनी सभ्यताको सर्वोच्च स्थान नहीं दिला सकते।

अमेरिकाका प्रसिद्ध लेखक जार्ज एम० रिवार्ड्स अपने "संसारका इतिहास" नामक नक्शेमें ऋग्वेदिक सभ्यताको सन् ईस्वीसे ४००० वर्ष पुरानी बतलाता है। डाक्टर एडाल्फ इरमन ईजिप्शियन सभ्यताको वैदिक सभ्यतासे पुरानी बतलाते हुए "Historians History of the world" में लिखता है—"वह प्रारम्भिक सौरभ है, जिसे मानवजातिने सृष्टिके सामने रखा है और सो भी एक ऐसे कालमें, जब कि, अन्य राष्ट्र अपनी ठंढ ऋतुकी निद्रामें पड़े थे। भूत कालके सदृश ही भविष्यमें भी जन-समाज ईजिप्टकी सभ्यताके शेष अंशोंका आदर करेगा और भय-मिश्रित आश्चर्यकी दृष्टिसे देखेगा।"

इतिहासकार आइकिनका कहना है—"नाइल तथा टाइगरिस और इफ्रेटीजकी घाटियोंके पत्थरोंके काम करनेवाले लोग ६ हजार वर्ष पूर्व सभ्य-जीवनमें पदार्पण करने लगे थे।" आगे लिखता है—"इण्डो-यूरोपियन कुटुम्बकी एक शाखा सन् ईस्वीसे १५०० वर्ष पूर्व मध्य-एशियासे सिन्धुकी घाटियोंकी ओर गयी।"* मैक्समूलर, कोलब्रूक, डाक्टर विलसन आदि भी अपनी ज्ञान-दृष्टिसे इस सभ्यताको सन् ईस्वीसे केवल १२०० वर्ष पुरानी समझते हैं! इतना ही नहीं, हमारे कुछ भारतीय इतिहासकार भी इन

* "A pageant of Histo," By R. G. Ikin M.A. इतिहासकारोंका यह विचार कि, आर्य लोग भारतवर्षमें बाहरसे आये थे, बिलकुल भ्रान्ति-पूर्ण है। अब हमारे पास ऐसी पर्याप्त वैज्ञानिक सामग्री एकत्रित हो चुकी है, जो सिद्ध करती है कि, आर्य "सप्त सिन्धु" के ही निवासी थे। वे न मध्य एशियासे आये, न कहीं बाहर जा बसे।—लेखक

पाश्चात्य विद्वानोंकी बातोंको अमर और अटल सिद्धान्त समझते हैं। बाबू रमेशचन्द्र दत्त लिखते हैं—"हमारी राय भी इस विषयमें आम रायसे मिलती है और हम निश्चय करते हैं कि, सन् ईस्वी से २००० से १४०० वर्षका भाग हिन्दू-इतिहासका प्रथम काल कहा जा सकता है। हम इसे वैदिक काल कहेंगे।" आगे आप संकुचित शब्दोंमें, डरते हुए, कहते हैं—"यद्यपि हिन्दू-सभ्यता शताब्दियों या हजारों वर्षोंकी पुरानी रही होगी; फिर भी वर्त्तमान विद्वान् ऋग्वेदके रचना-कालको सन् ईस्वीसे २००० वर्षोंसे अधिक पुराना नहीं मानते। दूसरे राष्ट्र अपनेको हिन्दुओंसे अधिक प्राचीन मानते हैं।"

इसी तरह सैकड़ों इतिहासकारों और विद्वानों-की रायें उद्धृत की जा सकती हैं, परन्तु लेखकको तो सर विलियम लो वारनरके शब्दोंकी सत्यता आज स्पष्ट ज्ञात होती है। उन्होंने भारत और उसकी प्राचीन सभ्यताके विषयमें भूलसे ठीक ही लिख दिया है कि, "भारत एक विशाल भूमि है, अज्ञात है और अज्ञेय है। तीव्रसे तीव्र पाश्चात्य दिमाग जीवन भर प्रयत्न करनेके बाद भी इसके विषयमें बहुत कम जान पाता है और जीवनके अन्तमें उसे ऐसा मालूम होता है कि, उसका ज्ञान इतने परिश्रम के बाद वहींपर है, जहाँ कि, अध्ययन प्रारम्भ करनेके पहले था।"×

वास्तवमें अनेक विद्वानोंने वैदिक सभ्यताके विषयमें जो निर्णय कर रखा है, वह भ्रान्ति-पूर्ण है और उतावलीका परिणाम है। इसका एक कारण यह है कि, सबने अपने निर्णयोंको बाइबिलमें वर्णित सृष्टिके इतिहासको आधार मानकर ही निश्चित किया है। बाइबिलके अनुसार सृष्टिकी आयु ६ हजारसे ७ हजार वर्ष मानी जाती है। अतएव विद्वानोंने संसार भरके इतिहासकी तारीखोंको इसी कालके भीतर जमानेका प्रयत्न किया है।"* दूसरा कारण है कि, वर्त्तमान विज्ञानकी दृष्टिसे वेदका अध्ययन अभीतक पूर्ण रीतिसे किया ही नहीं गया।

हम लोग चिल्लाते हैं कि, हमारी सभ्यता ही सबसे पुरानी है। परन्तु यह है वैज्ञानिक युग। बिना प्रमाणके कोई बात नहीं मानी जाती। इसीलिये तो डाक्टर अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी-एच० डी० ने लिखा है—"हिन्दू अपनेको संसारकी सबसे प्राचीनतम सभ्यतावाली जातिका समझते हैं। वे अपनेको ईजिप्टके घरानों, चेल्डाके सुमेरियनों या निनेवहके असेरियनोंसे भी प्राचीन समझते हैं। परन्तु उनका यह कथन केवल परम्परागत बातोंपर ही निर्भर है या राष्ट्रीय अभिमानके कारण जीवित है। किसी ठोस प्रमाणपर निर्भर नहीं है। इसीलिये इतिहासकार उसे मूल्य-हीन समझ कर छोड़ देते हैं और उसपर गंभीरतासे विचार ही नहीं करते।"

यह सत्य है कि, हमारी वैदिक सभ्यताके प्रमाण दृष्टि-गोचर नहीं हैं। हमारे पास ईजिप्शियन सभ्यताके समान पत्थरोंपर लिखे प्राचीन लेख भी नहीं हैं। हमें यह कहते तनिक भी संकोच नहीं होता था कि, अभी उस दिनतक ईस्वी सन् से ८०० वर्ष पूर्वकी कोई इमारत या उसका भग्न भाग भी भारत-का प्राप्त नहीं था। परन्तु सौभाग्यसे पंजाबके हरप्पा और मोहनजोदारोके गर्भसे निकली हुई प्राचीन काल-की गड़ी हुई सभ्यताने हमारे स्मारकोंको ईसासे ४००० वर्ष पुराना सिद्ध कर दिया। केवल इसी एक

× Harmsworth History of the world.

* The Vedas—By Beharilal Shastri, M. R. A. S.

अचानक निकल पड़नेवाले प्रमाणसे हमारी वैदिक सभ्यता प्राचीनतम विश्व-व्यापिनी कहलानेवाली ईजिप्शियन सभ्यताकी बड़ी बहन सिद्ध होती है।

एक विद्वान् लेखकने लिखा है—"ऋग्वेद और भौगोलिक बातोंका एक दूसरेसे आश्चर्यमय साम-ञ्जस्य है। इससे विश्वास होता है कि, ऋग्वेदके कुछ मंत्र उस समय बनाये गये थे, जब कि, इतिहास-का प्रातःकाल था।"

इसी दृष्टि-कोणसे जब हम ऋग्वेदको देखते हैं, तब हमें एक दूसरा प्रबल प्रमाण मिलता है। वेदमें एक स्थानपर लिखा हुआ है—"एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात्।"† अर्थात् 'नदियोंमें केवल सरस्वती इसे जानती हैं। उसकी पवित्र धारा पर्वतसे समुद्रमें मिलती है।'

सरस्वती कहाँ थी? आज तो यह नदी राजपू-तानेकी रेतमें विलीन हो गयी है; परन्तु यह मन्त्र स्पष्ट तौरसे बतलाता है कि, वह वैदिक कालमें समुद्रमें मिलती थी। अब यदि हम उस नदीके समुद्रमें मिलनेका काल जान सकें, तो हम उस मंत्रके लिखे जानेका काल भी जान सकेंगे।

भूगर्भ-विद्याकी खोजें बतलाती हैं कि, प्राचीन-कालमें आधुनिक राजपूताना समुद्रके गर्भमें था। यह समुद्र अरावली पर्वतके दक्षिण और पूर्व भाग-तक फैला हुआ था। इस समुद्रका नाम भूगर्भ-वेत्ता लोगोंने 'राजपूताना समुद्र' रखा है।‡ यह राजपूताने-में था। इस विषयको जाँच करते हुए, भारतीय पुरातत्त्वके विद्वान् प्रो० बी० केतकर कहते हैं, "पौरा-णिक और ज्योतिर्विद्याके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि, राजपूताना और गङ्गा-सागर द्वारा जम्बूद्वीप [दक्षिण भारत] पंजाब और हिमालयसे पृथक् था। यह समुद्र भूकम्पों और ज्वालामुखियोंकी क्रियाओंके कारण ईस्वी सन्से ७५०० वर्ष पूर्व विलीन हो गये।+

केवल इस एक मंत्रसे ही सिद्ध हो जाता है कि, उक्त मन्त्रके निर्माणके समय सरस्वती नदी समुद्रमें मिलती थी और यह घटना लगभग ९५०० वर्ष पूर्वकी है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि, ऋग्वेदिक सभ्यता लगभग १०००० वर्षकी पुरानी है? *

ऋग्वेद (१०।१३६।५ और १०।८७।२) से ज्ञात होता है कि, सप्तसिन्धुके पूर्वमें एक समुद्र था तथा पश्चिममें दूसरा। इनके अतिरिक्त आर्य-गण दो अन्य समुद्रों (सब चार समुद्रों) से भी परिचित थे। अब विचारना है कि, ये समुद्र कौन थे? इनका स्थान कहाँ था? यह घटना कितने वर्षोंकी पुरानी है!

प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्सने एक "The outline of History" नामका महान् ग्रन्थ लिखा है। उसमें ३५००० —२५००० वर्ष पूर्ववाली दुनिया-का नक्शा खींचा है। उस नक्शेका आधार वर्त-

† यह मंत्र ऋग्वेदके ७।९५ का दूसरा मंत्र है। ऋग्वेद ३।३३।१ से २ मंत्रोंसे विदित होता है कि, शुतुद्री [सतलज] नदी भी समुद्रमें ही गिरती थी।—सम्पादक

‡ Rajputana Sea—Imperial Gazeteer of India, Vol. 1.

+ Paper at First Oriental Conference, Poona (1919). (Extract from a Letter.)

* डा० अविनाशचन्द्र दासके मतसे २५००० से ५०००० बी० सी० के बीच "राजपूताना समुद्र" सूखा और ऋग्वेद-कालीन सभ्यता लगभग इसी समयकी है। —सम्पादक

मान वैज्ञानिक खोजें हैं। इनके अनुसार उस चित्र-पटमें पंजाबके दक्षिणमें एक समुद्र है, जो एक अरेबियन समुद्रसे मिलता है और दूसरी ओर बङ्गाल समुद्रसे। यही दोनों हमारे पूर्वी और पश्चिमी समुद्र थे। आज भी राजपूतानेके गर्भमें खारे जलकी झीलें (साँभर आदि) और नमककी तहें इस बातकी द्योतक हैं कि, किसी समय इस स्थानको समुद्रकी लहरें प्लावित करती थीं।

उत्तरीय समुद्रोंकी खोज करनेपर पता चलता है कि, "इसमें सन्देह नहीं कि, कैस्पियन समुद्र अब की अपेक्षा पहले विशाल था और उसका किसी समय समुद्रसे सम्बन्ध रहा होगा। इसके अतिरिक्त उसकी बनावट तथा आन्तरिक दशा काला समुद्र और अराल समुद्रसे मिलती है। इससे किसीको भी सन्देह नहीं हो सकता कि, ये तीनों किसी समय एक ही समुद्रके भाग थे।+

इसी तरह उक्त लेखकके अनुसार एशियाके मध्य भागमें एक विशाल समुद्र था, जिसका नाम भूगोल-वेत्ताओंने एशियाई मेडीटरेनियन (भूमध्य-सागर) रखा है। यह इतना विशाल था कि, इसका सम्बन्ध उत्तरमें आर्टिक महासागरसे था तथा इसके पास ही वर्त्तमान यूरोपीय भू-मध्य सागर था। एशियाके भू-मध्य-सागरका तल ऊँचा था, यूरोपवालेका नीचा। अतएव पृथ्वीके परिवर्त्तनों-ने जब बासफरसके मार्गको बना दिया, तब एशियाई समुद्रका पानी यूरोपीय समुद्रमें पहुँच गया और इस तरह एशियाका समुद्र नष्ट हो गया। अब केवल इसके अंशमात्र जहाँ-तहाँ झीलोंके रूपमें बचे हैं। ये ही हमारे दो उत्तरीय समुद्र हैं, जिनका वर्णन ऋग्वेदमें आया है। यह घटना लगभग २५ हजार वर्षसे ७५००० वर्ष पुरानी है।

इन अल्प प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकी रचना ईस्वी सन्‌से २५००० से ७५००० वर्ष पूर्व हुई होगी और उस समय हमारे पूर्वज अत्यन्त सभ्यता-पूर्ण परिस्थितिमें रहे होंगे। इस तरह वर्त्तमान विज्ञान हमारी सभ्यताको प्राचीनतम सिद्ध करता है।

हाँ, इतना अवश्य ही हमें स्वीकार करना पड़ता है कि, ऋग्वेदके भिन्न-भिन्न मन्त्र अलग-अलग काल-में रचे गये थे। जैसे विवाह-सम्बन्धी ईस्वी सन् से २५०२० वर्ष पूर्व, वृषाकपि मन्त्र १६००० वर्ष पूर्व इत्यादि।=

उपर्युक्त खोज ऋग्वेदको कमसे कम सन् ईस्वी से २५००० वर्ष पूर्व ले जाती है, जिस समय कि, पृथ्वीका अधिकांश भाग जन-शून्य था। जब संसार-के अन्य भागोंमें मानव-समाज पशुओंके समान गुफाओंमें रहता था, वनस्पतियोंकी छालके वस्त्र पहनता था, संक्षेपमें जब वह जंगली था, उस समय हमारे पूर्वज सप्त-सिन्धुके तटपर प्रकृतिकी वीणाके साथ वेद-मंत्रोंका राग अलापते हुए आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। यही कारण है कि, प्रसिद्ध विद्वान् एड्यूलाँगने "काश्मीरकी घाटीको मनुष्य-समाजका जन्म-स्थान" कहा है और उसे स्वर्ग माना है।□

+ Encyclopedia Britanica, Vol.1.

= M. Mukhopadhyaya's article on "Hindu Nakshatras."

□ Taylor's "Origin of the Aryans."

ऋग्वेदकी कुछ उल्लेखनीय बातें

साहित्याचार्य प० महेन्द्रमिश्र "मग"

(कलहार, तारापुर, भागलपुर)

सनातन-धर्मावलम्बियोंके प्रधान आचार्य सायणके ऋग्वेद-भाष्यके साथ सारी ऋग्वेद-संहिताका मन्थन करनेपर मुझे जो बातें मालूम हुई हैं, उन्हें लिखता हूँ। उद्धृत मन्त्रोंपर सायण-भाष्य देखकर पाठक अपना कौतूहल दूर करें। मैं अपनी ओरसे कुछ भी नहीं लिखता—केवल सायण भाष्यका सारांश दे रहा हूँ।

निम्न श्रेणीके आर्योंके भोजनमें मांस शामिल था। घोड़ा, गाय, बैल, सूअर, साँढ़, भड़ा, भैंसा और बकरा आदिका मांस उनका प्रिय भोजन था (ऋ० १०।८६।१३-१४, ८।७७।१०)। मांसका लोहेकी सीकमें गूँथकर ये उसे भूनते थे या पानीमें उबालते थे (१।१६२।११)। एक स्थानपर तो इन्द्रका भी कथन है कि, 'मेरे लिये बीस बैल मारना, जिन्हें खाकर मैं मोटा बनूँगा' (१०।८६।१४)। हट्टे-कट्टे बैल चुनकर भोजनके लिये मारे जाते थे (१०।२७।२)। बैलका मांस खूब पकाया जाता था (१०।२८।३)। एक-एक बार सौ-सौ भैंसे भी कटते थे (६।१७।११)। ये मांससे हवन भी करते थे। गौ और वृषभकी आहुति (६।१६।४७), वृषभ तथा मेषकी आहुति (१०।९१।१४,१०।१६।१३) खूब प्रचलित थी। जगह-जगह गो-हत्या-स्थान या कसाईखाना भी होता था (१०।८९।१४)। खड्ग द्वारा गौओंको टुकड़े-टुकड़े कर देते थे (१०।७९।६)। पति-पत्नी मिलकर हवन किया करते थे (८।३१।५९)।

वे सोम-रसके भी परम प्रेमी थे। सोम-रस एक प्रकारकी मदिरा या आसव था। सोम एक तरहकी लता या पौधा था, जो प्रचुरतासे मूजवान् पर्वतपर पाया जाता था (१०।३४।१)। टेढ़े पत्तेवाले सोमको सुन्दर रमणियाँ या अप्सराएँ अपने कोमल करकमलोंसे (शाककी तरह धो-धोकर) पत्थरपर पीसती थीं। पीछे, भेड़ोंके रोएँसे बने कपड़ेको घड़ेपर रखकर उसे छानती थीं। उनमें दूध या दही भी मिलाती थीं। गायके चमड़ेके बर्तनमें भर भरकर आर्यगण उसे पीते थे (९।६५ सूक्त,९।७८।३)। सोमलता की रखवालीके लिये गन्धर्वगण नियुक्त थे (९।८३।४)। सोमको अमृत कहते थे; इसे पीनेसे अपनेको अमर समझते थे (८।४८।३), इन्द्र सोम रसको बड़े चावसे पीते थे (१।२८।३। और आनन्दसे अपनी दाढ़ीतकको सोम-रससे भिंगा लेते थे (१०।२३।१)। जब ये सोम-रस पीकर मस्त हो जाते थे, तब अपनी देहको खूब जोरसे कँपाने लगते थे (१०।२३।४)। आर्य चमड़ेसे घृणा नहीं करते थे। चमड़ेके बर्तनमें सोम-रस तो पिया जाता ही था, बल्कि दही दूध भी चमड़ेके बर्तनमें रखा जाता था (६।४८।१८)। चमड़ेका व्यवहार और और कामोंमें भी वे करते थे—रथको ढाँकने (६।४७।२६) और घोड़ोंकी लगाम बनानेके कार्य आदिमें (१०।१०२।२) भी लाते थे।

पहननेके लिये वे ऊनका कपड़ा (१०।२६।६) बनाते थे। औरत सूत कातती थीं (२।३।६)। कपड़े

जुलाहोंके द्वारा बुने जाते थे (१०।१०६।१)। वस्त्र-दानमें दिये जाते थे, (१०।१०७।२)। आर्यगण हाथोंमें कड़ा पहनते थे (५।५८।२), सोनेकी माला भी पहनते थे (५।५३।४)। सोनारका नाम निष्कंकुण्ठवान् था (८।४७।१५)। पहले रुपयेकी जगह निष्क ही चलता था। निष्क एक प्रकारका गहना है।

आर्य मिट्टीके घरमें रहना पसन्द नहीं करते थे। वरुणका भवन सौ दरवाजोंवाला था (७।८८.५)। यन्त्र-गृह बनाया जाता था, जिसमें शत्रु फँसाये या बन्दी किये जाते थे (१।११६।८)। लोहे और सोनेका घर होता था (७।३।७, ७।१५।१४)। दरवाजेपर दरबान रखनेकी प्रथा थी (२।१५।६)। पायादार दोतल्ला मकान होता था (५।६२।६)। आजकलकी तरह ही पिँजड़ेमें बन्दकर बाघ या सिंह रखा जाता था (१०।२८।१०)।

कन्याओंके विवाहमें स्वयंवर रखा जाता था। किसी चीजकी बाजी रखी जाने पर, जो विजेता होता था, उसे ही कन्या मिलती थी। घुड़दौड़में बाजी जीतकर अश्विनीकुमारोंने एक बार सूर्याको पाया था (१।११६।१७) विमदने भी स्वयंवरमें संग्राम किया था (१।११६।१)। दान करते समय कन्या वसन-भूषणोंसे सजायी जाती थी, वर-वधूकी मङ्गल-कामना की जाती थी। पतिगृह जाते वक्त लड़कीके ऊपर कोई आफत न रहे, इसके लिये लोग सचेष्ट रहते थे। पति-गृहमें सुगृहिणीकी तरह रहनेके लिये उसे उपदेश दिये जाते थे। सौ वर्ष जीनेके लिये आशीर्वाद दिये जाते थे (१०।८५।२२—४७, १।७६।२)। हाँ, विवाहमें जो कपड़े वधू पहनती थी, उन्हें ब्राह्मण पुरोहित लेते थे (१०।८५।३४)। श्वसुरसे अपने दामादसे यह भी प्रतिज्ञा करा लेते थे कि, लड़कीका पहला पुत्र हमें देना होगा (३।३१।१)।

पुरुषोंमें बहु-विवाहकी प्रथा थी, जिससे चिढ़कर स्त्रियाँ सौतोंके विनाशके उपाय सोचा करती थीं। पतिको अपने वशमें लानेके लिये स्त्रियाँ बहुतसे टोटके किया करती थीं। सौतोंके लिये गाली गलौज बका करती थीं। ये गुस्सेमें आकर बोलती थीं कि, "मैं सौतका नामतक जुबानपर लाना नहीं चाहती, मेरा बस चले, तो मैं इसे कोसों दूर खदेड़ दूँ।" पतिके मनको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ये देवोंसे प्रार्थनाएँ करती थीं (१०।१४५ और १०।१५९ सूक्तोंको देखिये)।

स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होती थीं। (१।१२६।७) मंत्रकी ऋषि या मंत्र बनानेवाली रोमशा या लोमशा, १०।४० सूक्तकी ऋषि घोषा, ५।२८ सूक्तकी ऋषि विश्ववारा, १०।१४५ सूक्तकी ऋषि इन्द्राणी, १०।१५९ सूक्तकी ऋषि पुलोमकी तनया शची तथा ५।६ सूक्तकी ऋषि अत्रि-पुत्री अपाला थीं। औरतें जब कभी रथ भी हाँक लेती थीं, युद्ध भी करती थीं। मुद्गल-पत्नी इन्द्रसेनाने खूब खूबीसे संग्राममें रथ हाँका था और इन्द्रके शत्रुओंका विनाश, बड़ी वीरतासे, किया था। अस्त्र-संचालन-कलामें वह पारङ्गत थी। अपनी वीरतासे इसने शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये थे और अपहृत गौओंको उनसे छुड़ाया था (१०।१०२। २—११)। दौत्यकार्य भी स्त्रियोंके द्वारा सम्पादित किया जाता था। इन्द्रकी ओरसे पणि असुरके पास दूती बनकर सरमा गयी थी। सरमा और पणिका संवाद पढ़कर तत्कालीन, स्त्रियोंकी बुद्धि-प्रखरतापर किसे आश्चर्य न होगा (१०।१०८ सूक्त)! स्त्रियाँ भली-बुरी सब तरहकी होती थीं। बहुतसी कन्याएँ तो जन्मभर सच्छीलतासे, बिना विवाह किये ही, रह जाती थीं (२।१७।७)। घोषाने वृद्धावस्थामें शादी की थी (१।११७।७)।

व्यभिचारिणी स्त्रियाँ छिपकर तबलियेमें गर्भ-पात कराती और उसे फेंक देती थीं (२।२९।१)। बहुत-सी दुराचारिणी स्त्रियाँ चुपके-चुपके ससुरालसे मायके भाग जाती थीं (४।५।५)। यमीने अपने भाई यमसे रति-प्रार्थना की थी। यमने उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार कर दिया था। अन्तको कहा था कि, भाई-बहनका सम्बन्ध धर्म-विरुद्ध है (१०।१० सूक्त)। पुरुष भी कामासक्त होकर स्त्रियोंके साथ अनाचार करते थे। प्रजापतिने अपनी युवती पुत्री उषाके साथ व्यभिचार किया था (१०।६१।६)। पुरुरवा और उर्वशीका संवाद भी देखने योग्य है। काम-विह्वल होकर राजा पुरुरवा उर्वशीका अनुनय कर रहा है और उर्वशी उसकी प्रार्थनाको ठुकरा रही है (१०।९५ सूक्त और ५।४१।१९)। दीर्घतमाने उशिज् नामकी दासीके गर्भसे कक्षीवान् ऋषिको पैदा किया था (१।१८।८)।

आर्यगण रथकी सवारी किया करते थे। रथमें घोड़े जुते रहते थे। कभी-कभी गदहे भी रथमें जोते जाते थे (१।११६।२)। हैसियतके मुताबिक रथ सोने या काठके होते थे (३।४१।२, १०।८५।२०)। सेमल या पलाशकी लकड़ीका भी रथ बनाया जाता था। भृगु (इनके वंशीय भी) रथ बनानेमें बड़े होशियार थे (१०।३९।१४)। घोड़े सुन्दरतासे सजाये जाते थे (४।२।८)। युद्धमें भी ये रथकी सवारी ही किया करते थे। धनुर्बाण इनके प्रधान अस्त्र थे। कवच पहनते थे। सिरकी रक्षाके लिये लोहे या सोनेका टोप भी पहनते थे। बाणकी रगड़से अँगुलियोंको बचानेके लिये ये हस्तघ्न या दस्ताना भी पहनते थे। बाण तरकसमें रखे जाते थे। तलवार और भालेसे भी ये लड़ते थे (६।७५ सूक्त और ८।९६।३ मंत्र)। छुरी और तलवार चलानेकी भी कलाको ये जानते थे (५।५७।२)। लोहेके अस्त्र जब भोथर हो जाते थे, तब उनपर शान चढ़ायी जाती थी (६।३।५)।

अरण्य-वासी ऋषिगण भी युद्ध किया करते थे (६।२०।१); क्योंकि इनके पास भी गाय, घोड़े, सुवर्ण, जौ और बाल-बच्चे होते थे (९।६९।८)।

आर्योंका ऋग्वेद-कालीन सबसे बड़ा युद्ध दाशराज्ञ-युद्धके नामसे प्रसिद्ध है। यह बड़ा ही भयानक युद्ध हुआ था (७।८३।७, ७।१८ सूक्त)। इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र वृत्रका शिरश्छेद किया था (१०।८।९)। शम्बरके निन्यानवे नगरोंका विनाश किया था (१।५४।६) और पिप्रु नामक असुरके ५० हजार काले वर्णवाले राक्षसों (दस्युओं) की सेनाको मार भगाया था (४।१६।१३)। इस युद्धमें इन्द्रका विपक्षी कुयव भी था, जिसकी दोनों स्त्रियोंको, शिफा नदीमें, स्नान करते समय इन्द्रने मार डाला था और चुराये हुए धनोंको उस नदीसे निकाला था (१।१०४।३)।

आर्यगण गर्भ-रक्षाके लिये प्रार्थना करते थे (१० । १६२ सूक्त)। दुःस्वप्न-नाशके लिये प्रार्थना करते थे (१० । १६४ सूक्त) और "जीवेम शरदः शतम्" कहकर सौ वर्ष जीनेके लिये प्रार्थना किया करते थे। आर्योंकी परमायु सौ वर्षोंकी थी (१० । ८५ । ३८)। रोग-निवारणके लिये भी प्रार्थना की जाती थी (१ । १३७ सूक्त)। धन-प्राप्तिके लिये तो पद-पदपर स्तुतियाँ की गयी हैं। भिक्षु-सूक्त (१० । ११७ सूक्त) पढ़ने लायक है।

इन्द्र दाढ़ी मूँछ रखते थे (१०।२३।१), वसिष्ठके पुत्र दाहिनी तरफ बाल सजाते थे (७।३३।१), बाल बनानेके लिये नाई रहता था (१०।१४२।४)।

पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक और पाप-पुण्यके ऊपर आर्योंका पूर्ण विश्वास था (१०।९७।३)। पिताकी आज्ञासे एक बार नाचिकेता यम-लोक देखने गये थे

वहाँ यमका भयङ्कर रूप देखकर वे डर गये थे (१०।१३५।७)। अश्व-मेध-यज्ञ करनेसे स्वर्ग-लाभ होता था (१०।१६७।१)। काम करानेके बाद दक्षिणा देनेपर ही स्वर्गकी प्राप्ति होती थी। अश्वदान करनेवाला सूर्य-लोक जाता था, सोना देनेवाला अमर हो जाता था और वस्त्रदान करनेवाला दीर्घायु प्राप्त करता था (१०।१०७।२)। आचार्य सायणने लिखा है कि, "त्र्यम्बकं यजामहे" (७।५९।१२) मन्त्रका जप करनेसे भी लोग दीर्घायु होते हैं।

बुद्धिमान् लोग वस्तुओंके नामसे भाषाकी शिक्षा देते थे। यहाँ उपमा दी गयी है कि, जैसे स्त्री सज-धजकर पतिके पास जाती है, वैसे ही वाग्देवी बुद्धिमानोंके पास जाती थी। विद्याध्ययनके विषयमें खूब जोर दिया गया है (१०।७१ भाषा-सूक्त)। कहा है कि, जो नहीं पढ़ता है, वह मूर्ख हल जोतता है या ताना ठोकता है। ऋग्वेदभरमें कपासका उल्लेख नहीं है। कपड़े ऊनके बनाये जाते थे। इसी सूक्तमें चलनीके द्वारा सत्तू चाले जानेका भी उल्लेख है। भूना जौ, सत्तू और आटेका उपयोग होता था (३।५२।१ में)। जगह-जगह भनसार (भँड़-भूँजेकी दूकान) थी (६।११।२।३)। ऋग्वेदमें नमकका जिक्र नहीं मिलता।

आर्योंको ज्योतिष ज्ञान भी था। लिखा है, सूर्य (वरुण) ५०५९ योजन रोज चलता है। एक दण्डमें उसकी गति ७६ योजन है। उषा सूर्यसे ३० योजन आगे रहती है अथवा सूर्यसे वह आधा दण्ड पहले उदित होती है (१।१२३।८)। वे बारह राशियाँ और पाँच ऋतु ही मानते थे। हेमन्त-शिशिरको एक ऋतु मानते थे (१।१६४।११-१३)। उन्हें मलमासोंका ज्ञान था (१।२५।८)। सूर्य-ग्रहणकी रीति जानते थे (५।४०।५६)। सूर्यके दाक्षिणायन होनेपर वृष्टि होती है, यह भी जानते थे (६।३२।५)। मुद्रा-नीतिके विषयमें इनकी थोड़ी-बहुत जानकारी थी (५।२७।२)। विशेषतः वस्तुओंकी कीमत गौओंसे लगायी जाती थी।

शकुन्त, मयूर, नेवला, बिच्छू और साँप आदि विषधर जीवोंके विष-वेगको हटानेके लिये मंत्रों द्वारा प्रार्थनाएं करते थे (१।१९१।१-१६)। पक्षियोंकी बोलियोंसे शकुन और अशकुन भी होते थे। अशकुन होनेपर २।४२ और ४३ सूक्त जपनेको कहा जाता था।

वसिष्ठ एक समय समुद्रमें नौका द्वारा सैर कर रहे थे। जब समुद्र-तरंगोंसे उनकी नौका डगमगाने लगी, तब उन्हें झूला झूलनेका-सा मजा मिलने लगा (७।८८।३)।

ऋग्वेदके नवम मण्डलसे सामवेदका कलेवर पुष्ट हुआ है और इसीसे अथर्ववेद पीवर है। सामवेदमें तो निजके कुल ७६ मन्त्र हैं ही। दसवें मण्डलके १वें सूक्तके ६ से ९ मंत्र प्रथम मण्डलके २३ वें सूक्तके २० से २३ तक ज्योंके त्यों हैं। बालखिल्य सूक्त (८।४९ से ५९ सूक्त तक) मैक्समूलरके मत से ११ हैं; परन्तु सायणने अपने ऐतरेय-ब्राह्मणके भाष्यमें ८ ही माने हैं। सायणाचार्यने १०।१२।५ और १०।११।६ मन्त्रोंका भाष्य नहीं किया है। ऋग्वेदके मन्त्रोंकी संख्या आर्य १५००० मानते थे (१०।११४।८)

ऋग्वेदमें अग्नि, इन्द्र, सूर्य, दस्रद्वय आदिकी प्रार्थनाएँ हैं। कहीं तैंतीस और कहीं ३०३३९ देवोंका उल्लेख है (१।६२।४, १०।५२।६, ३।९।९)।

उस समय घोड़े, ऊँट और कुत्तेकी पीठपर लोग अन्न आदि ढोते थे (८।४६।२८)। ऋग्वेदमें चावलका उल्लेख नहीं है। एक राजाने एक बार ऋषियोंको ६० हजार घोड़े, २ हजार ऊँट, १ हजार

काली घोड़ियाँ और १ हजार गायें दान दी थीं (८।४६।२२)। जहाँ पशुओं का दान होता था, वहाँ दास भी दान दिये जाते थे। चेदि-वंशी राजाने भी ब्राह्मणोंको बहुत-सी गायें और ऊँट दानमें दिये थे (८।५।३७)।

कीकट (वेबर और विलसनके मतसे मगध-प्रदेश) का राजा अनार्य था, उसका नाम प्रमगन्द था (३।५३।१४)। सरयूके तीरपर अर्ण और चित्ररथ नामक दो राजाओंका वध हुआ था (४।३०।१८)। सारे ऋग्वेदमें गङ्गाका दो बार उल्लेख है (६।४५।३१ और १०।७५।५)।

लाश जलायी जाती थी, यह बात भी मिलती है। आर्य अग्निसे प्रार्थना करते थे कि, "हे अग्नि, इसकी देहको जलाते समय मृदुलतासे जलाना और इसकी आत्माको स्वर्ग पहुँचा देना" (१०।१६।१)। जुआ भी खेला जाता था (१०।३४।१ और १४२।६)।

१०।८२।१ में विश्वकर्मा द्वारा सृष्टि मानी गयी है। द्युलोक और भूलोककी सृष्टि साथ ही हुई थी, पीछे ये विभक्त हो गये। सृष्टि पहले जलाकृति थी, यह भी कहा गया है। सृष्टि-कर्त्ताको सब नहीं समझ सकते हैं। १०।१२९ सूक्त सृष्टि विषयक ही है। इसमें प्रलय कालके बाद सृष्टि होती है, ऐसा कहा गया है। ५।२९।१० में नासिका-विहीन और शब्द-रहित जातिका वर्णन मिलता है। हिरण्यकशिपुके पुरोहित शण्डामर्कका जिक्र किया गया है (२।३०।८)।

ऋग्वेदके अनेक कथानक उपमाओंके आधार-पर अवलम्बित हैं, क्रम-बद्ध नहीं हैं। यह कोई बात नहीं कि, उस समयके सारे आर्य अत्यन्त उन्नत थे। कुछ आर्योंमें अवश्य थोड़ी-बहुत नैतिक, सामाजिक कमजोरियाँ थीं। सायण-भाष्यसे जो कुछ जाना जा सकता है, वही ऊपरकी पंक्तियोंमें है। इसमें सन्देह नहीं कि, सायणके द्रोही भी, पूर्व और पश्चिममें, अनेक हैं, और इसमें भी सन्देह नहीं कि, सायणके कट्टर अनुयायी भी असंख्य धार्मिक और ऐतिहासिक हैं। पाठकोंकी जैसी रुचि हो, वैसा अभिमत स्थिर करें। मुझे तो ऋग्वेदके कुछ ऐतिहासिक सामग्री देनेवाले मन्त्रोंपर सायणका अभिमत भर उपस्थित कर देना था।

हाँ, एक बात और। ऋग्वेद (१।८६।१०, १।७।९ और १।१००।१२) के भाष्यमें सायणाचार्यने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णोंके सिवा पाँचवें वर्ण निषादका भी उल्लेख किया है। आर्यजातिके वे निषाद कदाचित् उसी तरह गाय, बैलका मांस खाते हों, जैसे आजकल हिन्दू-जातिके चमार, मुसहर आदि खाते हैं।

ऋग्वेदका भारतवर्ष

प्रोफेसर सद्गुरुशरण अवस्थी एम० ए०
(प्रेम-मन्दिर, कानपुर)

Mons. Leon Delbos ने लिखा है "There is no monument of Greece or Rome more precious than the Rigveda." वास्तवमें ऋग्वेद एक स्वच्छ दर्पण है, जिसमें हम अपने अतीत गौरवकी झलक, अच्छी तरह, देख सकते हैं। ऋग्वेदका भारतवर्ष उन्नतिके शिखरपर पहुँच चुका था। साहित्य, विज्ञान, कला-कौशल इत्यादिमें वैदिक आर्योंने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। उनकी विजय-पताका भारत-भूमिपर फहराती थी और एक समय था, जब कि, संस्कृत-भाषा सर्वत्र समझी जाती थी।

बहुत दिनोंतक पाश्चात्य विद्वानोंका यह विश्वास था कि, संस्कृत कोई पृथक भाषा न थी—ग्रीक भाषाके अनुकरणसे उसकी उत्पत्ति हुई है। ऐसे विचारवालोंमें डूगल्ड स्टेवर्ट (Dugald Stewart) उल्लेखनीय हैं। परन्तु पिछले दिनों जर्मन संस्कृत-विद्वानोंने यूरोपका यह भ्रम दूर कर दिया।

ऋग्वेदमें (१०।७५) "सिन्धु" नदीका विस्तृत वर्णन किया गया है। आजकल इस नदीको इंडस नदी भी कहते हैं। यूनानी भाषामें इसीसे भारतवर्षका नाम India हुआ है। पर्शियन लोगोंने "सिन्धु" का अपभ्रंश "हिन्दु" कर दिया और फिर इसीसे "हिन्दुस्तान" बना।

धीरे-धीरे आर्यलोग आगे बढ़े। यमुना नदीका भी नाम तीन बार ऋग्वेदमें आया है। इसके अतिरिक्त गंगाजीका भी नाम एक बार ऋग्वेदमें मिलता है; × किन्तु और किसी वेदमें कहीं गंगाजीका नाम नहीं लिखा है। यद्यपि भाँति-भाँतिके जीव-जन्तुओंके नाम ऋग्वेदमें पाये जाते हैं; तथापि 'मत्स्य' (मछली) का नाम केवल एक ही स्थानमें मिलता है। ऋग्वेदके समुद्र वह स्थान है, जहाँपर इंडसकी सहायक नदियाँ मिली हैं। ‡ नदीके एक "पार" से दूसरे पार जानेके लिये केवल नावोंका वर्णन है; किन्तु अथर्ववेदसे ज्ञात होता है कि, उस समय समुद्रसे लोग भली भाँति परिचित हो चुके थे।

ऋग्वेदमें हिमालय पहाड़का नाम पाया जाता है; किन्तु उसमें उसकी किसी चोटीका नाम नहीं लिखा है। विन्ध्याचल पर्वतकी भी कहीं चर्चा नहीं है और न नर्मदा नदीका नाम पाया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, ऋग्वेदके समयमें आर्यलोग उत्तरी भारतमें रहते थे।

"सोम"पानका हाल ऋग्वेदमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें "चावल" का नाम नहीं आया, यद्यपि बादवाले वेदोंमें पूजाके लिये इसकी चर्चा, कई स्थानोंपर, आयी है। "यव" (जौ) की उपजका हाल ऋग्वेदमें लिखा है।

ऋग्वेदमें वृक्षोंमें "अश्वत्थ" † वृक्षका वर्णन है। यज्ञमें अग्नि उत्पन्न करनेके कार्यमें पिप्पलकी लकड़ीके प्रयोगका वर्णन अथर्ववेदमें भी है; किन्तु भारतवर्षके सबसे प्रसिद्ध वृक्ष "न्यग्रोध"का नामतक ऋग्वेदमें नहीं है और अथर्ववेदमें केवल दो बार इसकी चर्चा की गयी है। जंगली जानवरोंमें सिंहका नाम ऋग्वेदमें पाया जाता है। चीतेकी चर्चा, ऋग्वेदमें, नहीं है; किन्तु दूसरे वेदोंमें कहीं-कहीं सिंहके स्थानमें इसीका नाम पाया जाता है। दो स्थानोंपर हाथीका नाम आया है। एक स्थानसे ऐसा जान पड़ता है कि, ऋग्वेदके अन्ततक हाथियोंके पकड़नेका यत्न भी किया जाता था। मेगास्थनीजके लेखोंसे सिद्ध होता है कि, ३०० बी० सी० के लगभग हाथियोंके पकड़नेका व्यवसाय, बड़ी धूमधामसे, चल निकला था। एक और

× ऋग्वेदमें दो बार (ऋ० १०।७५।५ और ६।४५।३१) गंगाका जिक्र आया है।—सम्पादक

‡ ऋग्वेदके अनेक स्थानों (१०।८८।४, १।११६।५ और ७।८८।३ तथा ३।३३।२ आदि आदि) में विशाल समुद्रोंका वर्णन है।—सम्पादक

† इस वृक्षका नाम पीपल है। इसका अर्थ इस प्रकार है—अ (नहीं) श्व (कल) स्थ (ठहरनेवाला)।—लेखक

वराहका नाम सिंहसे भी अधिक बार ऋग्वेदमें आया है। महिषके मांसको पका कर खानेकी भी चर्चा ऋग्वेदमें कई बार आयी है। ऋक्ष (भालू) और कपि (बन्दर) का नाम केवल एक बार आया है।

पालतू जानवरोंमें भेड़, बकरी, गधे, कुत्तेकी चर्चा ऋग्वेदमें है। गाएँ एक प्रकारका धन समझी जाती थीं और दक्षिणामें इनका दान दिया जाता था। यद्यपि यजुर्वेदमें एक स्थानपर लिखा है कि, गो-वध करनेवालेको प्राण-दण्ड देना चाहिये, तथापि ऋग्वेदमें ÷ पाणि-ग्रहण-संस्कार करानेवाली एक ऋचा-में गो-वध करना लिखा है। वृषभ-वध करना, इन्द्रकी आराधना-के लिये, ऋग्वेदमें आवश्यक बात मानी गयी है।

अश्वोंकी चर्चा अश्वमेधके लिये आयी है। रथके खींचनेमें भी इनका काम पड़ता था। पक्षियोंमें राजहंसका हाल ऋग्वेदमें लिखा है। चक्रवाकका नाम केवल एक बार आया है। मयूर और पीत शुकोंका वर्णन भी ऋग्वेदमें आया है।

ऋग्वेदमें लवणका कहीं नामतक नहीं आया है, यद्यपि उत्तरी भारतमें ही नमक अधिकतासे पाया जाता है। सवर्णकी प्राप्तिका वृत्तान्त ऋग्वेदमें, कई बार, आया है। सवर्णके आभूषणोंके भी नाम आये हैं। दूसरी धातु "आयस" है, जिसको लोहा मानना अथवा कोई और धातु मानना इतिहा-सकारोंके तर्कपर निर्भर है। कई स्थानोंपर "आयस" शब्द केवल धातु शब्दका अर्थवाचक है।

वैदिक आर्य धीरे-धीरे बहुत-सी जातियोंमें बँट गये थे। परस्पर मतभेद होनेके कारण ये लोग प्रायः आपसमें लड़ते थे। एक 'जनपद' में कई 'विश' थे और प्रत्येक 'विश' में कई ग्राम और प्रत्येक ग्राममें कई घर थे। ये घर, अधिकांशमें, लकड़ीके बने हुए थे, जिनमें २४ घण्टे अग्नि जला करती थी। 'पुर' से दुर्ग द्वारा रक्षित नगरोंका बोध होता था, आजकलकी तरह केवल नगरोंका नहीं। पंचायतोंमें मुकदमा तय करना उस समय खूब प्रचलित था।

राज-संगठनमें राजा मुख्य समझा जाता था। राजत्व प्रायः पैत्रिक संपत्ति थी। बहुधा राजाका चुनाव भी किया जाता था। शान्तिके समय राजाका मुख्य कार्य प्रजाकी रक्षा करना था। उसके बदले प्रजा राजाको नजराना देती थी; किन्तु किसी प्रकारका कर नियत न था। राजाकी शक्ति परिमित थी। समितिके उद्देश्योंके प्रतिकूल वह कुछ नहीं कर सकता था। संग्रामके समय राजा प्रधान सेनापतिका काम करता था।

प्रत्येक राजाकी कीर्त्तिगान करनेके लिये कुछ चारणगण रहा करते थे। ये लोग कवि होते थे। प्रत्येक राजाके एक पुरो-हित होता था। यह राजाके बदले धार्मिक कार्य करता था। धीरे-धीरे राज-कार्यका अधिकांश कार्य पुरोहित ही करने लगा। धीरे-धीरे वर्ण (Caste) की भिन्नताका आभास होने लगा। ऋग्वेदके समयके आर्य लोग वीर सिपाही और शान्त नागरिक, दोनों ही थे। घरका सबसे बड़ा व्यक्ति गृहपति था। कन्याके विवाहके लिये गृहपतिकी आज्ञा अत्यावश्यक थी। विवाह वर्तमान विवाह-प्रथाकी भाँति होता था। बारात लड़कीवालेके यहाँ जाती थी। लड़कीके ही यहाँ भाँवरें भी होती थीं। अथर्ववेदमें लिखा है कि, कन्याको सन्तानके लिये एक पत्थर नापना पड़ता था।

ऋग्वेदके समयमें स्त्रियोंका आदर होता था। वह पतिके यज्ञादि सब कार्योंमें पतिका साथ देती थी। निस्सन्तानको लोग धनहीनसे भी अधिक बुरा समझते थे। धन और सन्तान-की प्राप्तिके लिये अनेक यत्न लिखे हैं, किन्तु ऋग्वेदभरमें कहीं कन्या प्राप्त करनेके लिये किसी प्रकारकी इच्छाका उल्लेख नहीं है। अथर्ववेदमें कन्याकी उत्पत्तिको बुरा कहा है। यजुर्वेदमें भी कन्या-जन्मको दुःखकी दृष्टिसे देखा गया है।

मानव-जातिका सामाजिक जीवन उच्च था। इसका प्रमाण यह है कि, बलात्कार बड़ा भारी अपराध गिना जाता था। साधारण अपराध चोरी था। चोर रस्सीसे सूलीमें बाँधे जाते थे। ऋग्वेदमें ऐसे बहुत उदाहरण हैं।

ऋग्वेदमें वस्त्रोंका जो उल्लेख है, उससे मालूम होता है कि, उस समय लोग केवल दो वस्त्र पहनते थे। भेड़की ऊनके कपड़े भी पहने जाते थे। कर्णफूल, बिछुआ, चूड़ी इत्यादि आभूषणोंके नाम ऋग्वेदमें हैं। अथर्ववेदमें १०० दाँतोंके कंघे-का नाम लिखा है। बालके बढ़ानेकी विधि भी लिखी है। लोग बहुधा दाढ़ी रखते थे; परन्तु उसे बनवानेकी भी प्रथा थी।

÷ रमानाथ सरस्वती, राजन्द्रलाल मित्र तथा अनेक पाश्चात्य वेदाभ्यासियोंके मतसे ऋग्वेद (१।६१।१२) में गो-वधकी बात है। —सम्पादक

मनुष्योंका मुख्य भोजन दूध था। दूध प्रायः गायसे ही दुहा करते थे और कभी-कभी सोमके साथ मिला कर पीते थे। घीको लोग रुचिसे खाते थे। चनेको पीसकर आटेको घी अथवा दूधके साथ उबाल कर भी खाते थे। तरह-तरहकी तरकारियाँ भी खायी जाती थीं। त्योहारोंमें मांसका भोजन भी किया जाता था। + खाना खानेके बर्तन लकड़ीके होते थे; परन्तु पकानेवाले बर्तन किसी धातुके बने होते थे।

ऋग्वेदके समयके निवासी कमसे कम दो प्रकारकी मादक वस्तुओंका प्रयोग करते थे—सुरा और सोम। मनुष्योंका मुख्य व्यवसाय संग्राम करना था। रथपर और पैदल, दोनों ही भाँति से लोग लड़ते थे। घुड़सवारोंका कहीं भी जिक्र नहीं है। लोग कवच धारण कर तीर कमानसे लड़ते थे।

पालतू जानवरोंका व्यवसाय उस समय बहुत प्रचलित था। खेती करनेमें लोग यन्त्रोंसे काम लेते थे। शिकार खेलनेमें लोग बड़े निपुण होते थे। बड़ी-बड़ी नदियोंमें नाव चलाना लोग खूब जानते थे। अपने यहाँकी उत्पन्न हुई वस्तुओंको बदलना ही मुख्य वाणिज्य था। किसी प्रकारकी मुद्रा नहीं थी। भूषणोंका प्रयोग बहुधा मुद्राके बदले किया जाता था। इसीलिये "निष्क" (जिसके माने ऋग्वेदमें एक मालाके थे) बादमें एक मुद्रा हो गये। लुहार, बढ़ई इत्यादि श्रमजीवियोंका भी कहीं-कहीं उल्लेख है। चौपड़ खेलना उच्च जातिवालोंका मुख्य खेल था। ऋग्वेदसे यह नहीं ज्ञात होता कि, यह खेल कैसे खेला जाता था। इस खेलमें बेईमानी करना ऋग्वेदके अनुसार एक बड़ा भारी अपराध समझा जाता था। नृत्यकी भी प्रथा थी; किन्तु ऋग्वेदमें स्त्री-नृत्य लिखा है; पुरुषका नहीं। अनेक प्रकारके वाद्योंसे भारतवासी विज्ञ थे। दुंदुभि, वाण और वीणाके नाम ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। गानेकी चर्चा ऋग्वेदमें कई बार आयी है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि, वैदिक आर्य गायन-कलामें पूर्ण निपुण थे। ×

+ वाजसनेयसंहिता (पुरुषमेध-प्रकरण), तैत्तिरीयब्राह्मण (अश्वमेधप्रकरण), आश्वलायनगृह्यसूत्र (१ अध्याय) में बहुतोंके मतसे आर्योंके विविध-मांस-व्यवहारकी कथा है। अनेकोंका मत है कि, ऋग्वेद (१०।९१।१४) और (१०।८६।१४) में बैल और मरुको बलिका और ऋग्वेद (१।३१।१५) में पशुकी बलिका उल्लेख है।—सम्पादक

× घोड़े हलमें जोते जाते थे (ऋ० १०,१०१।७), लोग सोने और लोहेके कवच धारण करते थे (ऋ० १।५६।३), जुआ या द्यूत खेलते थे (ऋ० १।४१।९), सामजता आखलमें कूटी जाती थी (ऋ० १।२८।३), लोग स्वर्ण-खचित वस्त्र धारण करते थे (ऋ० १।२५।१३), सौर, चान्द्र, दोनों वर्षोंका व्यवहारमें लाते थे (१।२५।८)—ऐसी धारणाएं भी लोगोंकी हैं।—सम्पादक

किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि॥
(ऋ० १०।९५।२)

हे 'पुरुरवा' तुम्हारी इस सम्भोग-रहित सूखी बातोंसे मुझे अब क्या फल होगा ! मैं तो अब तुम्हारा सहवास छोड़ रही हूँ—तुम्हारी पटरानियोंसे दूर हो रही हूँ—जैसे अन्य उषाओंको पहली उषा छोड़ देती है। तुम अब मेरे पाससे घर लौट जाओ, मेरी अभिलाषा छोड़ दो। मैं (उर्वशी) वायुवेगसे चली जाऊँगी। (सायण-भाष्यका अनुवाद)

वैदिक कालका विवाह-विधान

ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह "सुधांशु"

[हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी]

उच्छृङ्खलताका विनाश करना ही मर्यादाका पहला लक्षण है। आरम्भिक वैदिक कालमें विवाहकी मर्यादा स्थिर नहीं थी। समयकी गतिके साथ विवाहकी मर्यादाका निबन्धन हुआ। हिन्दू-वैवाहिक पद्धतिके सूत्रधारोंमें सबसे पहले श्वेतकेतुका नाम लिया जाता है। सभी देशोंमें इसी प्रकार वैवाहिक सूत्रधार हैं। वैवाहिक उच्छृङ्खलताके कटु अनुभवका परिणाम ही विवाह-पद्धतिकी रचनाका मूल है। भारतवर्षकी तरह सभी देशोंमें इसी प्रकारकी परम्परा पायी जाती है। इस व्यवस्थाके नियामकोंमें मिस्रदेशी जनतामें मेनस, चीनियोंमें फोही, ग्रीकोंमें केक्रोप्स, लेपलैंडरोंमें जाभिस तथा अन्तर्जिसके नाम लिये जाते हैं। ऋग्वेदमें विधवा-विवाहका उल्लेख भी गौण रूपसे किया गया है। जैसा विधवा-विवाहका प्रचलन आजकल हो रहा है, वैसा वैदिक कालमें नहीं था। विवाह-पद्धतिमें विधवा-विवाहकी व्यवस्था न रहनेपर भी मनु-संहिता [९।६४-६६] के अनुसार प्राचीनकालमें राजा वेनने बल-पूर्वक विधवाओंके पुनर्विवाह कराये थे। ऋग्वेद [१०।९३।१४] + में राजा वेनका उल्लेख आया है।

वैदिक कालमें आजकलकी भाँति जातीय विभाजन नहीं हुआ था। ऋग्वेद [१०।९०।१२] की एक ऋचामें वर्ण-विभागका प्रसंग † आया है; किन्तु उस अंशकी भाषा और भावसे, वैदिक विद्वान् यह प्रमाणित करते हैं कि, ऋग्वेदका यह खंड, दसवाँ मंडल, उत्तर कालकी रचना है। मैक्समूलर, वेबर, मूर, कोलब्रूक, रमेशचन्द्र दत्त आदिने अपने विचार इसी प्रकार प्रकट किये हैं। यही कारण है कि, तत्कालीन समाजमें सगोत्रीय तथा सपिंडीयके बन्धनोंको छोड़कर अन्य किसी प्रकारका वैवाहिक बन्धन नहीं था। बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्वके प्रसंगमें कहीं-कहीं इस बन्धनका भी खण्डन किया गया है। ऋषि, राजा तथा साधारण प्रजाके विवाह-सम्बन्धमें विशेष प्रकारकी बाधाएँ नहीं थीं। ऋग्वेदके महान् सूक्तकारों—ऋषियोंकी भी कोई विभिन्न जातियाँ नहीं थीं। साधारण सांसारिक मनुष्यकी तरह वे भी समाजमें सम्मिलित और विवाहित थे। सम्पत्तिका हिस्सा लेना, लड़ाइयोंमें सम्मिलित होना, सब कुछ साधारण प्रजाकी तरह ही था ‡। पार्जिटरने पूर्व कालके ब्राह्मणोंको आर्य-संस्कृतिके बाहरका माना है ×। देखो,

---

+ वेनको असुर-राजा और रामचन्द्रको राजा लिखा गया है।—सम्पादक

† सायणाचार्यके मतानुसार इस मन्त्रमें चारो जातियों [ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि] की प्रजापतिसे उत्पत्तिकी बात लिखी है। ऋग्वेद [१।७।९, १।१००।१८ और १।८४।१०] में भी यास्क, औपमन्यु और सायणके अनुसार सब वर्णोंका उल्लेख है। —सम्पादक

‡ R.C.Dutta's History of Civilization in Ancient India, Vol. 1. P. 96.

+ F.E. Pargiter's Ancient Indian Historical Tradition, pp. 306-11

दासवों और असुरोंके अधिक सहयोग तथा आर्योंके पहले उनके वर्तमान रहनेपर ही सम्भवतः पार्जिटरने ऐसा कहनेका साहस किया है। उस समय आर्य और अनार्यमें भी अन्तर्जातीय विवाहका प्रचलन था‡। अनार्य दासियाँ, विवाहिता पत्नियोंकी तरह रहती थीं। यजुर्वेद-संहिताके अश्वमेध-खंडमें आर्य-शूद्र-विवाहके अनेक उदाहरण हैं। अनार्य दासियाँ आर्य पतियोंकी प्राप्तिके लिये बड़ी प्रयत्नशील रहती थीं। प्राग् ; वैदिक परम्पराके अनुसार गृह्यसूत्र-कालमें भी सेवकको अपने मृत स्वामीकी विधवा पत्नीपर वैध अधिकार प्राप्त था।= वैदिक कालमें पुत्र-प्राप्तिके लिये, देवरकी अनुपस्थितिमें, किसी मनुष्यसे भी संभोग करनेका अधिकार विधवाओंको सुलभ था। शिष्यका भी, परिस्थिति-विशेषमें, अपनी गुरु-पत्नीसे इस प्रकारका अश्लाघनीय सम्बन्ध था। श्वेतकेतुका जन्म इसी प्रकार बताया जाता है। भाई-बहन, पिता-पुत्री आदि कई प्रकारके विवाहोंका उल्लेख वैदिक साहित्यमें पाया जाता है; किन्तु इनमें कुछ तो सर्वथा रूपक हैं और कुछ अपवाद। ऋग्वेद (१०।१० सूक्त) में यम और यमीका, जो कई मन्त्रोंमें वार्त्तालाप है, वह भ्राता-भगिनी-विवाहके प्रमाणमें बहुधा उपस्थित किया जाता है। यमी कामाभिभूत होकर अपने भाई यमसे संभोगकी प्रार्थना करती है और यम उसे अस्वीकृत कर उपदेश देता है। ※ ऋग्वेदके अनुसार यम और यमीके माता-पिताके नाम उषा और आकाश हैं। इसी आधारपर मैक्समूलरकी भाँति कई वेदज्ञोंने यह विचार प्रकट किया है कि, यम-यमीका वार्त्तालाप सचमुच भ्राता-भगिनी-विवाहका दृष्टान्त नहीं है; बल्कि प्रकाश और अन्धकारका रूपक है। एक दूसरेको आलिङ्गन करनेके लिये अनादि कालसे अनन्त कालतक लालायित हैं और रहेंगे; किन्तु प्रकाश और अन्धकारका मिलन असम्भव है। ऋग्वेद (१०।८५) में इस प्रकारका एक प्रसङ्ग और भी है, जिसमें सूर्यकी कन्या सूर्यासे चन्द्रदेवके विवाहका वर्णन है। यह वर्णन भी सर्वथा रूपक मालूम होता है। विज्ञानने यह प्रतिपादित किया है कि, सूर्यकी किरणोंसे ही चन्द्रमा प्रकाशमान रहता है।÷ तत्कालीन आर्य इस बातसे परिचित थे। सूर्याका तात्पर्य सूर्यकी किरणोंसे ही है। सम्भवतः इसी बातको आलंकारिक ढंगसे वर्णन करनेके लिये सूर्या-चन्द्रका वैवाहिक विधान उपस्थित किया गया है।+ ग्रीफिथने भी अपने ऋग्वेदिक भाष्यमें उपर्युक्त बातकी पुष्टि, अपने ढंगसे, की है। पौराणिक साहित्यमें इस प्रकारके अनेक रूपक हैं, जो उत्तर कालमें व्यावहारिक सत्य ही समझे जाने लगे। यमका स्वरूप ऋग्वेदमें एक दूसरे प्रकारका है; लेकिन पुराणोंमें वही बड़ा विकृत और भयंकर हो गया है। ऋग्वेद (६।५५।५) † और अथर्ववेद (८।६।७) में पिता-पुत्री तथा माता-पुत्रके कुत्सित सम्बन्धकी चर्चा बतायी जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१५) में, शुनःशेपकी कथाके प्रसंगमें, मनुष्य अपनी माता और

‡ S. C. Sarkar's Some Aspects of the Earliest Social History of India, pp 86, 101.

= आश्वलायन-गृह्यसूत्र, ४।२।१८।

※ सायणाचार्यका भी यही मत है।—सम्पादक

÷ ऋग्वेद (१।८४।१५) और निरुक्त (२।६) में सूर्य-किरणोंसे चन्द्रके प्रकाशित होनेका स्पष्ट उल्लेख है।—सम्पादक

+ A. C. Das's Rgvedic Culture, footnote, p. 370.

† इस मंत्रमें पिता-पुत्री या माता-पुत्रकी कोई कुत्सित चर्चा नहीं है, बल्कि माता या रात्रिके द्वितीय पति सूर्य (प्रथम पति चन्द्र हैं) और भगिनी या उषाके उपपति सूर्यकी केवल स्तुति है। —सम्पादक

भगिनीसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये पत्नी-सम्बन्ध स्थापित करते कहे जाते हैं × । जिस पिताके केवल पुत्री ही रहती थी, वह विवाहके पहले अपने भावी जामातृसे यह प्रतिज्ञा करा लेता था कि, उसकी पुत्रीका प्रथम पुत्र उसका—पुत्रीके पिता का—होगा । संसारके अन्य देशोंमें अब भी इस प्रकारकी प्रथाएँ प्रचलित हैं।❀ वैदिक कालमें भी पुत्रीकी अपेक्षा पुत्रके लिये मनुष्य अधिक लालायित रहते थे। अथर्ववेदकी (६।११।३) एक ऋचामें पुत्र-प्राप्तिके लिये ही प्रार्थना की गयी है । पुत्री भी पुत्र-प्राप्तिका द्वार होनेके कारण उतनी उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखी जाती थी ।

ज्योतिर्विद्याके जानते रहनेपर भी वैदिक कालमें विवाह-सम्बन्धके लिये इसका उपयोग नहीं किया जाता था ।+ ऐसा करनेसे सम्भवतः युवक-युवतीके विवाहमें एक प्रकारकी जो स्वच्छन्दता थी, वह विनष्ट हो जाती । वैदिक कालके उत्तरार्द्ध या अन्तसे ही ज्योतिष गणनाकी उपयोगिता विवाहोंमें आने लगी । उस समय विवाहके कई स्वरूप थे; किन्तु मनु-कथित आठों प्रकारके विवाहोंका कहीं वर्णन नहीं है । आर्ष और गान्धर्व रीतियोंसे ही अधिकांश विवाह-सम्बन्ध होते थे । विवाहमें घटक (मध्यस्थ) की आवश्यकता भी होती थी । ऋग्वेद (१।११२।१९) × में पुरुमित्र-की कन्याका विवाह उसकी इच्छाके विरुद्ध, राक्षसी रीतिसे, हुआ है । इस प्रकारके विवाह वैदिक कालमें बहुत कम होते थे। विवाह-सम्बन्धके लिये पिता अथवा बड़े भाईकी अनुमतिका सम्मान करना बहुत आवश्यक था । किसी कारण-वश जिस कन्याका विवाह नहीं हो सकता था, उसे पिताके घरमें ही आजीवन कुमारी रहकर जीवन व्यतीत करना पड़ता था । कितनी ही कुमारियोंके विवाह बिलकुल प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्थामें होते थे। इस प्रकारकी कुमारियोंकी संख्या अधिक होनेपर भी समाजमें उनका कुछ अधिक सम्मान नहीं था । उनके पथ-भ्रष्ट होनेकी बराबर आशंका बनी रहती थी । ऋग्वेद (१।१२४।७, ४।५।५) ❀ में एक अभिभावक-हीन युवती यौवनकी मादकतासे पथ-भ्रष्ट होकर वेश्या बन गयी । अवैध यौन-मिलनसे उत्पन्न शिशुओंका वर्णन भी ऋग्वेद (२।२९।१)† में आया है । कुमारी-पुत्रके प्रसंग भी कई बार, कई स्थलोंमें, आये हैं ‡ अविवाहिता स्त्रियोंके सिवा विवाहिता स्त्रियोंमें भी कभी-कभी दुराचरणके लक्षण पाये जाते थे। ऋग्वेदकी (१।३४।३, ४।५।५, ६।३८।५) † कई ऋचाओंमें पत्नियोंके गुप्त प्रेमियोंका वर्णन

× Dr. S. C. Sarkar observes in the "Ait. Bra". a very old gatha is cited, where for the sake of sons men are said to unite with their mother and sister as with a wife.—Earliest Social History of India, pp. 75-6.

❀ Westermarck's The History of Human Marriage (in each of the three vols).

+ R. Raghunath Rao's The Aryan Marriage, pp. 172.

× इस मन्त्रमें पुरुमित्र या उनकी कन्याका पता नहीं है । —सम्पादक

❀ इन दोनों मन्त्रोंमेंसे एकमें भी आधुनिक वेश्याकी बात नहीं है । ४।५।५ में यज्ञ-शून्या और कर्कशा रमणीका उल्लेख अवश्य है ।—सम्पादक

† इस मन्त्रमें गुप्तप्रसविनी स्त्रीका उल्लेख है । —सम्पादक

‡ Profs. Macdonell and Keith's vedic Index, I. 395-396.

† इन मन्त्रोंमेंसे केवल ६।३८।५ में ही "गुप्त प्रेमिका"का (प्रेमीका नहीं) वर्णन है । —सम्पादक

है। इस प्रकारके प्रच्छन्न व्यभिचारके लिये बड़े-बड़े कठिन दण्डोंका विधान था।

विवाह-सम्बन्धके चुनावका अधिकार अधिकांशतः कन्याकी इच्छापर ही निर्भर रहता था। रूप, धन, कुल, यौवन आदिपर विचार कर ही सम्बन्धका निर्णय होता था। जिस कन्यामें किसी प्रकारका कोई दोष रहता था, उसके लिये विवाहमें अधिक व्यय करना पड़ता था। ज्यादा दहेज और और पैतृक सम्पत्तिमें हिस्सा देनेपर उस कन्याका विवाह हो जाता था। जिस पुरुषमें कोई दोष रहता था, उसका विवाह भी हो जाता था; पर इसके लिये कन्याके पिताको धन देना पड़ता था। वैदिक कालमें इस प्रकारके कार्य व्यापारकी दृष्टिसे नहीं किये जाते थे, बल्कि व्यभिचार-वृत्तिको कम करनेके लिये।

हिन्दू-समाजमें विवाहकी रीतियाँ, थोड़ेसे प्रान्तीय परिवर्त्तनोंको छोड़कर, वैदिक कालसे लेकर वर्त्तमान समयतक, प्रायः एक ही ढंगसे चली आ रही हैं। वैदिक कालमें कुछ दिनोंतक विवाहमें जो मनुष्य मध्यस्थ रहता था, उसीको लोग 'वर' कहते थे; किन्तु पीछे 'दुल्हे' के लिये ही 'वर' शब्द रूढ़ हो गया। 'दुलहा' शब्दका मूल दुर्लभ है। सम्भवतः इसी दुर्लभताके कारण अपनी पुत्रीके विवाहके लिये माता-पिता अधिक चिन्तित रहते हैं। कन्याका विवाह पिताके घरमें ही होता था। बारात बड़ी धूमधामके साथ पहुँचती थी। उस समय बाल-विवाहका प्रचार नहीं था। बाल-विवाहका वास्तविक प्रचार सूत्र-कालके उत्तरार्द्धसे समझना चाहिये। उसी समयसे "नग्निका तु श्रेष्ठा" कन्याके विवाहके लिये प्रयत्न होने लगा।

पाणि-ग्रहणके बाद सप्तपदी-विधि होती थी। यह विधि बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती थी। अथर्ववेदमें इस बातका सांकेतिक उल्लेख है कि, पाणि-गृहीता कन्या एक पत्थरपर खड़ी होकर ध्रुव ताराकी ओर देखती हुई कहती थी कि, "हे ध्रुव! जिस प्रकार तुम अपने स्थानपर निश्चित हो, उसी प्रकार मैं भी अपने पति-कुलमें दृढ़ रहूँ। वैदिक कालमें विवाहके समय पद-पदपर मंत्र पढ़े जाते थे। सप्तपदी-विधिके अनन्तर कन्या अपने पतिके घर लायी जाती थी। पति-गृहमें आते ही गृह-प्रवेश-होम होता था। इतनेसे ही विवाहकी विधियाँ समाप्त नहीं हो जाती थीं। बिना चतुर्थी कर्म किये उन 'वर-कन्या' या 'पति-पत्नी' को मिलनेके लिये अवकाश नहीं दिया जाता था। ब्रह्मचर्यका निर्वाह करना बहुत ही आवश्यक समझा जाता था। भोजनमें नमकका सर्वथा अभाव रहता था। दोनोंको तीन दिनोंतक भूमिपर लेटना पड़ता था। वर-कन्याके बीचमें गन्धर्व देवके प्रतिनिधि-स्वरूप उदुम्बर वृक्षकी लकड़ी रखी जाती थी। इसका एक तात्पर्य यह भी था कि, युगल युवक-युवतीके ब्रह्मचर्यका कोई साक्षी रहना चाहिये। चौथे दिन शेष होम होता था।

प्रथम सहवासके लिये शयन कक्ष, बड़ी सुंदरताके साथ, सजाया जाता था। सहवासके लिये पत्नीकी ओरसे ही प्रस्ताव किया जाता था। मंत्र पढ़कर पति उसे स्वीकृत करता था। यहींसे पारिवारिक जीवनका आरम्भ होता था। पत्नीको समय-समयपर, आवश्यकतानुसार, अपने पिताके घर जानेकी अनुमति मिलती थी; किन्तु इसकी आवश्यकता बहुत कम समझी जाती थी। वैदिक कालकी विवाह-पद्धतिमें द्विरागमनकी चर्चातक नहीं है। द्विरागमनका विधान, सम्भवतः उसी समयसे हुआ है, जबसे भारतवर्षमें बाल-विवाहका प्रचार होने लगा। छोटी-छोटी कन्याएँ विवाहके समयसे ही अपने-अपने पति-गृहमें नहीं रह सकती थीं। उनकी सुविधाके लिये ही द्विरागमनका विधान किया गया मालूम पड़ता है।

वैदिक कालमें विधवाओंके पुनर्विवाहकी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी। उस समय विधवाओंकी संख्या ही इतनी न्यून थी कि, उनके लिये किसी व्यवस्थाकी आव-

श्यकता न पड़ी। किसी भी पुत्राभिलाषिणी विधवाके लिये नियोगकी राह खुली थी। पुत्रकी उत्पत्तिके अनन्तर पुनर्विवाहकी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। युवावस्थामें विवाह होनेके कारण उस समय बहुत ही कम स्त्रियोंको वैधव्यका दुर्भाग्य प्राप्त होता था। उत्तर कालसे बाल-विवाहका आरम्भ हुआ जान पड़ता है और इसी समयमें पुनर्विवाहके विधान बनाये गये हैं। इस समय भी अक्षत-योनि विधवाओंके लिये समाजमें विवाहकी विशेष सुविधाएँ थीं।

वैदिक कालमें, एक पुरुषके, एक ही विवाहिता स्त्री होती थी; किन्तु कई ऋचाओंसे यह भी प्रकट होता है कि, एक पुरुष कई स्त्रियोंसे विवाह कर सकता था। पुरोहितोंको दक्षिणामें कभी-कभी अनेक युवती दासियाँ भी मिल जाती थीं। स्त्रियाँ भी, विशेष परिस्थितियोंमें, पुत्र-कामनासे अन्य पुरुषोंके साथ सहवास कर सकती थीं। इतना होनेपर भी स्त्रियोंके चरित्र तथा नैतिक उच्चतापर बहुत ध्यान दिया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेदमें कई पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें स्त्रियोंके चरित्रपर अविश्वास प्रकट किया गया है और उनके प्रेमको अस्थिर बताया गया है। वैदिक कालमें बहुत-सी सुशिक्षिता स्त्रियाँ भी थीं, जिनका सम्मान बड़े-बड़े ऋषितक करते थे। घोषा, लोपामुद्रा, ममता, अपाला, सूर्या, शची आदि वैदिक मंत्रोंकी रचयित्रियाँ थीं।* वैदिक कालमें स्त्रियोंको बड़ी स्वच्छन्दता थी। पठन-पाठनमें, विवाह-सम्बन्धमें, अपने विचारका उपयोग वे सब कर सकती थीं। बड़ी बहनका विवाह, यदि किसी अवगुणके कारण रुका, तो छोटीका विवाह बिना किसी अड़चनके हो जाता था।

वैदिक कालकी तुलना वर्त्तमान समयके साथ नहीं हो सकती। इस समय, समाजमें अनेक प्रकारकी उच्छृंखलताओंके रहते हुए भी, वैवाहिक विधानोंपर बड़ा दृढ़ नियंत्रण है। नियोगकी प्रथा पौराणिक कालतक आते-आते प्रायः विलुप्त हो गयी। विधवा-विवाहके नवीन आन्दोलनने उसका अन्तिम संस्कार भी कर दिया। स्त्रियोंकी स्वाधीनतामें भी, स्मृति-कालसे ही, बड़ी कतर-ब्योंत कर दी गयी है। विवाहकी पद्धति अबतक प्रायः एक ही प्रकारसे चलती आ रही है। गृह्य-सूत्रोंमें भी विवाहके वैदिक विधान ही निरूपित किये गये हैं; किन्तु स्मृति-ग्रन्थोंमें बहुत-कुछ सैद्धान्तिक अन्तर पड़ गया है।

* ऋग्वेदके अनेक मंत्रों और सूक्तोंको निम्न लिखित रमणियाँ रचयित्री अथवा कुछ लोगोंके मतानुसार आविष्कर्त्री थीं—विश्ववारा, घोषा, लोमशा, ममता, अपाला, इन्द्राणी आदि। —सम्पादक

सोम-रस

विद्यानिधि प० सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव ऋग्वेदके मराठी-भाषान्तरकार

(वैदिकवाङ्मयप्रकाशक मण्डल, ४८, शनवार पेठ, पूना)

ऋग्वेदके नवें मण्डलमें पवमान सोमका ही सर्वत्र वर्णन है। इस मण्डलको पढ़नेसे सोमकी सारी बातें विदित हो जाती हैं।

सोमयाग करनेके समय सोमवल्ली खरीदनेकी विधि है। पातंजल महाभाष्यसे मालूम होता है कि, पूर्व कालमें सोम बेंचना भी एक व्यवसाय था। सोम खरीदनेके लिये अध्वर्यु, यजमान आदि जाया करते थे। गो-रस बेंचनेवालेके सदृश सोम बेंचनेवाला भी निन्द्य समझा जाता था। सोम दिनमें तीन बार तैयार किया जाता था।

कहा गया है, पहले यज्ञशालाके बाहर ब्राह्मणसे खरीदकर सोमवल्ली यज्ञशालामें लाकर रखे। सोम सूख न जाय, इसके लिये उसपर जल-सिंचन करे। अनन्तर अभिषवण-फलकपर बिछाये कृष्णाजिनपर उसे रखे। सोम कूटनेके दो फलक अभिषवण-फलक कहलाते हैं। ये ३६ अँगुल लम्बे और १८ अँगुल चौड़े होते हैं। चार पत्थरके यन्त्रोंसे यह वल्ली अभिमंत्रित जलसे बीच-बीचमें सींचकर कूटे। फिर आहवनीय पात्रमें यह कूटी हुई वल्ली डालकर उसमें खूब जल डाले और वल्लीको मल-मलकर पानीमें मिला दे। तलछट बाहर निकाल ले। इसे ऋजीष कहते हैं। फिर दशापवित्र वस्त्रके द्वारा इसे छाने। इस वस्त्रमें बीचमें एक छेद करके उसमें ऊनका डोरा डालकर उसे उसमें ऐसे बाँधकर रखे कि, उस डोरेसे सोम-रसकी धार छनती हुई नीचे गिरे। यह सोमरस भिन्न-भिन्न देवताओंके प्रीत्यर्थ अग्निमें हवन करके शेष भाग सदोमंडपमें होम करनेवाले, वषट्कार कहनेवाले, उद्गाता, यजमान, ब्रह्मा और सहायक क्रमसे भक्षण करें।

पूनेके समीप रानशेर नामकी एक वनस्पति बहुत होती है। शायद यही सोम-वल्ली हो। इसका कद चार हाथ है, हाथकी उंगलियों जैसी मोटी इसकी अनेक शाखाएँ होती हैं। रङ्ग हरा होता है। रस कषाय है। पीनेसे कोई नशा नहीं आता। कहते हैं, यह मूल सोम-वल्लीकी प्रतिनिधि है। सोमका कोई पेड़-पौधा नहीं होता, ऐसा शास्त्रमें लिखा है। मूल सोम न मिले, तो पूतिक तृण लेनेकी विधि श्रौतसूत्रोंमें है।

इस सोमरसमें, दूध, दही, सुवर्णरज और घृत, देवताभेदसे मिलाकर, अर्पण करनेकी विधि है। आश्वलायन-श्रौतसूत्रका वचन है कि, सोम-वल्ली न मिले, तो पूतिक अथवा फाल्गुन नामक वनस्पतिका उपयोग करे। आजकल जब कहीं सोमयाग होता है, तब यही किया भी जाता है।

सोमलताका रंग प्रायः हरित् ही वर्णन किया गया है। भाँग जैसी होती है, वैसा ही इसका रङ्ग होगा। आजकलके सोमयज्ञके सोमका रङ्ग ऐसा ही होता है। इसे सुवर्ण भी कहते हैं। पत्ते इसके सुडौल, देखनेमें सुन्दर, होते होंगे।

सोमकी स्तुतिमें अनेक गुणोंका वर्णन है। इसमें उत्साह बढ़ानेकी विलक्षण शक्ति है। युद्धमें तो इसका उपयोग अवश्य ही किया जाता था। इन्द्र जब सोमपान करते थे, तब अजेय हो जाते थे। अन्य देवता भी सोमपान करते थे। यह सोम बुद्धि बढ़ानेवाला है। इससे वाक्शक्ति बढ़ती है। इसमें मादकता होनेका वर्णन है। इसे सबसे अधिक मादक कहा गया है। नाना प्रकारके रोग इसके द्वारा अच्छे होते थे।

सोमरस तैयार करते हुए उसमें दूध, दही, घृत, मधु, जल और सत्तू या गेहूँका आटा मिलाया करते थे। इसलिये उसे यवाशिर, गवाशिर, अशिर आदि भी कहते थे। इससे उसमें विशेष माधुर्य उत्पन्न होता था। मधुमत्, मधु, पीयूष भी उसके नाम हैं। कामी मनुष्य जिस प्रकार दीवाना होकर हर जगह अपनी रमणीको ढूँढ़ता है और उसकी प्रत्येक चाल और वस्तुसे आसक्त होता है, उसी प्रकार सोमभक्त ऋषि सोमकी छननी और तलछटके वर्णनमें मगन दिखायी देते हैं।

ऋग्वेदकालमें भी सोम और सुराका भेद था। पीत सोमको सुराका दृष्टान्त दिया है और सुराके मदको दुर्मद कहा है (ऋ० ८।२।१२)। शराब, क्रोध और पासा पापकी ओर ले जानेवाले हैं (ऋ० ७। ८६।६)। सुराका जैसा यहाँ वर्णन है, वैसा सोमका कहीं भी नहीं है। सोमका वर्णन इसके उलटा है। सौत्रामणि-यागमें सोमके अतिरिक्त सुराका पृथक् विधान भी है।

सोमके पर्वतावृध और गिरिष्ठ नामोंसे यह मालूम होता है कि, पर्वतके ऊपर समतल भूमिमें यह वनस्पति मिलती होगी। मूजवान, शर्यणावत, आर्जीकीया, सुषोमा, सिन्धु, ये सोमके स्थान बताये गये हैं। मूजवान् हिमालयका ही एक पर्वत है। शर्यणावत नामका सरोवर हिमालयके पाद-प्रदेशमें कुरुक्षेत्रके ऊपर है। आर्जीकीया (व्यास) और सुषोमा (सिन्धु) नदियोंके नाम हैं और ये नदियाँ पंजाबके पास पहाड़ी प्रदेशमें ही हैं।

सूत्र-वृत्तिकार गार्ग्यनारायणने लिखा है कि फाल्गुन और पूतिक वनस्पतियाँ अप्रसिद्ध हैं, इसलिये जिन्हें मालूम हों, उनसे इन्हें जानना चाहिये। वेदार्थ-यत्नकार पण्डितने लिखा है कि, आजकल सोमयागोंमें जिसे सोमरस कहकर पान करते हैं, उसमें सोमरसके वर्णित माधुर्य, मदादि कोई भी गुण नहीं हैं; इसलिये इसे सोमरस माननेमें शंका होती है।

सोम द्युलोकसे पर्जन्यके द्वारा नीचे आता है, इस प्रकारका वर्णन अनेक स्थानोंमें है। सोम पहले द्युलोकमें था, पीछे पृथ्वीपर आया (ऋ० ९।३।१।१०)। इसे दिवःपुत्र, दिवःशिशु आदि कहा गया है। पर्जन्य पुत्र भी कहा है। द्युलोकके साथ सोमका यह सम्बन्ध लाक्षणिक ही होगा। सोमवल्लीकी खेती कहीं होती हो, ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। नदीके किनारेकी काईकी तरह पानीमें या पानीके आसपास यह पैदा होती होगी। इसलिये यह कैसे उत्पन्न होती है, इसकी किसीको कोई कल्पना नहीं हुई होगी।

उत्तरकालीन साहित्यमें सोमका अर्थ चन्द्र किया गया है। पर ऋग्वेदमें ऐसा अर्थ करने योग्य बहुत ही कम स्थान है। चन्द्र प्रतिदिन कम होता है। इसको कला देव भक्षण करते हैं और फिर यह बढ़ता है। तब सूर्यसे इसे सहायता मिलती है। छान्दोग्यादि उपनिषदोंमें सोमका अर्थ चन्द्र किया है। कौषीतकि-ब्राह्मणमें लिखा है कि, यज्ञमें जो रस ग्रहण करना होता है, वह चन्द्रमाके प्रतीकके तौरपर लेना होता

है। चन्द्रके क्षयका कारण ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें सर्वत्र यह बताया गया है कि, देव और पितर उसे भक्षण करते हैं। सोम और चन्द्रमाका ऐक्य ऋग्वेदके सूर्या-विवाह-सूक्तमें स्पष्ट है। इस विवाह-सूक्तमें सोम नक्षत्रोंके बीचमें बैठा है। ब्राह्मण जिस सोमको जानते हैं, उसे कोई खाता नहीं। ब्राह्मण जिसे निचोड़ लेते हैं वह कोई दूसरा ही सोम है, ऐसा आगे चलकर कहा है (१०।८५।३)। चन्द्रमाका सोमत्व केवल ब्राह्मण ही जानते हैं। समुद्रमें जो ज्वारा-भाटा आता है, वह सोमसे आता है, ऐसा भी उल्लेख है। इससे रात होती है, यह भी लिखा है। सोमलता और चन्द्रमाका भेदस्वरूप वर्णन इसीसे हुआ, मालूम होता है। चन्द्रमासे मन आह्लादित होता है, उत्साह बढ़ता है, समुद्रमें उभार आती है, कामवासना उद्दीपन होता है, नींद अच्छी लगती है, वनस्पतियाँ पुष्ट होती हैं, मनुष्य हृष्ट-पुष्ट होकर युद्धादि कर्म दृढ़तासे करने लगता है। ये सब बातें सोमलताके समान चन्द्रमामें भी हैं।

स्वान, भ्राज, अंधारी, बंभारी, हस्त, सुहस्त, कृशानु, विश्वावसु, मूर्धन्वान्, सूर्यवर्चा और कृति, इन एकादश गन्धर्वोंमें एक संरक्षक कृशानु हैं। स्वर्गसे श्येन जब सोम ले आया, तब कृशानुने उसे बाण मारा। उससे श्येनका एक पंख टूट गिरा। कृशानु धनुर्धारी था (ऋ० ४।२७)।

सोमके सम्बन्धमें ये कथाएँ भी प्रचलित हैं—

(१) सोमको श्येन स्वर्गसे पृथ्वीपर ले आया, ऐसी कथा ऋग्वेदके अनेक स्थानोंमें है। सोमको श्येनामृत कहा है। लाक्षणिक अर्थसे श्येन शब्द अग्नि, इन्द्रके लिये भी आया है।

(२) प्रजापतिके तैंतीस कन्याएँ थीं। उन सबको उन्होंने सोमराजासे ब्याह दिया। सोम रोहिणीसे अधिक प्रेम करने लगा; इसलिये अन्य बहनें कुपित होकर पिताके घर लौट गयीं। जब सोमराजाने शपथ की कि, मैं सबके साथ समान रूपसे प्रेम करूँगा, तब वे लौट आयीं। पर सोमकी आदत नहीं छूटी। अनन्तर सम्भोगके अतिरेकसे उसे राजयक्ष्मा रोग हो गया। तब सोमने अन्य स्त्रियोंसे क्षमा माँगी। इन स्त्रियोंने उससे वचन लेकर उसे रोगमुक्त करनेके लिये आदित्यकी आहुति दी। आदित्यने उसे रोगमुक्त किया (तै०सं० २।३।५)।

(३) देवताओंके बृहस्पतिके समान शण्ड और मर्क असुरोंके बुद्धिमान् पुरोहित थे। जब उनकी हार ही न हुई, तब देवताओंने सोमके लालचसे शंड और मर्कको घूस देकर अपनी ओर मिलाया। असुरोंकी हार हुई। देवताओंने जब यज्ञ आरम्भ किया, तब दिये हुए वचनके अनुसार शुक्र और मंथी नामक पात्रोंका सोमरस पान हम भी करेंगे, इस आशासे शंड और मर्क उस यज्ञमें पहुँचे। पर उन्हें यज्ञमें सम्मिलित करनेके जो देवता विरोधी थे, उन्होंने इनका उपहास करके वहाँसे निकलवा दिया (तै०सं०६।४।१०)।

(४) प्रजापतिने सोम उत्पन्न किया और पीछे तीन वेद उत्पन्न किये। सोमने उन तीनों वेदोंको अपनी मुट्ठीमें छिपा रखा। प्रजापतिकी सीतासावित्री नाम्नी एक कन्या थी। उसके यह समायी कि, सोम मेरा पति हो। पर सोम प्रजापतिकी श्रद्धा नाम्नी कन्यापर मुग्ध था। सीतासावित्री प्रजापतिके पास गयी और अपनी इच्छा प्रकट की। पर प्रजापतिको सोमके मनका हाल मालूम था। इसलिये वशीकरण करनेके लिये उसने स्थागर नामक वनस्पतिको घिस कर कन्याके भालमें गन्ध-लेप लगाया। इस तरह सीतासावित्री सोमके पास गयी। सोम उसे देखते

ही मोहित हो गया और प्रेमका भाव बताकर उसे पास बुलाने लगा। सीतासावित्रीने कहा कि, मुझ अकेलीसे ही यदि तुम्हारा सदा सम्बन्ध रहे और तुम्हारी मुट्ठीमें जो कुछ है, वह निष्कपट होकर मुझे बता दो, तो मैं तुम्हारे पास आऊँगी। सोमने उसकी यह शर्त स्वीकार कर ली और अपनी मुट्ठीमें रखे तीनों वेद उसने प्रसन्न होकर उसे दे दिये। सोमके साथ सीतासावित्रीका विवाह हुआ और दोनो आनन्द करने लगे (तै० ब्रा०२।३।११)।

(५) वृद्ध कुमारी अपालाकी कथासे मालूम होता है कि,इन्द्र सोमके लिये तरसा करते थे (ऋ०८।९१)।

(६) सब देव, ऋषि आदि यह विचार करने बैठे कि, हमारे यज्ञमें सोम कैसे आये। सोम गन्धर्वोंमें रहा करता था। गन्धर्व स्त्रियोंके लोभी थे। ऋषियों-ने वाणीको उसके पास भेजा। वाणी गायत्री आदि छन्दोंके रूपसे देवोंके पास गयी। उस समय उसने पक्षीका रूप धारण किया था और वहाँसे वह सोम ले आयी। पैरोंसे पकड़कर श्येन सोम ले आया। सोमाहरण-प्रतिपादक सूक्तोंको सौपर्ण कहते हैं। सोमाहरणके लिये जाती हुई गायत्रीका पंख टूट गिरा और उससे पर्णवृक्ष उत्पन्न हुआ (ऐ० ब्रा० ११२७)।

(७) एक बार यज्ञमें सोमपानके लिये देवताओंमें झगड़ा हो गया। जो बाजी मारे, वही सोमपान करे, यह निश्चित हुआ। अन्तको वायु और इन्द्र पहले आये, पीछे मित्रावरुण आये। सोमाहरणके लिये ईशान्य दिशा उत्तम है, कारण इसी दिशामें असुरों-पर देवताओंने विजय पायी थी (ऐ० ब्रा० १।२७)।

सुश्रुत-संहितामें लिखा है कि, सोमकन्दका भेद करनेके लिये सुवर्ण शलाका और सोमरसके लिये सुवर्ण-पात्र होना चाहिये। इसमें सोमके २४ प्रकार बतलाये हैं और कहा है कि, ये वेदोक्त हैं। पर ऋग्वेदमें इनमेंसे दो या पर्यायसे पाँच ही नाम मिलते हैं। सोमको कन्द कहा है। केलेके कन्दका-सा उसका वर्णन है। यह भी बताया है कि, उसमें पन्द्रह पत्ते होते हैं। "पानीपर तैरनेवाला, वृक्षोंपर लटकनेवाला और भूमिसे उगनेवाला" इसे कहा है। अधार्मिक, कृतघ्न, औषधद्वेषी और ब्राह्मणद्वेषी लोग इस सोमको नहीं प्राप्त कर सकते!

सोम अब बिल्कुल ही नहीं मिलता। वह क्या है, यह भी कोई नहीं बतलाता! यही नहीं, बल्कि ऋग्वेदके पश्चात्‌के ग्रन्थोंमें उसके स्थानमें उसका प्रतिनिधि बतलानेकी नौबत आ गयी, यह अत्यन्त आश्चर्य-जनक और विचारणीय विषय है।

अर्वाचीन लोगोंमें, सोमके सम्बन्धमें, विविध कल्पनाएँ हैं। डा० राजेन्द्रलाल मित्र इसे किसी न किसी प्रकारकी एक वनस्पति मानते हैं। जूलियस एगलिङ्ग और ए० बी० कीथ इसे एक प्रकारकी सुरा ही मानते हैं। रागोजिन इसे दैवी सुरासव कहते हैं। वाट इसे अफगानिस्थानके अंगूरोंका आसव बतलाते हैं। राइस इसे ऊखका रस कहते हैं। मैक्समूलर भी इसे अंबाड़ेका रस कहते हैं। हिलेब्रांट्ड इसे एक प्रकारका मधु मानते हैं।*

* ऐतरेय ब्राह्मणकी अनुक्रमणिकामें मार्टिन हागने लिखा है कि, उन्होंने सोमरस तैयार कराकर पान किया था। ईरानी लोग सोमको "हउमा" कहते थे। वे इसे कच्चा ही पान करते थे। अवस्तामें "हउमा" की बड़ी प्रशंसा लिखी है। सुश्रुत-संहितामें लिखा है कि, सोमलतामें १५ पत्ते होते हैं और वह चन्द्रकी तरह घटती-बढ़ती है। मैडम ब्लावस्कीकी राय है कि, वेदका सोम बाइबिलका ज्ञान-वृक्ष (Tree of knowledge)है। कलकत्ते के बेलगछिया नामक स्थानमें एक बार एक बनियालाल बाबाजी नामके संन्यासीने एक ऐसी लता दिखायी थी, जो परीक्षार्थ लण्डन भेजी गयी थी और जिसे ह्विटमविड कम्पनीने सोमलता बताया था। —सम्पादक

प० विद्याधर शास्त्री गौड़

आप अत्यन्त प्रतिष्ठित वेदज्ञ हैं। आपको वेदोंके अगणित मंत्र कण्ठस्थ हैं।

प० बुलाकीलाल मिश्र वैद्य

आप वैदिक सभ्यताके उपासक और वैदिक यज्ञके परम भक्त हैं। आपने कई बार बड़ी धूमधामसे और विधि-पूर्वक वैदिक यज्ञ किये हैं।

वेदाङ्कके लेखक
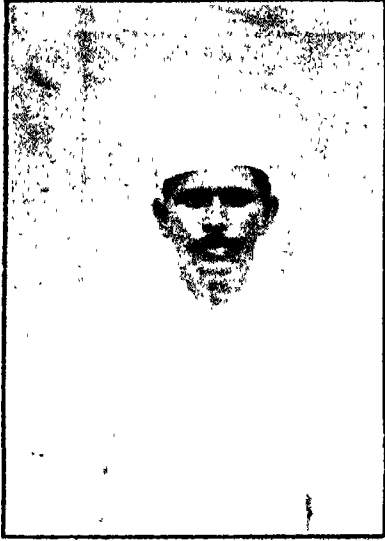
प्रो० ठाकुर लौटूसिंह गौतम एम० ए०, काव्यतीर्थ

आप धर्म-निष्ठ विद्वान् और सदाचार-शील वक्ता हैं। आपको भारतके प्राचीन इतिहासका तात्त्विक ज्ञान है। आप क्षत्रियजातिके रत्न हैं।

प० कृष्णशास्त्री घुले

घुलेजी वेदोंके प्रख्यात पण्डित हैं। आप वेदोंके सम्बन्धमें अनेक मौलिक लेख लिख चुके हैं। आप जो कुछ लिखते हैं, उसमें मौलिक विचार रहते हैं।

प० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

आप हिन्दीके प्रतिभाशाली लेखक, सनातन धर्मके एकनिष्ठ भक्त और वैदिक साहित्यके अनन्य उपासक हैं।

ज्योतिषाचार्य प० सूर्यनारायण व्यास

आप प्रसिद्ध ज्योतिःशास्त्र-विज्ञाता, हिन्दी-लेखक और वेदाभ्यासी हैं।

वैदिक संहिताओंका सिंहावलोकन

बा० श्रीमद्भागवतप्रसाद वर्मा
(सिभवाँ, संकौली, शाहाबाद)

सन् १८३८ ई० में आर० रायने वैदिक संहिताओंपर एक पुस्तक लिखी थी। इसके बाद प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबरने संस्कृत-भाषाका एक विस्तृत इतिहास लिखा, जिसका अँग्रेजी अनुवाद सन् १८५२ ई० में प्रकाशित हुआ था। पीछे मैक्समूलरने भारतके प्राचीन साहित्यकी बात लेकर (विशेषतः वैदिक विषय) एक सुन्दर पुस्तक लिखी, जो सन् १८५६ ई० में प्रकाशित हुई। इन सभी पाश्चात्य विद्वानोंके वैदिक अनुसन्धानोंका अध्ययन कर मैकडानलने एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसे अबतकके वैदिकसाहित्यका क्रम-बद्ध इतिहास कह सकते हैं।

संहिताओंमें, कहीं भी, वेदोंका रचना-काल-सम्बन्धी वर्णन नहीं मिलता। सम्भव है, उन दिनों कोई प्रचलित संवत् न रहा हो। इस विषयमें इतना मत-भेद होनेका मुख्य कारण यही जान पड़ता है। बहुत खोज-ढूँढ़के बाद जर्मन विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि, पर्शियन, ग्रीक, रोमन, केल्ट, जर्मन, स्कैंडेनेवियन और रशियन आदि जातियाँ पहले आर्य-जाति ही कहलाती थीं। उस युगमें विश्वकी भाषा एक थी और उसी भाषासे वर्तमान आर्य-भाषाकी उत्पत्ति हुई। पाश्चात्य विद्वान् वैदिक सभ्यतासे ग्रीक-सभ्यताको ही अधिक प्राचीन मानते हैं। ❀ उनका कथन है कि, वेद अधिकसे अधिक ईस्वी सन्से २००० वर्ष पूर्वकी रचना है! पाश्चात्य विद्वानोंकी यह दलील भारतीय विद्वानोंको बहुत खटकी और वे स्वयं इसकी खोजमें लगे। डा० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर तथा श्रीयुत शंकर पाण्डुरङ्ग पण्डित इस विषयके सर्व-प्रथम भारतीय अनुसन्धान-कर्ता हैं। अनन्तर लो० तिलक तथा श्रीयुत शंकर बालकृष्ण दीक्षितने इनका साथ दिया; और, इन चारो विद्वानोंने सिद्ध किया कि, ऋग्वेद कम-से-कम ३००० वर्ष ईस्वी सन्के पूर्व-की रचना है। इन्होंने ऋग्वेदमें लिखे नक्षत्रोंकी ज्यौतिष गणनाके ही आधारपर काल-निर्णय किया है; किन्तु इसपर भी पाश्चात्य विद्वान् सन्तुष्ट नहीं हुए!

लो० तिलकने अपनी "ओरायन" (१८९३ ई०) पुस्तकमें इस विषयकी विस्तृत विवेचना की है। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई, उस समय पाश्चात्य विद्वानोंने इसकी कड़ी-से-कड़ी समालोचनाएँ प्रकाशित करायीं। केवल जेकोबी इनके मतके कायल हुए। उन्होंने पुस्तककी बड़ी प्रशंसा की।

भारतीय विद्वानोंके मतानुसार वैदिक ग्रन्थोंका रचना-काल इस प्रकार है—(१) ऋग्वेदके सूक्तोंका रचना-काल ई० स० से ४५०० वर्ष पूर्व है। यह काल-निर्णय "मृगशीर्ष" के

❀ हरप्पा और मोहेञ्जो-दारोकी जो खोदाई हुई है, उसके आधारपर प्रो० एल० ए० वाडेलने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि, मेसोपोटामियाके सुमेरियन ही आर्य थे, जो एक बार ३१०० बी० सी० में इण्डिया आये और दुबारा ७०० बी० सी० में। बड़ोदेके दाजी नागेश आपटेने भी इसी खुदाईको लेकर यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि, आर्य और सुमेरियन एक ही थे और साथ ही भारतमें आये! इन दोनों सज्जनोंकी युक्तियोंका वैद्यजीने (पूना) खूब सुन्दर खण्डन किया है। —सम्पादक

तत्कालीन स्थानकी ज्यौतिष गणनाके आधारपर लो० तिलकने किया है। (२) शतपथ-ब्राह्मणका रचना-काल, 'कृत्तिका' नक्षत्रकी ज्यौतिष गणनाके आधारपर एस० बी० दीक्षित महोदयने ई० स०से ३००० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है। (३) 'श्रविष्ठा' (धनिष्ठा)में रात-दिन बराबर होनेका उल्लेख पाकर लो० तिलकने मैत्रायणीय उपनिषद्का रचना-काल, ई० स० से १६०० वर्ष पूर्व माना है। (४) लो० तिलक तथा एस० बी० दीक्षितने वेदाङ्ग ज्यौतिषका रचना-काल ई० सन्से १४०० वर्ष पूर्व सिद्ध किया है।

सच तो यह है कि, जब बुद्धदेवका मृत्यु-काल और सम्राट् चन्द्रगुप्तका शासन-काल ई० सन्से ४८०-३०० वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुका है, तब वैदिक साहित्यकी प्राचीनतामें इस प्रकारकी शङ्काएँ निर्मूल हैं।

वैदिक कालकी भाषा संस्कृत थी। इसके पूर्व प्राकृत भाषा अवश्य थी; किन्तु पंजाबमें, आर्यों द्वारा परिमार्जित होकर, इसने संस्कृत-भाषाका रूप धारण किया और उसी प्रान्तमें यह सर्व-प्रथम बोल-चालकी भाषा भी बनी। परन्तु पातञ्जल कालकी संस्कृत-भाषा और वैदिक साहित्यकी भाषामें बहुत पार्थक्य है। भाषाकी दृष्टिसे इसे तीन भागोंमें रख सकते हैं—(१) वैदिक साहित्यकालकी भाषाको 'वैदिक संस्कृत-भाषा', (२) वैदिक कालके बादकी पाणिनिके समयकी भाषाको 'पातञ्जल संस्कृत-भाषा' और (३) जगद्गुरु शङ्कराचार्यके इधरकी भाषाको 'आधुनिक संस्कृत-भाषा।' यद्यपि पाणिनि-कालकी संस्कृत-भाषा वैदिक कालकी संस्कृत-भाषासे अधिकांशतः मिलती-जुलती है, तो भी पाणिनिकृत व्याकरणसे वैदिक साहित्यपर पूर्णरूपेण प्रकाश नहीं पड़ता। हाँ, कुछ वैदिक भाषा तथा उनके छन्द आदिकी विशेषता पाणिनिने अवश्य दिखायी है।

पंजाबकी कुछ सभ्य आर्यजातियाँ जब दक्षिण तथा पूर्वकी अनार्यजातियोंमें मिलकर रहने लगीं, तब दोनोंमें पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध भी होने लगा। फलस्वरूप अनार्योंके संसर्गसे, आर्योंकी बोल-चालकी भाषामें, कुछ विभिन्नता आ गयी और दक्षिण-पूर्वकी पूर्व प्रचलित प्राकृत-भाषाने चार रूप धारण किये—(१) मागधी (मगध और बङ्गाल), (२) शौरसेनी (युक्तप्रान्त, राजपूताना, मालवा और गुजरात), (३) मराठी (महाराष्ट्र) और (४) पैशाची (उत्तर पंजाब)। बोल-चालकी भाषामें इस प्रकार उलट-फेर हो जानेपर भी सभ्य आर्य प्रायः संस्कृत ही बोला करते थे; किन्तु (तत्कालीन) संस्कृत-भाषा और प्राकृत-भाषामें विशेष सादृश्य होनेके कारण और लोग भी समझ लेते थे। सभ्य आर्यों और विशेषतः पुरुषोंको, "स्मृति-काल" तक, संस्कृत बोल-चालकी भाषा रही। सभ्य आर्योंकी स्त्रियाँ (अन्तर्विवाहादि होनेके कारण) तथा असभ्य जातियाँ प्रायः प्राकृत ही बोलती थीं। बुद्धने पाली (प्राकृतका दूसरा परिवर्तित रूप, सम्भवतः मागधीके प्रारम्भिक रूप) में अपने "अहिंसा परमो धर्मः" का प्रचार किया था; किन्तु वररुचिने (बुद्धके दो या तीन सौ वर्ष बाद) अपने व्याकरणमें इसके लक्षणविशेषकी व्याख्या नहीं की है। जो हो, मध्य कालमें बोल-चालकी भाषा संस्कृत ही रही। पाली और मागधीको बौद्धोंने और महाराष्ट्री तथा आन्ध्र-मागधीको जैनोंने अपने धर्म-प्रचारमें, ग्रन्थों तथा शिला-लेखोंकी, भाषा रखी। इस प्रकार ई० स० से आठ सौ वर्ष पूर्वसे आठ सौ वर्ष बादतक संस्कृत-भाषा मध्य कालकी भाषा बनी रही। शंकराचार्यके अनन्तर वर्त्तमान कालकी विभिन्न भाषाओंकी उत्पत्ति हुई और संस्कृत बोल-चालकी भाषा नहीं रही। केवल तामिल, तेलगू और कनाड़ी पण्डितोंमें ही यह बोल-चालकी भाषा रही। किन्तु संस्कृतभाषाकी पूर्व प्रगति रुक-सी गयी।

भाष्य कालकी संस्कृत-भाषा शंकराचार्यसे लेकर सायणाचार्यतक (८०० ई० १४०० ई० तक) रही। सन् १००० ई० के पूर्व भारतीय राज्यों—विशेषतः दक्षिण भारतके सभी राज्यों—की भाषा संस्कृत ही थी। बही-खाते, सनद-

परवाने—सभी कागज—संस्कृतमें ही लिखे जाते थे। यद्यपि संस्कृत साधारण बोल-चालकी भाषा नहीं थी, तो भी राजाओंकी छत्र-छायामें यह जीवित रही। अन्तिम हिन्दू-राज्य विजयनगरमें ही सायणाचार्यने वेद-भाष्य लिखा था।*

मुसलमानोंके भारतवर्षमें फैल जानेपर (१००० से १५०० ई०तक) संस्कृत-भाषापर भारी आघात पहुँचा; क्योंकि इस समय पण्डितप्रवर जगन्नाथके लिखे 'रस-गङ्गाधर' के अतिरिक्त अन्य किसी भी उल्लेखनीय ग्रन्थका पता नहीं चलता।

समयकी दृष्टिसे साहित्यके उपर्युक्त विभागोंको इस प्रकार रखें, तो अनुचित न होगा—(१) ईस्वी सन्से पूर्व ४५०० वर्षसे ८०० वर्षतक वैदिक तथा वैदिक कालके बादकी भाषा रही, (२) स्मृति-कालकी (साहित्यकी) भाषा ईस्वी सन्से ८०० वर्ष पूर्वसे ८०० वर्ष बादतक रही और (३) भाष्यकालकी भाषा ईस्वी सन्से ८०० वर्षसे १५०० वर्ष बादतक रही।

ऋग्वेद-संहिता

चारो संहिताओंमें ऋग्वेद-संहिता सबसे प्राचीन है और उसीसे अन्यान्य संहिताएँ निकली हैं। ऋग्वेदके बाद सामवेद और यजुर्वेद बने। अथर्ववेद तो बहुत बादकी रचना है। इसका नामकरण ईरानी भाषाके "अथर्वन" शब्दसे हुआ है। इतिहाससे पता चलता है कि, प्राचीनतम कालमें, ईरानियोंमें, मन्त्र-तन्त्र—विद्या अधिक प्रचलित थी। अथर्ववेदमें भी इसका यथेष्ट उल्लेख है।

ऋग्वेदके सूक्तोंमें कुछ मंत्र तो अधिक प्राचीन जान पड़ते हैं और कुछ नवीन। इसका एकमात्र प्रमाण भाषाकी विभिन्नता है। प्रथम और दशम मण्डलके मंत्रोंको, तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर, इस धारणाकी पुष्टि हो जाती है। यह सब होते हुए भी *ऋग्वेदको सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानना ही* पड़ेगा। साहित्यिक ग्रन्थकी दृष्टिसे मैकडानलने भी इसकी प्रशंसा की है।× ऋग्वेदके निर्माण-कर्ताओंके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता; तो भी कात्यायनकी सर्वानुक्रमणी (ई० स० से ३०० वर्ष पूर्वकी) से इस विषयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेदके प्रथम और दशम मण्डलोंमें कई ऋषियोंके हाथ रहे हैं। ऋग्वेदका मंत्र (अग्निदेवकी स्तुति) मधुच्छन्दाका है, जिन्हें शतार्चिन् भी कहा गया है। सर्वानुक्रमणीके टीकाकार षड्गुरुशिष्यने भी कहा है कि, प्रथम मण्डलके १०२ मंत्रों (verses) के रचयिताओंमें शतार्चिनोंका ही सर्वप्रथम स्थान है। द्वितीय मण्डलसे अष्टम मण्डलतकके रचयिताओंके ऋषियोंके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं—(२) गृत्समद, (३) विश्वामित्र, (४) गौतम, (५) अत्रि, (६) भारद्वाज, (७) वसिष्ठ और (८) कण्व।

* सन् १३५० से १३७९ ई० तकमें सायणाचार्यने वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थोंका भाष्य लिखा था। विजयनगरके प्रथम अधिपति बुक्करायके मंत्री माधवाचार्य सायणके गुरु और बड़े भाई थे। कहते हैं, सायण पूरा वेद-भाष्य नहीं लिख सके थे। उनके साथी हरिहर आदिने उसे पूरा किया था। सन् १३८७में सायणाचार्यका देहान्त हुआ। माधवाचार्य संन्यासी होकर शृङ्गेरी मठके आचार्य बने थे और विद्यारण्य नामसे शंकर-दिग्विजय लिखा था। विजयनगरके अधिपतिने ही सर्वप्रथम सायणका ऋग्वेद-भाष्य छपाया था। —सम्पादक

× "This lyrical poetry, far older than the literary monuments of any other branch of the Indo-European family, is already distinguished by refinement and beauty of thought, as well as skill in the handling of language and metre"—Prof. Macdonell.

ऋग्वेदके सम्पूर्ण मण्डल आठ अष्टकोंमें विभक्त हैं। एक-एक अष्टकमें आठ-आठ अध्याय हैं। इस प्रकार ऋग्वेदमें कुल ६४ अध्याय हैं। इनमें ८५ अनुवाक, १०१७ सूक्त और २०२४ वर्ग हैं (वालखिल्योंके १८ वर्ग लेकर)। सब १०५८०½ ऋक्, १५३८२६ शब्द और ४३२००० † अक्षर हैं। ‡

महाभारत (ई० स० से ३०० वर्ष पूर्व) से पता चलता है कि, वैदिक संहिताओंका संकलन पराशरके पुत्र कृष्णद्वैपायनने किया है। * कोई-कोई वेदान्तसूत्रोंके रचयिता बादरायण व्यासको ही समझ लेते हैं। परन्तु यह धारणा असंगत है। अन्यान्य लोगोंका विचार है कि, कृष्णद्वैपायन भरत-युद्ध (ई० स० से ३१०२ वर्ष पूर्व) के समवर्ती थे। ऋग्वेदके नवम और दशम मण्डलोंमें पाञ्चाल देशके राजा सहदेवके पुत्र सोमक और भीष्मके चाचा देवापिके भी नाम मिलते हैं। + वास्तवमें ऋग्वेदके सूक्तोंका संकलन व्यासके बाद पतञ्जलि और शौनकके कालतक होता आया। शाकल और बाष्कलके संस्करण शौनकके ही समय हुए थे। अतः जब कृष्णद्वैपायन व्याससे शौनकतक संकलनका कार्य जारी रहा होगा, तब किसने ही सूक्तोंके वास्तविक रूपमें कुछ परिवर्तन हो जाना सम्भव है। मैकडानलका कहना है कि, 'द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके सूक्तोंका संकलन एक साथ ही हुआ। फिर नवम मण्डलका संग्रह हुआ और अन्तको प्रथम और अष्टम मण्डल उसमें मिला दिये गये। दशम मण्डलका संकलन (इसमें कई प्राचीन सूक्तोंके होते हुए भी) बहुत पीछे हुआ था।'

ऐतरेयारण्यकके निर्माणके पूर्व (ई० स० से २००० वर्ष पूर्व) शाकल्यने पद-पाठकी तथा गालव मुनि (ब्राह्मण-गोत्रज) ने क्रम-पाठकी रचना की थी।

ऋग्वेदके पद्यों और कृष्णयजुर्वेदके गद्य-भागोंके शब्दोंमें जो स्वर मिलते हैं, उनके नाम उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं। यद्यपि पाणिनिने वैदिक भाषाके उच्चारण तथा स्वरोंके विषयमें बहुत कुछ लिखा है, तथापि उनके बहुत पूर्वमें ही इनके प्रयोगका लोप हो गया था। द्रविड़-भाषामें आज भी वैदिक स्वरोच्चारणोंकी झलक देखी जाती है। केवल शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणोंमें ही इन स्वरोंकी

---

† शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्द्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्। शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति ह चर्चितानि ॥४५॥"

(शौ० अनु० मैक्० पृ० ५२)

‡ अपने पासकी ऋग्वेदकी पुस्तकके मन्त्रोंकी गणना करनेपर अक्षरोंके अनुसार मन्त्रोंकी जो संख्या विदित हुई है, वह इस प्रकार है—

* अ १४३८, आ ६०६, इ ५४३, ई ३३, उ ४७२, ऊ ३४, ऋ ६३, ए ३०८, ऐ १०, ओ २१, औ २, अं २६, क २०५, क्ष १४, ख १, ग ६७, घ २०, च ५३, छ २, ज ८७, त ११३७, द २६१, ध ४७, न ३८८, प ८५२, ब ६१, भ ८३, म ३५१, य १११३, र ७६, व ५०१, श २२६, ष ४, स १०२३, ह १०३। कुल स्वर ३५८६, कवर्ग ४०७, चवर्ग १४२, तवर्ग १८२३, पवर्ग १३७७, अन्तःस्थ १७६३, ऊष्म १३५६। मन्त्रोंकी पूर्ण संख्या १०४६७। सम्पूर्ण ऋग्वेदमें १४ प्रकारके छन्द हैं। इनमेंसे गायत्री छन्दमें २४६७, उष्णिक्में ३४१, अनुष्टुप्में ८५५, बृहतीमें १८१, पंक्तिमें ३१२, त्रिष्टुप्में ४२५३, जगतीमें १३४८, अतिजगतीमें १७, शाक्वरीमें १९, अतिशाक्वरीमें ९, अष्टिमें ६, अत्यष्टिमें ८४, धृतिमें २ और अतिधृतिमें १ मन्त्र हैं। शेष मंत्रोंके छन्दोंका ठिकाना नहीं; किन्तु ऋग्वेद (१०।१४४।८) में लिखा है कि, ऋग्वेदमें १५००० मंत्र हैं! —सम्पादक

* "वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः, तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदान् महामतिः।" (महाभारत १९२)

+ ऋग्वेद (१०।९३।१४) में रामका नाम भी आया है। मैकडानलका कथन है कि, यह 'राम' कोई ऋषि थे; किन्तु 'वेन' नामके साथ उल्लेख होनेसे वेबरजी कहते हैं कि, 'राम' ऋषि नहीं, राजा ही थे।

झलक दीख पड़ती है। वेदोंके पद-पाठ तो इसमें ओतप्रोत हैं। इन सभी बातोंपर विचार करनेसे यह मानना पड़ता है कि, पद-पाठोंकी रचना अन्यान्य ब्राह्मणोंके पूर्वमें ही हुई थी।

सर्वानुक्रमणीसे वैदिक सूक्तोंमें वर्णित ऋषियों तथा देवताओंके नामोंका पता चलता है। ऋग्वैदिक ब्राह्मण-जातियाँ अब भी कोंकण और दक्षिण भारतमें हैं। उत्तर भारतके कनौजियोंमें कुछ ऋग्वेदीय ब्राह्मण हैं; किन्तु यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि, वे सम्पूर्ण ऋग्वेदको अथवा किसी एक ब्राह्मण-ग्रन्थको ही आद्योपान्त सुना सकें! हाँ, विन्ध्यगिरिके दक्षिण-भागमें कुछ ऐसे ब्राह्मण अवश्य हैं, जिन्हें इसका अनन्योपासक कहा जा सकता है।

सर्वानुक्रमणी-कार कात्यायनने 'ऋषि' शब्दका अर्थ लिखा है—"यस्य वाक्यं स ऋषिः" अर्थात् जिसका जो वाक्य है, वही उसका ऋषि है। आश्वलायन-गृह्य-सूत्रके तर्पण-अध्यायमें मुख्य ऋषियोंके जो नाम वर्णित हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) शतार्ची, (२) माध्यम, (३) गृत्समद, (४) विश्वामित्र, (५) वामदेव, (६) अत्रि, (७) भारद्वाज, (८) वसिष्ठ, (९) प्रगाथ, (१०) पावमान, (११) क्षुद्रसूक्त और महासूक्त। द्वितीयसे सप्तम मण्डलके ऋषि गृत्समद आदि और उनके परिवारोंके हैं। अष्टम मण्डलको लोग ऋषि-परिवारकृत मण्डल नहीं मानते; किन्तु आश्वलायनने इसके ऋषियोंको प्रगाथ-परिवारका माना है; क्योंकि प्रारम्भके एक सूक्तमें प्रगाथका उल्लेख पाया जाता है। षड्गुरुशिष्यने लिखा है कि, "प्रगाथ नाम कण्वके लिये ही आया है; और, चूँकि इसमें आधेसे अधिक सूक्त कण्वके ही लिखे हैं, इस कारण इसे कण्व-परिवारका मण्डल कहना चाहिये।" नवम मण्डलके ऋषि पावमान हैं। दशम मण्डलके ऋषियोंका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। परन्तु आश्वलायनने लिखा है कि, इसके मुख्य ऋषि क्षुद्रसूक्त और महासूक्त हैं। प्रारम्भसे नासदीय सूक्त (१२९) तक विशद और बड़े महत्त्व-पूर्ण तथा अन्य शेष सूक्त साधारण हैं। सम्भव है, आश्वलायनने इसी आधारपर इन दोनों ऋषियोंका नामकरण किया हो। प्रथम और दशम मण्डलोंके सूक्त विभिन्न विषयोंपर लिखे गये हैं और साधारण हैं तथा कितने ही पीछेके बने हैं।* सम्भव है, अग्निकी मंगल-स्तुति-सूक्तोंसे ही ऋग्वेद-संहिताका संग्रह-कार्य आरम्भ करनेकी बात संग्रहकर्त्ताको अच्छी जँची हो और इसी विचारसे बादके बने हुए अग्निके स्तुति-सूक्तोंको भी उन्होंने प्रथम ही स्थान दिया हो।

ऋग्वेदके मंत्र मित्र, यम आदि देवोंकी स्तुतियोंमें रचे गये हैं। ईरानी भाषामें भी कुछ ऐसे ही नाम मिलते हैं; जैसे, यमका 'यीम' और मित्रका 'मिथ्र' इत्यादि। अग्नि (आतिश) की पूजा ईरानी भी करते हैं। बात यह है कि, पहले इण्डो-आर्यन और इण्डो-ईरानियन—दोनों जातियाँ, एक ही साथ रहती थीं। कुछ दिनोंके बाद दोनों आपसमें लड़ने-भिड़ने लगीं। एकका पूज्य देवता, दूसरी जातिमें, अपूज्य समझा जाने लगा। उदाहरण-स्वरूप, जिसे आर्य 'देव' (देवता) कहकर पूजा करते थे, उसे दूसरे पक्षवाले देव=शैतान और अपूज्य समझने लगे। ईरानियोंका परम पूज्य देवता असुर (अहुर) आर्योंके लिये यज्ञ-विरोधी समझा जाने लगा। यास्कके समयमें दो भिन्न प्रकारके देवता समझे जाते थे—(१) ऐतिहासिक और (२) स्वाभाविक। ऐतिहासिक दृष्टिसे इन्द्रका वृत्रान्तक और स्वाभाविक दृष्टिसे उन्हें 'जल बरसाने, गरजने और वज्र-निपात करनेवाला' समझा जाता था। आश्वलायनने अपने गृह्य-सूत्रमें वैदिक-

* दशम मण्डलमें कुछ राजर्षि भी आये हैं—कवष (३१), अरुण वैताहव्य (९१), सुदास पैजवन (१३३), मान्धाता यौवनाश्व (१३४)। वत्सप्रि भालन्दन (वैश्य) और ऊर्ध्वग्रावा (अनार्य) (१७५) ने भी सूक्त रचे हैं।

देवताओंका वर्णन किया है। उनके पूर्ववर्ती कात्यायनने वैदिक देवताओंके तीन स्थान माने हैं—(१) पृथ्वी, (२) अन्तरिक्ष और (३) स्वर्ग। * इन स्थानोंके मुख्य देवता हैं अग्नि, वायु और सूर्य। 'भूः', 'भुवः' और 'स्वः'—इन तीनों व्याहृतियोंके अधिपति, उनके कथनानुसार, प्रजापति हैं। 'ओंकार' को समष्टि-रूपसे ईश्वर, ब्राह्मण (ब्रह्म) और परमात्मा कहा गया है। ३३ देवोंमेंसे सम्भवतः विष्णुको आदित्योंमें और शिवको रुद्रोंमें सम्मिलित कर लिया गया है। पाश्चात्य विद्वानोंने तो अश्विनीकुमारोंको 'वेनस' (Venus) और 'मर्करी' (Mercury) कहा है! ऋग्वेद (१०।६५)में देवताओंके नाम इस प्रकार हैं—अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, वायु, पूषण, सरस्वती, आदित्यगण, विष्णु, मरुत्स, स्वर, बृहत्, सोम, रुद्र, अदिति और ब्राह्मणस्पति। इनके अतिरिक्त कुछ उपदेवता भी हैं—भग, बृहस्पति, त्वष्टा, ऋभुगण आदि।

आर्योंके आदि निवास-स्थानके विषयमें प्राच्य और पाश्चात्य—सभी विद्वानोंके मत अलग-अलग हैं। कोई-कोई आर्य लोगोंको 'केल्टियन' समझते हैं। लो० तिलकने आर्योंका आदि निवास-स्थान उत्तर-मेरुके आसपास बतलाया है। कोई-कोई ऋग्वेदके 'सप्त-सिन्धु' तथा 'सरयू' शब्दको, ईरानियोंके 'हसहिन्दु' और 'हरयू'के पर्यायवाची बतलाते हुए, आर्योंको ईरानकी आर्य-जाति बतलाते हैं। कीथने इसका समर्थन किया है। मैकडानलका कहना है कि, मध्य-एशियाके जिस स्थानसे रोमन, केल्ट, ट्यूटन, स्लाव, ग्रीक तथा ईरानी लोग फैले, वहींसे भारतीय आर्य भी, दो विभिन्न दिशाओंकी ओर, गये। इस बातकी पुष्टि इससे भी हो जाती है कि, सन् १९०१ के मर्दुमशुमारी (Census) समय, जब सर एच० रिजलीने भारतीयोंके सिरका माप किया था, तब उन्हें लम्बे सिरवाले ट्यूटनों और चौड़े सिरवाले केल्टोंकी तरह भारतवर्षमें दो प्रकारके मनुष्य मिले थे। विकलरयहांके आर्य लोगोंको उत्तरी मेसोपोटामियाके निवासी बतलाते हैं। वे मितानी और हिटाइट राजाओंके साथ इनका सम्बन्ध बतलाते हैं। कई लोगोंका मत है कि, मितानी आर्य ही थे। प्रो० वाडेल आर्य लोगोंको सुमेरियन बतलाते हैं। उन्होंने इन्हें मेसोपोटामियाके आसपासकी ही जाति माना है। वास्तवमें आर्य लोग सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी, दो दलोंमें, भारतमें आये। उत्तरमेरुसे भारतवर्षमें आनेपर, इन दोनों वंशोंमें, धार्मिक मत-भेदने भयंकर रूप धारण किया। दोनों आपसमें बराबर लड़ते रहे। कुछ वर्षोंके बाद दोनों दलोंमें एक बार घमासान युद्ध हुआ। ऋग्वेदमें इस युद्धका नाम "दाश-राज्ञ-युद्ध" है (ऋ० ७।१८, १९ और ३३ सूक्त)। युद्धमें लगभग ६६०६६ अनु और द्रुह्यु (चन्द्रवंशी) काम आये थे। इनके ९९ किले तथा सात नगर विध्वस्त कर डाले गये थे। सुदास (सूर्यवंशी) की ही विजय हुई थी।

सामवेद-संहिता

सामवेद किस प्रकार गाया जाता था, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। सामवेदके उत्तरार्चिक-सूक्तोंसे इस विषयपर कुछ प्रकाश पड़ता है। वर्त्तमान कालके सातो स्वर उन दिनों प्रचलित थे अथवा नहीं, यह ठीक तौरसे नहीं कहा जा सकता। 'ॐ' को कुछ देरतक, स्थिर रूपसे, उच्चारण करनेपर एक प्रकारका गीति-स्वर निकलता है। सामवेदमें 'ॐ' को अधिक महत्त्व, सम्भवतः इसी कारण, दिया गया है। सामवेदकी छान्दोग्योपनिषद्में 'ॐ' की व्याख्या है। महाभारत-कालीन श्रीकृष्ण सामवेदके अनन्योपासक थे। उपर्युक्त उपनिषद्में लिखा हुआ है कि, घोर आङ्गिरसने देवकी-पुत्र श्रीकृष्णको वेदान्त-मतकी

* तैत्तरीय-संहिता (१।४।१०।१) में भी यही बात है। वहाँ ३३ देवोंका उल्लेख है। शतपथ-ब्राह्मण (११।५।७।२) में लिखा है कि, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, आकाश और पृथ्वी ये ३३ देवता हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (२।१८) में भी ३३ देवता हैं। —सम्पादक

शिक्षा देते समय सामवेदके गान-तत्त्वको बतलाया था। यही कारण है कि, श्रीकृष्णने एक नवीन शैलिके गानका आविष्कार किया। इस गानका "छालिक्य" नाम पड़ा और यादवोंने इसे खूब अपनाया। सामवेदके कालमें केवल तीन प्रधान वाद्य-यन्त्र थे—(१) दुन्दुभि, (२) वेणु और (३) वीणा। सामवेद-संहिताका समय कम-से-कम ई० सन्से ३१०० वर्ष पूर्व मानना चाहिये। शतपथमें एक स्थलपर लिखा है कि, विना साम-गानके कोई भी यज्ञ (नासाम यज्ञो भवति-) और विना हिंकारके साम-गान (न वा हंकृत्य साम गीयते) नहीं होता था। छान्दोग्योपनिषद्से यह ज्ञात होता है कि, साम-गान पाँच अंशोंमें विभक्त है—(१) हिंकार, (२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतिहार और (५) निधान (Coda)। इनमेंसे तीन सम्भवतः वर्तमान कालके स्थायी, अन्तरा और आभोगके अभिव्यंजक हैं। निधानसे 'तान' अर्थ सूचित होता है। स्ट्रैंगवेने अपनी "Music of Hindustan" नामक पुस्तकके पृ० २४६ में इसकी अच्छी व्याख्या की है। उनका कथन है कि, उदात्त आरोहको, अनुदात्त स्थायी (Not raised) को तथा स्वरित अवरोहको सूचित करता है। वे कहते है कि, आजकलकी राग-रागिनियोंमें साम-गान नहीं होता था। वह विशेषतः सोम बनानेके समय अथवा चन्द्रलोकमें निवास करनेवाले पूर्वजोंकी पूजा करते समय गाया जाता था। महाभारतमें इसका उल्लेख मिलता है कि, भीष्मकी शव-दाह-क्रियाके समय साम-गान गाया गया था (महा० शान्ति० १६)। सामवेद-संहिताका प्रथम मन्त्र, जो ऋग्वेद (६।१६।१०) से लिया गया है, इस प्रकार गाया जाता है—"हुं ओम्न ह (प्रस्ताव); ॐ आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ); नि होता सत्सि बर्हिषि ओम् (प्रतिहार)।" इस अन्तिम भागको तोड़कर—"निहोता सत्सिब—(उपद्रव) हिंषि ओम् (निधन)"—इस प्रकार किया गया है। एक स्तोम (व मन्त्र) की पूर्त्तिके लिये ये तीन-तीन बार दोहराये जाते हैं। गणोंसे स्तोमोंकी—स्वरोंमें घटाने-बढ़ानेकी—प्रक्रिया या नियम मालूम होता है। गीति-मन्त्र—जो गानेके रूपमें गाये जाते हैं—छन्दोंके बन्धनोंसे मुक्त रहते हैं। साम-गानलयके नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मन्द्र और अतिस्वार्य।

इस सम्बन्धमें विशेष जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको (१) ऋक्-प्रातिशाख्य, (२) बृहद्देवता, (३) तैत्तिरीय ब्राह्मण, (४) साम-विधान-ब्राह्मण, (५) पुष्प-सूत्र, (६) साम-तन्त्र और (७) नारद-शिक्षासे अधिक सहायता मिल सकती है। पूनेके फ़ीडर एन० के० पटवर्द्धनने साम-गान-सम्बन्धी सूत्रोंके बलपर साम-गानका पूरा अध्ययन किया है। इस विषयमें उन्होंने कई महत्त्वकी बातें प्रकट की हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद दो प्रकारका है—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद मूल ग्रन्थ है और शुक्ल यजुर्वेद उसीका परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप है। अतः कृष्ण यजुर्वेद पूर्वका और शुक्ल यजुर्वेद बादका है। कृष्ण यजुर्वेद ईस्वी सन्से ३१०० वर्ष पूर्वका ग्रन्थ है। व्यासने इसका संग्रह किया था। इसमें यज्ञ-सम्बन्धी विवरणोंके साथ भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुतियाँ हैं। कितनोंका ही कहना है कि, ऋग्वेदके पाठोंका संग्रह करते समय ही वेदव्यासने इसका भी संग्रह किया था। इसकी कई शाखाएँ प्राप्त हैं। ऋग्वेदकी शाकल-शाखाकी भाँति इनमें तैत्तिरीय (संहिता) ही अधिक प्राचीन और लोक-प्रचलित है। श्रोडरने जिस मैत्रायणीय भागको प्रकाशित कराया था, उसमें ४ काण्ड और ५४ प्रपाठक है। इसमें और कृष्ण यजुर्वेदकी काठक-संहितामें कुछ ही भिन्नता है।✽ कृष्ण यजु-

✽ मैत्रायणीय संहिताके खण्डोंको प्रपाठक और काठक-संहिताके खण्डोंको 'स्थानक' कहते हैं। यह 'स्थानक'

संहिताका, ऋग्वेदके कात्यायनीय सर्वानुक्रमणीकी भाँति, कोई भी विवरण-ग्रन्थ नहीं मिलता; और, यही कारण है कि, इसके ऋषि आदिका स्पष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इस संहितामें "इषेति त्रिचत्वारिंशत्" के अनुसार ११०२६६ शब्द आये हैं। मन्त्रोंकी संख्या ६५१ है। मैकडानलका कथन है कि, कृष्ण यजुर्वेदने एक नवीन सामाजिक व्यवस्थाका पता चलता है। इसके सम्पूर्ण काण्डोंमें ४४ अध्याय हैं।

पहले कहा जा चुका है कि, ऋषियोंका उल्लेख इसमें नहीं मिलता। हाँ, काण्डर्षियोंके पूजे जानेका वर्णन कहीं-कहीं अवश्य मिलता है। इन्हींके नामपर काण्डोंके नाम रखे गये जान पड़ते हैं। ये नाम इस प्रकार हैं—(१) प्राजापत्य, (२) सौम्य, (३) आग्नेय, (४) वैश्वदेव, (५) स्वायम्भुव और (६) आरुण। इनके सिवा तीन नाम और मिलते हैं—(१) सांहिती देवता, (२) वारुणी देवता और (३) याज्ञिकी देवता। प्राजापत्य काण्डमें प्रथम और दूसरे अष्टक (काण्ड) के मंत्र हैं। सत्याषाढ़-सूत्रकी टीकामें इसका उल्लेख मिलता है, जो गोपीनाथ भट्ट द्वारा निर्मित है। अश्वमेध-यज्ञकी समाप्तिपर जिन मन्त्रोंका पाठ होता था, वे अधिकांश राष्ट्रीय भावोंसे ओतप्रोत होते थे। राष्ट्रोन्नतिके लिये देवताओंसे प्रार्थना की जाती थी। इस सम्बन्धके, इसके कई मन्त्र, वाजसनेयी संहिता (२६।२२) में भी लिये गये हैं। मंत्रोंकी भाषामें नवीनता पायी जाती है; विशेषतः गद्यांशों में। पद्य तो ऋग्वेदके ही जैसे प्राचीन जान पड़ते हैं।

इस समयके आर्य ऋग्वेद-कालके आर्योंसे कुछ ही बढ़े-चढ़े थे। वैदिक देवता अधिकांशमें ऋग्वेदके ही थे। हाँ, रुद्रकी प्रधानता मानी जाती थी। इस देवतापर तो एक "रुद्राध्याय" ही है। यज्ञमें बलिदानकी प्रथा विशेष उन्नतिशील थी। परन्तु इसमें नर-बलिका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

कुछ दिनोंके बाद इसके भी क्रम-पाठ तथा पद-पाठ निर्मित हुए, जिनके रचयिता शाकल्य और गालव ऋषि थे। परन्तु हिरण्यकेशी सूत्रसे ज्ञात होता है कि, पद-पाठके रचयिता आत्रेय थे। इसमें कहीं-कहींपर राजाओं आदिकी भी चर्चा मिलती है। सातवें काण्डमें सुदास तथा वसिष्ठका ऐसा उल्लेख मिलता है कि, अपने पुत्रोंके मारे जानेपर वसिष्ठ पुत्र देनेवाला एक विशेष यज्ञ करते थे और सुदाससे मित्रता करनेकी चेष्टा किया करते थे।

शुक्ल यजुर्वेद

इसके नामकरणके सम्बन्धमें एक कथा महाभारत (शा० प० ३६०) में वर्णित है। इसके अनुसार याज्ञवल्क्यने इसे बनाया। इसकी रचना करते समय इन्होंने ही शतपथ-ब्राह्मण ग्रन्थका भी जन्म दिया। जब शतपथका निर्माण-काल ई० सन्से ३००० वर्ष पूर्व माना जा चुका है, तब तो शुक्ल यजुर्वेदको भी, इसी समयका ग्रन्थ, माननेमें अड़चन नहीं रह जाती। मैकडानलका कथन है कि, इस संहितामें प्रारम्भसे १८ अध्यायतकमें ही मूल मन्त्र हैं। मन्त्र छन्दोबद्ध और गद्यमय, दोनों हैं। इसके प्रथम भाष्यकार उव्वट (काश्मीरी सन् ११०० ई में) और द्वितीय महीधरके भाष्योंके अनुसार अनुवाकोंकी संख्या ३०३ है। कात्यायनने इस सम्बन्धमें एक सर्वानुक्रमणी भी लिखी थी। प्रजापतिको प्रथम अध्यायका ऋषि बतलाया जाता है। उव्वटने अन्तिम अध्यायके ऋषिका नाम (इस अध्यायको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं) "दध्यङ्

शब्द वैदिक साहित्यमें एक नवीन शब्द है। इस शब्दका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। यह स्थानक प्रपाठकोंसे बहुत छोटे होते हैं। दोनोंमें अनुवाक् बराबर और एक-से हैं और दोनोंके अन्तिम मन्त्रोंमें एक ही कथाका वर्णन है अर्थात् अश्वमेध-यज्ञके समय राज-महिषीका अश्वके साथ सोना और घृणित व्यापार करना। हाँ, काठक-संहितामें उच्चारण-चिह्न हैं, किन्तु मैत्रायिणीयमें नहीं हैं।

आथर्वण" कहा है। सर्वानुक्रममें इसके ऋषिको ब्राह्मण लिखा है और अजमेरके संस्करणमें इसके ऋषिका नाम दीर्घतम दिया है। वेबरजीने इसके प्रत्येक मन्त्रमें १५ शब्द मानते हुए उनकी संख्या (१९७५×१५) २९,६२५ बतलायी है। अक्षरोंकी संख्या आप ८८८७५ बतलाते हैं।

प्रथमसे २४ वें अध्याय प्राचीन और शेष नवीन हैं। चरण-व्यूहमें शुक्ल यजुर्वेदकी १० शाखाओंका वर्णन मिलता है। माध्यन्दिन शाखाके ही मन्त्रों आदिके विषयमें ऊपर लिखा गया है। इस वेदकी कण्व-संहितामें तो २०८६ मन्त्र हैं। इनमें 'खिल' और 'शुक्रीय' भी सम्मिलित हैं। इस शाखाका ब्राह्मण शतपथ है, जिसमें सात काण्ड हैं। माध्यन्दिनके अनुसार तो इसमें (शतपथमें) चौदह काण्ड हैं! इन दोनों शाखाओंके समयमें ही पद, क्रम और जटा-पाठोंकी रचना हो चुकी थी। इसके १ से १० तकके अध्यायोंमें, बहुतसी बातें, कृष्ण यजुर्वेदसे ली गयी जान पड़ती हैं। १० से १८ अध्यायोंमें अग्निकी वेदीकी रचना और तत्सम्बन्धी विवरण है। १९ से २१ अध्यायोंमें सोम बनाने आदिकी तथा २२ से २५ अध्यायतक अश्वमेध-सम्बन्धी बातें हैं। शेषमें विभिन्न विषय हैं। इसमें लिङ्ग-पूजाका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। सम्भवतः यह पूजा महाभारतके समयसे प्रचलित हुई। ऋग्वेदमें तो पुरुष-मेध-यज्ञकी चर्चा नहीं मिलती; किन्तु इसमें इसका उल्लेख अवश्य है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि, पुरुष-मेधकी रीति अनार्योंसे ही आर्योंमें चली आयी थी। महाभारत-कालमें यह पुरुष-मेध बुरी दृष्टिसे देखा जाता था। कारण, जरासन्ध द्वारा पुरुष-मेध-यज्ञका अनुष्ठान सुनकर श्रीकृष्ण बहुत उत्तेजित हो गये थे और उन्होंने जरासन्धको मार डालना उचित समझा था। यह स्थल देखने लायक है। पुरुष-सूक्तमें पुरुष-मेधका वर्णन अवश्य है। ३०वें अध्यायके अन्तिम २२ मन्त्रोंमें लिखा है कि, आठ आदमी प्रजापतिको प्रसन्न करनेके लिये बलि किये गये थे। पुरुष-मेधमें बलि करने योग्य १८४ प्रकारके मनुष्य होते थे (३० अध्याय)। इससे तत्कालीन सभ्यताका पता चल जाता है।

अथर्ववेद-संहिता

इसके अधिकांश मन्त्र इन्द्रजाल, रोग-निवारण, शत्रु-विनाश आदिके हैं। इसके कुछ मन्त्र प्राचीन हैं अवश्य; किन्तु इनके, विशेष महत्त्वकी दृष्टिसे, न देखे जानेके कारण ही सम्भवतः व्यासने इस वेदका संग्रह नहीं किया। पिप्पलाद इसके प्रथम संकलनकर्ता हैं। इन्होंने उपर्युक्त प्रकारके स्फुट मन्त्रोंका संग्रह किया; और, ऋग्वेदसे कुछ मन्त्र चयन करके एक संहिता तैयार की। अथर्ववेदका पूर्व नाम अथर्वाङ्गिरस था। आङ्गिरसोंको वैदिक कालमें भयंकर ऐन्द्रजालिक कहा करते थे (ऋ० १०।१०८।१०)। अथर्ववेदमें भी अथर्ववेदका नाम अथर्वाङ्गिरस ही लिखा है (१०।७।२०); परन्तु आगे चलकर (१६।५४।५) में अथर्व और अङ्गिरस, दो पृथक् ग्रन्थ, माने गये हैं। इससे पता चलता है कि, आङ्गिरसोंके समान ही अथर्व भी कोई ऐन्द्रजालिक होंगे। इन दो पृथक् ग्रन्थोंकी विभिन्नता प्रकट करते हुए ब्लूमफिल्डने कहा है कि, "आथर्वण मन्त्र उदार विचारके और हितकारक हैं; किन्तु आङ्गिरस मन्त्र अहितके ही लिये बने हैं।" ऋग्वेद-कालमें आङ्गिरसोंको विशेष श्रद्धा या आदरकी दृष्टिसे नहीं देखा जाता था और न उनके मन्त्रोंको ही महत्त्व दिया जाता था। फलस्वरूप 'अथर्वाङ्गिरस' से 'आङ्गिरस' शब्द लुप्त हो गया; रह गया केवल 'अथर्व'। ब्राह्मण ग्रन्थोंके ही समयसे इस वेदका नाम अथर्ववेद चला आता है। छान्दोग्योपनिषद्में जिन चार वेदोंके नाम हैं, उनमें चौथे वेदको 'अथर्व' ही लिखा है। ऋग्वेदमें आथर्वणकी लिखी ऋचाओंका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।* अथर्ववेदमें एक तीसरे ऋषि भृगुका

* ऋग्वेद (१०।९७) में भिषक आथर्वण तथा (१०। ९०) बृहद्दिव आथर्वणके नामोंका अवश्य उल्लेख मिलता है। पहलेने 'ओषधि' को और दूसरेने इन्द्रको सम्बोधित करके एक-एक सूक्त लिखा है। सायणाचार्यने आथर्वणको अथर्वाका पुत्र बतलाया है

नाम आया है। सम्भव है, इन्होंने आङ्गिरसोंसे ही यह विद्या सीखी हो।

महाभारतमें लिखा है कि, पूर्वमें ब्राह्मणोंके चार आदि परिवार थे, (१) भृगु, (२) आङ्गिरस, (३) कश्यप और (४) वसिष्ठ। इसमें आथर्वणका नाम नहीं है। श्रौत-सूत्रके गोत्र-प्रवराध्यायमें भी इनका उल्लेख नहीं। इससे ज्ञात होता है कि, अथर्वण बाहरके रहनेवाले थे। जेन्द अवेस्तामें आथर्वण शब्दका अर्थ पुजारी है। उन दिनों ईरानमें ऐन्द्रजालिक विद्याकी प्रधानता थी। इन बातोंसे ज्ञात होता है कि, आथर्वण मध्य-एशियाके निवासी थे।

यह कहा जा चुका है कि, अथर्ववेद-संहिताका निर्माण करते समय पिप्पलादने ऐन्द्रजालिक मन्त्रोंको भी संगृहीत किया था। याज्ञवल्क्य द्वारा शतपथका निर्माण हो जानेपर ही यह ग्रन्थ बना था। कुछ दिनों बाद पिप्पलाद-शाखाके ६ खण्ड हुए, जिनमें आजकल शौनक और पिप्पलाद (काश्मीरी) प्राप्य हैं।

इस वेदका एक प्रातिशाख्य तथा दो अनुक्रमणियाँ हैं। अनुक्रमणियोंमें एकको पञ्चपटलिका कहते हैं, जो दूसरीसे कुछ अधिक प्राचीन है। इस वेदके कौशिक और वैतान सूत्र तथा गोपथ ब्राह्मण हैं। सायणाचार्यने शौनक-संहिताका भाष्य सन् १४०० ई० में लिखा था। एस० पी० पण्डितने इसका सम्पादन सन् १८९० ई० में किया था। राथ, ह्विट्नी तथा ब्लूमफिल्ड आदिने शौनकीय शाखाको प्रकाशित किया है। साथ ही इसका अनुवाद भी किया है। इससे अथर्ववेदके ऋषि, देवता तथा अन्यान्य बातोंका ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

एस० पी० पण्डित महाशय द्वारा प्रकाशित सायण-भाष्यमें इस वेदके ऋषियोंका स्पष्ट वर्णन नहीं है। गोपथ-ब्राह्मणमें लिखा है कि, सर्व-प्रथम ब्रह्मासे भृगु उत्पन्न हुए। भृगुसे (उनके प्रस्वेद-बिन्दुसे) अथर्वण उत्पन्न हुए, जो बादमें अङ्गिरा कहलाये। उसमें यह भी लिखा है कि, अथर्वणने कठिन तपस्या की और उनके बीस पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने एक-एक काण्डकी रचना की। परन्तु ब्लूमफिल्ड इससे सहमत नहीं हैं। ह्विट्नीने अथर्ववेदका जो अनुवाद किया है, उसमें सूक्तोंके ऋषियोंके नाम, उच्चाटन और उन्मोचन आदि, लिखे हैं; किन्तु इस प्रकारके नाम आनुमानिक जान पड़ते हैं। ऋग्वेदसे जो अंश इस वेदमें आया है, उसमें पुरुष-सूक्तके ऋषि नारायण (ऋ० १०।९०) तथा विवाह-सम्बन्धी ऋचाओंकी रचयित्री सूर्या (ऋ० १०।८५) हैं। सोलहवें काण्डके ऋषि प्रजापति जान पड़ते हैं। अठारहवें काण्डकी ऋचाओंमें माङ्गलिक नाम आया है। उन्नीसवें काण्डमें अप्रतीर्थका नामोल्लेख है। यही नाम ऋग्वेद (१०।१०३) में भी पाया जाता है। एक स्थलमें गरुत्मन्का नाम है, जिन्होंने सर्प-विष-निवारणार्थ कई ऋचाएँ लिखी हैं। ह्विट्नीने अपनी सूचीमें अथर्ववेदके ऋषियोंकी संख्या दी है। उन्होंने तो कहा है कि, १७५ ऋचाएँ अथर्वण तथा १०० ब्राह्मणकी लिखी हुई हैं। अथर्वाङ्गिरस १७ तथा आङ्गिरस केवल १५ के ही ऋषि हैं। इसी कारण इस वेदका अथर्वाङ्गिरस नाम अधिक दिनोंतक प्रचलित नहीं रहा; केवल अथर्व ही रह गया।

अन्य मुख्य ऋषियोंके नाम इस प्रकार हैं—कण्व, बादरायण, विश्वामित्र, कश्यप, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य, जमदग्नि, वामदेव। ऋग्वेदके अन्त्येष्टि-संस्कारके समय अन्यान्य ऋषियोंको पितृगण कहकर सम्बोधित किया जाता था।

इस वेदमें पद्य और गद्य, दोनों हैं। पद्योंमें अनुष्टुप्, गायत्री और त्रिष्टुप् छन्द हैं। १९ वें काण्डमें ऋग्वेदके सात-मुख्य-मुख्य छन्दोंकी नामावली दी गयी है। ८ वें काण्ड (५-९) में इनके वर्णोंकी संख्या दी हुई है। ४८ धृतियोंके लम्बे-लम्बे पद्य बहुत कम हैं। छन्दोंपर साधारण दृष्टि डालनेसे ही मालूम होता है कि, ऋग्वेदकी भाँति इसकी ऋचाएँ क्रमबद्ध नहीं हैं। १० वें काण्डमें ईश्वरवादकी रचनाएँ हैं।

१६ वें काण्डमें नक्षत्रोंका वर्णन है। नक्षत्रोंके नामोंकी गणना कृत्तिकासे की गयी है (१९।८)। इसमें योगाविद्याकी भी बातें आयी हैं। आगे चलकर (१९।६) ऋतुओंके सम्बन्धकी बात है।

इसमें सामाजिक नियमोंका बहुत कम उल्लेख है। केवल १६ वें काण्डमें कुछ ऐसी ऋचाएँ हैं, जिनसे तत्कालीन समाजपर साधारण प्रकाश पड़ता है। उस समय इण्डो-एरियन मगध और अंग प्रदेशतक फैल चुके थे (५।२२)। पश्चिममें गान्धारतक उनका विस्तृत प्रसार हो चुका था। तकमन् नामक शीतज्वरका उल्लेख मिलता है। कभी-कभी तो इस ज्वरसे अपने प्रदेशको लौट जानेकी प्रार्थना की गयी है (५।२२।७)। इस मन्त्रसे पता चलता है कि, शूद्रोंमें ही शीतज्वर (Malerial Fever) अधिक रहता था। क्षत्रिय राजा और वैश्य कृषक होते थे। उन दिनों ब्राह्मणोंको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता था। वे राजाओं द्वारा सताये जाते थे! किन्तु ऐसा करनेवालोंको बहुत कोसा जाता था और शाप भी दिया जाता था (५।१९)। यह कहा जाता था कि, जिस राजाके द्वारा या जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण सताये जाते हैं, वह राजा या राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता (५।६—६)। गायोंको बड़ी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा जाता था और उनकी प्रशंसा भी की जाती थी (१२।४)। छोटे-छोटे राज्योंको राष्ट्र और सुविस्तृत राज्योंको साम्राज्य कहा जाता था (१६।२४)। राज्य-तिलकके समय राजाकी पगड़ीमें मणि बाँधा जाता था (१६।२०-३१)। १६ वें काण्डकी अन्तिम ऋचामें राजसूय-यज्ञका वर्णन है।

विवाहमें दायजेमें गौ तथा कम्बल ही अधिक दिये जाते थे। अन्त्येष्टि-क्रियाके अवसरपर यमकी स्तुति होती थी (१८)। पूर्वकी भाँति सती स्त्रियोंको अपने पतिकी चितासे उतर आनेकी बातका भी उल्लेख है (१८।३,१)।

शतपथ (ई० स० से ३००० वर्ष पूर्व) के मूल दस काण्डोंमें केवल ऋग्वेद और सामवेदका ही वर्णन है, अथर्ववेदकी चर्चा नहीं मिलती। शतपथमें जहाँ त्रय विद्याओं की गणना है, वहाँ (१०।४।३) अथर्ववेदका नाम न आकर केवल आङ्गिरस वेदका ही नामोल्लेख है; और, ऊपरमें कहा जा चुका है कि, अथर्वाङ्गिरसका अथर्ववेद नाम बहुत पीछे पड़ा था। अथर्ववेद-संहिता (८।५,६) में भी 'आङ्गिरस कृत्या' का पृथक् रूपसे उल्लेख है। इन उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि, अथर्ववेद शतपथ-ब्राह्मणके बादका ग्रन्थ है। शतपथ ब्राह्मणकी प्राचीनतम ऋचाओं (१०।५२, ३०) में अशुभ ऋचाओंका वर्णन अवश्य आया है; किन्तु इससे अथर्ववेदकी रचनाकी पुष्टि नहीं होती। इसका यह कारण है कि, ऋग्वेद (१०।१०८। १०) में भी सरमाकी अशुभ ऋचाओंका उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (११।८) में केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका ही स्पष्ट उल्लेख मिलता है।†

† पूनाके विख्यात ऐतिहासिक प० चिन्तामण विनायक वैद्य एम० ए०, द्वारा लिखित "History of Sanskrit Literature" (Vedic period) से लेखकने इसे लिखनेमें सहायता ली है। लेखके प्रायः वे अंश निकाल दिये गये हैं, जो "वेदाङ्क" के अन्य लेखोंमें आ गये हैं। —सम्पादक

वेद और आर्यसमाज

पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

(सम्पादक, "वेदोदय", दयानिवास, प्रयाग)

आर्य्यसमाज वह संस्था है, जिसे स्वामी दयानन्दने १८७५ ई०में स्थापित किया था। आर्य्य-समाज और वेदोंका तादात्म्य-सा है; क्योंकि स्वामी दयानन्दके कथनानुसार आर्य्यसमाजका मुख्यो-द्देश्य वेदोंका प्रचार था। वह सत्यार्थप्रकाशके उत्त-रार्द्धकी अनुभूमिका इन शब्दोंसे आरम्भ करते हैं—

"यह सिद्ध बात है कि, पाँच सहस्र वर्षोंके पूर्व वेदमतसे भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्यासे अविरुद्ध हैं। वेदोंकी अप्र-वृत्ति होनेका कारण महाभारत-युद्ध हुआ। इनकी अप्रवृत्तिसे विद्याऽन्धकारके भूगोलमें विस्तृत होने से मनुष्योंकी बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मनमें जैसा आया, वैसा मत चलाया।"

आर्य्यसमाजका तीसरा नियम यह है—

"वेद सब विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्य्योंका परम धर्म है।"

अथर्ववेद (१०।२३।४।२०) और यजुर्वेद (४०। ८)के आधारपर स्वामीजीने वेदोंको ईश्वर-कृत माना है। सत्यार्थप्रकाशके ७ वें समुल्लासमें उन्होंने निष्कर्ष निकाला है—"इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हींके अनुसार सब लोगोंको चलना चाहिये। और, जो कोई किसीसे पूछे कि, तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना कि, हमारा मत वेद है अर्थात् जो कुछ वेदोंमें कहा है, हम उस-को मानते हैं।" इस प्रकार इतनी बातें स्पष्ट हो गयीं—

(१) आर्य्यसमाज वेदोंको मानता है। (२) आर्य्य-समाज वेदोंको ईश्वर-कृत मानता है। (३) आर्य्यसमाज यह भी मानता है कि, प्राचीन कालके आर्य्य भी वेदोंको ईश्वर-कृत मानते थे। इस तीसरे सिद्धान्तके समर्थनके लिये स्वामी दयानन्दने "ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका" में कुछ प्रमाण दिये हैं। स्वामीजीने मीमांसादर्शन (१।१।२८), वैशेषिकदर्शन (१।१।३), न्यायदर्शन (२।१।६७)' योगदर्शन (१।१।२६), सांख्यदर्शन (५।५१) और वेदान्तदर्शन (१।१।३) के आधारपर सिद्ध किया है कि, प्राचीन आर्य भ वेदोंको ईश्वर-कृत मानते थे। इसी प्रकार सायणा-चार्यने अपने ऋग्वेद-भाष्यकी उपक्रमणिकामें तथा उव्वट और महीधरने अपने शुक्लयजुर्वेद-भाष्य-के प्रारम्भमें वेदोंको ईश्वर-कृत माना है।

इस सम्बन्धमें अधिक प्रमाण देना अनावश्यक है; क्योंकि यह बात स्वयंसिद्ध-सी है कि, समस्त प्राचीन तथा मध्यकालीन वेदानुयायी वेदोंको ईश्वर-कृत मानते थे और स्वामी दयानन्दने भी उन्हींके मतको आगे बढ़ाया। यह ठीक है कि, जैन, बौद्ध, चार्वाक प्रभृति वेद-विरोधियोंने वेदोंको "भाण्ड, धूर्त, निशाचर" आदि के द्वारा लिखित भी बताया परन्तु जब-जब ऐसा हुआ, कुमारिल, शङ्कर आदि विद्वानोंने इसका सफलतापूर्ण प्रत्युत्तर दिया।

आधुनिक विद्वानोंको यह बात हास्य-प्रद प्रतीत होती है कि, ऋक्, यजुः आदि ग्रन्थोंको ईश्वर-कृत माना जाय ! क्या वेद-मंत्रोंके ऊपर उनके बनानेवाले ऋषियोंके नाम नहीं ? क्या वसिष्ठ आदि प्राचीन लोगोंका वेद-मंत्रोंमें वर्णन नहीं ? क्या गंगा, यमुना आदि भौगोलिक नाम वेदोंमें नहीं पाये जाते ? यदि ऐसा है, तो वेदोंको सृष्टिके इस वर्तमान कल्पके आदिका तथा ईश्वर कृत बतलाना कहाँतक ठीक हो सकता है ?

स्वामी दयानन्द यास्क मुनिके कथनानुसार ऋषियोंको केवल वेद-मंत्रोंके अर्थोंका प्रथम द्रष्टा मानते हैं। वेदोंमें आये हुए नामोंको वह ऐतिहासिक या भौगोलिक न मान कर यास्कके ही समान यौगिक अर्थोंमें लेते हैं। नीचेकी शतपथ-ब्राह्मणकी पंक्तियोंसे पता लगता है कि, प्राचीन ब्राह्मण-कालमें भी ऐसा ही अर्थ करनेकी प्रथा थी। शतपथके आठवें काण्डमें वसिष्ठ आदि ऋषियोंकी व्याख्या की गयी है कि, (१) प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है। जो श्रेष्ठ है, उसे वसिष्ठ कहते हैं या जो फैला हुआ बसता है, वह वसिष्ठ कहलाता है, इसलिये वसिष्ठका अर्थ हुआ प्राण। (२) मन ही भरद्वाज ऋषि है। 'वाज' का अर्थ है "अन्न"। मनका नाम 'भरद्वाज' इसलिये हुआ कि, वह 'वाज' (अन्न) को 'भरत्' अर्थात् भरता है। (३) कानको विश्वामित्र ऋषि कहते हैं; क्योंकि कानसे ही सब सुनते हैं और इसीसे सबके मित्र होते हैं। इसलिये कान 'विश्वामित्र' ऋषि है। इसी प्रकार विश्वकर्मा आदि अन्य नामोंकी व्याख्या भी की गयी है। स्वामी दयानन्द इसीके आधारपर कहते हैं कि, वेदोंके शब्दोंके ऐतिहासिक अर्थ न करके यौगिक अर्थ करने चाहिये। वह कहते हैं कि, संसार भरकी जितनी व्यक्ति-वाचक संज्ञाएँ (Proper names or historical names) आजकल मिलती हैं, वह आरम्भमें यौगिक अर्थोंकी द्योतक थीं। जैसे 'रघु' एक ऐतिहासिक राजाका नाम है, जो रामचन्द्रके पूर्वज थे। सम्भव है कि, उनसे पूर्व इस नामके कई व्यक्ति हुए हों। परन्तु सबसे प्रथम 'रघु' नाम किसी व्यक्ति-विशेपका क्यों रखा गया ? क्या उस समय उसका कोई यौगिक अर्थ था ? यदि था, तो 'वसिष्ठ' आदिके भी यौगिक अर्थ रहे होंगे और यदि नहीं था, तो कोई माता-पिता अपने पुत्रका अनर्थक नाम न रखता। आजकल लोगोंके नाम 'डिप्टीलाल' हैं, क्योंकि 'डिप्टी' शब्दका जो अर्थ प्रचलित था, वह उनके माँ-बापको प्रिय लगा। इस प्रकार समस्त व्यक्ति-वाचक या ऐतिहासिक संज्ञाओंका आरम्भ यौगिक अर्थोंसे होता है। स्वामी दयानन्दका कहना है कि, वेदोंके कल्पके आदिका ग्रन्थ होनेके कारण उनके शब्द मूलमें यौगिक ही थे। उन्होंने ऐतिहासिक रूप पीछेसे धारण किया। मैक्समूलर भी इस मतको कुछ-कुछ मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि, वैदिक शब्द आदिमें धात्वर्थक ही थे। वहाँ उन्होंने वैदिक शब्दोंके लिये Fluid (द्रवीभूत) शब्दका प्रयोग किया है। Fluid या द्रवका अर्थ है बहनेवाला। मैक्समूलर कहते हैं कि, वैदिक शब्द यौगिक होनेके कारण Fluid state या द्रवरूपमें थे अर्थात् वह अपने धात्वर्थके कारण उन सब वस्तुओंके लिये प्रयुक्त होते थे, जिनसे उन अर्थोंकी झलक निकलती थी। जैसे शतपथके अनुकूल प्राणका नाम वसिष्ठ है। प्रत्येक पुरुषके प्राणको वसिष्ठ कह सकते हैं। इस प्रकार वैदिक कालमें वसिष्ठ शब्द Fuild state या द्रव-रूपमें था अर्थात् बहता फिरता था। पीछेसे वह ठोस हो गया अर्थात् राम-

के गुरु वसिष्ठ या अन्य किसी व्यक्ति-विशेषके लिये प्रयुक्त होने लगा।

स्वामी दयानन्दकी यह युक्ति विज्ञान-विरुद्ध नहीं प्रतीत होती। यदि इसीके साथ एक बात और याद रखें कि, जो इतिहास हम वेदोंसे सिद्ध करना चाहते हैं, वह इतिहाससे सर्वथा सर्वाङ्गमें ठीक नहीं बैठता। केवल खींचातानी करके हम अन्य ऐतिहासिक घटनाओंका उसके साथ समन्वय करनेका यत्न करते हैं। इसमे स्वामी दयानन्दके सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। स्वामी दयानन्दका कहना है कि, वेदोंमें न तो पूरी गाथाएँ ही मिलती हैं, न इतिहासकी घटनाओंका उल्लेख ही। यत्र-तत्र कुछ ऐतिहासिक शब्द मिल गये। उनकी व्याख्या करनेके लिये लोगोंने गाथाएँ गढ़ डालीं; जैसे, ऋग्वेदकी शुनःशेपकी गाथा या उर्वशी और पुरुरवाकी गाथा। पहले गाथाकी कल्पना कर लेना, फिर उसके सहारे वेदोंकी संगति लगाना; यह सब अर्थ करना नहीं, किन्तु अनर्थ करना है। सायण, उव्वट आदि मध्यकालीन भाष्यकार स्वामी दयानन्दकी इस बातको सिद्धान्तरूपसे तो मानते हैं; परन्तु जब वे वेद-मंत्रोंका अर्थ करने लगते हैं, तब उन्हीं गाथाओंका आश्रय ले बैठते हैं! यही स्वामी दयानन्द और इन विद्वानोंका मतभेद है। यही मतभेद दयानन्द तथा इस युगके सनातनधर्मी विद्वानोंके बीचमें भी है। सनातनधर्मी विद्वान् वेदोंसे मूर्ति-पूजा, अवतार आदि सिद्ध करना चाहते हैं। स्वामी दयानन्दकी सरलतम युक्ति यह है कि, या तो वेदोंको ईश्वर-कृत और प्रामाण्य न मानो या यदि ईश्वर-कृत मानते हो, तो सृष्टिकी आदिका मानना पड़ेगा, जैसा कि, प्राचीन ऋषियोंका मत है। यदि सृष्टिकी आदिमें मानते हो, तो राम, कृष्ण आदि अवतारोंका उनमें वर्णन मानना ठीक नहीं; क्योंकि वेद तो राम, कृष्ण आदिके जन्मसे लाखों वर्ष पहले पढ़े तथा पढ़ाये जाते थे। यदि वेदोंमें अवतारोंका वर्णन नहीं, तो मूर्त्ति-पूजाका भी वर्णन नहीं हो सकता; क्योंकि भिन्न २ प्रकारकी मूर्त्ति-पूजाका आधार अवतारोंपर है। जितने प्रकारकी मूर्त्तियाँ पूजी जाती हैं, उन सबका आदि मूल ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो सृष्टिकी आदिसे पीछेकी हैं।

स्वामी दयानन्दने जो भाष्य किया है, वह कई बातोंमें अपूर्ण है। प्रथम तो वह चारों वेदोंका भाष्य समाप्त नहीं कर पाये। यजुर्वेदका पूरा और ऋग्वेदका दो-तिहाई ही हुआ था कि, उनका देहान्त हो गया। दूसरे, उनको इतना समय भी न मिला कि, वह उस भाष्यपर, जो मासिक पत्रिकाके रूपमें छपा करता था, एक दृष्टि तो डाल लेते और पूर्वापर-सम्बन्ध मिला लेते। परन्तु जो मार्ग-निर्देश उन्होंने किया है, वह अवश्य ही विद्वानोंके लिये विचारणीय है। वेदोंका अर्थ करनेमें धात्वर्थका अवलम्बन कहाँतक होना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये विद्वानोंके अथक परिश्रमकी आवश्यकता है। ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु आदिमें कुछ शब्दोंके अर्थ तो सन्तोषजनक मिल जाते हैं; परन्तु सब शब्दोंके अर्थोंका ठीक ठीक निर्णय करना बड़ा कठिन है। आजकल वेदार्थ करनेकी पूर्वी या पश्चिमी, जितनी शैलियाँ प्रचलित हैं, उन सबमें केवल स्वामी दयानन्दकी शैली ही ऐसी है, जो प्राचीन ऋषियोंके सिद्धान्तोंके अधिक समान है। उलझनें इसमें भी हैं और बहुत-सा मार्ग दुर्गम तथा सकण्टक है; परन्तु इन उलझनोंको सुलझाना ही तो विद्वानोंका काम है।

आर्य्यसमाजने वेदोंके विषयमें लोगोंका दृष्टि-कोण कई अंशोंमें बदल दिया। इससे पहले वेद पूज्य तो समझे जाते थे; परन्तु व्यवहारमें लानके योग्य नहीं। लोग वेदोंको इतना पवित्र समझते थे कि, उनको भय था कि, उनके छूने तथा पढ़ने एवं अपवित्र कानोंमें पड़नेसे वेद दूषित हो जायँगे। स्वामी दयानन्दने कहा कि, "वेदोंके पुस्तक" हाथ जोड़ने और धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ानेके लिये नहीं हैं; किन्तु पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने तथा अपने व्यवहारमें लानेके लिये हैं। सूर्य्यका प्रकाश अपवित्र वस्तुओंपर पड़कर उनको शुद्ध ही कर देता है; स्वयं अपवित्र नहीं होता। वेद-मंत्रोंका भी यही हाल है। स्वामी दयानन्द किसी अपवित्रसे अपवित्र मनुष्यके सामने भी वेद-मंत्र पढ़नेमें संकोच नहीं करते थे, न किसीको वेद पढ़ानेमें उन्हें संकोच होता था। उनको यह भय नहीं था कि, किसीके सुन लेनेसे वेद दूषित हो जायँगे। भय उनको यह था कि, यदि वेदोंका प्रचार न हुआ, तो संसार उसी प्रकार अशुद्ध रहेगा; जैसे सूर्य्यके प्रकाशकी अविद्यमानतामें गन्दगी बढ़ जाती है। आर्य्यसमाज यह नहीं मानता कि, वेदोंमें प्रार्थनाएँ ही हैं। स्वामी दयानन्दने वेदोंको "सत्य विद्याओंका पुस्तक" बतलाकर उनको भिन्न-भिन्न विद्याओंका भण्डार निश्चित किया है। इस बातपर बहुतसे मखौल भी उड़ाया करते हैं और स्वामी दयानन्दपर खींचा-तानीका दोष लगाते हैं; परन्तु प्राचीन पुस्तकोंके अवलोकनसे पता चलता है कि, इसी प्रकारकी धारणा हमारे पूर्वजोंकी भी थी। स्वामी दयानन्दने कोई नयी कल्पना नहीं की। सम्भव है कि, स्वामी दयानन्दके किये हुए किसी विशेष शब्द या विशेष मन्त्रके विशेष अर्थसे लोग सहमत न हों। विद्वानोंका विशेष बातोंमें मतभेद होना स्वाभाविक भी है और वेदोंके कई दृष्टियोंसे कई अर्थ हो भी सकते हैं, परन्तु परखना उन सिद्धान्तोंका है, जो स्वामी दयानन्दने निर्धारित किये हैं और जिनको आर्य्यसमाज मानता है।

वेदोंके विषयमें साधारण लोगोंकी यह धारणा है कि, वेद हैं तो अच्छी चीज; परन्तु वह सत्युगके लिये हैं, कलि-युगके लिये नहीं! स्वामी दयानन्द इस बातका भी विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि, जिस प्रकार ईश्वरका एक बारका बनाया सूर्य्य सब युगोंमें चमकता है, उसी प्रकार वेद भी सब युगों और सब देशोंके लिये एक ही हैं। यही कारण है कि, आर्य्य-समाज अपने प्रत्येक कार्य्यमें वेदोंको आगे रखता है। यह सच है कि, अभी आर्य्यसमाजमें वेदोंके विद्वान् उत्पन्न नहीं हुए; परन्तु इस छोटेसे समयमें भी आर्य्यसमाजने, इस विषयमें, इस थोड़ी साम-ग्रीसे जितना कार्य्य किया है, वह उपेक्षाके योग्य नहीं है।

वेदोंपर स्वामी दयानन्दकी अगाध श्रद्धा थी। वह उनको समस्त सभ्यताका आदि-स्रोत समझते थे। वह समस्त मानवी आपत्तियोंका कारण वेद-प्रचारके अभावको ही समझते थे। उनके कथनसे निरन्तर यही ध्वनि निकलती है कि, जबतक वेदोंका प्रचार न होगा, तबतक मनुष्योंका कल्याण नहीं हो सकता।

वेद और आर्यसमाज

पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ
(महाविद्यालय, ज्वालापुर, सहारनपुर)

वेदोंके विषयमें कट्टर सनातनधर्मी जो भाव रखते हैं, प्रायः वे ही भाव आर्यसमाजियोंके हैं। भेद इतना ही है कि, आर्यसमाज केवल चार मूल वेदोंको ही वेद मानता है और सनातनधर्मी ब्राह्मण-ग्रन्थोंको भी वेदान्तर्गत मानते हैं। पर यथार्थ बात यह है कि, जब हम 'वेद' का नाम लेते हैं, तब बोध होता है, उन्हीं ऋग्, यजुः, साम, अथर्व आदि चार वेदोंका। मूल वेदोंमें भी वेद शब्दसे इन्हीं चारो वेदों-का तात्पर्य है और ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिनमें चारो वेदोंका नाम स्पष्ट रूपमें आया है, इसलिये ब्राह्मण-ग्रन्थोंको व्याख्या-रूप ग्रन्थ कह सकते हैं। उनका समावेश वेदोंमें नहीं कर सकते। मन्वादिके शब्दोंमें वेद ऋषियों द्वारा प्राप्त ईश्वरीय ज्ञान है और ब्राह्मणग्रन्थ ऋषियोंकी प्रतिभाके खेल हैं।

आर्यसमाजियोंमें अब कई विचारके लोग हो रहे हैं। एक समुदाय यह मानने लग गया है कि, अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा, इन चार ऋषियों द्वारा क्रमशः चारो वेदोंका जितना ज्ञान आया है, उसको मनुष्यो-पयोगी पर्याप्त ज्ञान कह सकते हैं; पर भविष्यमें अन्य ऋषियों द्वारा और भी ज्ञान नहीं उतरेगा, यह बात नहीं। यह भी आवश्यक नहीं है कि, सब ज्ञान चार ही ऋषियों द्वारा आया और वह भी सृष्टिके आदिमें ही।

एक और छोटासा समुदाय यह कहता है कि, सृष्टिके आदिमें जब ऋषियों द्वारा वेद प्रादुर्भूत हुए, तबसे अबतक अरबों वर्ष व्यतीत हुए। तबसे अबतक वही वेद, तनिक भी परिवर्त्तित हुए बिना, चले आये; इस बातको कोई कैसे मान ले; और, ईश्वरीय ज्ञानमें मनुष्य-ज्ञान मिश्रित नहीं हुआ, यह भी कैसे मान लिया जाय? एक और छोटासा दल कहता है कि, वेद जिस प्रकार मिल रहे हैं, इसी प्रकार ये ही शब्द, ये ही क्रम, ईश्वर द्वारा ऋषियोंके हृदयोंमें उतरे, ऐसा माननेकी अपेक्षा ऋषियोंके हृदयोंमें ज्ञान हुआ और उन्होंने अपने शब्दोंमें उन्हें प्रकट किया, ऐसा क्यों नहीं माना जाय?

इसी प्रकारका एक और पक्ष है। यह सब तर्क-युगका फल है। आर्यसमाजका तर्क-युग पहले औरोंपर चला, अब घरमें ही चल रहा है। पर इस तर्क-युगसे कोई हानि नहीं होगी। आर्यसमाज अब स्वाध्यायशील होकर स्वग्रन्थ-परिशीलनमें लग रहा है, घर टटोल रहा है। इसका फल भी अच्छा होगा चाहे जो हो; पर संसार इस बातको मानेगा और सहस्र बार मानेगा कि, आर्यसमाजके प्रवर्त्तकने वेदोंको निष्कलंक करके उनका मन्वादि-वर्णित उच्चतम पीठपर लाकर अधिष्ठित करनेका पूर्ण प्रयत्न किया है। स्वामी दयानन्दजीने वेद-भाष्य भी किये हैं और अपने वैदिक भाष्योंमें पूर्ण प्रयत्न किया है कि, वेदोंमेंसे इतिहासकी गन्ध भी न आने पावे। उनके भाष्योंको देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि, उनको आमरण यही चिन्ता लगी रही कि, "वेद सत्यविद्याओंका पुस्तक" है और इसी बातकी सिद्धिके लिये उनका परम पुरुषार्थ रहा।

वेद और आर्यसमाज

प० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०, एम० ओ० एल०

(आचार्य, दयानन्द-ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर)

आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्दजी महाराजका वेदोंके सम्बन्धमें जो विचार था, उसे नीचेकी पंक्तियाँ पढ़नेपर सरलतासे समझा जा सकता है—

(१) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि चारों वेद आपसमें स्वतन्त्र हैं, अन्योन्याश्रित नहीं। वेदोंकी ११३१ शाखाओंमेंसे शाकल, राणायणीय, माध्यन्दिन तथा शौनक शाखाएँ, शाखाएँ नहीं, वरन यही मूल वेद हैं। शेष ११२७ शाखाएँ तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ इन्हीं चारोंकी व्याख्याएँ हैं। वे मुख्य रूपसे नहीं, समीपवर्ती होनेसे उपचार द्वारा वेद अथवा श्रुति-संज्ञाओं द्वारा ग्रहण की जाती है।

(२) वेद प्रभुके ज्ञान हैं; अतः वे उसके अन्य गुणोंके समान नित्य हैं। उनके शब्द, अर्थ और उनका संबन्ध तथा क्रमादि भी नित्य हैं।

(३) उनका प्रत्येक सृष्टिके आरम्भमें प्रभु अपनी शक्तिसे चार सर्वोत्तम ऋषियों द्वारा प्रकाश करता है।

(४) वर्त्तमान कल्पमें अग्नि, सूर्य, वायु तथा अंगिरा प्राथमिक ऋषि हुए, जिनके द्वारा चारों वेद प्रकट हुए। तत्पश्चात् वेदोंके अर्थोंके साक्षात्कारी तथा व्याख्याता ऋषि हुए, जिनके नामोंसे सूक्तादि प्रसिद्ध हुए।

(५) वेदोंमें अनित्य व्यक्तियोंका वर्णन नहीं पाया जाता।

(६) वेद सब सत्य विद्याओंके मूल हैं और उनमें ऐसी कोई भी बात नहीं है, जो मिथ्या हो या वैज्ञानिक कसौटीपर कसी न जा सके। उनमें प्रतिपादित विषयको केवल कर्मकाण्डतक संकुचित देखना भूल है।

(७) वेद मनुष्यमात्रके लिये हैं। स्त्री या शूद्रको प्रभुकी वाणी (वेद)से बलात् वंचित रखना अन्याय और पाप है।

(८) वेदोंके अर्थ-ज्ञान-रहित पाठमात्रसे किसी अदृष्ट फलका उदय नहीं होता। उनमें प्रतिपादित शिक्षाओंको समझ और धारण करने पर ऐहिक सफलता और पारलौकिक सद्गति तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(९) वेदार्थ करनेकी ठीक शैली प्रकृति-प्रत्ययके अर्थोंके आधारपर चलनेवाली यौगिक शैली ही है। वेदोंके शब्दोंके अनेक अर्थोंको प्रकरणानुसार ग्रहण करना चाहिये। इस मर्मसे अनभिज्ञ लोग ही "मेध" को हिंसार्थमें और 'विश्वामित्र' को व्यक्तिविशेष-परक लगाते हैं।

(१०) वेद स्वतः प्रमाण हैं, शेष ग्रन्थ (शाखा, ब्राह्मण आदिसे लेकर आजतकके सब ग्रन्थ) परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल अंशमें मान्य, अन्यत्र त्याज्य हैं।

स्वामीजी महाराजने केवल वाणीद्वारा ही वेदोंकी कीर्त्तिको नहीं गाया, वरन् अनेक ग्रन्थों-द्वारा भी अपने वैदिक मन्तव्योंको प्रकाशित किया। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "सत्यार्थ-प्रकाश" में यथेष्ट सामग्री है। उसमें सम्पूर्ण वैदिक प्रक्रियाओंका संकेत पाया जाता है। पर उसमें अनेकानेक अन्य विषय भी हैं। वह तो एक प्रकारसे प्राचीन सभ्यता तथा धार्मिक विचारोंका विश्व-कोष है। "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" उनके वेद-विषयक विचारों-का मुख्य संग्रह और व्याख्यान है। इसमें अनेक विषयोंपर सैकड़ों मन्त्रोंके अर्थ-सहित प्रमाण मौजूद हैं। वेद-विरोधियोंकी शङ्काओंका परिहार भी किया गया है। "संस्कार-विधि" में आचार्यने नवीन युगके अनुसार श्रौत-स्मार्त्त कर्मकाण्डोंका संक्षेप परिचय दिया है। नये ढंगसे श्रद्धा पैदा करनेका यत्न किया गया है। "आर्याभिविनय" में १०८ मन्त्रोंकी भक्तिरस-पूर्ण माला बनायी है। उनके अन्य दो दर्जनके लग-भग ग्रन्थोंमें न्यूनाधिक सर्वत्र वेदका विषय आ जाता है। इन सबके सिरपर उनका प्रमुख वैदिक प्रयत्न उनके वेद-भाष्यके रूपमें है। ऋग्वेदका तीन चौथाईके लगभग और यजुर्वेदका सम्पूर्ण भाष्य ही वे कर पाये थे कि, उनके निर्वाणका समय हो गया।

इस समग्र साहित्यके मुद्रणार्थ अजमेरमें "वैदिक यन्त्रालय" की स्थापना की गयी थी। अपने वैदिक मिशनकी पूर्त्तिके लिये "परोपकारि-णी सभा" का निर्माण भी किया था। खेदकी बात है कि, इन दोनों संस्थाओंने उचित रूपसे वैदिक साहित्यकी सेवा नहीं की। केवल यही नहीं कि, शेष वेद-भाष्यको पूरा नहीं कराया गया, वरन् स्वामीजीके लिखे हुए ग्रन्थोंको भी परिमार्जित रूपमें छपवाया नहीं गया।

इस त्रुटिका मुख्य कारण स्वामीजीकी बनायी हुई प्रमुख संस्था आर्यसमाजका इधर उदासीन होना ही है। जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और सत्यार्थ-प्रकाशका सम्बन्ध है, वही उनकी अजमेरकी संस्थाओं और आर्यसमाजका समझना चाहिये। आर्यसमाजको इस बातमें अभीतक ऐसी सफलता नहीं हुई कि, वेदके मार्मिक विद्वानोंकी मण्डलीको संगठित कर सके। जो कार्य प्रस्थानत्रयीके भाष्य-कारों (शंकर, रामानुज) के शिष्यों (सुरेश्वरा-चार्य, आनन्दगिरि आदि) ने किया, उससे वेद-व्याख्याता दयानन्द अभीतक वञ्चित रहा है। प्रतीत होता है, आर्यसमाजको अपनी परिस्थितिने निर्माणके कार्यमें इतना फसाये रखा है कि, उसकी वैदिक विद्याके साक्षात् प्रकाशकी ओर अधिक प्रवृत्ति नहीं हो सकी। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि, व्यक्तिगत रूपसे तथा साम्प्रदायिक रूपसे आर्य लोगोंने इधर कुछ किया ही नहीं। विशेष रूपसे पंजाबमें और उससे उतरकर संयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तोंमें भी आर्यसमाजकी लगभग ६०० संस्थाएं हैं, जिनमें आधुनिक और प्राचीन विद्याओंकी शिक्षा दी जाती है। इन सबमें "वेदपाठ" होता है। सर्वत्र सन्ध्या, अग्निहोत्रके मन्त्रोंको कण्ठस्थ कराया जाता है और स्वामी-जीके ग्रन्थोंके आधारपर वैदिक उपदेश दिये जाते हैं। पंजाबमें हिन्दीका विस्तार आर्यसमाजकी संस्थाओंके कार्यका मुख्यरूपसे परिणाम है। लाखों नर-नारी आज प्रणवका जप और वेद-मन्त्रोंका पाठ करते दिखाई देते हैं। पत्र-व्यवहार 'ओम्' से आरम्भ होता है।

आर्यसमाजके गुरुकुलोंमें, काँगड़ी, ज्वालापुर तथा वृन्दावनमें भरसक यत्न किया गया है कि, वेदके विद्वान तैयार हों। सामान्य रूपसे लगभग एक दर्जनके अच्छे विज्ञ पुरुष निकले भी हैं। इनमेंसे विशेष उल्लेखनीय कार्य पं० जयदेव विद्यालङ्कार, "आर्य-साहित्य-मण्डल", अजमेरकी ओरसे कर रहे हैं। उन्होंने चारों वेदोंको सभाष्य प्रकाशित करनेका कार्य-क्रम बनाया है। कुछ कार्य हो चुका है और कुछ हो रहा है। स्कूलों और कालेजोंमें प्रमुख स्थानपर लाहौरका डी०ए० वी० कालेजका संस्थानक है। इसके अधीन दो मुख्य आयोजन हैं, जिनका ध्येय ही वेद-सेवा है। ये हैं डी०ए०वी० कालेज रिसर्च विभाग और "दयानन्द-ब्राह्ममहाविद्यालय," वैदिकाश्रम, लाहौर। प्रथम विभागके साथ लाल चन्द्र रिसर्च पुस्तकालय है, जिसमें प्राचीन विद्याओंके बहुमूल्य मुद्रित पुस्तकोंके अतिरिक्त लगभग ६००० दुष्प्राप्य हस्त-लिखित ग्रन्थोंका भी संग्रह किया गया है। इस विभागकी ओरसे कई वैदिक ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है। उनमें अथर्ववेद-संबन्धी बृहत्सर्वानुक्रमणी, पञ्चपटलिका और 'वैदिक कोष' विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अध्यक्ष प० भगवद्दत्त जी "वैदिक वाङ्मयका इतिहास" नामसे एक बृहत् ग्रन्थ लिख रहे हैं। उसका अभी केवल दूसरा भाग छपा है। दयानन्द-ब्राह्ममहाविद्यालयसे एक तो "वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला" प्रकाशित होता है दूसरा यहींपर "विश्वेश्वरानन्द-वैदिकानुसन्धानालय" का आयोजन है। "माला"में इस समयतक वेदोंके मन्त्र-संग्रहोंके व्याख्यानोंके रूपमें "वेद-सन्देश" के चार भाग, वैदिक-कर्म-काण्डकी "देवयज्ञप्रदीपिका" तथा "आर्योदय" नामकी निबन्धमाला छप चुकी हैं। वेद, उपनिषद् तथा भगवद्गीताका निष्कर्षस्वरूप "स्वाध्यायग्रन्थ" छप रहा है। "अनुसन्धानालय"के अधीन "वैदिक-कोष-कार्यालय" है, जिसका संबंध शिमलाकी "विश्वेश्वरानन्दसम्पत्प्रबन्धिनी सभा" से है और जिसकी ओरसे आठ वर्षसे "वैदिक-शब्दार्थ-पारिजात" नामसे वैदिक शब्दोंके प्राचीनतम ब्राह्मणादिसे लेकर नूतनतम भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये अर्थोंका आलोचनात्मक संग्रह-स्वरूप विश्वकोश तैयार हो रहा है। इसका प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है। चारों वेदोंकी सूचियोंके अतिरिक्त, अन्य संहिताओं, समस्त ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रोंके शब्दानुक्रम-कोष भी छपनेके लिये तैयार हैं। डी० ए० वी० कालेजसे संबद्ध प० राजारामजी शास्त्रीकी वेद-सेवा विशेष वर्णनयोग्य है। आपने भिन्न-भिन्न विषयोंपर लगभग ५० ग्रन्थोंका निर्माण किया है। इस समय आप अथर्ववेदका भाष्य छपवा रहे हैं। इसपर आपने बड़ा परिश्रम किया है। महामहोपाध्याय प० आर्यमुनिजीने ऋग्वेद-भाष्यके अवशिष्ट भागको पूर्ण किया है। प० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदीने संपूर्ण अथर्ववेद-भाष्य छपवाया है। स्वर्गीय गोस्वामी प० तुलसीरामजीने सम्पूर्ण सामवेद-भाष्य छपवाया था। औंध (सतारा) में पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने कई वर्षसे "आर्य-स्वाध्याय-मण्डल" स्थापित किया है, जहाँसे वेद-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ छपे हैं। वहाँकी छपी हुई "वाजसनेय-शाखा" अति हृदयङ्गम है। सातवलेकरजीका बनाया हुआ मुख्य ग्रन्थ "वेदामृत" है, जिसे आर्य-प्रतिनिधि सभा (पंजाब) ने छपवाया है। वैदिक मुनि स्वामी हरिप्रसादजीने "स्वाध्याय-संहिता" नामसे उपयोगी ग्रन्थ छपवाया है। स्वर्गीय प० शिवशङ्कर

काव्यतीर्थने भी "वेदार्थ-निर्णय" आदि अनेक ग्रन्थ लिखे और छपाये थे। आपने छान्दोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद्का भाष्य भी लिखा है।

गुरुकुल काँगड़ीके स्नातकोंमें प० देवशर्माजीकी वेदमें पर्याप्त प्रवृत्ति सुनी जाती है। प० विश्वनाथ जी वेदाध्यापकने "वैदिक-जीवन" पुस्तकमें कुछ मन्त्रोंका सुगम व्याख्यान भी किया है। वहींके अध्यापक प० चमूपतिजी, एम० ए० की वेद-विषयमें यथेष्ट रुचि है। आपने ऋग्वेदके दसवें मण्डलके यम-यमी-सूक्तपर कुछ लिखा भी है। गुरुकुल (ज्वालापुर) में स्व० प० भीमसेनजीने "संस्कार-चन्द्रिका" के अन्दर अनेक मन्त्रोंका भाष्य किया था। आप योग्य व्यक्ति थे। स्व० प० तुलसीरामजी और स्व० स्वा० दर्शनानन्दजीके भी उपनिषद्-भाष्य मौजूद हैं। प० राजारामजी, प० आर्यमुनिजी तथा स्वामी सत्यानन्दजीने भी उपनिषदोंपर भाष्यादि लिखे हैं। स्व० प० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम० ए० ने अंग्रेजी भाषामें यौगिक प्रक्रियाके महत्त्वपर "The Terminology of the Vadas" ग्रन्थ लिखा था। उपनिषदोंपर भी उन्होंने भाष्य रचे थे। स्व० मास्टर दुर्गाप्रसादजीने भी अंग्रेजीमें "वैदिक सन्ध्या" के अतिरिक्त कई "Vedic Readers" और ऋग्वेदके अनुवादके अंक निकाले थे। डी० ए० वी० कालेजके रिसर्च-विभागकी ओरसे प० भगवद्दत्तजी-कृत "ऋग्वेदपर व्याख्यान," "जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण" का रोमन लिपिसे प्रतिलेख तथा "माण्डूकी शिक्षा" का प्रकाशन भी हुआ है। आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि-सभा (लाहौर) ने अपने महोपदेशक महता रामचन्द्रजी शास्त्री-कृत "वैदिक सूक्ति" का, कई वर्ष हुए, छपाया था। स्वा० अच्युतानन्दजीने "आर्याभिविनय" (द्वितीय भाग) नामसे वेदमन्त्रमाला साथ छपायी थी। महात्मा हंसराजजीने 'यूनायन' और "गृहस्थधर्म" नामसे हिन्दीमें वेदमन्त्रोंके भावार्थोंको संगृहीत किया है। प० प्रियरत्नजी "आर्ष" ने भी बड़ीसे वेदके ऋषि-देवतादिपर कुछ विमर्श छपाया है। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम० ए० डी० फिल्‌ने पंजाब यूनिवर्सिटीकी ओरसे "निरुक्त" का एक आदरणीय मूल संस्करण, उसपर स्कन्दस्वामी तथा महेश्वर कृत भाष्योंका कुछ भाग तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद छपाये हैं। काशीस्थ डा० मंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल् तथा जम्मूस्थ डा० सिद्धेश्वर शास्त्री एम० ए० ने "प्रातिशाख्यों" पर विशेष विमर्श निकाले हैं।*

* प० चन्द्रमणि विद्यालङ्कारने यास्कके निरुक्त पर दो भागों और १००० पृष्ठोंमें "वेदार्थ-दीपिका" नामका विस्तृत भाष्य लिखा है। "वेदार्थ करनेकी विधि", "वैदिक स्वराज्य" आदि भी आप लिख चुके हैं। प० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थका "ऋग्वेदालोचन" भी प्रसिद्ध है। प० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थका भी सम्पूर्ण सामवेद और अथर्ववेदपर भाष्य छपा है। ऋग्वेदके दो अष्टकोंका भाष्य भी आप लिख चुके हैं। आपने कई उपनिषदोंका भी भाष्य किया है। प० विश्वनाथजी विद्यालङ्कारका "पशुयज्ञ-मीमांसा" भी प्रसिद्ध है। प० बुद्धदेवजी विद्यालङ्कारने "शतपथमें एक पद" नामका ग्रन्थ लिखा है। श्रीयुत इन्द्रजी विद्यावाचस्पति "उपनिषदोंकी भूमिका" लिख चुके हैं। सातवलेकरजी अथर्ववेदका भाष्य लिख रहे हैं। प० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० शतपथका भाष्य लिख रहे हैं। आर्य-सामाजिक पण्डितोंने और भी कई वेद-सम्बन्धी छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे हैं। —सम्पादक

पूज्य ओझाजी और उनकी वैदिक खोज

पं० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विद्यालंकार, शास्त्री
(साधना-सदन, देवबन्द, सहारनपुर)

जयपुरके राज-पण्डित, पण्डित-सम्राट्, पूज्य-चरण वेद-मूर्ति पं० मधुसूदनजी ओझाका जन्म मुजफ्फरपुर जिलेके गाढ़ा नामक ग्राममें श्रीकृष्ण जन्माष्टमी (संवत् १९२३ वि०) को हुआ था। अंग्रेजी एवं फारसीकी साधारण शिक्षा प्राप्त करनेके बाद आपने संस्कृतका पूर्ण अध्ययन किया। आप इसी समय ऐसी सुन्दर समस्यापूर्ति करते थे कि, देखकर जनता आश्चर्य-चकित हो रहती थी। कुछ दिनोंमें ही आप भारत-प्रसिद्ध विद्वान् हो गये। राजाश्रय प्राप्तकर आप जयपुरमें ही रहने लगे।

जयपुरके स्वर्गीय महाराजके साथ आपने इङ्गलैण्डकी यात्रा की थी। वहाँ वेद-विज्ञानके सम्बन्धमें आपका एक संस्कृत-भाषण हुआ था। यूरोपके संस्कृतज्ञ विद्वान् उस भाषणको सुनकर दंग रह गये। पत्रोंमें उक्त भाषणकी धूम मच गयी। सबोंने उसपर प्रशंसात्मक नोट लिखे। उन्होंने उद्घोषित किया कि, "ओझाजीकी खोज जिस दिन अनूदित होकर यूरोप आयगी, उस दिन यहाँ प्रयोग-शालाओंके साथ यज्ञ-शालाएँ खुल जायँगी।" ओझाजीसे कुछ वर्ष इङ्गलैण्ड रहनेकी प्रार्थना की गयी। आपने कहा—"मैं मातृ-भूमिको नहीं छोड़ सकता!"

पूज्य ओझाजी अपनी उद्भट प्रतिभाके बलपर ३०-३५ वर्षोंसे वैदिक रहस्योंके उद्घाटनमें संलग्न हैं। आपकी इच्छा है, अपनी समस्त खोज लेख-बद्ध कर दें। आपका शरीर वृद्ध हो चला है, पर आप यौवनके अथक उत्साहसे इस कार्यमें लगे हुए हैं। ओझाजीके लिखनेका ढंग बड़ा अद्भुत है। आप प्रायः प्रतिदिन ४-५ घण्टे लिखते हैं। वेदका प्रकरण चल रहा है, तो महीनों उसीपर लिख रहे हैं, पर बीचमें पुराणका विषय आ गया तो महीनों उसी पर कलम चलती रहेगी। वेद-विज्ञानमें १० वादोंका निरूपण आपने किया है। आपने इस विषयपर ११ पुस्तकें लिखी हैं। कदाचित् इन्हें हम आपकी खोजका निचोड़ कह सकते हैं। आप "शतपथ-ब्राह्मण" को वैदिक खोजकी गाइड कहते हैं, पर अभी आप उसपर कलम नहीं उठा सके हैं। सुनते हैं, इधर आपके एक शिष्य आपसे इस ग्रन्थका अध्ययन कर रहे हैं और प्रतिदिन जो पढ़ते हैं, उसे हिन्दीमें लिख लेते हैं। सौभाग्यवश यदि यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका, तो एक अद्भुत चीज होगी और इसका आकार महाभारतसे भी विशाल होगा।

पहले आप प्रायः गद्यमें लिखते थे, पर इधर सब पद्यमें ही लिख रहे हैं। आपका पद्य-प्रवाह गजबका है—सोचनेका नाम नहीं, द्रुत गतिसे कलम चलती रहती है।

आपका सब ग्रन्थ-भाण्डार संस्कृतमें है और यही एक विकट समस्या है। सुनते हैं, वेद भगवान् श्वास से उद्भूत हैं—संसारके समस्त ज्ञानके केन्द्र हैं। ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जो उनमें उपलब्ध न हो। वे

लौकिक-पारलौकिक विद्याओंके भाण्डार हैं। परन्तु वेदोंपर सायण, महीधर, उव्वट आदिके भाष्योंके मतभेद और विभिन्न प्रकारके ऊहापोह-जालसे पाठक ऊब उठते हैं और उनका मन आकुल वत्सके स्वरमें पूछ उठता है—वेद-ज्ञान क्या है, कहाँ है और उसका उपयोग क्या है?

इस जिज्ञासाको शान्त करना—अतुलनीय वेद-ज्ञानको पाठकोंके सामने रख देना—ही ओझाजीकी खोजका मुख्य ध्येय है और यही उनकी खोजकी रूप-रेखा है।

यह महत्त्वपूर्ण खोज ओझाजी द्वारा निर्मित निम्न लिखित ग्रन्थोंमें निहित है—

विषय-विभागके अनुसार आपके ग्रन्थोंकी सूची नीचे दी जाती है। यद्यपि निगम चार प्रकारसे विभक्त हैं; परन्तु ओझाजीने उन्हें प्रधान पाँच भागोंमें विभक्त किया है। विषय-क्रमसे पाँचों भाग ये हैं—ब्रह्म-विज्ञान, यज्ञ-विज्ञान, पुराण-समीक्षा, वेदांग-समीक्षा और आगम-रहस्य।

ब्रह्म-विज्ञानके सात खण्ड हैं—दिव्यविभूति, उक्थवैराजिक, आर्यहृदय-सर्वस्व, निगम-बोध, विज्ञान-प्रवेशिका, विज्ञान-मधुसूदन और सावित्र-प्रदीप। यज्ञ-विज्ञानके चार खण्ड हैं—निविद्कलाप, यज्ञमधुसूदन, यज्ञविनय-पद्धति और प्रयोग-पारिजात। पुराण-समीक्षाके तीन खण्ड हैं—विश्व-विकास, देव-युगाभास और प्रसङ्ग-चर्चितक। वेदाङ्ग-समीक्षाके चार खण्ड हैं—वाक्पदिका, ज्योतिश्चक्रधर, आत्म-संस्कार-कल्प। आगमरहस्यके छः हैं—चतुर्दशधा विभक्त, अष्टादशधा विभक्त, अष्ट-विभागोपेत, दश-विभागोपेत, षड्विध और चतुःषष्टिविध।

इन चौबीसोंके भी बहुतसे उपग्रन्थ हैं। जैसे प्रथम ब्रह्म-विज्ञान-विभागके प्रथम दिव्य-विभूति खण्डके जगद्गुरुवैभव, स्वर्ग-सन्देश, इन्द्रविजय (मुद्रित), महर्षि-कुलवैभव, दशवाद-रहस्य नामक पाँच ग्रन्थ हैं। द्वितीय उक्थवैराजिकके सदसद्वाद (मुद्रित), रजोवाद, व्योम-वाद, अपर-वाद, आवरणवाद, अम्भोवाद, अमृत-मृत्यु-वाद, अहोरात्र-वाद (मुद्रित), दैववाद, संशय-तदुच्छेद-वाद (मुद्रित) नामके दस ग्रन्थ हैं। तृतीय आर्य-सर्वस्वके ब्रह्म-हृदय, ब्राह्मण-हृदय, उपनिषद्धृदय, गीताहृदय और ब्रह्म-सूत्र-हृदय (मुद्रित) नामके पाँच ग्रन्थ हैं। चतुर्थ निगम-बोधके निगदवती, गाथावती, आख्यानवती, निरुक्तिमती तथा पथ्यास्वस्तिमातृका नामके पाँच ग्रन्थ हैं। पञ्चम विज्ञान-प्रवेशिकाके ब्रह्मद्वी, ब्रह्मधारा, विज्ञान-विद्युत्, विज्ञान-परिष्कार, दर्शन-परिष्कार नामक पाँच ग्रन्थ हैं। छठे विज्ञान-मधुसूदनमें ब्रह्म-चतुष्पदी, ब्रह्म-विनय, ब्रह्म-समन्वय, ब्रह्म-प्राजापत्य तथा ब्रह्मोत्पत्ति नामके पाँच ग्रन्थ हैं। सातवें सावित्र-प्रदीपमें भौतिक-सावित्र-प्रदीपिका, यौगिक सावित्र-प्रदीपिका, शारीरिक-सावित्र-प्रदीपिका, दृष्टिविज्ञान-प्रदीपिका और वस्तु-समीक्षा (मुद्रित) नामक पाँच ग्रन्थ हैं।

दूसरे यज्ञ-विज्ञान-विभागके प्रथम निविद्कलाप ग्रन्थमें वेदस्वरूपनिविद्, सृष्टिनिविद्, देवता-निविद् (मुद्रित), आत्म-निविद्, यज्ञ-निविद् तथा भूतनिविद् नामके छः ग्रन्थ हैं। दूसरे यज्ञ-मधुसूदनमें यज्ञ-विहाराध्याय, स्मार्त-कुण्डाध्याय (मुद्रित), यज्ञोपकरणाध्याय (मुद्रित), मन्त्रप्रवरणाध्याय, सार्वयज्ञाध्याय, देवताध्याय, यज्ञक्रियाध्याय (मुद्रित), कर्मानुक्रमणिकाध्याय (मुद्रित) और छन्दोभ्यस्ताध्याय नामके ग्रन्थ हैं। तृतीय यज्ञ-विनय-पद्धतिमें यज्ञकौमुदी नामक ग्रन्थ है। चौथे प्रयोग-पारिजातमें आधान-प्रयोग, प्राक्सौमिक-प्रयोग, एकाह-

प्रयोग, अग्नि-प्रयोग तथा सत्र-प्रक्रिया नामके पाँच ग्रन्थ हैं।

तृतीय पुराण-समीक्षा-विभागके प्रथम विश्व-प्रकाशमें मन्वन्तर-निर्धार, विश्व सृष्टि-सन्दर्भ, आर्य-भुवन-कोश, ज्योतिश्चक्र-संस्थान, वैज्ञानिकोपाख्यान, और वंश-मातृका नामक छः ग्रन्थ हैं। द्वितीय देव-युगाभासमें देवासुरख्याति, राघवख्याति, माधव-ख्याति, हैहयख्याति, पारदख्याति और अत्रिख्याति नामके छः ग्रन्थ हैं। तीसरे प्रसंगचार्चिकमें भी छः ग्रन्थ हैं—कथानक-समुच्चय, दैवत मीमांसा, वेद पुराणादि-शास्त्रावतार, कल्पशुद्धि-प्रसङ्ग, परीक्षा-प्रसंग और पुराणपरिशिष्ट।

वेदाङ्ग-समीक्षा-विभागमें प्रथम वाक्पदिकाके पाँच ग्रन्थ हैं—वर्ण-समीक्षा, छन्दः-समीक्षा, सरस्वती-मणिमाला, वैदिक कोष (मुद्रित), शब्दार्थ-सारणी और व्याकरण-विनोद। द्वितीय ज्योतिश्चक्रधरमें पाँच ग्रन्थ हैं—तारा-विज्ञान, काल-विज्ञान, होरा-विज्ञान, कादम्बिनी (वृष्टि-विद्या) (मुद्रित) और लक्षण-विज्ञान (सामुद्रिक विद्या)। तृतीय आत्मसंस्कार-कल्पमें पांच अवान्तरभेद हैं—शुद्धि-सिद्धान्त पञ्जिका, धर्म-विधान-पञ्जिका, व्रत पञ्जिका, व्यवहार-नयधारा और श्राद्धपरिष्कार। शुद्धि-सिद्धान्त-पञ्जिकामें नित्याचार-पञ्जिका, शिष्टाचार-पञ्जिका, अशौच-पञ्जिका (मुद्रित), प्रायश्चित्त-पञ्जिका, वृत्त पञ्जिका नामक पाँच ग्रन्थ हैं। धर्म-विधान-पञ्जिकामें ब्रह्म-संस्कार विधि, देव संस्कार-विधि, आत्म-संस्कार-विधि, पञ्च महायज्ञविधि, समयाचारिक-विधि नामक पाँच ग्रन्थ हैं। व्रत-पञ्जिकामें जाति-धर्मोपासना, वर्ण-धर्मोपासना, आश्रम-धर्मोपासना, दीक्षाधर्मोपासना, संकल्पित-धर्मोपासना नामक पाँच ग्रन्थ हैं। व्यवहारनय-धारामें तर्कन्याय-प्रशासन, व्यास-सिद्धान्त-प्रशासन, आन्वीक्षिकी, पाञ्चतान्त्रिक और न्याय-पद्धति-मीमांसा नामक पाँच ग्रन्थ हैं। श्राद्ध-परिष्कारमें तीन ग्रन्थ हैं, पितृ-निरूपण, श्राद्ध-यज्ञोपपत्ति और श्राद्ध-पद्धति। आगम-रहस्यमें छः ग्रन्थ हैं। चतुर्दशविध अष्टदशविध, अष्टविध, दशविध, षड्विध, चतुःषष्टिविध और इन विषयोंको संक्षिप्तानुवर्णन। इनके परिशिष्टानुग्रहमें शास्त्र-तालिका, जाति-तालिका, सम्प्रदाय-तालिका और गोत्र-प्रवर-तालिका नामके चार ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त एक वेद-धर्म-व्याख्यान-खण्ड है, जिसके छः ग्रन्थ हैं—प्रत्यन्त-प्रस्थान-मीमांसा (मुद्रित), वेदार्थ-भ्रम-निवारण (मुद्रित), इन्द्रध्व-जोत्थान-पद्धति, क्रीड़ा-कौतुक, धर्मतत्त्व-समीक्षा और जानकी-हरण-काव्य-प्राक्-सम्पादन। इस तरह सब मिलकर ओझाजीने सवा सौसे अधिक ग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार ओझाजीके समस्त जीवनकी कठोर साधना अधिकांश अमुद्रित कागजोंके रूपमें पड़ी हुई है। इस ग्रन्थराशिका प्रकाशित होना कितना आवश्यक है, यह कहना व्यर्थ नहीं। दार्शनिक विषय कुछ तो स्वभावतः दुरूह होते हैं; उसपर संस्कृत-गद्य-पद्यात्मक होनेसे इन ग्रन्थोंकी दुरूहता और भी बढ़ गयी है। ओझाजीके जीवन-कालमें ही सर्व-साधारणके लिये हिन्दीके अनुवादके साथ इन ग्रन्थोंका प्रकाशित हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। जिन्हें मुद्रणका कुछ भी अनुभव है, वे भली भाँति समझ सकते हैं कि, इन पुस्तकोंको छापनेके लिये प्रायः २५०००) रुपयोंकी आवश्यकता है। साथ ही यह भी आशा नहीं कि, यह धन पुस्तकोंमें लग जाने पर, शीघ्र ही (पुस्तकोंके मूल्यके रूपमें) पुनः प्राप्त हो सकेगा। अतएव यह धन हमें, व्यापारिक दृष्टि

से नहीं, धर्म-दानके पवित्र रूपमें ही लगाना पड़ेगा। अब प्रश्न यह है कि, यह विशाल धन प्राप्त हो कैसे ?

हाँ, महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी (प्रिंसिपल, महाराजा कालेज, जयपुर) ने यह प्रस्ताव मारवाड़ी-रत्न सेठ गौरीशंकरजी गोयनका-के सामने उपस्थित किया था। आपने एक पुस्तक छपा देनेका वचन भी दिया है। आप खुर्जा-निवासी, सनातनधर्म-प्राण, संस्कृतके अनन्य प्रेमी और विद्वान् धनी हैं। आपने संस्कृतकी अभ्युन्नतिके लिये कई लाख रुपये दान दिये हैं। आजकल खुर्जा और काशीमें आपके धनसे दो संस्कृतकालेज (राधाकृष्ण-संस्कृत कालेज और गोयनका महाविद्यालय) चल रहे हैं। संस्कृतमें डाक्टरेटके ढंगपर-वाचस्पति-परीक्षा एवं रिसर्च-विभाग खोलनेका भी सौभाग्य आपको प्राप्त हो चुका है। यह भी कहा जा सकता है कि, आप अकेले ही यह यज्ञ सम्पन्न करनेमें समर्थ हैं। पर सुना है, आपने यह शर्त उपस्थित की है कि, यदि वर्तमान विद्वन्मण्डली इन पुस्तकोंको सनातन-धर्मा-नुकूल घोषित कर दे, तब इन्हें छपाया जा सकता है। काशीकी विद्वन्मण्डलीकी मानसिक स्थितिसे परि-चित महानुभाव इस शर्तसे भयभीत हो सकते हैं। हम अभी भी ओझाजीकी खोजकी सनातन-धर्मानु-कूलतापर कुछ कहनेके अधिकारी नहीं हैं; पर उस खोजके आधारपर लिखित चतुर्वेदीजीके जो २-४ लेख हमने पढ़े हैं, उनके आधारपर हम अवश्य कह सकते हैं कि, उक्त ग्रन्थोंके प्रकाशित होनेपर "मूर्छित सनातनधर्म" पुनरुज्जीवन प्राप्त करेगा! उसकी कीर्तिपताका विश्वमें फहरा उठेगी!

इस सम्बन्धमें हमारा प्रस्ताव है कि, ५ वेदज्ञ विद्वानोंकी समिति † जयपुर जाकर या जैसे उपयुक्त समझे हो, ओझाजीकी खोजका अध्ययन करे और इस विषयपर आवश्यक प्रकाश डाले। इस कार्यके लिये बहुत अधिक समयकी आवश्यकता नहीं है। यदि समिति खोजको कुछ "सनातनधर्म-प्रतिकूल" भी समझे, तो भी श्रीमान् गोयनकाजीको इन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें हिचकिचाहट न होनी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक रचनाकी आलोचनाका अधिकार तो विद्वन्-मण्डलके हाथोंमें रहेगा ही।

हमारी सम्मतिमें उक्त समितिके सदस्य निम्नलिखित होने चाहिये—(१) गुरुवर प० चण्डीप्रसादजी महाराज (प्रिंसपल, गोयनका-महाविद्यालय, काशी), (२) महामहोपाध्याय प० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी (सनातनधर्मके विख्यात नेता), (३) प० रामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री ("गङ्गा"के प्रधान सम्पादक और सनातनधर्मके सर्व-प्रथम वैदेशिक प्रचारक), (४) प० नरदेव शास्त्रीजी वेदतीर्थ (उदार विचारोंके प्रसिद्ध विद्वान), (५) कोई अन्य विद्वान् जो प्रचारके ढंगसे पूर्ण परिचित हो और जिन्हें गोयनकाजी चुनें।

उक्त समितिकी 'रिपोर्ट' के बाद यदि गोयनका जी, इसके लिये प्रस्तुत न हों, (यद्यपि इसकी कोई सम्भावना नहीं है), तो यह समिति एक विशाल समिति * के रूपमें परिवर्तित कर दी जाय और इसके सभापतित्वके लिये "गंगा"के प्रधान संरक्षक कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुरसे प्रार्थना की जाय। यह समिति आन्दोलन द्वारा धन-संग्रह और उक्त ग्रन्थोंके प्रकाशनकी व्यवस्था कर भारतके एक लज्जाजनक अभावकी पूर्ति करनेमें अपनी शक्तियोंका सदुपयोग करे। आशा है, प्रत्येक वेद धर्मी इस समितिको सहायता देगा।

† इस समितिकी योजनाका भार शीघ्र ही चतुर्वेदीजीको ग्रहण करना चाहिये। —लेखक

* इस समितिके संगठनका भार लेनेको यह क्षुद्र सेवक सर्वथा प्रस्तुत है। —लेखक

१—वैदिक 'ओपश' और 'कपर्द'

डा० ए० बनर्जी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल०

(आक्सन)

(पटना कालेज, पटना)

ऋग्वेद (१०।८५।८, और १०।१४।३) में लिखा है कि, 'ओपश' और 'कपर्द' शिरोभूषणके प्रकार थे, जिन्हें विशेषतया स्त्रियां ही धारण करती थीं। तैत्तिरीय-संहिता [४।१।५।३] मैत्रायणी-संहिता [२।७।५] तथा वाजसनेयी संहिता [११।५६] में सिनीवाली देवीको 'सौपशा' कहा गया है—"सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा सौपशा" तैत्तिरीय सं० [४।१।५।३] अथर्ववेद [६।३८] तथा ऋग्वेद [१०। ३८, ८।१४।५ और ८।७।११] में भी ओपशका उल्लेख मिलता है। यही नहीं, परवर्ती वैदिक साहित्य [ताण्ड्य ब्राह्मण ४।१।१ और १३।४।३] तकमें भी इसकी चर्चा चली आयी है। साधारणतः लोगोंने इसका अर्थ 'आलंकारिक पट्ट' (Ornamental plaits) या वेणी-बन्धन (Braids) "असली × अथवा नकली" ※ किया है। ऐसे तो पुरुषोंमें भी यह प्रचलन कुछ अंशोंतक था, किन्तु अधिकांश स्त्रियां ही इस प्रकार अपने केशोंको बांधती या सजाती थीं।

'कपर्द' शब्द इसी भांति केशोंको सजाने या संवारनेकी वैदिक रीतिको लक्षित करता है। उपर्युक्त श्लोकमें देवी सिनीवालीको 'सुकपर्दा' अर्थात् सुन्दर वेणी धारण करनेवाली कहा गया है। कुमारी कन्याओंके इस प्रकार केश सजाने या सँवारनेकी प्रवृत्तिका उल्लेख ऋग्वेद (१०।११४। ३) में 'चतुष्कपर्दा' नामसे आया है; जिससे चार पट्टों या पाटियोंमें केश सजानेका बोध होता है। उन दिनों पुरुष स्वयं इसका अनुकरण कर केश सजानेकी इस रीतिकी प्रशंसा किया करते थे—रुद्र [ऋ० १।११४।१ और ५; वाज० सं० १६।१०, २९, ४३, ४८, ५८] और पूषण [ऋ० ६।५५। २। ९।६७।११]। बादमें मनुष्योंने इस प्रचलनको अपनाया, वसिष्ठोंने इन पट्टोंको दाहिनी ओर धारण किया—"दक्षि-

× Macdonell & Keith, Ved. Index, Vol I! P 125.

※ Zimmer, Alt. Leb. P. 264.

‡ Av. VI. 138, 1, 2.

† Rv. I-173,6.

णतः कपर्दी" (ऋ० ७।३३।१)। अभी भी पूर्वापेक्षाकृत साधारण लोगोंमें इसका प्रभाव बना हुआ है। अन्तर केवल इतना ही है कि, प्राचीन संस्कृत भाषामें वर्णित ऋषियोंके समयमें, इसका जो आकार-प्रकार था, उसने आधुनिक मातृभाषामें वर्णित साधुओंके समयमें कुछ परिवर्तित रूप धारण कर लिया है।

'कुम्ब' और 'कुरीर' (अथर्व० ६।१३८।३ तथा ऋ० १०। ८५।८) केशोंको सजानेकी अन्य रीतियाँ हैं ‡। सिनीवालीको उपर्युक्त मंत्रमें 'सुकुरीरा' कह कर वर्णित किया गया है। पुरातत्त्वसम्बन्धी कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं रहनेके कारण विषय-निरूपणमें वास्तविकताके बदले काल्पनिकता आ ही गयी; और ऐसा होना भी सम्भव था। पहले तो गेल्डनरने ※ इसका अर्थ 'सींग' लगाया; किन्तु बादमें इसे शिरःसज्जा माना है। परन्तु भारतीय परम्परामें + निश्चित रूपसे इसे 'शिरोभूषण' (केशमें लगाने या सजाने योग्य कोई स्त्री—श्रृङ्गार-सम्बन्धी वस्तु-विशेष) मानते चले आये हैं।

बक्सरमें, गंगाकी दरीमें, खुदाईसे मिली हुई प्रागैतिहासिक कालकी सभ्यताकी ध्वंसावशिष्ट वस्तुओंसे भारतीय परम्परागत किंवदन्तियाँ प्रत्यक्ष रूपसे प्रमाणित हो जाती हैं ‡। चित्रमें दिये हुए मिट्टीकी मूर्त्तियोंके शिरोभूषण सुंफ १९२६-२७

में, बक्सरकी खुदाईमें, मिले हैं। इस समय यह पटना-

‡ Plain hair was termed 'Pulasti'-Vaj. Sam. xvi. 43.

※ Geldner, Vedische Studien, 1,131-32

+ Sayana on Av. VI. 138.3 "कुरीरम् केशजालम् कुम्बम् तदाभरणम् च स्त्रीणाम् असाधारणम् ।"

‡ Banerji Shastri-J. Bomb. Hist. S., III. PP. 187-91

म्यूजियममें सुरक्षित हैं। ये शिरोभूषण किस कालके हैं, सिन्धु नदीकी दरीकी खोजें किस समयकी हैं, ऋग्वेदकी रचना कब हुई थी—यह सब अभी भी विशेष अध्ययनके विषय हैं। उपर्युक्त विवरणोंके साथ तुलना करनेके लिये निस्सन्देह बक्सरकी खोजें सर्वापेक्षा निकटस्थ उपकरण हैं।

एतत्सम्बन्धी उपर्युक्त वैदिक मन्त्रोंकी व्याख्या लोगोंने विभिन्न प्रकारसे की है। गेल्डनरने † 'सींगाकार' शिरोभूषण या मुकुट' (Diadem) बतलाया है और कैलेण्डने ‡ 'लोहेके टोपकी तरह ..ई शिरस्त्राण' (Helmet-shaped) समझा है। भारतीय भाष्यकारोंने इस शिरोभूषणकी असाधारण सुन्दरतापर मुग्ध होकर इसका विस्तृत वर्णन किया है।

बक्सरकी इन 'टेरा कोटा' (आगमें पकायी हुई) मूर्त्तियोंके शिरोभूषण बड़े परिश्रमसे बने (Elaborate) जान पड़ते हैं। इनमें दो प्रकारकी शिरःसज्जा विशेष ध्यान देने योग्य हैं; एक तो वे जो अर्धविकसित गुलाबके फूलकी तरह हैं। (चित्र नं० १ और २) और दूसरे जो निकली या उभरी हुई चिकनी सींगों (चित्र नं ३) या वाल्यूट (Volute) की तरह (चित्र नं० ४) हैं।

इन वस्तुओंके ध्यानपूर्वक निरीक्षणसे बहुत-सी आकृतियोंका पता चलता है, जो वैदिक ऋषियोंको 'असाधारण' प्रतीत हुई हैं। इनके पहननेवालोंके विषयमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं और कुछ उनका किंचित् समाधान भी हो सकता है।

२—वेद-कालीन सभ्यता

डा० अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी० एच डी०

(विश्वविद्यालय, कलकत्ता)

पाश्चात्य विद्वानोंने ऋग्वेदका ईसासे केवल २००० से १५०० वर्ष पूर्व माना है; किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं

† Geldner, Ved. Stud. I, 130-37

‡ Caland, Transl. Ap. Srant, 10, 9,5

होता। निम्नाङ्कित बातोंपर विचार करनेसे इस विषयपर प्रकाश पड़ेगा।

ऋग्वेद (१०।७५) में सिन्धु नदीका जो वर्णन है, उससे तत्कालीन उन्नत सभ्यताका एक सुन्दर चित्र अङ्कित हो जाता है। इस प्राचीनतम ग्रन्थमें लिखा है कि, सिन्धु नदीकी उर्वरा भूमिमें अच्छी उपज होती थी। ऊन इतने परिमाणमें होता कि, बहुमूल्य शाल-दुशाले बनते थ। स्वर्ण रथ थे। आर्योंमें अखण्ड सुख-शान्ति एवं समृद्धि राज्य करती थी। दूसरी ओर सरस्वती नदीके विमल जलने आर्योंके अन्तःकरणमें आध्यात्मिक शक्तियोंका संचार कर दिया था। उनके प्रत्येक जल-कणमें नित्य सत्यके भव्य भाव भरे रहते थे। सरस्वतीके दोनों दुकूलोंपर यज्ञोंका अनुष्ठान होता था। यहीं ऋषियोंके हृदयोंमें वैदिक मन्त्र उदित होते थे। इस नदीके विषयमें (ऋ० ७।९५।२) लिखा है कि, "नदियोंमें पवित्र सरस्वती नदी ऊँचे गिरि-शृङ्गोंसे निकलकर समुद्रमें गिरती है।" अन्यत्र लिखा है, सरस्वती और शुतुद्री नदियाँ वर्तमान राजपूतानेमें, गरजते हुए समुद्रमें, गिरती थीं (ऋ७।९५, २; ३।३३,२)। आज सरस्वती नदी कृश-कलेवरा होकर राजपूतानेके विस्तृत मरुभूमिकी सैकत-राशिमें विलीन हो गयी है; किन्तु उन दिनों गगन-स्पर्शिनी महानदी थी। शान्तसलिला शुतुद्री भी आज एक साधारण सहायक नदी बनकर सिन्धुमें मिल गयी है। जान पड़ता है कि, राजपूताना समुद्रके गर्भमें कोई भयङ्कर भौकम्पिक विप्लव हुआ और फलस्वरूप एक विस्तृत भूखण्ड ऊपर निकल आया। यही कारण है कि, सरस्वतीका प्रशान्त धारा-प्रवाह, कुछ दिनोंतक तो, उस समुद्र (Rajputana Sea) द्वारा प्रक्षिप्त सैकत-राशिमें भटकता रहा, फिर एक अति सूक्ष्मरूप धारणकर अरबके समुद्रमें जा गिरा; और, बे-चारी शुतुद्री पश्चिमकी ओर मुड़कर सिन्धुकी एक सहायक नदी बन गयी। ऋग्वेदसे यह भी पता चलता है कि, उन दिनों समस्त गंगा-प्रदेश, हिमालयकी पाद-भूमि तथा आसामका विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्रके गर्भमें ही थे। कालान्तरमें आर्योंकी पूज्या गङ्गा नदी हिमालयकी गगन-चुम्बिनी पर्वत-श्रेणियोंसे निकल कर, सामान्य निर्झरिणीके रूपमें बहती हुई, हरिद्वारके समीप ही "पूर्व समुद्र" में गिरने लगी; और, यही कारण है कि, ऋग्वेद (१०।७५) में तत्कालीन (पंजाबकी) नदियोंका जो वर्णन मिलता है, उसमें गङ्गा नदीका संक्षिप्त परिचय मात्र ही मिलता है। गङ्गा एक साधारण नदी-सी समझी जाती थी। ऋग्वेदमें पंजाबकी जो सीमा वर्णित है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि, पंजाबके दक्षिण तथा पूर्वमें समुद्र था, जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक पृथ्वी-खण्ड सा दीखता था। दक्षिण और पूर्व दोनों ओर समुद्रसे घिरे रहनेके कारण पंजाबमें उन दिनों शीतकालका प्राबल्य था। इसका प्रमाण ऋग्वेदमें वर्षका नाम "हिम" होना ही है (ऋ० १।६४।१४; २।१।११, ३३।२, ५।५४।१५, ६।१०।७)। भू-तत्त्वज्ञोंने सिद्ध किया है कि, भूमि और जलके ये विभिन्न भाग तथा पंजाबमें शीतकालका प्राबल्य, प्लीस्टोसिन काल अथवा पूर्व प्लीस्टोसिन काल (Pleistocene or Pre-Pleistocene Epoch)* की बात है। उन्होंने ही इस घटनाका काल ईसासे ५०००० से २५००० वर्ष पूर्व निर्धारित किया है। यदि इनका काल कमसे कम ईसासे २५००० वर्ष ही पूर्व मान लिया जाय, तो भी यह मानना असंगत नहीं होगा कि, वैदिक सभ्यता विश्वकी सभी प्राचीन सभ्यताओंसे अधिक प्राचीन है। भू-तत्त्वज्ञोंने भी यह स्वीकार किया है कि, राजपूतानेके समुद्र-गर्भके ऊपर निकल आनेके साथ ही, हिमालयकी नदियोंके द्वारा आहृत मृत्तिकासे गङ्गाकी समतल भूमि बन गयी, पंजाबके

---

* एच० जी० वेल्स की लिखी 'दी आउट लाइन आफ हिस्ट्री' के अनुसार प्लीस्टोसिनकालका समय लगभग ५५०००० वर्ष है।—सम्पादक

जलवायुमें उष्णता आ गयी, वृष्टि बहुत कम होने लगी तथा हिमालयके निम्न प्रान्तकी हिमनदियाँ (Glaciers) लुप्तप्राय हो गयीं। पंजाब के आसपासमें राजपूताना-समुद्र और सरस्वती नदीके उद्गम-स्थानकी हिमनदियोंके छिन्न-भिन्न होने तथा वृष्टिके अभावके कारण ही सरस्वतीका पुण्य प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करते हुए राजपूतानेकी सकल राशिमें विलीन हो गया!

ऋग्वेदके उपर्युक्त आन्तरिक प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि, हमारे पूर्वजोंकी यह संस्कृति सभ्यता उस समयकी है, जिस समय विश्वके अन्य मानव-समाज अज्ञानान्धकारकी गोदमें ऊँघ रहे थे। इस प्राचीन पवित्र भूमिका प्रत्येक अणुपरमाणु हमारे उन्हीं परम पूज्य पूर्वजोंके पाद-रज-परागसे पूर्ण है। यही भारत-भूमि उनकी कल्याणशालिनी आदि-सभ्यताकी प्रसूतिका और यही उनकी स्वर्गादपि गरीयसी मातृ-भूमि है।

३—स्वराज्य—सन्देश

ले० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

(औंध, सतारा)

"आत्मज्ञाननिष्ठ ऋषियोंकी तपस्यासे राष्ट्रकी उत्पत्ति हुई है; इसलिये राष्ट्रसेवाके हेतु आत्मसमर्पण करना अपने ऊपरका ऋषि-ऋण उतारना है। जिस प्रकार ऋषियोंने अपनी तपस्या और दीक्षा द्वारा राष्ट्रनिर्माण किया और बल-वीर्य प्रकट किया, उसी प्रकार हम भी तपस्यापूर्वक अपने राष्ट्रकी सेवा करके अपने ऊपरका ऋषिऋण उतारें।" (अथर्ववेद १९।४१।१)

"राष्ट्रीय हलचल करनेवाला, सूर्योदयके पूर्व, उषःकालके पूर्व, ब्राह्ममुहूर्तमें, उठे और भक्तिसे परमेश्वरके नामका भजन करे। वह स्वयं सबसे प्रथम अपने-आपको सम्यकतया शुद्ध और पवित्र बनावे। इस प्रकारका सिद्ध पुरुष यदि स्वराज्यके लिये हलचल मचावेगा, तो उसके प्रयत्नसे ऐसा उत्तम स्वराज्य प्राप्त हो सकता है कि, जिससे अधिक उच्च कोई राज्यशासन नहीं है।" (अथर्व १०।७।३१)

"स्वराज्य" उसको कहते हैं, जिसमें बहुत मनुष्योंकी सम्मतिसे राष्ट्रका शासन किया जाता है और जिसका राज्य-शासन उदार और व्यापक वृत्तिसे चलाया जाता है। इस स्वराज्यशासनके लिये विशाल दृष्टिवाले, सबके साथ मित्र-वत् व्यवहार करनेवाले और दिव्य ज्ञानसे युक्त पुरुष, इन तीन प्रकारके लोग ही योग्य हैं।" (ऋग्वेद ५।६६।६)

"यह राष्ट्रशक्ति प्रथम स्थानमें पूजनीय है, क्योंकि यही विविध ऐश्वर्योंको देनेवाली है और यही उन्नतिका सत्य ज्ञान देती है। यह राष्ट्रीय शक्ति मनुष्योंमें अनेक प्रकारका आवेश और स्फुरण उत्पन्न करती है। यह शक्ति कई मनुष्योंमें रहती हुई राष्ट्रका संरक्षण करती है। इसलिये देवी सम्पत्तियोंके द्वारा हम राष्ट्रशक्तिके विषयमें अपने अन्तः-करणमें पूज्य भाव धारण करते हैं। राष्ट्रशक्तिकी यह महिमा है।" (ऋग्वेद १०।१०९।३,४)

"जो राजा प्रजाकी सम्मतिके विरुद्ध अपना राष्ट्रशासन चलाता है उसका विरोध ग्रामसभा करती है, राष्ट्रीय महा-सभा उसके अनुकूल नहीं रहती, सेना उसके प्रतिकूल होती है और राष्ट्रका धनकोश भी उसको प्राप्त नहीं होता।" (अथर्व० १५।८।१-२)

"प्रारम्भमें यह प्रजा राजविहीन थी। प्रारम्भमें राजा नहीं था। राजाकी कल्पना भी नहीं थी। पश्चात् प्रजाकी संघटना होने लगी और ग्रामसभा बनी। अनेक ग्राम-सभाएँ बननेके पश्चात् उन सबके मिलनेसे एक राष्ट्रीय महासभा बनी और महासभाकी शक्ति मन्त्रिमण्डलमें इकट्ठी हो गयी।" ✻ (अथर्व ८।१०)

✻ राउण्डटेबल कान्फ्रेन्समें सम्मिलित होनेके लिये लण्डन जाते समय महात्मा गान्धीके कर-कमलोंमें लेखक-की ओरसे ये संदेश समर्पित किये गये थे।—सम्पादक

४—वैदिक धर्म

श्रीयुत नारायण स्वामी

(बलिदान भवन, दिल्ली)

यजुर्वेदके (४०।९, १० और १२) मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वर्णन किया गया है। विद्या ज्ञानको कहते हैं, यह निर्विवाद है। अविद्याके दो अर्थ किये जाते हैं—एक पारिभाषिक, दूसरा यौगिक। दर्शनोंमें प्रायः मिथ्या ज्ञानके लिये परिभाषिक अर्थ आते हैं। परन्तु यौगिक अर्थ अविद्याके "विद्यासे भिन्न" के हैं। (अ+विद्या), जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं, वह है क्या? इस प्रश्नका उत्तर इन मन्त्रोंका देवता देता है। इन मन्त्रोंका देवता आत्मा है। आत्माके स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म हैं। इच्छा, द्वेष आदि ४ गुण नैमित्तिक हैं और शरीरके निमित्तसे आत्मामें आये समझे जाते हैं। शरीरकी बनावट भी आत्माके स्वाभाविक गुणोंका साक्षी है। शरीरमें दो ही प्रकारकी इन्द्रियाँ हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आत्माके कर्म-गुणको सार्थक करनेके लिये हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभाविक गुण और होता, तो शरीरमें तीसरे प्रकारका इन्द्रिय-समुदाय भी—उस गुणके साधन-रूप होनेके लिये—बना हुआ दृष्टिगोचर होता। अतः आत्माके स्वाभाविक गुण, ज्ञान और कर्म, दो ही हैं। विद्या ज्ञानको कहते हैं और ज्ञानसे भिन्नका नाम मन्त्रमें अविद्या प्रयुक्त हुआ है। ज्ञानसे भिन्न कर्म ही है। इसलिये स्पष्ट हो गया कि, अविद्याके यौगिक अर्थ कर्म हैं। अब इन मंत्रोंका अर्थ भी साफ हो गया कि, केवल ज्ञान या केवल कर्मका सेवन करना अन्धकारमें पड़ना है। सिद्धान्त यह है कि, ज्ञान और कर्म दोनोंका प्रयोग साथ-साथ करना चाहिये। वेदोंका यह सार्वजनिक सिद्धान्त है, जो तीनों कालोंमें एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कर्ममें परिणत करना ही मनुष्य-जीवनका बड़ासे बड़ा उद्देश्य है। इसीलिये वेद नित्योपयोगी (Up-to-date) समझे जाते हैं। इन मन्त्रोंकी एक विशेषता वेदोंकी महत्ताकी द्योतक है। वह विशेषता यह है कि, अन्तिम मन्त्रमें ज्ञान और कर्मका उद्देश्य वर्णन कर दिया गया गया है और यह उद्देश्य सबसे बड़े बन्धन, मृत्युके बन्धन, के पार हो कर अमरताको प्राप्त करना है। आधुनिक कर्म और ज्ञान और वेदोंके कर्म और ज्ञानमें यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म Science और Art हैं। Encyclopaedia Britanica के शब्दोंमें (Science consists in knowing और Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्मका नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्मका कोई उद्देश्य नहीं है; इसलिये ये मृत्युके बन्धनको छुड़ानेकी जगह उस बन्धनको और दृढ़ करनेके काममें लगे हुए हैं। इस समय साइन्सके एक बड़े और महत्त्व-पूर्ण विभागका कार्य युद्धसे सम्बद्ध (Chemical warfare service) केवल यह है कि, नयी-नयी जहरीली गैसोंकी खोज और ईजाद करे। टी० ए० एडिसन महाशय, जो वर्तमानकालके उच्च कोटिके वैज्ञानिकोंमें समझे जाते थे, लिखते हैं कि,—एक जहरीली गैस, जो अमेरिकामें बनायी गयी थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकोंने परिष्कृत किया है, ऐसी घातक है कि, यदि वह एक छोटे हवाई जहाजके पेड़ेसे लण्डन नगरपर, जो पृथ्वीका सबसे बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाखके लगभग है, छोड़ी जाय, तो ३ घण्टेमें उसे नष्ट कर देगी। अमेरिकाकी १९१८ से २० तककी उपर्युक्त विभागकी रिपोर्टमें यह बात स्पष्ट रीतिसे वर्णित है कि, ये जहरीली गैसें अमेरिकामें ८२० टन, इङ्गलैण्डमें ४१० टन और जर्मनीमें २१० टन, प्रति सप्ताह, तैयार होती हैं। ये सब गैसें इसीलिये जमा की जा रही हैं कि, भावी अनिवार्य्य युद्धमें शीघ्रसे शीघ्र, अधिकसे अधिक, मनुष्योंका संहार किया जा सके! इस तरह हमने देख लिया कि उद्देश्य-रहित

होनेसे आधुनिक पाश्चमी जगत्‌के ज्ञान और कर्म किस प्रकार प्राणियोंका संहार करनेके काममें लगे हुए हैं, जबकि वेदोंके ज्ञान और कर्म मनुष्योंको अमर बनानेके उत्कृष्टतम साधन हैं।

५—वेदकी बातें

पं० देवशर्म्मा विद्यालङ्कार 'अभय'
(गुरुकुल, कांगड़ी, सहारनपुर)

वेदका स्वाध्याय करनेवाले सज्जनोंका ध्यान वेदकी निम्नलिखित चार बातोंकी तरफ जरूर जायगा। वेदका जब कोई अनुशीलन करेगा, तब वेद-मंत्रोंमें जो बातें उसे सबसे पहले स्पष्ट दिखेंगी, वे ये ही हैं। अतः मैं इन्हीं चार बातोंपर प्रकाश डालना चाहता हूँ। वे चार बातें यह हैं—

१ वेदोंमें बहुधा जड़ वस्तुओंका भी जीवित-जागृत-सा वर्णन है।

२ वेदोंके विचारने पर सब तरफ देवता ही देवता दृष्टि-गोचर होते हैं।

३ वेदोंमें सब जगह व्यक्तिका संपूर्ण ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध दिखाया गया है, इसे कहीं भी भूलने नहीं दिया गया।

४ वेदोंमें युद्धका वर्णन बहुत है।

इन सूत्रोंपर क्रमशः एक-एक करके मैं अपनी टीका करता हूँ।

(१) वेदोंमें प्रायः सभी वस्तुएँ जीवित रूपमें हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि, वेदके अनुसार सब वस्तुएँ चेतन ही हैं। 'चेतन, अचेतन', 'जंगम, स्थावर' आदि भेद तो बहुत स्पष्टतया वेदमें जगह-जगह दिखाये हैं। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि, वेदमें ओषधियां वैद्यसे बातें करती है, वेदमें भूमि-माताके साथ भाषण हो रहे हैं, वेदमें 'शाला' के 'हमना' रहनेकी इच्छा प्रकट की जाती है; मानों मकान भी कोई मनवाली वस्तु है। इसी प्रकार जल, वायु, सूर्य आदिके साथ चेतनवत् व्यवहार किया जाता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण है, वेदानुगत चेतनकी प्रधानता और वेदकी कवितामयी भाषा। अब भी जगत्‌के अध्यात्म-वादी पुरुष (जो आत्माका अनुभव करते हैं) हर एक जड़ वस्तुमें भी उसी चेतन-शक्तिको देखते हैं। बहुतसे पाश्चात्य भी महात्मा हुए हैं, जो जड़ समझी जाने वाली वस्तुओंसे चेतनवत् बरतते थे। वे बनावट नहीं करते थे; सचमुच ही ऐसा अनुभव करते थे। आपमेंसे कई एसे होंगे, जो अपने गाय, बैल आदि पशुओंसे बातचीत कर सकते हैं। थोड़ा-सा आगे बढ़ें, तो पक्षियों और वृक्षोंसे भी बातचीत की जा सकती है। और, मैं कहता हूँ कि, यदि हम अपनेमें और अधिक चेतनता बढ़ावें, तो रास्तेमें पड़ी हुई कंकरी तकको उठाकर उससे भी वार्तालाप किया जा सकता है; वह हमें बतावेगी कि, किस-किस अवस्थामें और किस-किस संगतिमें रही है। यदि एक वैद्यका ओषधियोंसे इतना भी घनिष्ट सम्बन्ध नहीं कि, वह ओषधियोंके साथ बोल सके, तो वह वैद्य नहीं है। मैं समझता हूं कि, आपको आश्चर्य होगा कि, एक शूरवीर अपनी तलवार या धनुषके साथ कैसे बात कर सकता है! क्या आप बतावेंगे कि, एक मातृभक्त अपनी मातृ-भूमिकी पुकार (सचमुच पुकार) कानसे कैसे सुन सकता है? बात यह है कि, वस्तुसे जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा और अपनेमें चेतनताका जितना अधिक विकास होगा, उतना ही मनुष्य दूसरी वस्तुओंसे चेतनवत् व्यवहार करेगा। आपमेंसे सब जानते और मानते हैं कि, मनुष्य चेतन है, आप चेतन हैं; परन्तु क्या दुनियामें आपने ऐसे लोग नहीं देखे, जो आपसे ऐसा व्यवहार करते हैं, मानों आपमें जान ही नहीं है? मनुष्योंपर पाशविक अत्याचार यही जानकर हो सकते हैं। कहते हैं कि, यूरोपमें एक समय था, जब वहाँ, स्त्रियोंमें जी नहीं है—ऐसा माना जाता था। वेदमें इससे विपरीत बात है। वहां चेतनताका राज्य है!! इस विषयमें वेदकी कवितापर भी मेरा ध्यान जाता है, जिसके कारण कि, वेदमें

ऐसे सजीव वर्णन हैं। परन्तु कविताका अर्थ गप्प नहीं है। कविताका यही अर्थ है कि, वस्तुका हृदयग्राही रूपसे यथार्थ वर्णन किया जाय। इसीलिये मैंने कवितापर अधिक न कह कर चेतनताकी बातपर ही विशेष कहा है।

(२) दूसरी बात है देवोंका दर्शन, जो वेदाध्ययनसे प्राप्त होता है। यह जलनेवाली 'अग्नि' देव है। यह विलक्षण वस्तु 'जल' देव है। यह प्राणसाधन वस्तु 'वायु' देव है। यह विस्तृत पृथ्वी आदिदिव्य देव है। अन्दर देव है; बाहर देव है। प्रतिक्षण हमारा देवोंसे वास्ता है। मैं तो कमसे कम जबसे वेद पढ़ने लगा हूं, तबसे बहुत बार ऐसा अनुभव करता हूं कि, मैं देवोंकी बस्तीके बीचमें बस रहा हूं !! सब तरफ देव ही देव हैं !!! मैं भी देव हूं। सब मनुष्य देव हैं! सदा देवोंका साथ ही साथ है !! मैं कल्पना करने लगता हूं कि, वैदिक समयमें जब सब लोग अपनेको देवोंके मध्यमें स्थित अनुभव करते होंगे, तब यहां संसार कैसा स्वर्णमय, आनन्दमय स्वर्ग-समान होता होगा। मैं कहता हूं कि, हम क्षणभर भी यह अनुभव करें, तो हमारा जीवन बदल जाय। हम अपने-आपको देवोंसे घिरा हुआ देखें, तो हमारा बहुत-सा जगत्-व्यवहार ही बदल जाय। पर शायद् आप पूछें, यह 'देव' क्या है? मैं यहां इसका ठीक-ठीक दार्शनिक लक्षण न कर सकूंगा; पर यह तो साफ ही है कि, देव परमात्माकी भिन्न-भिन्न शक्तियां हैं। सदेवानां नामधा एक एव, हम सब शक्तियोंको पृथक्-पृथक् रूपमें देखते हैं (और मनुष्य उसकी शक्तियोंको ही देख सकते हैं)। बस ये ही देव हैं। देवोंमें यही दृष्टि रखनी चाहिये। ऐसे देव शब्दपर विचार करें तो अकृत्रिम, आत्म-नियमानुसार चलनेवाली, अद्भुत शक्ति या गुणवाली वस्तु, यह त्रिविध भाव 'देव' में मालूम होते हैं —यदि हम अन्दर, बाहर, सब तरफ इन्हीं दिव्य वस्तुओंको देखें; इन्हींमें विचरें, इन्हींके साथ सोवें और जागें, इन्हीं दिव्य वस्तुओंके साथ अपना एक-एक कार्य करें, तो क्या हमारा जीवन दिव्य नहीं हो जायगा? तब हमारा प्रत्येक कार्य देवों द्वारा सिद्ध किया जायगा, जैसा कि, हमारे प्राचीन साहित्यमें वर्णन आता है।

(३) वेदके अनुसार व्यक्ति इस विशाल ब्रह्माण्डके साथ जुड़ा हुआ है। छोटेसे व्यक्तिका भी इस विशाल ब्रह्माण्डसे घनिष्ठ सम्बन्ध है; व्यक्ति इसका छोटासा अवयव है। इस बातको वेदमें कहीं भूलने नहीं दिया गया है। तभी हम देखते हैं कि, चाहे जो कोई भी प्रकरण क्यों न हो, वहां 'द्यावापृथिवी'' आ ही पहुंचती है।

द्यावा पृथिवी इदं विश्वं, पृथिवी विश्वा भुवनानि, रोदसी उभे भूमिमन्तरीक्षमथो द्यौः— आदि शब्दोंसे वेद भरा पड़ा है। वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति करनेवाला 'स्तोता' 'द्यावा-पृथिवी' से तो नीचे उतरता ही नहीं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उसे पापसे मुक्त करता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उसकी कामनाको पूरा करता है। उसकी कोई भी इच्छा हो, वह सब भुवनों का (विश्वका) स्मरण करता है। उसकी छोटी से छोटी बातका संबन्ध तीनों लोकों (अर्थात्-ब्रह्माण्ड) के साथ रहता है। यह कैसी उच्च स्थिति है! जो ऐसी विशाल दृष्टि रखेगा, वह क्यों न विशाल हो जायगा? यही मनुष्य विशाल-हृदय होता है उदार हो जाता है, विस्तृत हो जाता है, स्वार्थको भूल जाता है; इसीलिये वैदिक समयके लोग विशाल-हृदय होते थे। हम, अपने ४, ४॥ फीटके शरीरमें अपनेको बंद समझने-वाले और सारी दुनियासे अपने को अलग समझनेवाले अज्ञानी हैं। हमारे लिये तो यह संसार सचमुच दुःखमय है। यह विशाल-हृदयता तो उनकी समझमें आवे, जिनका द्यौ पिता और पृथिवी माता हो; जिनके शरीरमें तीनों लोक हों, और जो विश्वमें अपना स्वत्व देखते हों।

(४) वेदमें युद्धकी चर्चा बहुत है। शत्रुओंके नाश तथा पराभवकी स्थान-स्थानपर प्रार्थनाएं हैं। क्या वेदवाले शत्रुओंसे ज्यादा सताये हुए थे? इस बातको तो वे लोग समझ

सकते हैं, जिन्होंने जीवनपर विचार किया है। आपको यह बतलानेकी जरूरत नहीं कि, आराम-तलबीमें जीवन नहीं है, जीवन है तपमें, जीवन है संग्राममें। कशमकश (Struggle) ही जीवन है। ऐसा कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं। इस जीवन-संग्रामका वर्णन यदि वेदमें न हो, तो और कहाँ हो ?

६—वैदिक युगका कर्म-स्वातंत्र्य

साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ

(सरदार म्यूजियम, जोधपुर)

यद्यपि पुरुष-सूक्तमें ॐ ब्राह्मणोंको विराट् पुरुषका मुख, क्षत्रियोंको बाहु, वैश्योंको जंघा और शूद्रोंको पैर बतलाकर उनका एक ही समाजके भिन्न-भिन्न कार्य करनेवाले अङ्ग होना प्रकट किया गया है, तथापि आजकल लोग उसके असली रहस्यको भूलकर समाजरूपी विराट् पुरुषके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न करनेपर तुले हुए हैं! उनका यह कार्य कहाँतक उचित है और इससे हमारे समाजको हानि हुई है या लाभ इसका निर्णय तो विद्वान् लोग ही कर सकते हैं; परन्तु आगे दिये जानेवाली ऋग्वेदकी कुछ ऋचाओंसे इतना तो अवश्य ही प्रकट होता है कि, वैदिक कालमें चारों वर्णोंके बीच कमसे कम आजकलकी-सी अभेद्य दीवारें नहीं खड़ी की गयी थीं। उस समय प्रत्येक वर्णके पुरुषको अपनी इच्छाके अनुसार अपना पेशा बदलनेका अधिकार था।

ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके २३वें सूक्तके पहले मन्त्रमें कहा गया है— "हे अग्नि! तू मुझ ऋषिको ऐसा पुत्र दे, जो शत्रुओंका नाश करनेवाला हो और जो स्तोत्रसे युक्त होकर सम्मुख रणमें आये हुए सब शत्रुओंको हरानेमें समर्थ हो।" इसी सूक्तका दूसरा मन्त्र है—"हे अग्नि! तू सत्य-रूप, अद्भुत और गायों सहित अन्नको देनेवाला है। तू मुझे सेनाओंको हरानेवाला पुत्र दे।" इन दोनों ऋचाओंसे ज्ञात होता है कि, ऋषि लोग भी अपनी सन्तान को क्षात्र धर्ममें दीक्षित करनेमें सङ्कोच नहीं करते थे।

ऋग्वेदके छठे मण्डलके २८वें सूक्तके ५ वें मन्त्रमें लिखा है—"गायें ही मेरा धन हैं, गायें ही मेरा इन्द्र हैं। गायें श्रेष्ठ सोमके भक्षको दें। हे पुरुषो! ये जो गायें हैं, वे ही इन्द्र हैं। मैं इन्द्रको मैं सच्चे हृदयसे चाहता हूँ।"

ऋग्वेदके नवें मण्डलके ६९ वें सूक्तके ८ वें मन्त्रमें लिखा है—"हे सोम! आप हमें ऐसी सम्पत्ति दें, जो धन, सुवर्ण, घोड़ों, गायों, धान्य और वीर्यसे युक्त हो। हे सोम! आप हमारे पितर हैं, आप स्वर्ग-लोकके मस्तक हैं और उद्योगशील होनेसे अन्नको उत्पन्न करनेवाले हैं।"

इन दोनों ऋचाओं द्वारा की गयी प्रार्थनाओंसे प्रार्थीका वैश्यवृत्तिसे प्रेम झलकता है।

ऋग्वेदके नवें मण्डलके ११२ वें सूक्तके तीसरे मन्त्रमें लिखा है —"मैं कवि (सूक्तोंका कर्ता) हूँ, ×मेरा पिता वैद्य है ‡ और मेरी माता शिलापर नाज पीसनेवाली है। जिस प्रकार गायें गोचर-भूमिमें इधर-उधर घूमती हैं, उसी प्रकार हमलोग भी भिन्न-भिन्न कर्मोंको करते हुए धनकी इच्छासे इस संसारमें रहते हैं। अतः हे सोम! तू इन्द्रके लिये रस बहा।"

इससे भी एक ही कुलमें भिन्न-भिन्न पेशे ग्रहण करनेकी स्वतंत्रता सूचित होती है। ऐसी हालतमें चारों वर्णोंके कर्मोंको निश्चित कर उनके बीच जो आधुनिक अभेद्य दीवार खड़ी की गयी है, उसकी मोटाईको यथासाध्य, उचित रूपसे, घटानेकी चेष्टा करना प्रत्येक विज्ञ व्यक्तिका कर्तव्य है।

ॐ विद्वान् लोग इस सूक्तकी रचना तीनों वेदोंके पृथक् किये जानेके बादकी मानते हैं और यह ठीक भी है; क्योंकि इसमें ऋक्, यजुः और सामके नाम दे दिये गये हैं। —लेखक

× यह ब्राह्मणका कर्म समझा जाता है।

‡ यह वैश्यका कर्म है।

७—निरुक्तमें इतिहास

पं० रामविलास चौखूषिया
(गुरुकुल, वृन्दावन)

पौराणिक साहित्यमें गौतम और अहिल्याका कथानक, इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध, देवासुरसंग्राम आदिकी कथाएँ और भिन्न भिन्न देवोंकी कल्पनाएँ एवं उनके स्वरूप वैदिक साहित्यसे ही अपनाये गये हैं। यजुर्वेद (३।६१) में एक ऐसा मंत्र है, जिसमें, पुराणोंके अनुसार रुद्र या शिवका वर्णन आया है । मंत्रमें शिवका पिनाक (धनुष), उनका वस्त्र (कृत्ति, हाथीकी खाल), उनका निवासस्थान, पर्वत आदि सबका उल्लेख है । इसी प्रकार विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र और सूर्य आदि देवोंका वर्णन भी हम वेदोंमें पौराणिक साहित्यके सदृश ही मिलता है । इन्हीं कारणोंसे कुछ पाश्चात्य पंडित वेदोंमें इतिहासकी सत्ता स्वीकार करते हैं ।

यास्कका निरुक्त देखनेसे पता चलता है कि, पुराणोंके अनुसार यास्क भी वेदोंमें इतिहास मानते थे ।

निरुक्त (२।४) के अन्तरिक्षके नामोंमें आये हुए समुद्र नामकी निरुक्ति करते हुए यास्कने लिखा है कि, समुद्र सागर और अन्तरिक्ष, दोनोंको कहते हैं । उदाहरणमें यास्कने एक वेद-मंत्र दिया है, जिसकी भूमिकामें लिखते हैं—"ऋष्टिसेन अथवा इषितसेनके शन्तनु और देवापि नामक दो कुरुवंशी भाई थे । छोटे भाई शन्तनुने अपना अभिषेक कर लिया, देवापि तप करने लगा । इस कारण उसके राज्यमें १२ वर्ष तक पानी नहीं बरसा । ब्राह्मणोंने उससे कहा कि, तुमने अधर्म किया है, जो बड़े भाईका अभिषेक न कर स्वयं अपना अभिषेक कर लिया है । इसी कारण पानी भी नहीं बरसता है । तब शन्तनुने देवापिसे राज्यग्रहण करनेकी प्रार्थना की । देवापिने कहा— "मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा और यज्ञ कराऊँगा, जिससे पानी बरसेगा ।"

ये हैं निरुक्तकार यास्काचार्यके शब्द । इनसे महाभारत और यास्कके उपाख्यानोंमें घनिष्ठता आ गयी है । ऋष्टिसेन, शन्तनु और देवापि, ये महाभारतके ऐतिहासिक चरितनायक हैं । इतना ही नहीं, यास्कने और अधिक स्पष्ट करनेके लिये "तस्योत्तराभूयसे निर्वचनाय—यद्देवापिः शन्तनवे×××" आदि मन्त्र लिखकर अपनी सम्मतिको और अधिक मजबूत किया है ।

नदी-नामोंकी निरुक्ति करते हुए यास्कने इतिहास लिखा है—"विश्वामित्र ऋषि पिजवनके पुत्र सुदासके पुरोहित थे । वे यज्ञमें प्राप्त हुए धनको लेकर विपाट् और शुतुद्री नामक नदियोंके संगमपर आये ।" ये पंक्तियाँ २ रे अध्यायके ७ पादके "रमध्वं मे वचसे सोम्याय" आदि मन्त्रकी भूमिकामें हैं, जो यास्कको स्वयं अपनी ओरसे लिखी गयी टिप्पणी है । इसी मन्त्रमें आये हुए "कुशिकस्यसूनुः" की व्याख्यामें "कुशिको राजा बभूव" अर्थात् कुशिक नामक राजा हुए थे, विश्वामित्र उन्हीं कुशिकके लड़के थे—यह भाव निकलता है । विश्वामित्र कुशिकके लड़के थे, यह ऐतिहासिक बात पौराणिक साहित्यमें यथेष्ट रूपसे मिलती है ।

अब हम इस प्रकारके और उदाहरणोंको छोड़कर कुछ ऋषियोंके नामोंका उल्लेख करेंगे, जिनसे मालूम होगा कि यास्कके मतानुसार वेदमन्त्रोंमें उनका वर्णन आता है । इनके लिखनेसे वेदोंकी ऐतिहासिकताके विषयमें यास्काचार्यकी सम्मति और अधिक प्रकाशमें आ जायगी ।

"वत्" उपमावाची शब्दपर लिखते हुए ३ अ० के ३ पादमें यास्कने एक मन्त्र दिया है—"प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् । अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्" । इसका वे अर्थ करते हैं—

'हे ईश्वर, जैसे तुमने प्रियमेध आदि ऋषियोंकी प्रार्थनाको सुना है, उसी प्रकार मुझ प्रस्कण्वकी भी प्रार्थना सुनो ।' हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि, इस मन्त्रमें आये हुए सब नाम, यास्कके अनुसार, ऋषियोंके ही हैं । यास्कने उनके विषयमें लिखा है—"प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः" आदि । इसी प्रकार "च्यवन ऋषिर्भवति"

(४ अ०, ३ पाद), "भार्म्यश्वो मुद्गलस्य पुत्रः" (९ अ० ३ पाद) आदि वर्णन भी पर्याप्त मात्रामें मिलते हैं।

सूप शब्दको निरुक्तिमें "संतपन्ति माम्" आदि दिये गये मन्त्रोंके अर्थ लिखनेके बाद यास्क कुछ शब्द अपनी ओरसे लिखते हैं—

"त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ।"

'कुएँमें गिरे हुए त्रित नामक ऋषिको इस सूक्तका ज्ञान हुआ।' इसके साथ ही क्रमसे कम ५—६ स्थलोंपर "तत्रेतिहासमाचक्षते" के बाद जो कुछ लिखा गया है, क्या वह सब यास्कको ऐतिहासिक सम्मतिका द्योतक नहीं है?

पूर्वोक्त "संतपन्ति" इत्यादि मन्त्रके नीचे ही यास्कने अपनी सम्मति भी इस विषयमें लिख दी है—

"तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति।" अर्थात् 'वेद इतिहासों, ऋचाओं और गाथाओंसे युक्त है।'

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, यास्कको वेदोंमें इतिहास अभिलषित था। सम्पूर्ण निरुक्तमें केवल एक ही स्थल ऐसा दृष्टिगोचर होता है, जिससे लोग यास्ककी रायका 'वेदमें इतिहासकी विरोधिनी' मानते हैं। वह स्थल है "प्रावर्धन्तो नाम निरोधनानामित्यादि" (२ अ०, ५ पाद) मंत्रमें आया हुआ वृत्र शब्द। यास्काचार्यने स्वयं यहाँ शङ्का उठाकर लिखा है—"तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः।" अर्थात् 'निरुक्तकारोंके मतमें वृत्र मेघको और ऐतिहासिकोंके मतसे असुर-विशेषको कहते हैं।' परन्तु इससे तो यही मालूम होता है कि, वृत्रके ही विषयमें निरुक्तकार और ऐतिहासिकोंमें मतभेद है। सम्भव है, और भी कुछ स्थल ऐसे हों। किन्तु हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या पौराणिक इतिहासके विषयमें सभी जगह नैरुक्तों और ऐतिहासिकोंमें मतभेद है? हम तो केवल इसका नकारात्मक उत्तर ही दे सकते हैं। यदि सचमुच ही दोनोंमें सभी स्थलोंपर विवाद होता, तो यास्क कमसे कम और दो-चार स्थलोंपर तो जरूर ही "इति नैरुक्ताः" और "इत्यैतिहासिकाः" लिखते। किन्तु यह न लिखकर "तत्रेतिहासमाचक्षते" कहकर उसका इतिहास-विषयक परिचय देना क्या यास्काचार्यकी ऐतिहासिक सम्मतिको प्रकट नहीं करता है?

जो कुछ लिखा है, वह बिल्कुल स्पष्ट है। यह और बात है कि, हम वेदोंमें इतिहास न मानें। माननेकी गल्ती करनी भी नहीं चाहिये। किन्तु उससे भी बड़ी गल्ती यह होगी कि, हम किसी लेखकके भावोंको तोड़-मरोड़कर अपने सिद्धान्तके अनुकूल बनानेकी चेष्टा करें। अगर हम ऐसा करते हैं, तो अन्याय है। और, यही अन्याय यास्कके साथ भी होगा, अगर यास्ककी रायको सब अपने मतके अनुसार सिद्ध करनेकी चेष्टा करें।

८—वैदिक आचार-विचार

प्रोफेसर ठाकुर लैट्सिंहजी गौतम एम० ए०, एम० आर० ए० एस०, काव्यतीर्थ

(उदयप्रताप क्षत्रिय कालेज, बनारस छावनी)

शताब्दियों और युगोंसे वेदोंकी प्राचीनता तथा महत्ता मान्य थी। परन्तु जबसे आर्य-भारत दासताकी बेड़ीमें जकड़ा गया, तबसे वेदाध्ययनमें कमी पड़ गयी। मेरा तो निश्चित मत है कि, वेदाध्ययनकी कमीसे ही आर्योंकी सन्तानोंको दास होना पड़ा। "तुरुष्क-सागर" में आर्य-धर्म डूबने लगा, हिन्दुओंके अमूल्य ग्रन्थ अग्निदेवको अर्पित किये गये। यहाँकी सारी कलाओं और विद्याओंको विदेशी आक्रमणकारियोंने बड़ा धक्का पहुँचाया। हमारा वैभव चला गया। परन्तु अन्तको इतिहासमें नये युगका श्रीगणेश हुआ। दक्षिणमें हरिहरदेव और बुक्कदेवने विजयनगरका राज्य स्थापित कर वेदोंकी रक्षा की। उसी समय प्रसिद्ध वेद-विज्ञाता सायणाचार्यने वेदोंपर भाष्य लिखा, जो उच्च-कोटिका है। समय-समयपर पूज्यपाद शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह प्रभृतिने भी वेद-रक्षाका व्रत लिया

था; परन्तु वेदाध्ययन और वेदानुशीलन सन्तोषजनक नहीं हुआ। मुसलमानोंके पश्चात् महाराष्ट्रोंने अपना साम्राज्य स्थापित किया अवश्य; परन्तु वेदधर्म और वेदाध्ययनका पूरा प्रचार न हो पाया।

वेदाध्ययनके लिये अनेक यूरोपीय और अमेरिकन विद्वानोंने अपने जीवन न्योछावर कर दिये हैं। जर्मनीके विद्वानोंने तो वेदोंका खूब ही अध्ययन किया है। परन्तु खेद है कि, वेदाध्ययनकी ओर हम लोगोंकी विशेष प्रवृत्ति अभी तक नहीं हुई। इसका फल यह हुआ है कि, आज हम लोग वेदोंके विषय में कुछ नहीं जानते।

वेदोंपर पूर्ण प्रकाश न पड़नेसे वैदिक आचार-विचार क्या थे, इसमें गहन मतभेद है। मोक्षमूलर जैसे प्रसिद्ध विद्वान्को भी वेदोंकी ऋचाओंमें गड़ेरियोंके गीत मिलते हैं! "India, what can it teach us" नामक ग्रन्थमें मोक्षमूलरने भारत और भारतके आर्योंकी प्रशंसा तो खूब की है, परन्तु लंडन-निवासी अंग्रेजोंसे यह भी प्रश्न किया है कि, क्या टेम्स-नदीपर बसनेवाले आज-कलके गड़ेरिये वैसे भजन बनाकर गा सकते हैं, जैसे आर्योंने सरस्वती-तटपर गाये थे! अर्थात् आजकलके गड़ेरियोंसे आर्य-गड़ेरिये अच्छे थे? अनेक यूरोपीय विद्वानोंने आर्योंका घूमने-फिरनेवाले गड़ेरियोंके रूपमें ही देखा है। इधर कलकत्ता विश्व-विद्यालयके डा० अविनाशचन्द्र दास एम०ए०, पी-एच० डी० ने "ऋग्वैदिक भारत" और "ऋग्वैदिक संस्कृति" नामक दो उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें उन्होंने ऋग्वेदके समयमें आर्योंके आचार-विचार, निवासस्थान, रहन-सहनपर नये और मौलिक विचार प्रकट किये हैं। आपने यूरोपीय विद्वानोंका मुँहतोड़ उत्तर भी दिया है। ऋग्वेदके समयमें आर्योंके कितने ऊँचे आचार-विचार थे, उनकी सभ्यता कैसी थी, इन सब विषयोंपर आपने खूब लिखा है। आपके ग्रन्थ पठनीय और मननीय तो अवश्य हैं; परन्तु हम लेखकको आपके विचारोंसे पूर्ण साहमत्य नहीं है। जो लोग ऋग्वेद-की ऋचाओंमें "Child Humanity" (शिशु-मनुष्य) की तोतली बातें देखते हैं, वे भ्रान्त पथपर हैं।

संसारकी सभ्यताका इतिहास लिखनेवाले यूरोपीय और उनके अनुगामी समझते हैं कि, मानव-समाजका प्रातःकाल असभ्यताकी गोदमें ही बीता है! मनुष्य सप्त-सिन्धु (पंजाब)में 'इस संसारमें' अवतीर्ण हुआ या दक्षिणके टीलोंपर, मध्य एशियामें मानव-जीवनकी ज्योति संसारमें आयी अथवा अस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमियाके मैदानोंमें? इस सम्बन्धमें खूब विवाद है। परन्तु मनुष्य प्रथमतः असभ्यावस्थामें था, इसपर अधिकांश विद्वान् सहमत हैं। इन पंक्तियोंका लेखक यह बात नहीं मानता।

जो समाज असभ्य होगा, वह ऐसा विमल उपदेश क्या कभी दे सकेगा।

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, सत्यान्न प्रमदितव्यं, धर्मान्न प्रमदितव्यं, कुशलान्न प्रमदितव्यं स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।"

वैदिक समाजकी सस्थितिपर मुग्ध होते हुए रैगोजिन ने लिखा है—"The Society (in the Rig-Veda) is beautifully simple" यानि ऋग्वेदका समाज बड़ी ही सादगी-सुन्दरताका था। उस समय पूँजीपति (Capitalist) और श्रमजीवी (Labourer)का झगड़ा न था। उस समय सब्बा ...[illegible], इसलिये समाज सुखी था। इङ्गलैण्डके प्रथम जेम्स और फ्रान्सके १४ वें लूईका पता न था! देशमें सदा कल्याण रहे, यही सबकी राजनीति थी। मानव-समाजके संचार छंकेश और पुँश्चली राजनीति तबतक न आ सकी थी। "समिति" और 'सभा' की सहायतासे राजा अपनी प्रजाका पुत्रवत् पालन करता था। राजधर्म कठिन तपस्या थी, सुन्दर व्रत था। राजनीतिमें कूटनीति (Diplomacy) आदिका प्रवेश नहीं हुआ था। सुन्दर, भव्य और शान्तिदायिनी राज-व्यवस्था थी।

आर्योंकी धार्मिक व्यवस्था संसारमें निराली और आदर्श है। आर्योंका सारा जीवन धर्ममय था; और, धर्म था श्रुतिका अनुसरण करना। आर्योंका समाज, उनकी राज-नीति, उनका व्यवसाय, उनका सारा जीवन धर्ममय था। इन्द्र, वरुण, मरुत्, उषा, सविता आदिकी उपासना भक्तिपूर्वक की जाती थी। उन दिनों प्रथमतः यज्ञ आत्म-त्यागके साधन थे। देव, ऋषि, पितृ, नृ, भूत आदि यज्ञ करना आर्योंके प्रधान आचारोंमें था। आर्य लोग अपने विचारमें स्वतन्त्र थे; परन्तु आचरण समाजके हितके लिये होता था। अतः आचरण करनेमें समाजकी आज्ञा अपेक्षित रहती थी।

पिछले वैदिक समय (ब्राह्मण मण्डल-कालीन) में वर्णाश्रमोंपर जोर दिया जाने लगा। आश्रमोंकी उपयोगिताके विषयमें कोई अबतक 'मीन-मेख' नहीं करता। हाँ, वर्ण-व्यवस्थाका Sir H. Maine जैसे पाश्चात्य समाज-शास्त्रोंने 'The most pl[illegible] human institution' अर्थात् 'अत्यन्त [illegible]कारी मानवी संस्था' अवश्य कहा है। इसपर हमें यहां कहना है कि, बिगड़ा हुआ वर्ण अवश्य, समालोच्य और सदोष है; पर इसी वर्णने आर्योंके समाजका संग्रन्थन कर उनकी कठिन समस्याका हल किया था; और, यदि यह सुचारु रूपसे चलाया जाय, तो हमारे कल्याणका साधक होगा। कठिन-से-कठिन विघ्नोंको पार करना, विपत्तिके हिमालयकी तनिक भी चिन्ता न करना, विजयीकी नाईं जीवनको बिताना आर्य-धर्मोचित कर्तव्य थे। अब हमलोगोंको, सच्चे वैदिक आचार-विचारकी ज्योति, फिर जगानी चाहिये; फिर आर्योंकी नाईं अपना जीवन काव्यमय बनाना चाहिये।

९—जर्मनीके ईसाई मठमें सामवेद

पं० रामनारायण मिश्र बी० ए०
(हेड मास्टर, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल, बनारस)

ईसाई धर्मके रोमन केथलिक सम्प्रदायके थोड़े से मठ अब भी यूरोपमें मिलते हैं। जर्मनीमें यह मठ डन्यूब नदीके किनारे एक चट्टानपर बना हुआ है। स्थानका नाम है बूरों (Bouron)। डेन्यूब नदी काशीकी "वरना"के बराबर है। इसमें रहनेवाले पादरी अपना विवाह नहीं करते। मर्दोंके मठोंमें स्त्रियाँ नहीं रह सकतीं। उनका अन्दर आना भी मना है। स्त्रियोंके अलग मठ हैं।

यह मठ सन्त बेनेडिक्ट (Benedict) का अनुयायी है। इसकी स्थापना छठी शताब्दीमें हुई थी। इस मठमें रहनेवाले पादरी-संन्यासी दो प्रकारके हैं। एक फादर कहे जाते हैं और दूसरे ब्रदर। फादर पुस्तकोंके अध्ययन और तप-जपमें अपना समय बिताते हैं; ब्रदर मठ-सम्बन्धी काम-काजमें लगे रहते हैं। सायंकाल ८ बजेसे दूसरे दिन सबेरे ८ बजेतक ये लोग किसीसे बातचीत नहीं करते। काम करते समय भी पाठ पढ़ते रहते हैं। भोजनके समय भी एक आदमी खड़ा होकर कुछ पाठ करता रहता है। लोग प्रार्थनाके अनन्तर भोजन करते हैं और पाठ सुनते रहते हैं। भोजन करते समय बात करना मना है।

प्रार्थना लेटिन भाषामें होती है। प्रार्थनाकी विधि और शब्दोंकी ध्वनि भारतवर्षके ढङ्गकी है।

इस मठकी प्रशंसा सुनकर और रोमन केथलिक सम्प्रदायका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हमलोगोंने एक देवीकी सलाह मान ली; वहाँ गये। वह देवी वहाँ आकर, निश्चित समयपर, उपस्थित थीं। उस मठके महन्त (Abbot) से हमारी भेंट कराई गई। हमें रहनेके लिये एक-एक कमरा दूसरे खण्डमें मिला।

असबाब रखनेके बाद अपने कमरेकी मेजपर पड़ी हुई पुस्तकोंको हमने देखा। हमारे लिये तीन पुस्तकें रख दी गयी थीं। इनमेंसे एक थी "सामवेद," जिसके टाइटिल पेजपर लिखा था—"सामोदार्चिकम्"। यह सन् १८४८ ई० में लैपजिग नगरमें छपी थी। जर्मन भाषामें थियोडोर बेनफी लिखित इसमें भूमिका थी। अन्दर एक ओर मूल संस्कृत है और दूसरी ओर जर्मन टीका।

ईसाई साम्प्रदायिक वातावरणमें, नगरोंसे दूर, जंगलमें सामवेद देखनेका हमें कभी स्वप्न भी नहीं हो सकता था। हमने फादर ओडो (Odo) से पूछा कि, क्या मठके पुस्तकालयमें संस्कृतकी पुस्तकें भी हैं ? उन्होंने हमें बड़े सुन्दर और विशाल पुस्तकालयके संस्कृत-विभागमें बहुत-सी पुस्तकें दिखलायीं। वहाँ सम्पूर्ण वेद थे। गीताके अनेक संस्करण थे। उपनिषदोंपर जर्मन भाषामें टीकाएँ थीं। हमने पूछा कि, इन पुस्तकोंको पढ़नेवाले हैं ? उन्होंने कहा कि, 'इस समय तो दो ही तीन हैं; पहले अधिक थे।' हमलोगोंसे बातचीतमें उन्होंने मुक्त कंठसे स्वीकार किया कि, भारत की आर्य-संस्कृति बड़ी उत्कृष्ट है। निरामिष भोजन करना, मदिरा आदि न पीना, मुर्दा जलाना आदि सिद्धान्त रूपसे वे मानते हैं। उन्होंने हमलोगोंसे कहा कि, "अहिंसा और त्याग भारत योरोपको सिखला सकता है।"

१०—सुप्रसिद्ध वेदज्ञ मैक्समूलर

पं० रामाज्ञा द्विवेदी एम० ए०

(प्रिन्सिपल, आनन्द कालेज, धार)

यूरोपियन वेदज्ञोंमें जितना नाम मैक्समूलरका है, उतना दूसरेका नहीं। मैक्समूलरका जन्म १८२३ई० में ६ दिसम्बर-को जर्मनीके 'देसाउ' नामक स्थानमें हुआ था। इनके पिता विलहम मूलर जर्मन भाषाके प्रसिद्ध कवि थे और बहुत दिनों तक देसाउमें पुस्तकालयके अध्यक्ष थे। मैक्समूलरको प्रारम्भसे ही संगीतका बड़ा शौक था। इनके गुरु मेंडेल-सानने संगीतकी ओरसे इनकी रुचि हटानेका बहुत प्रयत्न किया। ये लिपजिग विश्वविद्यालयसे १८ वर्षकी अवस्थामें मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास हुए। वहाँके प्रोफेसर ब्राकहौने इन्हें संस्कृतकी ओर आकृष्ट किया। इन्होंने बरनाफ नामक फ्रेंच विद्वानसे जेन्द भाषा सीखी। बरनाफके अनुरोधसे इन्होंने वेदोंका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। १८४६ ई० में ये इंगलैण्ड आये। वहाँ प्रोफेसर विलसन तथा बंसनकी सहा-यतासे वेदोंके सम्पादन तथा प्रकाशनमें लग गये। इन दोनों विद्वानोंने ईस्ट इंडिया कम्पनीसे वेदोंके प्रकाशनका भार लेनेको कहा और यह साहित्यिक काम प्रारम्भ हो गया। बंसनके कारण इनकी पहुँच महारानी विक्टोरिया तक हो गयी और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयमें भी इनकी धाक जम गयी। सन् १८४८ ई० से इनके सम्पादित "ऋग्वेद" का छपना आक्सफोर्डमें प्रारम्भ हुआ और इसी सम्बन्धमें इन्हें सबसे आक्सफोर्डमें रहनेका अवसर मिला। तभीसे ये वहीं रहने लगे और दो वर्ष बाद अर्वाचीन भाषाओंके अध्यापक बना दिये गये। धीरे-धीरे ये वहाँके कई कालेजोंके आनरेरी फेलो भी बना दिये गये और इसी समयमें दो प्रसिद्ध पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिनमें एक "प्राचीन संस्कृतका इतिहास" भी है, जो सन् १८५९ ई० में प्रकाशित हुआ था।

चार वर्ष बाद विश्वविद्यालयके संस्कृत प्रोफेसरका स्थान रिक्त हुआ और सबको यही आशा थी कि, मैक्समूलर-को यह पद मिलेगा। परन्तु कुछ कट्टर अंग्रेजोंने इनके जर्मन होनेसे विरोध किया और अंतमें यह गौरव प्रसिद्ध विद्वान् मानियर विलियम्सको दिया गया। इस बातसे मूलरको बहुत निराशा हुई। एक प्रकारसे इस घटनाके पश्चात् इनका संस्कृत-साहित्यसे नाता ही छूट गया। बहुत दिनों बाद पूर्वीय सभ्यता तथा साहित्य-सम्बन्धी एक पुस्तकमालाके सम्पादक हुए। इस बीचमें भाषा-विज्ञान तथा दर्शनका अध्य-यन करते रहे। पौराणिक कथाओंपर भी इन्होंने ने अच्छा विवे-चन किया है, जो कभी-कभी पाश्चात्य विद्वानोंका नहीं रुचता। इन कथाओंके अध्ययनसे ये धार्मिक विवेचनमें लग गये। धर्मोंके समालोचनात्मक इतिहास लिखने लगे; धार्मिक समस्याओंके इतने गूढ़ विवेचक समझे जाने लगे कि, उसी वर्ष वेस्टमिनिस्टर ऐबेके पादरी स्टानलीने इन्हें वहाँ व्याख्यानके लिये निमन्त्रित किया। इनके पहले कोई बाहरी मनुष्य इस ऐबेमें धार्मिक विषयपर व्याख्यान देनेको नहीं बुलाया गया था। इस संमानसे इनकी बहुत ख्याति हुई। दो ही वर्ष बाद उस प्रसिद्ध ग्रन्थमालाका आविर्भाव हुआ, जिसे

Sacred Books of the East कहते हैं। उसके सम्पादक यही हुए। इस मालामें कुल ५१ ग्रन्थ हैं, जिनमेंसे ४८ का सम्पादन इन्होंने स्वयं किया और तीन इनके देहांतके बाद प्रकाशित हुए। अपने अन्तिम दिनोंमें इन्होंने भारतीय दर्शन-के ऊपर भी अपनी लेखनी उठायी और हस्तलिखित ग्रन्थों तथा शिलालेखोंका अनुसंधान भी किया। जापानके प्रसिद्ध विद्वानोंसे इनकी बड़ी मित्रता थी। इनकी मृत्युके पश्चात् इनका पुस्तकालय जापानके टोकियो-विश्वविद्यालयने मोल ले लिया। थोड़े दिनोंतक ये तुलनात्मक भाषा-विज्ञानके प्रोफेसर भी रहे। इस पदको पाकर इनकी पुरानी निराशा कुछ दूर भी हुई। अन्तिम अवस्थामें ये बाडलियन लाइब्रेरीके क्यूरेटर भी रहे। जब कभी भारतीय विद्वान् इनके यहां जाते, तो ये उनका बड़ा आदर-सत्कार करते थे। कितने ही देशोंने इन्हें उपाधियां तथा सम्मान प्रदान किये थे। ये इङ्गलैण्डकी प्रिवी कौंसिलमें भी सम्मिलित किये गये थे। इनकी मृत्यु आक्सफोर्डमें, सन् १९०० ई० में, हुई। पेन पाश्चात्य विद्वानोंकी वेद सम्बन्धी विद्वत्ता सर्वथा प्रशंसनीय है।

११—आ० इ० ओरियंटल कान्फरेंस

डा० हरदत्त शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०

यूरोपमें प्राच्य साहित्यकी चर्चाके प्रारम्भ होते ही भिन्न-भिन्न देशोंके विद्वान् प्राच्य विद्याओंकी सेवामें लग पड़े थे। उस समय दूर-दूर देशके विद्वानोंने परस्पर विचार-विनिमयके लिये यह आवश्यक समझा कि, समय समयपर भिन्न-भिन्न नगरोंमें सभाएं हुआ करें, जिनमें नये लोग सम्मिलित होकर, इसीमध्यमें जो-जो नवीन गवेषणाएं हुई हों, उन्हें उपस्थित करें। इसी कारण वहाँपर प्राच्यविद्या-विशारदोंकी अन्तर्राष्ट्रीय महासभा (International Congress of Orientalists) का सूत्रपात हुआ। इसके अधिवेशन समय-समयपर, वियना, लन्दन, आक्सफोर्ड, पेरिस, बर्लिन इत्यादि अनेक स्थानोंमें होते चले आये हैं। तब भारतकी भी आखिर आंख खुली। जगत्प्रसिद्ध स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरने अन्य विद्वानोंकी सहायतासे अखिल भारतवर्षीय प्राच्य-सभा (All India Oriental Confernce) की स्थापना की; और, इसका सबसे पहला अधिवेशन सन् १९१९ में, सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरके ही सभापतित्वमें, हुआ। दूसरा अधि-वेशन सन् १९२२ में, कलकत्तेमें, हुआ और इसके सभापति पेरिस-विश्वविद्यालयके संस्कृतके आचार्य Professor Syvain levi हुए। सन् १९२४ में तीसरा अधिवेशन महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झाके सभानेतृत्वमें मद्रासमें हुआ। सन् १९२६ में चौथा अधिवेशन प्रयागमें हुआ, जिसके कर्णधार विद्यावयोवृद्ध शम्स-उल-उलेमा डाक्टर जीवनजी जमशेदजी मोदी थे। इसी अधिवेशनमें यह निश्चित हुआ कि, इस सभाका अधिवेशन प्रति तीसरे वर्ष हुआ करे। सन् १९२८ में पाँचवां अधिवेशन स्वर्गीय महामहोपाध्याय डाक्टर हरप्रसाद शास्त्रीकी अध्यक्षतामें सफलतापूर्वक लाहोरमें हुआ। सन् १९३० में छठा अधिवेशन पटनामें हुआ था, जिसके सभापति थे रायबहादुर बा० हीरालालजी। इस प्रकार इसके ६ अधि-वेशन हो चुके हैं। आगामी वर्षमें ७ वां अधिवेशन बड़ोदेमें होगा। इस सभाके स्थायी मन्त्री डाक्टर एस कृष्णस्वामी ऐयंगर तथा डाक्टर एस० के० बेलवालकर हैं। कार्यकारिणी समितिका चुनाव प्रत्येक अधिवेशनमें हुआ करता है। जिस स्थानमें अधिवेशन होता है, वहांकी स्वागत-कारिणी समिति उस वर्षके सभापति, स्थानीय मन्त्री तथा स्थानीय कार्यकारिणी उपसमितिका निर्वाचन कर लिया करती है। प्रत्येक विद्वान्, जो लगातार तीन वर्षों तक इसके अधिवे-शनमें उपस्थित होता है तथा कम-से-कम एक लेख पढ़ता है, कार्यकारिणीके चुनावमें सम्मति देनेका अधिकारी हो जाता है। प्रत्येक सदस्यको अधिवेशनमें उपस्थित होनेके लिये ५ रु० चन्दा देना पड़ता है। इसके उपलक्ष्यमें उसको गत वर्षोंकी रिपोर्ट तथा पढ़े गये लेखोंकी छपी हुई प्रति मुफ्त मिलती है। अन्य सज्जन, जो इनको मोल लेना चाहें, Secretary, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona से मोल ले सकते हैं। भिन्न-भिन्न वर्षोंकी रिपोर्टोंके भिन्न-भिन्न दाम हैं, जो पूनाके ऊपर लिखे पतेसे पूछनेपर मालूम हो सकते हैं। इस सभाको भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा दानी सज्जनोंसे आर्थिक सहायता मिलती है। यों तो इस

सभामें लेख अनेक विषयोंपर पढ़े जाते हैं; किन्तु 'गङ्गा' के इस "वेदाङ्क" में मैं गत ४ अधिवेशनोंमें केवल वैदिक साहित्य-पर पढ़े गये मुख्य लेखोंकी सूची तथा लेखकोंके नाम दिये देता हूँ—

तीसरा अधिवेशन, मद्रास, १९२४—

1. Soma juice is not liquor—by N. B. Pavgee, Poona.
2. Traces of the Stone Age in the Vedic Texts—By Prof. S. V. Venkateswara Aiyar, Mysore.
3. Rustam—the Indra of Iran—by Prof. A. A. Shustery, Mysore
4. Varuna and Ahur-Mazda—by Dr. R. Zimmermann, Bombay

चौथा अधिवेशन, प्रयाग, १९२६—

1. The Antiquity of Rigvedic Culture and the Early Home of the Aryans—by Dr. Abinash Chandra Das, Calcutta
2. Indra in the Rigveda and the Avesta—by K. C. Chattopadhyaya, Allahabad.
3. Vedic Texts Relating to Planetary Bodies—by S. V. Venkateswara, Mysore.
4. Further Researches into the antiquity of the Vedas—by V. H. Vader, Belgaum Bombay
5. Indra, the Rigvedic Atman—by Miss Ananta Lakshmi.

पाँचवाँ अधिवेशन, लाहोर, १९२८—

1. Exegesis of the Rigveda with special reference to the critical and traditional methods of Interpretation—by Dr Prabhu Dutt Shastri, Calcutta
2. The Asvins—by Dr R. Shama Shastry, Mysore
3. The Twin-gods Asvins of the Rigveda—by Dr Ekendra Nath Ghosh, Calcutta
4. Pre—Sayana Commentators of the Rigveda—by Bhagavaddatta, Lahore.
5. Two Vedic Words—by V. K. Rajwade, Poona
6. Uvata and Mahidhara—by Dr. Lakshman Sarup, Lahore.
7. Taittiriya Brahmana—by C. V. Vaidya, Bombay
8. The Literature of the Jaiminiyas—by Veda Vyasa, Lahore.
9. Aryan Morality in the Brahmana Period—by Bhavee Chandra Banerjee, Krishnanagar
10. The Vedic Rsis—by Ram Chandra Sharma, Jullundur.
11. Traces of Pre-historic Art in the Vedic Texts—by S. V. Venkateswara, Mysore.
12. The Relation of Accent and Meaning in Rigveda—by Dr. C. Kunhan Raja, Madras
13. Commentaries on the Rigveda and the Nirukta—by Dr. C. Kunhan Raja, Madras
14. Rta—by Dr. R. Zimmermann, Bombay
15. Harisvamin the Commentator of the Satapatha Brahmana—by Dr. M. D. Shastri, Benares
16. वैदिक-वाङ्मयम्—by महादेव शास्त्री भण्डारे, Lahore
17. Asvamedha—
18. Aryan Races of Vedic Times by Agastya Sanyas

छठा अधिवेशन, पटना, १९३०—

1. Rigveda and the Punjab—by Dr. A. C. Woolner, Lahore
2. Takman in the Atharvaveda—by Prof. Ekendra Nath Ghosh, Calcutta
3. Trita—by Prof. S. V. Venkateswara, Mysore
4. The Home of the Aryas—by Prof. Lacchmidhar Shastri, Delhi
5. The Valabhi School of the Vedabhasyakaras—
6. The Madhava Problem in the Vedabhasya—
7. The Anukramani Literature—
—by Dr. C. Kunhan Raja, Madras
8. Contribution of Bihar to Vedic Literature—by H. C. Chakaldar, Calcutta
9. Studies in the Accentuation of the Sama Veda—
10. Nidanasutra of the Sama Veda—
—by Dr Siddheswar Varma, Jammu.
11. The Cradle of Indra-Vritra Myth—by K. C. Chattopadhyaya, Allahabad

१—"दूर गायन्तु दुर्वेदेषु"

वेदोंपर, अनन्त कालसे, हिन्दूजातिकी अविचल श्रद्धा है। पृथिवीके किसी भी देशके किसी भी कोनेमें रहनेवाला कोई भी हिन्दू अपने धर्मका मूल-ग्रन्थ वेदोंको बताता है। यह धारणा आजकी नहीं, हजारों वर्षोंकी है—जबसे हिन्दू-जाति या आर्य-जातिका अस्तित्व है, तबसे है। शतपथ आदि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थोंसे लेकर तंत्रशास्त्र तक वेदोंकी महिमाके अमर गीत गाते हैं। यही नहीं, हिन्दुओंके कितने ही प्राचीनतम ग्रन्थ तो वेद-मंत्रोंको नित्य तक मानते हैं। कौषीतकि-ब्राह्मण (१०।३०) के मतसे वेद-मंत्र देखे गये हैं, बनाये नहीं। ऐतरेय-ब्राह्मण (३।१९) से मालूम होता है कि, गौरवीतिने सूक्तों (मंत्र-समूहों) को देखा था। और तो और, जिन मीमांसा, साङ्ख्य आदि दर्शनोंने ईश्वर तकको नहीं माना है, वे भी वेदको अपौरुषेय या नित्य मानते हैं। मनुस्मृतिमें तो वेद न माननेवालेको ही नास्तिक कहा गया है—ईश्वर न माननेवालेको नहीं। सकाम कर्मोंके घोर द्रोही शंकराचार्यने भी वेदोंको नित्य माना है। हिन्दुओंकी पक्की धारणा है कि, "वेद सब विद्याओंकी खान हैं।" असंख्य हिन्दुओंकी दृढ़ धारणा है कि, वेद हिरण्यगर्भ (Cosmic Egg) से सम्भूत हैं। अन्ततः सनातनी और आर्य-समाजी हिन्दुओंका तो ऐसा ही दृढ़ विश्वास है। इसमें सन्देह नहीं कि, उनके इस विश्वासको अधिकांश संस्कृत-साहित्य पुष्ट करता है। बौद्धों और जैनोंमें भी वेदज्ञ बौद्धों और जैनोंको बड़ी प्रतिष्ठा मानी गयी है। स्वयं बुद्ध भगवान् और जैनोंके अनेक तीर्थङ्कर वेदोंके विद्वान् थे। सिक्खोंमें भी वेदोंका यथेष्ट सम्मान है। गुरु गोविन्द सिंह वेदोंके बड़े भक्त थे।

इस तरह देखा जाता है कि, हिन्दूजातिके हृदयपर वेदोंका, अगम्य कालसे, अखण्ड साम्राज्य स्थापित है। वेदोंकी हानिकी सम्भावना देखकर हिन्दूजातिकी राजकुमारियाँ "को वेदानुद्धरिष्यति" की विभीषिकामयी चिन्तामें मूर्च्छित हो जाती हैं और कुमारिल भट्ट जैसे महाविद्वान् हथेलीपर प्राणोंको रखकर विरोधियोंकी विकट वाहिनीके सामने कूद पड़ते हैं! "वेदा विच्छिन्ना धीमिन् विक्षिप्यन्ते" की दुर्दान्त दशा देखकर शिवाजी जैसे प्रतापी वीर तलवारोंकी नंगी धारोंपर नाचने लगते हैं और वेदोंकी ओरसे उदासीनता देखकर दयानन्द जैसे त्यागी देश-भक्त वेद-प्रचारमें अपने जीवनको ही समर्पित कर देते हैं! सचमुच हिन्दूजाति वेदोंको प्राणसे भी बढ़कर समझती है—वेदोंका विरोध देखकर उसका कोमल-कमल कलेजा काँप उठता है और वेदोंका अभ्युदय देखकर उसका हृदय आनन्दकी अठखेलियाँ खेलने लगता है! धार्मिक हिन्दू वेदोंकी ज्ञान-गरिमापर मुग्ध हैं; ऐतिहासिक हिन्दू उनकी प्राचीनतापर आसक्त हैं। किसी भी दशामें हिन्दूजातिका वक्षःस्थल टटोलिये, उसमें "वेद"—और "वेद"—की विमल और व्यापक, सुन्दर और सरस, मधुर और मञ्जुल ध्वनि मिलेगी। वेद हिन्दूधर्मकी आधारशिला है, हिन्दूत्वकी सजल वाटिका है, हिन्दू सभ्यता और संस्कृतिका सुदृढ़ दुर्ग है। इसीलिये हिन्दू

१—"पूजायत्तु द्विवेदेषु"

वेदोंपर, अनन्त कालसे, हिन्दूजातिकी अविचल श्रद्धा है। पृथिवीके किसी भी देशके किसी भी कोनेमें रहनेवाला कोई भी हिन्दू अपने धर्मका मूल-ग्रन्थ वेदोंको बताता है। यह धारणा आजकी नहीं, हजारों वर्षोंकी है—जबसे हिन्दू-जाति या आर्य-जातिका अस्तित्व है, तबसे है। शतपथ आदि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थोंसे लेकर तन्त्रशास्त्र तक वेदोंकी महिमाके अमर गीत गाते हैं। यही नहीं, हिन्दुओंके कितने ही प्राचीनतम ग्रन्थ तो वेद-मन्त्रोंको नित्य तक मानते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण (१०।३०) के मतसे वेद-मन्त्र देखे गये हैं, बनाये नहीं। ऐतरेय-ब्राह्मण (२।१९) से मालूम होता है कि, गौरवीतिने सूक्तों (मन्त्र-समूहों) को देखा था। और तो और, जिन मीमांसा, साङ्ख्य आदि दर्शनोंने ईश्वर तकको नहीं माना है, वे भी वेदको अपौरुषेय या नित्य मानते हैं। मनुस्मृतिमें तो वेद न माननेवालेको ही नास्तिक कहा गया है—ईश्वर न माननेवालेको नहीं। सकाम कर्मोंके घोर द्रोही शंकराचार्यने भी वेदोंको नित्य माना है। हिन्दुओंकी पक्की धारणा है कि, "वेद सब विद्याओंकी खान है।" असंख्य हिन्दुओंकी दृढ़ धारणा है कि, वेद हिरण्यगर्भ (Cosmic Egg) से सम्भूत हैं। अन्ततः सनातनी और आर्य-समाजी हिन्दुओंका तो ऐसा ही दृढ़ विश्वास है। इसमें सन्देह नहीं कि, उनके इस विश्वासको अधिकांश संस्कृत-साहित्य पुष्ट करता है। बौद्धों और जैनोंमें भी वेदश बौद्धों और जैनोंको बड़ी प्रतिष्ठा मानी गयी है। स्वयं बुद्ध भगवान् और जैनोंके अनेक तीर्थङ्कर वेदोंके विद्वान् थे। सिक्खोंमें भी वेदोंका यथेष्ट सम्मान है। गुरु गोविन्द सिंह वेदोंके बड़े भक्त थे।

इस तरह देखा जाता है कि, हिन्दूजातिके हृदयपर वेदों-का, अगम्य कालसे, अखण्ड साम्राज्य स्थापित है। वेदोंकी हानिकी सम्भावना देखकर हिन्दूजातिकी राजकुमारियाँ "को वेदानुद्धरिष्यति" की विभीषिकामयी चिन्तामें मूर्च्छित हो जाती हैं और कुमारिल भट्ट जैसे महाविद्वान् हथेलीपर प्राणोंको रखकर विरोधियोंकी विकट वाहिनीके सामने कूद पड़ते हैं! "वेदा विच्छिन्न वीथिषु विक्षिप्यन्ते" की दुर्दान्त दशा देखकर शिवाजी जैसे प्रतापी वीर तलवारोंकी नंगी धारोंपर नाचने लगते हैं और वेदोंकी ओरसे उदासीनता देखकर दयानन्द जैसे त्यागी देश-भक्त वेद-प्रचारमें अपने जीवनको ही समर्पित कर देते हैं! सचमुच हिन्दूजाति वेदोंको प्राणसे भी बढ़कर समझती है—वेदोंका विरोध देखकर उसका कोमल-कमल कलेजा काँप उठता है और वेदोंका अभ्युदय देखकर उसका हृदय आनन्दकी अठखेलियाँ खेलने लगता है! धार्मिक हिन्दू वेदोंकी ज्ञान-गरिमापर मुग्ध हैं; ऐतिहासिक हिन्दू उनकी प्राचीनतापर आसक्त हैं। किसी भी दशामें हिन्दूजातिका वक्षःस्थल टटोलिये, उसमें "वेद"—और "वेद"—की विमल और व्यापक, सुन्दर और सरस, मधुर और मञ्जुल ध्वनि मिलेगी। वेद हिन्दूधर्म-की आधारस्थली है, हिन्दूत्वकी सजल वाटिका है, हिन्दू सभ्यता और संस्कृतिका सुदृढ़ दुर्ग है। इसीलिये हिन्दू

धर्मका लक्षण करते हुए लोकमान्य तिलकने ठीक ही कहा है—"प्रामाण्य-बुद्धिर्वेदेषु।" सचमुच वेदोंको एकमात्र प्रमाण मानना ही हिन्दूधर्मको मानना है; क्योंकि वेद ही हिन्दू धर्मके मूल हैं। हमें सन्तोष है कि, हमने "वेदाङ्क" द्वारा अपने प्रातःस्मरणीय मूल-धर्म-ग्रन्थ वेदोंकी कुछ चर्चा की।

२—वेद-धर्म और अन्य धर्म

संसारमें असंख्य धर्म हैं। यूरोपियनोंके मतसे कुछ मुख्य-मुख्य धर्मोंके नाम सुनिये। आर्य-धर्ममें इतने प्रधान धर्म गिने जाते हैं—बौद्ध धर्म, पारसी-धर्म, यूनानी धर्म, रोमन धर्म, वेण्डिक धर्म, ट्यूटनिक धर्म, स्कण्डेनेवियन धर्म, केल्टिक धर्म और स्लावोनियन धर्म। सेमेटिक धर्ममें भी कई धर्म हैं—ईजिप्सियन, बेबोलोनियन, असीरियन, फिनीशियन, जुडिइज्म, महम्मडनिज्म, क्रिश्चियानिटी। बहुत लोग बेबोलोनियन या कैल्डियन धर्मसे असीरियन धर्मकी उत्पत्ति मानते हैं। कई असीरियन और ईजिप्सियन धर्मोंको हेमेटिक मानते हैं। कुछ लोग ईजिप्सियन धर्मसे ईथियोपियन (अबीसीनियन) धर्मकी उत्पत्ति बताते हैं। बहुतोंका मत है कि, हिब्रू-धर्मसे क्रमशः मूसाई, इसराइली, यहूदी और ईसाई-धर्म पैदा हुए हैं। बेबीलोनियन धर्मपर ईजिप्सियन धर्मकी छाप भी मानी जाती है। मंगोलियन धर्मोंमेंसे चीनमें कनफूसियानिज्म और ताओइज्म तथा जापानमें शिन्तोइज्म है। इनके सिवा कई अफ्रीकन टापुओंकी जातियाँ, अमेरिकन इण्डियन और भारतके टोडा, बदागा, कोटा, भील, गोंड, खोंड, सन्ताल, काकी, नागा, बादो, धीमल, कसिया, मिशमिस आदि जातियाँ भूत-प्रेत-पूजनेको ही धर्म मानती हैं।

हिन्दुओंके वेद-ग्रन्थों, पारसियों (ईरानियों)की अवेस्ता-गाथाओं, चीनियोंके शुकिंग, शीकिंग, ली-की आदि पुस्तकों, मिश्रके बीजाक्षरों (Hieroglyphics), बेबोलोनियाकी कुल्हाडक-लिपि और असीरियाकी कोणाकारलिपिका अध्ययन करके यूरोपियनोंने इन धर्मोंकी छोटाई-बड़ाईकी जाँच करनेकी चेष्टा की है। बहुतोंके मतसे ईजिप्सियन धर्म सबसे प्राचीन धर्म है। ईजिप्सियनोंके धर्मोपदेष्टा और प्रथम राजा मेनस या मेना (प्रथम फरोह) ५००४ बी० सी० (ईसाके पहले) पैदा हुए थे। उनकी बनायी धर्म-पुस्तक भी है। ईजिप्सियनोंके मतसे मिश्रपर, सत्ययुगमें, २४६०० वर्ष देव-राज्य था और त्रेतामें ६०० वर्ष। ईजिप्सियनोंकी "The Book of the Dead" पुस्तकसे विदित होता है कि, वे मृतक-पूजक थे। वे ब्रह्मा (Ptah) को मानते थे। रवि या सूर्यको "रा" कहते थे। सूर्यके अनन्य उपासक थे। दिनमें दो बार स्नान करते, मांससे घृणा रखते, मृगछालपर बैठते और पत्ते पहनते थे। उनमें वर्ण-धर्म था। व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी नाक काट ली जाती थी। इस तरह उनका कुछ वैदिक आचार-विचारोंके साथ पूरा साम्य था। ऐसी ही कई बातोंको देखकर डा० अविनाशचन्द्र दासने सिद्ध किया है कि, हिन्दुओंने मिश्र या ईजिप्टमें जाकर अपनी सभ्यता, धर्म आदिका प्रचार किया था। विलसन साहबका भी मत है कि, मिश्र शब्द संस्कृतका है और भारतीय ब्राह्मणों द्वारा वहाँ पहुँचाया गया है। मेना ही मनु है और मेनाका ग्रन्थ मनुस्मृति!

दूसरा नम्बर चीनियोंका है। उनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—शुकिंग और शीकिंग। पहला २४०० बी० सी० में और दूसरा १७६६ बी० सी० में बना। पहला ग्रन्थ "सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट" में लेग साहब द्वारा छपा है और दूसरा १८६१ में जेनिंग्स साहब द्वारा। अनालेक्टस, ली-की और हुंगयांग नामके ग्रन्थ भी चीनियोंके पूज्य हैं। इनसे पता चलता है कि, वेद-धर्मी हिन्दुओंकी तरह ही चीनियोंके भी धार्मिक नियम हैं। चीनी भी, हमारी ही तरह, १० दिशाएँ, १२ राशियाँ, श्राद्ध आदि मानते हैं। इस तरह ये भी वेदधर्मके अनुयायी ही जान पड़ते हैं।

तीसरे ईरानी (पारसी) हैं। इनका मूल-ग्रन्थ अवस्ता और गाथाएँ हैं। अवस्ताके २१ भाग थे, जिनमें दोसे

वशोंमें आकर सिकन्दरने नष्ट कर दिया और कुछको उसके अनुयायी ग्रीस उठा ले गये। शेष जेन्द-टीकाके साथ छपी है। डर्मेस्टेटर द्वारा "सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट" में, १८९४ में, भी अवस्ता प्रकाशित है। पारसियोंकी ५ गाथाएँ, १८९४ में, मोल्स साहब द्वारा छपी हैं। इनसे पता लगता है कि, ईरानी या पर्शियन लोग अग्नि-पूजक, गोरक्षक और यज्ञोपवीत-धारक होते हैं। ये मित्र (मिथ्र) के परम भक्त हैं। मिथ्रकी मूर्त्तियाँ ग्रीक और रोमन स्तम्भ... पर भी मिलती हैं। अवस्ता आदिमें प्राचीन आर्य-निवासकी भी प्रशंसा है। अवस्तामें वेदोंके हजारों शब्द, तद्भव रूपोंमें, आये हैं इससे स्पष्ट है कि, ये भी वेदधर्मका अनुधावन करनेवाले हैं।

ग्रीक और रोमन धर्म पहले एक ही थे। वहाँकी ग्रीक और लैटिन भाषाओंमें संस्कृतके तद्भव शब्द बहुत हैं। इनके धर्मग्रन्थ सान्कुन्नर और मोमसेन हैं। कहते हैं, मोमसेन १६०० बी० सी० में बना। जो हो, परन्तु वहाँ ईरानके मिथ्र-देवताकी पासिने और ग्रीक-लैटिन भाषाओंके वैदिक भाषासे उत्पन्न होनेसे यह स्पष्ट है कि, ये धर्म भी वेद-धर्मकी नकलपर ही बने हैं। ग्रोकोंके, जियस, मिनर्वा और हेलिओस देवता तो इन्द्र, उषा और सूर्यके नामान्तर भर हैं। वेदके ब्रह्मा ही ग्रीकों और रोमनोंके वलकन हैं। ट्यूटन, स्लाव आदि धर्म भी वेद-धर्मको नकलपर चले हैं—स्लावोंके ग्रन्थ "लुथियाना" और ट्यूटनोंके धर्म-ग्रन्थ "एड्डा"से ऐसा ही विदित होता है।

बेबीलोनियन या केल्डियन नक्षत्र-पूजक थे। इनके ग्रन्थ हैं "डाइरेक्शन बुक" और "इजडुबर"। कहते हैं, ये ग्रन्थ ४००० बी० सी० के हैं। इनमें दरायसके समय, छठी बी० सी० में, मूर्त्ति-पूजा प्रचलित थी। सूर्यके ये परम उपासक थे। सूर्यको "समस" कहते थे। सेफरवेन स्थानमें एक सूर्य-मन्दिरका ध्वंसावशेष मिला है, जिसे ३८०० बी० सी० में नष्ट हुआ बताया जाता है—बना न मालूम कबका होगा! असीरियन और फिनीशियन धर्म इसी धर्मकी नकल हैं। इन सबका प्रधान आराध्य "अस्सुर" है। यही "अस्सुर" ऋग्वेदका 'असुर' है। दक्षिण मेसोपोटामियावाला अक्कद जातिका सुमेरियन धर्म भी वैदिक सिद्धान्तोंकी नकलपर है। मोहञ्जो-दारो और हरप्पाकी खोदाइयोंसे सुमेरियन देवताओंका जो पता लगा है, उससे तो ऐसा ही सिद्ध होता है। "वेदांक" के दो-एक लेखोंमें भी पाठकोंको हमारी बातका अनुमोदन मिलेगा। इनसे संसारके अन्य सब धर्म आधुनिक हैं। इसलिये उनकी चर्चा करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

इन सब धर्मोंमें जादू-टोना, नर-बलि, पशु-बलि आदि-का बोलबाला है; परन्तु वेद-धर्ममें इन बातोंका अभाव, प्रायः सब हिन्दू, मानते हैं। इन सभी धर्मोंमें कुछ ऐसे थोड़ेसे नियम हैं, जिन्हें इनके अनुयायियोंको अवश्य मानना पड़ता है; परन्तु हिन्दू-धर्ममें अधिकारानुसार विविध साधन हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि, ये सब धर्म हिन्दू-धर्मके एक-एक अंगको लेकर बने हैं; पूर्ण नहीं हैं। हमारी यह धारणा विद्वानों द्वारा समर्थित है। इन विद्वानोंके अकाट्य प्रमाणोंको देनेकी यहाँ हम अवश्य चेष्टा करते; परन्तु स्थानाभावसे लाचारी है। जो सज्जन चाहें, वे इन प्रमाणोंको डा० अविनाशचन्द्र दासकी "ऋग्वेदिक इण्डिया" और "ऋग्वेदिक कल्चर", बाबू हरविलास शारदाकी "हिन्दू सुपीरियारिटी" और प० दुर्गादास लाहिड़ीकी "पृथिवीर इतिहास" नामक पुस्तकोंमें देखें। वस्तुतः यह बात निःसन्दिग्ध है कि, संसारके सभी प्राचीन धर्मोंपर वैदिक धर्म या हिन्दूधर्मकी छाप लगी है और वे सबके सब वैदिक धर्मके पीछे चले हैं। यही नहीं, लोकमान्य तिलक महोदयके शब्दोंमें वेद-धर्ममें ऐसी विशेषताएँ हैं, जो किसी भी धर्ममें नहीं हैं। कुछ विशेषताएँ ये हैं—

(१) वैदिक धर्ममें अधिकारि-भेद है। जो जिस रुचिका व्यक्ति है, वह वैसा साधन ढूँढ़ निकालता है। ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि रुचि-वैचित्र्यके अनुसार साधन हैं। अद्वैतवादसे

लेकर आत्म-प्रभुत्व-प्रादत्तके साधन हैं। यह बात किसी धर्ममें नहीं।

(२) हिन्दू-धर्ममें उपास्य देवताका नियम नहीं—कोई भूत-भावनका उपासक है, कोई रण-चण्डिकाका, कोई विघ्नहर गणेशका सेवक है, कोई निराकार निरञ्जनका, कोई मूर्त्ति-पूजा करता है, कोई भूत-प्रेतकी आराधना। यह प्रक्रिया अन्य धर्ममें नहीं है।

(३) हिन्दू-धर्मका कोई प्रवर्त्तक नहीं, जैसे बुद्धने बौद्ध धर्म, क्राइस्टने ईसाई धर्म, जरतुष्टने पारसी-धर्म और महम्मदने मुसलमान धर्म चलाया, उस तरह किसीने हिन्दू-धर्म नहीं चलाया। इन आचार्योंके पहले इन धर्मोंका दुनियामें कोई नाम भी नहीं जानता था; परन्तु हिन्दू-धर्म सदासे चला आता है; इसका कोई प्रवर्त्तक या जन्म-दाता नहीं।

(४) हिन्दू-धर्मके अन्तर्गत सभी धर्म हैं। हिन्दू-धर्मके मानसिक तप (अहिंसा) से बौद्ध और जैन धर्म, वाचनिक तप (प्रेम) से ईसाई-धर्म और शारीरिक तप (साहस) से मुसलमान-धर्म चले हैं। इसी प्रकार सदाचारको लेकर कनफुसी धर्म, अग्नि-पूजनको लेकर पारसी-धर्म और सूर्य-पूजनको लेकर ईजिप्सियन, बेबीलोनियन आदि धर्म चले हैं।

(५) हिन्दू-धर्म किसीसे विरोध नहीं करता। मूर्त्ति-पूजा न माननेवाले मुसलमान-धर्म और वेद न माननेवाले ईसाई धर्मका हिन्दू-धर्म विरोध नहीं करता। हिन्दू-धर्मके ही ऐसे लाखों अनुयायी हैं, जो मूर्त्ति-पूजा नहीं मानते; परन्तु हिन्दू-धर्म उन्हें अपनी अभय गोदमें लिये हुए है।

वेदोंका परिशीलन करनेपर वैसे तो वेदधर्ममें अगणित विशेषताएँ मिलेंगी; परन्तु उक्त विशेषताएँ ऐसी हैं, जिन्हें हम यों ही, सरलतासे, समझ सकते हैं। हिन्दूधर्मकी इन्हीं सब विशेषताओंको लेकर लोकमान्य तिलकने यह कारिका बनायी थी—

"प्रामाण्य-बुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियम एतद्धर्मस्य लक्षणम्॥"

३—वेद और इतिहास

यूरोपियन विद्वानोंकी धारणा है कि, लैटिन और ग्रीकका ज्ञान तथा संस्कृतका साधारण ज्ञान रहनेसे ही मनुष्य वैदिक संहिताओंका तत्त्व समझ सकता है। हमारा मत ऐसा नहीं है। हमारे मतसे पाणिनीय व्याकरण और निरुक्तसे वेदार्थ समझनेमें जो सहायता मिलेगी, उसकी आधी भी लैटिन और ग्रीकसे नहीं। निरुक्त और पाणिनीय व्याकरण, मीमांसा और हिन्दू-संस्कृतिके पूर्ण विज्ञाता सायणाचार्यके भाष्यसे वेदार्थ जाननेमें जो साहाय्य प्राप्त होगा, वह ग्रासमान और लडविग, ओल्डेनबर्ग और ग्रिफिथके वेदानुवादसे मिलना असम्भव है। इसके सिवा जो मूल वेदोंको समझनेकी क्षमता नहीं रखता, वह "साधारण संस्कृत" वाला वेदोंपर निश्चित मत देनेका अधिकारी कैसा? जो हो, परन्तु अपनी इसी धारणाके बलपर यूरोपियन वेदाभ्यासी ऋग्वेदको बने १२०० बी० सी० बताते हैं। इस धारणामें कीथ जैसे विद्वान् भी हैं। आर्चबिशप प्राट, हाग आदि कुछ ऐसे यूरोपियन भी अवश्य हैं, जो बड़ी मेहरबानी करके ऋग्वेदका निर्माण-काल २००० बी० सी० तक बताते हैं। अपनी इसी अजीब खोजके लिये, वेद-काल-निर्णय और हिन्दू-जातिके इतिहासके लिये, वे वेदाध्ययन करते और कितने ही तो वेदोंके पीछे अपना जीवनतक खपा देते हैं! उनकी ऐसी धारणाका एक जबर्दस्त कारण भी है। आरमागके आर्चबिशप जेम्स उशरके मतसे ४००४ बी० सी०में बाइबिलमें लिखी सृष्टि हुई और २३०० बी० सी० के करीब वह प्रलय हुआ, जिसमें केवल आदम या मनु रह गये थे! आर्चबिशपके अनन्य भक्त लोग तब, यदि, १२०० या २००० बी० सी० में वेदोंका निर्माण मानें, तो क्या आश्चर्य? सबसे

बड़ा आश्चर्य तो यह है कि, डार्विन जैसे विकासवादी भी यह मत मानते हैं! ऐसे ही मठाधीशोंके ही कारण तो साक्रेटिस और गैलेलियो जैसे मनीषी यम-धामो पहुँचाये गये थे!

परन्तु इधर, सौ वर्षके भीतर ही, यूरोपियनोंको कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे उनकी ऐसी ऐतिहासिक खोजोंमें विपर्यास हुआ है और उक्त सृष्टि-कालका अनारोपन भी विदित हुआ है। इन प्रमाणोंके आधारपर यूरोपियनोंने कई नयी कलाएँ भी रच डाली हैं। उनके नाम पढ़िये—भाषा-विज्ञान (Philology), पुरातत्त्व (Archaeology), भूगर्भ-विज्ञान (Geology), मानव-विज्ञान (Anthropology), मानुषमिति (Anthropometry), मानव-जनन-विज्ञान (Ethnology), मानव-वंश विज्ञान (Ethnography), कपालमिति (Craniometry) आदि।

भाषा विज्ञानके विद्वान् कहते हैं कि, मनुष्यकी स्वाभाविक ध्वनिकी नकलपर शब्दोंकी सृष्टि हुई है। जिस समय माता बच्चेको दूध पिलाने लगती है, उस समय यदि बच्चेको इच्छा दूध पीनेकी नहीं होती, तो वह स्वभावतः "नि नि" करने लगता है। इसी "नि नि"की नकलपर ना, न, नो, नाट, नहीं आदि शब्दोंकी सृष्टि हुई है। मनुष्य श्लेष्मा फेंकते समय "थू", "पिच" आदि ध्वनि करता है; इस लिये उसकी नकलपर "थूक", "पिच-पिच" आदि शब्दोंकी सृष्टि हुई। इसी प्रकार कुत्तेके भोंकनेपर भौं भौं, घोड़ेके हिनहिनानेपर हिनहिनाहट, मेढ़कके टर्रानेपर टरटराहट आदि शब्दोंकी सृष्टि हुई। एक ही वस्तुके लिये विभिन्न जातियोंमें विविध ध्वनियाँ भी होती हैं। पिताके लिये अंग्रेजीमें डैड और माँके लिये मामा ध्वनियाँ हैं। इसी प्रकार विविध-जातिगत ध्वनियोंकी विभिन्नता और विविध अनुकरणोंकी विविधताके कारण विविध संकेतों, शब्दों और भाषाओंकी सृष्टि हुई है। भाषा-विज्ञान-वेत्ता कहते हैं कि, जिन जातियोंकी भाषाओंमें थोड़ाबहुत साम्य है, उनके पूर्वज एक ही जातिके थे। इस नियमका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर तो यहाँ तक मालूम होता है कि, सभी जातियोंके पूर्वज एक ही थे या एक ही दम्पतीसे सभी जातियाँ उत्पन्न हैं; क्योंकि सभी भाषाओंमें नाम मात्रका मेल मिलता है। परन्तु जिन भाषाओंमें अधिक साम्य है, उनके बोलनेवाले प्राचीन पुरुष अपेक्षाकृत अधिक सन्निधिमें रहते थे—यह भी इस नियमसे सिद्ध होता है। इसी नियमके बलपर कई जातियोंका इतिहास-निर्णय करनेमें यथेष्ट साहाय्य प्राप्त किया गया है।

भाषा-तत्त्वविद् कहते हैं, चीनकी प्राचीन भाषा और मिसर या मिश्रकी भाषामें कुछ सादृश्य है; इसलिये दोनोंके पूर्वज एक रहे होंगे। परन्तु कपालमान (Cephalic Index) और नासिकमान (Nasal Index) के पक्षपाती इन दोनों जातियोंको स्वतन्त्र मानते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि, मिश्रमें ब्राह्मणोंकी तरह प्रत्यक्ष सूर्योपासना होनेके कारण या तो मिश्र ब्राह्मणोंका उपनिवेश था या आर्योंके एक वर्गसे मिस्री उत्पन्न हैं। यही बात बेबीलोनिया, काल्डिया या चाल्डियाके सम्बन्धमें भी है। मिश्रके मोत्रेके पुस्तकालयकी खुल्फलक-लिपि एवं कस्साइट लेखमें सूर्यका विवरण है। वे सूर्यको "सूरस" कहते थे। "Aryan Witness" में रेवरेण्ड के० एम० बनर्जीने लिखा है कि, ऋग्वेद (१।११।५) का बल ही (असुर) बेबीलोनाधिपति 'बेल' था। वेदके कितने ही शब्द भी बेबीलोनियाकी भाषामें आये हैं। फलतः वहांकी सभ्यता भी आर्य-सभ्यताका अनुधावन करनेवाली है। ग्रीक, रोमन, पारसी, ट्यूटन आदिने भी आर्योंसे सूर्योपासना सीखी थी। इन लोगोंकी भाषाएँ तो स्पष्ट ही वैदिक संस्कृतसे उत्पन्न विदित होती हैं।

आइस्लैंडके द्रविड लोग प्रसिद्ध व्यापारी थे। वे ५००० ख्री० पू० में एशिया-माइनर गये और वहां इमर लोगोंकी

सभ्यताको जन्म दिया। हाल साहबका यही मत है। बहुत लोगोंने तो आस्ट्रेलियावालोंकी सभ्यताको भी द्रविड़ों द्वारा प्रादुर्भूत बताया है। सुमर लोगोंकी ही तरह उनकी भाषामें भी द्रविड़-शब्दोंकी भरमार है। अफगानिस्तानकी ब्राहुई-जातिकी भाषा भी द्रविड़-भाषासे मिलती है; इस लिये वह जाति द्रविड़ोंका शिष्य मानी जाती है। जहोवा शब्द वेदका 'यह्व' शब्द है; केल्डियन नहीं। हाल और दासका मत भी है कि, केल्डियन द्रविड़ ही थे। यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि, द्रविड़ आधुनिक शब्द है; वैदिक कालमें द्रविड़ भारतके आर्य थे या कुछके मतसे अनार्य वा दस्यु।

पुरातत्त्वविदोंका विचार अन्य शैलीका है। खोदाईके द्वारा पायी गयी पट्टिकाओं, अभिलेखों, शिला-लेखों, ताम्रपत्रों, प्रशस्तियों आदिसे वे इतिहास-निर्णयका प्रयत्न करते हैं। भारतमें मोहेञ्जो-दारो (सिन्ध) और हरप्पा (पंजाब) में जो खोदाइयाँ हुई हैं, उनसे अनेक ऐतिहासिक तत्त्व विदित हुए हैं। भीटा (ग्वालियर), पाटलिपुत्र, बसाढ़ (मुजफ्फरपुर), मथुरा, तक्षशिला, सोट-मेहट (गोंडा), सारनाथ, नालन्द आदि स्थानोंकी खोदाइयोंसे तो विशेषतः बौद्ध इतिहासपर ही प्रकाश पड़ा है। इसके पहलेके इतिहासके लिये भारतके अनेक स्थानोंमें खोदाईकी जरूरत है। हाँ, विदेशोंमें लाखों रुपये खर्चकर खोदाइयाँ की गयी हैं। थोड़ी-बहुत खोदाईसे तो कम ही प्रसिद्ध देश बचे हैं। किन्तु मिश्रकी खोदाईमें सबसे अधिक अर्थ-व्यय किया गया है। हरनर साहबने मिश्रकी नाइल या नील नदीके किनारे ६० फीटतक खोदाई करायी है, जिसमें ईंटें और जली ठठरियाँ मिली हैं। जैसी पृथ्वीपर यह खोदाई हुई है, वैसी ही पर, जेनेवा-झीलके पास, खोदाई कर मोर्लो साहबने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि, १५०० वर्षोंमें चार फीट मिट्टी बैठती है। इस हिसाबसे तो हरनरको २२॥ हजार वर्षोंकी ईंटें और ठठरियाँ मिली हैं। इससे सिद्ध होता है कि, इससे बहुत पहले वहाँके मनुष्य सभ्य हो चुके थे। इससे तो उनका भी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है, जो २० हजार वर्षसे ही मनुष्य या होमो सेपाइन्सकी सृष्टि स्वीकार करते हैं—"Descent of Man" वाले डार्विन और विपक्षियोंकी तो बात ही व्यर्थ है। कई खोदाइयोंमें तो हाथी दाँतपर नक्काशीके कामतक मिले हैं। अत्यन्त प्राचीन कालके जीवोंकी ठठरियोंके साथ, मिश्रमें, मनुष्यकी ठठरियाँ भी मिली हैं। मेनाके बाद, हरसेख राजाके समय, मिश्रमें एक ऐसा शिला-लेख और बकरीके चमड़ेपर लिखी पुस्तक मिली थीं, जो मेनासे हजारों वर्ष पहलेकी हैं। इन सबसे मिश्रकी अतीव प्राचीन सभ्यता और इतिहासपर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

इसके सिवा अर्जेण्टाइन और ब्राजिल (दक्षिण अमेरिका), प्रेडमस्थ (बोहेमिया), ओल्मो (इटली), शिपका (बालकन प्रायद्वीप), स्पाई (बेलजियम) आदि आदिमें भी खोदाइयाँ हुई हैं। नियण्डर्थल (जर्मनी) की खोदाईमें एक पशु-कपालके सदृश खोपड़ी मिली है, जिसे ४० हजार वर्षकी कहा जाता है। पिल्ट डाउनकी खोदाईमें प्रथम मानवकी खोपड़ियाँ मिली हैं, जिन्हें १ लाख वर्षकी कहा जाता है। हीडलमें जो हड्डियाँ मिली हैं, वह अर्द्ध मनुष्यकी और २॥ लाख वर्षोंकी मानी जाती हैं। १८९२ में डा० डूबोनने ट्रिनिल (जावा) की खोदाईमें कपाल, जंघास्थि, दाँत, आदि जो पाये थे, उनका समय, डा० डुबोइसके मतसे, लगभग ६ लाख वर्ष है और वे मानवाकार वानर और मनुष्यके बीचके हैं। बहुत लोग इन अस्थियोंको मनुष्यकी ही बताते हैं। परन्तु जिन लोगोंकी धारणा है कि, गोरिल्ला बन्दरका मस्तिष्क १०छटाक और मनुष्यका १६छटाकका है तथा मनुष्य और बन्दरके दोनों हाथोंकी हड्डियाँ समान हैं, वे जावा-कर्परको मनुष्यका क्यों मानने लगे? जो हो, परन्तु अनेक मानव-तत्त्व-विज्ञाताओंके मतसे जावा-कपालसे पुराना कपाल अबतक नहीं मिला। हाँ, तो, इन सब खोदाइयोंके आधारपर यूरोपियनोंने प्रस्तरयुग, पीतलयुग,

ताम्रयुग, लौहयुग, विद्युद्युग आदि कितने ही युगोंकी सृष्टि की है। इनके मतसे ५ लाख वर्ष पहले प्रथम हिमयुग, ३५ हजार वर्ष पहले प्रस्तरकाल और १५ हजार वर्ष पहले कृषिकाल था। परन्तु, जब कि, ऋग्वेदमें सरस्वती नदीका राजपूताना समुद्रमें गिरना लिखा है और भूगर्भ-वेत्ताओंके मतानुसार राजपूताना-समुद्र सूखे ५५ हजार वर्षतककी बात हो सकती है; और, जब कि, ऋग्वेदमें स्वर्णाभूषणों और उन्नत कृषिका वर्णन है, तब ३५ हजारका प्रस्तरयुग और १५ हजारका कृषियुग कैसे माना जाय? कपालों और नासिकाकी हड्डियोंके परीक्षणसे जातिका निर्णय करके उसका आदिम इतिहास निर्णीत करना कठिन है। कुछ हिन्दुओंकी खोपड़ियाँ तो लम्बे सिरके ट्यूटनों और चौड़े सिरके केल्टोंकी तरह हैं। तो क्या हिन्दू भी ट्यूटन और केल्ट जातिके हैं? इसके सिवा विभिन्न प्रकारके तकियोंके कारण भी कपालके संगठनमें विचित्रता आती है। इसी तरह दाइयोंकी हरकतोंके कारण भी नाकें लम्बी-चिपटी हुआ करती हैं। इस लिये खोदाईकी अस्थियोंको देखकर जाति, इतिहास आदिका ठीक निर्णय करना कठिन है। जो हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, मिस्रके ६-६ कोस लम्बे स्थानोंकी खोदाईका चौथाई रुपया भी यदि भारतकी खोदाईमें खर्च किया जाय, तो कितनी ही मनोरंजक अस्थियाँ मिल जायँ और भारतके प्राचीनतम इतिहासपर प्रकाश भी पड़े। अभी भी भारतीय पुरातत्त्ववाले कहते हैं कि, विन्ध्याचलके परीक्षणसे विदित होता है कि, वह २० हजार वर्ष पहले ठंढा हुआ था। इसी बातको शास्त्रीय चमत्कारिक भाषामें कहा गया है कि, "गोत्रभिद्" इन्द्र (ऋग्वेदीय) ने विन्ध्यगिरिके पंखोंको काट गिराया था। तबसे वह शान्त या ठंढा अथवा अग्निहीन हुआ। किन्तु असल बात तो यह है कि, ये सारी नयी विद्याएँ अधूरी हैं; इसलिये इनके बलपर ऐतिहासिक तथ्योंका सर्व-सम्मत निर्णय करना अशक्य है।

अच्छा, ऐतिहासिकोंकी इतिहास-सम्बन्धिनी धारणाएँ भी सुन लीजिये। वे कहते हैं, मिस्रके पिरामिडोंके बने ४००० बी० सी० तक हुए। वहाँके प्रथम राजा मेनाने ५००४ (मतान्तरमें ५५००) बी० सी० में राज्य किया था। वहाँके राजा थटमोसिस तृतीयने १५५७ बी० सी० में पश्चिम एशियापर राज्य किया था। मिस्रका जिक्र इलियड, कुरान, बाइबिल आदिमें भी है। वहाँकी प्राचीन राजधानी मेमफिसकी ६ कोसोंमें उपलब्ध उत्खनन-सामग्रीसे मिस्रकी सभ्यता ६००० वर्षोंकी मानी जानी चाहिये। चीनका फोही सम्राट् २६५० बी० सी० में गद्दीपर बैठा था। ह्याया-वंशका शासन-काल २२०७ बी० सी०से शुरू हुआ। फीनिशियनोंने कार्थेज (उत्तर अफ्रीका) पर ८२२ बी० सी०में अधिकार किया। असुर बनिपालकी चित्र-पट्टिकाओं आदिसे असीरियनोंकी सभ्यता ४००० बी० सी० की विदित होती है। सुमर लोगोंके निप्पुर और ईरिडन शहरोंकी सभ्यता ५५०० बी० सी० की है। यूनानमें हिरोडोटस (४८४ बी० सी०) और थ्युकिडिडस (४७१ बी० सी०) तथा रोममें टसिटस (पहली शताब्दी) जैसे ऐतिहासिक हुए, जिन्होंने हजारों वर्षोंका उन देशोंका क्रम-बद्ध इतिहास लिखा है। यूनानकी एकियन, ईजियन, डोरियन जैसी प्राचीनतम जातियोंका भी इतिहास मौजूद है। इधर भारतमें न तो कोई प्राचीन इतिहास है और न आर्य लोग इतिहास लिखना ही जानते थे।

बस, ये ही पाश्चात्य ऐतिहासिकों और उनके अनुगामियोंकी बातें हैं। ऐसी बातें हमारे ध्यानमें नहीं आतीं। जिस जातिने पाणिनि जैसे वैयाकरण और कपिल जैसे दार्शनिक हो सकते हैं और जिसमें नासदीय सूक्तकी-सी विचार-धारा बह सकती है, उसमें इतिहास लिखनेकी क्षमता नहीं थी, यह असम्भव है। यह भले ही हो कि, आर्य लोग मनुष्यकी कहानियाँ लिखनेकी अपेक्षा मनुष्यके जन्मदाता विश्व-

पिताकी कहानियाँ लिखना ही अच्छा समझते थे। तो भी वे इतिहासका महत्त्व अवश्य स्वीकार करते थे और वैदिक साहित्यमें यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री भी है। शतपथ-ब्राह्मण (१३।५।४।१०) और अथर्ववेदमें इतिहासको एक कला माना गया है। मनुस्मृति (२।७२) में इतिहासकी महिमा है। छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें इतिहासको पञ्चम वेद माना गया है। इतिहासमें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण आदिकी भी गिनती थी। महाभारत (१।१।८३) में इतिहासको मोहान्धकार दूर करनेवाला बताया गया है। वैदिक संहिताओंमें विविध ऋषियों और राजाओंके वंशोंका विवरण है। इसी प्रकार शतपथमें मिथिला, विदेह, दुष्यन्त, भरत, जनमेजय, उग्रसेन आदि आदिका वर्णन है। ताण्ड्यमें भी विदेह आदिकी कथाएँ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कालकञ्ज असुर और वाराहावतारकी बातें हैं। ऐतरेयब्राह्मण तथा तैत्तिरीय और शाङ्खायन आरण्यकोंमें शुनःशेप, अहिल्या, खाण्डव, कुरुक्षेत्र, मत्स्य, काशी, पांचाल आदिकी स्पष्ट कथाएँ हैं। ऋग्वेदमें उर्वशी-पुरुरवा, यम-यमी आदिकी क्रम-बद्ध कथाएँ हैं। ऋग्वेदका दाशराज्ञयुद्ध सूर्य-चन्द्र-वंशियोंका प्रसिद्ध युद्ध है। संस्कृत-साहित्यके सैकड़ों ग्रन्थोंमें आर्योंका इतिहास भरा पड़ा है। हाँ, यह अवश्य है कि, वेदोंमें क्रम-बद्ध इतिहास नहीं है और आर्योंकी तरह अत्यन्त उन्नत अध्यात्मवादियोंके लिये ऐसा, मानव-वंशेतिहास लिखना, सम्भव भी नहीं था।

जो यूरोपियन कहते हैं कि, ऋग्वेदकालीन सभ्यता ज्यादासे ज्यादा २००० बी० सी० की है, वह भूलते हैं। उनका कहना है कि, अपनी विजयपर बिहिस्तुन-लिपि खोदवानेवाले दरायस (५१० बी० सी०) के पहले, लगभग ६६० बी० सी० में, जरथुस्त पैदा हुए थे और उनके तथा पारसी गाथाओंके पहले ऋग्वेद, प्रायः १२०० बी० सी० में, बना; क्योंकि गाथाओंमें वैदिक आचार-विचारोंकी बातें हैं। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि कितने ही ग्रीक विद्वान् जरथुस्तको ६००० बी० सी० तकमें उत्पन्न बताते हैं और जरथुस्तके बहुत पहले, पारसी पुरोहित, गाथाओंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। अलेक्जेण्डरके समय ग्रीक विद्वानोंने अनेक देशोंकी वंशावलियोंका जो संग्रह किया था, उसके अनुसार चन्द्रगुप्ततक १५४ राजवंश ६४५७ वर्ष भारतमें राज्य कर चुके थे। आरियानके मतसे चन्द्रगुप्त तक १५३ वंश ६०४३ वर्षतक राज्य कर चुके थे। इन सारे राजवंशोंके पहले ऋग्वेद बन चुका था ही। इस तरह भी ऋग्वेद-कालीन इतिहास, कमसे कम, ८००० वर्षका हुआ।

किन्तु ऋग्वेद (१०।१३६।५ और १०।४७।२) में जिन चार समुद्रोंका वर्णन है, उनकी परिस्थितिपर विचार करनेपर तो और ही बात मालूम होती है। भूगर्भ-वेत्ताओंके मतसे उन चारों समुद्रोंके लुप्त हुए कमसे कम २५ हजार और अधिकसे अधिक ७५ हजार वर्ष हुए। यदि कमसे कम कालको ही माना जाय, तो भी ऋग्वेद-कालीन इतिहास २५ हजार वर्षसे अधिकका हुआ। ऐसा ही मत डा० अविनाशचन्द्र दासका भी है। इसलिये निष्पक्ष विचार करनेपर हमारा इतिहास विश्वका आदिम इतिहास माना जा सकता है। तिलक महाराजके मतसे आजसे प्रायः ६५०० वर्ष पहले ऋग्वेद बना; क्योंकि ऋग्वेदके समय मृगशीर्षमें वसन्त-सम्पात था। एक नक्षत्रका काल ९६० वर्षका होता है। कुछ लोग कहते हैं कि, तिलक महाराज जिस मृगशीर्षकी बात कहते हैं, उसके पहले (२७ नक्षत्र पहले) के मृगशीर्षमें ऋग्वेद बना। यदि यह बात मानी जाय, तो ऋग्वेदको बने ३१ हजार वर्षसे अधिक हुए। इस तरह डा० अविनाशचन्द्र दासके मतके साथ सामञ्जस्य भी हो सकता है। प्राचीन भूगोल-विज्ञान और भूगर्भ विद्यापर ध्यान देनेसे तो डा० दासकी बात ही ठीक जचती है। इस तरह आर्य-जातिका इतिहास संसारका आदिम इतिहास है और यह हमारे लिये गौरवमय है। और, यह ज्वलन्त इतिहास ही कारण है कि, हमने एशियाई तुर्किस्तानकी उईगुर, तुरुस्क आदि जातियों तथा चीन,

जापान, तिब्बत, बर्मा, सिलोन आदिको बौद्धमय बनाकर तथा आरहोनियसके सेनापतित्वमें (भारतीय सैनिकोंने) प्लेटिया (ग्रीस) के रणा-क्षेत्रमें, ४७९ बी० सी० में, यूनानियोंको परास्त कर अपने विश्व-विजयी शान और प्रतापको अमर कर दिया। हमारा महाप्रभावशाली इतिहास ही कारण है कि, जहाँ ईजिप्सियन, बेबीलोनियन आदि दर्जनों संसारकी जातियाँ धरातलसे उठ गयीं, वहाँ आर्यजाति हिमालयकी तरह अचल और प्रशान्त महासागरकी तरह गम्भीर बनी हुई है—सो भी लगभग उसी अनन्त कालकी वैदिक सभ्यताके प्रतापी रूपमें।

७—विशाल वैदिक साहित्य

वेद नित्य है कि, अनित्य, वेद ईश्वरका बनाया है या ऋषियोंका, वेदमें इतिहास है या उसके सारे इतिहास रूपक हैं, वेद एक कालमें बना या विभिन्न कालोंमें, वैदिक साहित्यमें कौन-कौन ग्रन्थ हैं आदि प्रश्नोंपर घोर विवाद है। अपनी-अपनी रुचिके अनुसार लोग नाना प्रकारकी धारणाएँ रखते आते हैं। "वेदांक" के द्वारा हम भी अपनी कुछ धारणाएँ उपस्थित कर देते हैं।

हम पहले ही लिख आये हैं कि, हमारे अधिकांश शास्त्र और धर्माचार्य वेदकी नित्यता स्वीकार करते हैं। कई तो छन्दोरूपमें ही, शब्दशः और अक्षरशः, वेदको नित्य मानते हैं। स्कन्द स्वामी, सायणाचार्य आदि सभी प्राचीन भाष्यकार भी वेदकी नित्यता स्वीकार करते हैं। अनेक लोग शब्द-स्फोट, वाक्य-स्फोट आदिकी नित्यता स्वीकार कर वेदकी नित्यता मानते हैं और अनेक वेदको ईश्वरका स्वाभाविक निश्वास समझते हैं। ग्रामोफोनके रेकार्डमें भरे हुए शब्द महीनों और वर्षों बाद सुनाई देते हैं, इस लिये शब्द और शब्द-रूप वेद नित्य माना जाता है। हमारी ऐसी धारणा नहीं है। यदि शब्दको नित्य माना जाय, तो शब्द-रूप बाइबिल, कुरान और प्रतिदिन गढ़ी जानेवाली कवि-ताओंको भी नित्य मानना पड़ेगा। फिर वेदकी विशेषता ही क्या रही? और, हमारे मतसे तो शब्दका आधार आकाश भी अनित्य है—शब्दकी तो कौन कथा! प्रकृतिकी साम्या-वस्थामें आकाश ही नहीं रहता, तब उसका गुण शब्द और शब्द-रूप वेद, छन्दोरूपमें,कैसे रहेंगे? यह बात दूसरी है कि, दैवी शक्तियोंकी उपासना और आवाहन, सत्य-सम्भाषण, तपस्याका आचरण, विविध विद्याओंका प्रचार आदि वेदमें हैं और ये सब उपदेश जगन्नियन्ताके नित्य उपदेश हैं; इस लिये वेद नित्य है। वेदके जिन अंशोंमें ये उपदेश हैं, उनको उपदेश या ज्ञानके आधार रूपमें, नित्य माननेमें हमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु हमारे जैसे अद्वैत-वादियोंके लिये यह नित्यता भी व्यावहारिक रूपमें है, परमार्थ-दशामें नहीं। तो भी वेदके जिन अंशोंमें ऐति-हासिक बातें हैं, वे अंश तो किसी भी रूपमें नित्य नहीं हो सकते। भाषा-विज्ञानके अनुसार अपनी अभाव-पूर्त्तिके लिये मनुष्य भाषाएँ बनाया करता है और वे भाषाएँ बदला करती हैं। स्वयं वैदिक भाषा कितने ही रूपोंमें आ चुकी है। ऋग्वेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिताकी भाषाओंमें भी भेद है। हमारे विचारसे ईश्वरीय शक्तिसे शक्तिमान् होकर तपःपूत ऋषियोंने वेदको बनाया था। वेदमें अनन्त कालके अनन्त ऋषियोंकी अनन्त उच्चतम चिन्ताएँ, अनन्त गिरि-निर्झरोंको चीर फाड़तो और प्रतिध्वनित करती इकट्ठी की गयी हैं। वेदमें ऐसे दिव्य सन्देश, ऐसी अगाध और मौलिक चिन्ताएँ भरी पड़ी हैं, जिन (नासदीय सूक्तकी चिन्ताओं) से बढ़कर, लो० तिलकके शब्दोंमें, सभ्यतम मनुष्य कोई चिन्ता ही नहीं कर सकता। ऋग्वेदकालीन भूगोलसे विदित होता है कि, वेदको बने २५ हजार वर्षसे कम नहीं हुए; और, कोई तो कह सकते हैं कि, वेद उस समय बना, जिस समय दुनियाकी अन्य जातियोंका पता भी नहीं था। वेद उन स्थितप्रज्ञ और परदुःखकातर मनीषियोंकी तेजस्विनी वाणी है, जो हमारे प्रातःस्मरणीय पूर्वज थे। वेद हमारे

उन पूर्वजोंका विजयी निनाद है, जिन्होंने संसारके सारे देशोंपर अखण्ड राज्य किया था। इन्हीं सब दृष्टियोंसे वेदकी महत्ता है और वेद हमारे पूजनीय ग्रन्थ हैं।

लोग कहते हैं कि, वेदके वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि नामोंके दूसरे अर्थ हैं, उन्हें लोगोंने वेदसे लेकर व्यक्ति-विशेषमें प्रयुक्त किया। अच्छा, नामोंकी तो यह बात है; परन्तु वसिष्ठ, विश्वामित्र, उर्वशी आदिकी कथाओंकी क्या गति हो? उत्तर दिया जाता है कि, वे कथाएँ रूपक हैं। यह ठीक नहीं। यदि वैदिक इतिहास रूपक है, तो विश्वामित्र, वसिष्ठ आदिकी पुराण-कालीन वा रामायणीय अथवा महाभारतीय कथाएँ भी रूपक क्यों नहीं? यद्यपि माननेवाले तो रामायण-महाभारतको भी रूपक मानते ही हैं; परन्तु इस तरह किसी भी जातिके सारे इतिहासको रूपक मान लेना अन्याय है। वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ-रत्नमें निबद्ध हमारी समूची संस्कृति, इतिहास, आचार आदि रूपक हैं, काल्पनिक हैं—यह कहना अनुपयुक्त है। हम पहले लिख आये हैं कि, सारी संहिताओंमें इतिहास है। कोई भी सज्जन किसी भी वेद-संहिताको उठाकर निष्पक्ष भावसे देखें, ऐतिहासिक बातें यथेष्ट मिलेंगी। ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, सबमें इतिहास भरा पड़ा है। वेदको ईश्वरका निश्वास माननेवाले सायण, भट्ट भास्कर, स्कन्द स्वामी आदि भी वेदमें इतिहास मानते हैं। शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि सभी आचार्य वेदमें इतिहास मानते हैं। यास्कने भी वैदिक इतिहासोंका, कई बार, उल्लेख किया है। और, यही विज्ञान-सम्मत प्राचीन परम्परा भी है। जैसे दूसरे धर्मावलम्बी अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंको नित्य या ईश्वर-कृत मानते हैं, वैसे ही, हमारे विचारसे, वेदको नित्य माननेसे कोई फायदा नहीं। वेदको अनित्य माननेसे भी हमारी उसपर अखण्ड श्रद्धा रह सकती है। जब गीता, रामायण आदिको अनित्य जानकर भी हमारी उनपर अविचल श्रद्धा है, तब वेद तो उक्त कई दृष्टियोंसे हमारे श्रद्धेय और पूजनीय हो सकते हैं। वेदका-सा प्राचीनतम इतिहास पाकर भी यदि हम उसे रूपकालंकारमें उड़ाकर इतिहासहीन जाति बन जायँ, तो खेदकी बात होगी। प्राचीनतम वैदिक इतिहास ही तो हमारा प्रधान बल है, जिसके द्वारा हम युगों गौरवान्वित रह सकते हैं। लोकमान्य तिलक, डा० अविनाशचन्द्र दास, श्रीयुत पावगी आदि भी इस बातका समर्थन करते हैं।

हमारे विचारसे वैदिक संहिताएँ अनेक कालकी रचनाएँ हैं। मंडलों, अनुवाकों, सूक्तों आदिसे यह बात स्पष्ट विदित होती है। एकसे एक सम्बद्ध नहीं। एक सूक्तके सब मंत्र भी सम्बद्ध नहीं हैं। किसी-किसी मंत्रमें तो एक वचन और बहुवचन, दोनोंका, एक ही व्यक्तिके लिये, प्रयोग हुआ है। एक ही सूक्तमें कई देवोंकी प्रार्थनाएँ भी हैं। कहींकी भाषा अत्यन्त प्राचीन मालूम होती है और कहींकी लौकिक संस्कृतकी तरह। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, तीनोंकी भाषाओंमें, कहीं-कहीं, बहुत भेद दिखाई देता है। किसी मंत्रमें ऐसी भौगोलिक परिस्थितिका वर्णन है, जो कमसे कम २५ हजार वर्षोंकी है और किसी-किसीमें गंगा, यमुना, सरयू, कीकट आदिका भी वर्णन है। कहीं उच्चतम सामाजिक परिस्थितिका वर्णन है और कहीं-कहीं निम्नतमका भी। कहीं जादू-टोनेकी बातका उल्लेख है और कहीं अनिर्वचनीय ब्रह्मका। इस प्रकार नयी और पुरानी बातोंको देखकर स्पष्ट ही विदित होता है कि, वेद-मंत्र विविध समयोंमें रचे गये और सबको संहिता-रूपमें वेदव्यास, याज्ञवल्क्य आदिने ग्रथित किया।

यह कहना कठिन है कि, वैदिक साहित्यमें कौन-कौन ग्रन्थ हैं। पूनेके विख्यात ऐतिहासिक श्रीयुत चिन्तामण विनायक वैद्य तो भागवत गीताको भी वैदिक साहित्यका ग्रन्थ मानते हैं। इधर स्वामी दयानन्दजी ब्राह्मण-ग्रन्थोंको भी वेद नहीं मानते। शंकराचार्यने अपने भाष्योंमें उपनिषदोंके वचन, वेद कहकर, उद्धृत किये हैं। कितने ही ग्रन्थोंमें वेदके मंत्र और ब्राह्मण, दो भाग माने हैं। अवश्य ही ब्राह्मण-

ग्रन्थोंमें संहिता-मंत्रोंकी व्याख्याएँ हैं और उनकी भाषा भी संहिताओंके पीछेकी है। उनमें कुरु, पाञ्चाल, दुष्यन्त, भरत और जनमेजयप्रभृतिकी बातें भी हैं। इस दृष्टिसे इनमें अपेक्षाकृत अर्वाचीनत्व आ सकता है; परन्तु वेद-ब्राह्मत्व नहीं। अर्वाचीनता तो अथर्वमें भी है, तो क्या वह वेद नहीं? हमारे विचारमें तो वैदिक कालकी खास बात (यज्ञवाद) की प्रधानता जिस किसी प्राचीन ग्रन्थमें है, वह वैदिक साहित्यके अन्तर्गत माना जाना चाहिये। यज्ञवादकी प्रधानता संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र आदिमें है; इसलिये ये सब ग्रन्थ वैदिक साहित्यके अन्तर्गत आते हैं। इनमेंसे उपनिषदोंका ही अधिक प्रचार भारतमें है; क्योंकि उनपर शंकर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, माधव आदि आचार्यों या उनके अनुयायियोंने भाष्य-टीकाएँ लिखी हैं और अधिकांश हिन्दू इन्हीं आचार्योंके अनुयायी हैं। ब्रह्मसमाजी तो संहिताओंसे बढ़कर उपनिषदोंको ही मानते हैं। जो हो; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, इन पाँचों आचार्योंके सम्प्रदायोंकी कुछ उदासीनताने भी वैदिक संहिताओंको अन्धकारमें रख छोड़ा है। इनके बड़े-बड़े विद्वान्तक संहिताओंको पढ़ना अनावश्यक समझते हैं! इधर स्वामी दयानन्दने संहिताओंके प्रचारके लिये जो प्रबल प्रयत्न किया, वह अभिनन्दनीय है। यद्यपि स्वामीजीके वेद-सम्बन्धी विचारोंसे हमारा बहुत मत-द्वैध है; परन्तु उनके प्रचार-कार्यके हम प्रशंसक हैं। कमसे कम हिन्दुओंमें संहिताओंको पढ़नेकी प्रवृत्ति तो उन्होंने उत्तेजित की? स्वामीजीके अनुयायियोंने भी वेद-प्रचारमें कुछ साहाय्य किया है। डी० ए० वी० कालेजमें वैदिक पुस्तकोंका सुन्दर संग्रह है। पंजाब यूनिवर्सिटीकी लाइब्रेरीमें भी अनेक अलभ्य वैदिक ग्रन्थ हैं। असल बात तो यह है कि, खोज करनेपर अनेक अमूल्य ग्रन्थ देश भरमें पाये जा सकते हैं। परन्तु कोई पैसा खर्च करनेपर तैयार हो, तब न?

बंगीय विद्वानोंमें, वैदिक साहित्यके प्रचारके लिये, सर्वाधिक परिश्रम सत्यव्रत सामश्रमीजीने किया था। वेदोंपर लिखे उनके अनेक अमूल्य ग्रन्थ हैं; परन्तु प्रकाशनके अभावसे जनताको उनके ग्रन्थोंके दर्शन ही नहीं होते। उनके सुपुत्र श्रीयुत शिवव्रत सामरत्न (१६।१ ए, घोष लेन, कलकत्ता) प्रकाशनके लिये चिन्तित हैं और उनकी अभिलाषा है कि, "वेदाङ्क"के पाठकोंसे ग्रन्थ-प्रकाशनमें सहायता देनेकी हम प्रार्थना करें। वेद-प्रेमियोंको अवश्य ही इधर ध्यान देना चाहिये। महाराष्ट्रीय विद्वानोंमें वैदिक ग्रन्थोंका सर्वाधिक प्रकाशन और सम्पादन श्रीयुत शंकर पाण्डुरंग पण्डितने किया है।

सर विलियम जोन्स द्वारा १७८२ में स्थापित बंगालकी रायल एशियाटिक सोसाइटीके "बाइब्लोथिका इण्डिका" में अनेक संहिताएँ, ब्राह्मण-ग्रन्थ और सूत्र-ग्रन्थ छपे हैं। बम्बई और ग्रेट ब्रिटेनकी रायल एशियाटिक सोसाइटियोंके जर्नलों और "एशियाटिक रिसर्चेज" में भी काफी वेद-चर्चा हुई है। गवर्नमेन्ट ओरियंटल लाइब्रेरी संस्कृत सीरीज, आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावली, गवर्नमेण्ट ओरियंटल हिन्दू सीरीज, सरस्वती-भवन संस्कृत सीरीज, बनारस संस्कृत सीरीज, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट आदिमें भी अनेक वैदिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

यूरोपियन और अमेरिकन विद्वानोंका वैदिक साहित्य-सम्बन्धी कार्य भी प्रशंसनीय है। उनकी ज्ञान-पिपासा अतृप्त-जिह्वा है। यों तो संस्कृत-साहित्यके प्रायः सभी ग्रन्थोंका उन्होंने अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन किया है; परन्तु उनका वैदिक साहित्यका कार्य सर्वापेक्षा श्लाघनीय है। उनकी "हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज" और "सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट"में अनेकानेक महत्त्व-पूर्ण वैदिक ग्रन्थ छपे हैं। विलियम जोन्स, कोलब्रुक, श्लेगल, राथ, वेबर, मैक्स-

मूलर, मैक्डानल, कीथ आदिने महत्त्वपूर्ण वैदिक ग्रन्थोंका प्रकाशन किया है। बामबाके बुहलर और गार्टिजनके केलहार्न तो स्कालरशिपें दे-देकर विद्यार्थियोंको वेदाध्ययन कराया करते थे। जर्मनोके राथ साहबने तो एक ऐसा संस्कृत-कोष छपाया है, जिसका मूल्य १०००) है! आज तक जर्मनीमें संस्कृतज्ञोंकी यथेष्ट प्रतिष्ठा है।

अनेक वेदप्रेमी सज्जन वैदिक ग्रन्थोंका विवरण और उनकी प्राप्तिका स्थान हमसे पूछा करते हैं; इसलिये, उनके सुभीतेके लिये, हम कुछ अवश्य पठनीय वैदिक ग्रन्थोंकी सूची, मूल्य, प्रकाशनसमय, प्राप्ति-स्थान, निर्माण-काल आदिके साथ, प्रकाशित करते हैं। निर्माण-काल अधिकतया वैद्यजीके मतानुसार ही दिये गये हैं; क्योंकि वैद्यजीके मतको ही बहुत लोग जानना चाहते हैं। सूचीमें उपनिषदोंका नाम जान-बूझकर छोड़ दिया गया है; क्योंकि उपनिषदोंका यथेष्ट प्रचार है। इस अतीव संक्षिप्त सूचीसे पाठकोंको वैदिक साहित्यकी विशालता और प्राञ्जलताका पता लगेगा। जिस वेदके जितने ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र, प्रातिशाख्य आदि हैं, उसीमें उनका समावेश किया गया है। 'नि०' से निर्माण-काल समझना चाहिये और 'बी० सी०'से ईसाकी उत्पत्तिके पहलेका समय। इन ग्रन्थोंका प्रकाशन-स्थान, ग्रन्थमाला आदिका विवरण स्थानाभावसे नहीं दिया गया। कितने ऐसे साहसी हिन्दू होंगे, जो इन सब ग्रन्थोंका सुन्दर संग्रह कर डालेंगे? हम स्वयं इन सभी ग्रन्थोंका संग्रह कर लेनेके प्रयत्नमें हैं। इनमेंसे कई हमारे पास मौजूद हैं।

हाँ, इनमेंसे अनेक ग्रन्थ अप्राप्य हैं। जो प्राप्य भी हैं; उनका प्रकाशक मनमाना मूल्य वसूल करते हैं। जितने प्रकाशक हैं, प्रायः उतने प्रकारका मूल्य भी बताया करते हैं!

ऋग्वेद

ऋग्वेदके रचना-कालके सम्बन्धमें बड़ा विवाद है। अधिक यूरोपीय विद्वानोंके मतसे १२०० बी० सी०, हाग और आर्चबिशप प्राटके मतसे २००० बी० सी०, लो० तिलकके मतसे ४५०० बी० सी०, वैद्यजीके मतसे ३१०० बी० सी०, जैकोबीके मतसे ४००० बी० सी०, पावगीके मतसे ८००० बी० सी० और अविनाशचन्द्र दासके मतसे २५००० बी० सी० है। हमारे मतसे कमसे कम २५००० बी० सी० है।

१ सायणाचार्य+—शाकल-शाखा। संस्कृत-भाष्य। प्रो० मेक्समूलर और श्रीयुत पशुपति आनन्द गजपतिराव द्वारा सम्पादित और प्रकाशित। प्रथम संस्करण १८४९-७५ ई०। पांच भाग। द्वितीय संस्करण १८९०-९२ ई०। चार भाग। ३००)

२ राजाराम शिवराम शास्त्री—सायण-भाष्य। शकाब्द १८१०-१२। १५०)

३ दुर्गादास लाहिड़ी—सायण-भाष्य। एक अष्टकका स्वतन्त्र बंगानुवाद। १६ भाग। पद-पाठ-सहित। १९२५ ई०। २५०)

४ एफ० रोजन—यूरोपमें सर्व-प्रथम ऋग्वेदके प्रथम अष्टकका लेटिन भाषामें अनुवाद। १८३८ ई०। ३०)

५ ए० लुड्विक—जर्मन अनुवाद। छ भाग। १८७६-८८ ई०। २००)

६ एच० ग्रासमान—जर्मन भाषामें पद्य-बद्ध अनूदित। दो भाग। रोमन लिपि। १८७६-७७ ई०। ३०)

७ एच० ओल्डेनबर्ग—जर्मन अनुवाद। दो भाग। १८०९-१२ ई०। ३५)

८ थ्यूडोर आउफरेस्ट—सम्पादित। रोमन लिपि प्रथम संस्करण। १८६१-६३ ई०। द्वितीय संस्करण। १८७७। ३५)

९ एस० ए० लांगलोआ—फ्रेंच अनुवाद। चार भाग। १८५१ ई०। ३०)

+ सायणका समय १४०० ई०, उव्वटका ११०० ई० और महीधरका १५७८ ई० भी कुछ लोग मानते हैं।

१० एच० एच० विल्सन—अँग्रेजी अनुवाद। छ भाग। १८५०-८८ ई०। १२५)

११ टी० एच० ग्रिफिथ—अँग्रेजी पद्यानुवाद। दो भाग। १८८९-९२ ई०। १४)

१२ सिद्धेश्वर शास्त्री—केवल मराठी अनुवाद। १२)

१३ कोल्हटकर और पटवर्द्धन—मराठी अनुवाद। आठ भाग। पृष्ठ सं० ३०५४। १०)

१४ रमेशचन्द्र दत्त—केवल बंगानुवाद। दो भाग। १८८५-८७ ई०। २०)

१५ म० म० प० आर्यमुनिजी—ऋग्वेद-भाष्य। सप्तम-भाग-रहित। ३७)

१६ एस० पी० पण्डित—केवल तीन मण्डल। मराठी और अँग्रेजी अनुवाद। ७५)

१७ स्वामी दयानन्द—ऋग्वेदका हिन्दी-भाष्य। पंचम अष्टकके पाँचवें अध्यायतक। ४२)

१८ प्रसन्नकुमार विद्यारत्न—प्रकाशित। सायण-भाष्य। १८९३ ई०। १००)

१९ सायणाचार्य—ऐतरेय-ब्राह्मण। (निर्माण-काल २५०० बी० सी०)। दो भाग। काशीनाथ शास्त्री द्वारा। १८९६ ई०। १०)

२० थ्यूडोर आउफरेख्ट—ऐतरेय-ब्राह्मण। सम्पादित। रोमन लिपि। १८७९ ई०। १०)

२१ मार्टिन हाग—ऐतरेय-ब्राह्मण। अँग्रेजी अनुवाद। दो भाग। १८६३ ई०। ६)

२२ ए० बी० कीथ—ऋग्वेद-ब्राह्मण। (ऐतरेय और कौषीतकि)। अँग्रेजी अनुवाद। दस भाग। १९२० ई०। ३४)

२३ बी० लिण्डनर—कौषीतकि-ब्राह्मण। (नि० २००० बी० सी०)। १८८७ ई०। सम्पादित। ८)

२४ सत्यव्रत सामश्रमी—ऐतरेयारण्यक। (नि० १५०० बी० सी०)। सायण-भाष्य। १८७२-७६ ई०। ७)

२५ ए० बी० कीथ—शांखायन-आरण्यक (नि० १४०० बी० सी०)। अँग्रेजी अनुवाद। ६)

२६ सत्यव्रत सामश्रमी—ऐतरेयालोचन। १८९३ ई०। ५)

२७ ए० मैक्डानल—बृहद्देवता। (नि० ४०० बी० सी०)। सटिप्पन। १९०४ ई०। २५)

२८ ए० मैक्डानल—सर्वानुक्रमणी। (नि० ३५० बी०सी०) वेदार्थ-दीपिका-सहित। १८८६ ई०। सटिप्पन। १८)

२९ मैक्समूलर—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य। जर्मनमें टिप्पणी तथा नागरी भाषा। १८५६-६९ ई०। ३६)

३० ए० रेग्नियर—प्रातिशाख्य दयू ऋग्वेद। तीन भाग। १८५७-५९ ई०। सम्पादित। २१)

३१ युगलकिशोर शर्मा—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य। १८९४-१९०३ ई०। हिन्दी अनुवाद। ६)

३२ शौनक—ऋग्वेदप्रातिशाख्य। उव्वट-भाष्य-सहित। १८९४-१९०३ ई०। ६)

३३ गोविन्द और अमृत—शांखायन-श्रौत-सूत्र। (नि० १२०० बी० सी०)। टीका। १५)

३४ राजेन्द्रलाल मित्र—आश्वलायन-श्रौत-सूत्र। १८६४-७४ ई०। ४०) सम्पादित। पूना। ४[illegible])

३५ ए० एफ० स्टेंजलर—आश्वलायन-गृह्य-सूत्र। (नि० १२०० बी० सी०)। दो भाग। सम्पादित १०)

३६ के० एफ० गेल्डनर—जर्मन अनुवाद। चार मण्डलोंतक। १९२३ ई०। ८)

३७ ए० बरगेन—रिसर्चेज एबाउट ऋग्वेद। जर्मन भाषा। दो भाग। १२)

३८ ए० हिलेब्रान्ड्ट—सम हाइम्स फ्राम द ऋग्वेद। जर्मनमें अनूदित। १९१३ ई०। १०)

३९ एफ० ओल्डर—मिस्ट्रीज ऐण्ड माइम इन द ऋग्वेद। जर्मन। १९०८ ई०। १५)

४० पी० पिटर्सन—हाइम्स फ्राम द ऋग्वेद। दो भाग। १८८७ ई०। [illegible])

४१ पी० रेनो—ले ऋग्वेद एट लेस आरिजिंस डे ला मैथालाजी, इण्डो-यूरोपियन । फ्रेंच । १८९२-१९०० ई० । २०)

४२ ए० ब्लूमफिल्ड—ऋग्वेद-रिपिटीशंस । अँग्रेजी । दो भाग । १९१६ ई० । ३४)

४३ अविनाशचन्द्र दास—ऋग्वैदिक इण्डिया । अँग्रेजी । १९२७ ई० । १०)

४४ महेशचन्द्र राय तत्त्वनिधि—ऋग्वेदकी समालोचना । बंगला । बंगला साल १३२७ । ५)

४५ नरदेव शास्त्री—ऋग्वेदालोचन । १९२८ ई० । २॥)

४६ एफ० सेवर—ऋग्वेद अण्ड एड्डा । १८९३ ई० । ३।=)

कृष्ण यजुर्वेद

वैद्यजीके मतसे निर्माण-काल ३१०० बी० सी० है ।

१ सायण—तैत्तिरीय संहिता । भाष्य । दुर्गादास लाहिड़ी द्वारा । ६ भाग । १४४)

२ सायण—संस्कृत-भाष्य । ६ खण्ड । ४५=)

३ ए० बी० कीथ—अँग्रेजी अनुवाद । दो भाग । १९१४ ई० । २५)

४ माधवाचार्य—संस्कृत-भाष्य १८७२ ई० । २०)

५ भट्टभास्कर मिश्र—१० भाग । अपूर्ण । १८९६ ई० । ८०)

६ ए० वेबर—मैत्रायणी-संहिता । १८७० ई० । (निर्माण-काल ३००० बी० सी०) । ६५)

७ एल० श्रोडर—मैत्रायणी-संहिता । ४ भाग । १८८१-८६ ई० । ६०)

८ एल० श्रोडर,—काठकसंहिता । ४ भाग । १९००-१० । ४०)

९ सायण—तैत्तिरीय-ब्राह्मण । (नि० २८०० बी० सी०) । १८९९ ई० । पूना (१४॥) । कलकत्ता १८९० ई० । ४५)

१० भट्टभास्कर—तैत्तिरीय-ब्राह्मण । ४ भाग । अपूर्ण । ११)

११ सायण—तैत्तिरीय-आरण्यक । राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित । दो भाग । १८७२ ई० । ६०)

१२ भट्टभास्कर—तैत्तिरीय आरण्यक । ३ भाग । १५)

१३ ह्विटनी—तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य । (नि० ४०० बी० सी०) । त्रिरत्न-भाष्यसहित । १८७१-७२ ई० । ३०)

१४ सोमयार्य—तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य । १५)

१५ एम० विण्टर्निट्ज—आपस्तम्ब-गृह्य-सूत्र । (नि० १४०० बी० सी०) । १२॥)

१६ हरदत्त मिश्र—आपस्तम्ब-गृह्य-सूत्र । काशी । ३) मद्रास । १०)

१७ आर० गार्बे—आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र । (नि० १४२० बी० सी०) । दो भाग । १८८२-१९०३ । २५)

१८ डब्ल्यू० कैलेण्ड—बौधायन-धर्म-सूत्र । (नि० १२५० बी० सी०) । ६)

१९ गोविन्द स्वामी—संस्कृत-भाष्य । बौधायन-धर्म-सूत्र । ८ भाग । ६)

२० डब्ल्यू० कैलेण्ड—बौधायन-श्रौत-सूत्र । (नि० १३०० बी० सी०) । १९०४-१९२० । ११)

२१ जे० कीर्स्टे—हिरण्यकेशी (सत्याषाढ़) गृह्य-सूत्र । (नि० १००० बी० सी०) । २५)

२२ गोपीनाथ और महादेव—हिरण्यकेशी श्रौत-सूत्र । २४।=)

२३ जे० एम० निल्डनर—मानव-श्रौत-सूत्र-चयन । (नि० १००० बी० सी०) । ५)

२४ भीमसेन शर्मा—मानव-गृह्य-सूत्र । हिन्दी अनुवाद । ५)

२५ रामकृष्ण हर्ष—सम्पादित । मानव-गृह्य-सूत्र । अष्टावक्र-भाष्य-सहित । ५)

२६ जे० डब्ल्यू० सोलोमन—भारद्वाज-गृह्य-सूत्र । १२)

२७ डब्ल्यू० कैलेण्ड—काठक-गृह्य-सूत्र । ७॥)

शुक्ल यजुर्वेद

वैद्यजीके मतसे निर्माण-काल ३००० बी० सी० है ।

१ महीधर और उव्वट—माध्यन्दिन-शाखा । संस्कृत-भाष्य । १५)

२ दुर्गादास लाहिड़ी—महीधर-भाष्य । १८८५ ई० । १६)

३ सत्यव्रत सामश्रमी—बंगानुवाद और भाष्य । ३०)

४ स्वामी दयानन्द—हिन्दी-भाष्य । १८)

५ ए० वेबर—प्रकाशित । १८४६-१८५२ ई० । ३५)

६ उदयप्रकाश देव—मथुरा । १५) । पूर्णचन्द्र—भाषा-टीका । इटावा । ५)

७ ज्वालाप्रसाद मिश्र—हिन्दी-भाष्य । १६)

८ टी० एच० ग्रिफिथ—अंग्रेजी अनुवाद । १८९९ ई० । ४)

९ ए० वेबर—प्रकाशित । काण्व-संहिता । १८५२ ई० । ३०)

१० सायण—काण्व-संहिता । २० अध्याय तक । ६)

११ जे० एगलिंग—शतपथ-ब्राह्मण । (नि० ३००० बी० सी०) । अंग्रेजी अनुवाद । ५ भाग । ७४)

१२ ए० वेबर—सम्पादित । शतपथब्राह्मण । सायण, हरिस्वामी और द्विवेदगंगकी टीका । १९२४ ई० । ६०)

१३ सत्यव्रत सामश्रमी—शतपथब्राह्मण । सायण-भाष्य-सहित । १९११-१९१२ । ४०)

१४ डब्ल्यू० केलण्ड—शतपथ-ब्राह्मण । काण्व-शाखा । अंग्रेजी । १९२६ ई० । ३०)

१५ ए० वेबर—कात्यायनश्रौत-सूत्र । (नि० १००० बी० सी०) । १८५९ ई० । ३०)

१६ मनमोहन पाठक—सम्पादित । कात्यायन-श्रौत-सूत्र । कर्क-भाष्य-सहित । ६)

१७ कर्कोपाध्याय, जयराम, गदाधर, हरिहर, विश्वनाथ—पारस्कर-गृह्य-सूत्र । (नि० १००० बी० सी०) । ३)

१८ मस्करी—गौतमधर्मसूत्र । सभाष्य । ४॥)

१९ कात्यायन—शुक्ल-यजुर्वेद-प्रातिशाख्य । उव्वट-भाष्य-सहित । ६ खण्ड । ६)

२० कात्यायन—शुक्लयजुः-सर्वानुक्रम-सूत्र । ४)

सामवेद

वेबरजीके मतसे निर्माण-काल ३,००० बी० सी० है।

१ दुर्गादास लाहिड़ी—प्रकाशित । कौथुम-शाखा । सायण-भाष्य । १९२५ ई० । १२८)

२ थ्यूडोर बेनूफी—जर्मन अनुवाद । १८४८ ई० । २५)

३ सत्यव्रत सामश्रमी—सामवेद-(आरण्यक) संहिता । सायण-भाष्य । बंगानुवाद । १८७१—७८ । १८)

४ तुलसीराम स्वामी—हिन्दी-भाष्य । १२)

५ रामस्वरूप शर्मा—सायण-भाष्य । १९२७ ई० । १०)

६ टी० एच० ग्रिफिथ—अंग्रेजी अनुवाद । १८९३ ई० । ४)

७ श्यामाकान्त भट्टाचार्य—सम्पादित । १०)

८ जयदेव शर्मा विद्यालंकार—सामवेद-भाष्य । ४)

९ जे० स्टीवेन्सन—अंग्रेजीमें अनूदित । राणायणीय शाखा । १८४२ ई० । १०)

१० डब्ल्यू० केलैण्ड—जैमिनीय-शाखा । १३) । साधारण १०)

११ सायणाचार्य—ताण्ड्य-ब्राह्मण । (नि० १४०० बी० सी०) । ए० सी० वेदान्त-वागीश द्वारा सम्पादित । दो भाग । १८६९-७४ ई० । २०)

१२ ए० बर्नेल—सामविधान-ब्राह्मण । (नि० १५०० बी० सी०) । सायण-भाष्य-सहित । १८७३ ई० । १२॥)

१३ सायणाचार्य—सामविधान-ब्राह्मण । १८९५ ई० । ६॥)

१४ डब्ल्यू० केलैण्ड—आर्षेय-ब्राह्मण । १०)

१५ ए० बर्नेल—जैमिनीय-आर्षेय-ब्राह्मण । (नि० १५०० बी० सी०) । १८७८ ई० । १०)

१६ एच० आर्टल—जैमिनीय-उपनिषद्ब्राह्मण । १९२१ ई० । २०॥)

१७ के० क्लेम—षड्विंश-ब्राह्मण (नि० १२०० बी० सी०) । १८९४ ई० । ८)

१८ आ० ष्टोर्लिंगक—छान्दोग्योपनिषद्ब्राह्मण । १८८९ ई० । २०)

१९ सत्यव्रत सामश्रमी—मंत्र-ब्राह्मण । १८९० ई० । ५)

२० सत्यव्रत सामश्रमी—वंश-ब्राह्मण । बंगानुवाद-सहित । १८९२ ई० । ३)

२१ एच० एफ० एल्सिंग—षड्विंश-ब्राह्मण । १९०८ ई० । १२)

२२ सत्यव्रत सामश्रमी—देवताध्याय-ब्राह्मण। बंगानुवाद। १)
२३ सायणाचार्य—सामप्रातिशाख्य। १३॥)
२४ आर० सायमन—सामवेद-पुष्प-सूत्र। (नि० १००० बी० सी०)। जर्मन। १९०८ ई०। १५)
२५ पुष्पर्षि—लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ द्वारा सम्पादित। साम-प्रातिशाख्य (पुष्प-सूत्र)। ४॥)
२६ आनन्दचन्द्र—अग्निस्वामीके भाष्यसहित। लाट्यायन-श्रौत-सूत्र। (नि० १०५० बी० सी०)। १८७०-७२ ई०। ४५)
२७ जे० एन० रूटर—द्राह्यायण-श्रौत-सूत्र। (नि० १००० बी० सी०)। २५)
२८ चन्द्रकान्त तर्कालंकार—गोभिल-गृह्य-सूत्र। १८७१-८० ई०। ५)
२९ सत्यव्रत सामश्रमी—गोभिल-गृह्य-सूत्र। बंगानुवाद। १)
३० रुद्रस्कन्द—खदिर-गृह्य-सूत्र। १।)
३१ डब्ल्यू० कैलेंड—जैमिनीय-गृह्य-सूत्र। १९२२ ई०। ६)
२ डॉ० गास्ट्रा—जैमिनीय-गृह्य-सूत्र। डच भाषामें अनूदित। १९०६ ई०। १०)

अथर्ववेद

बंधाजीके मतसे निर्माण-काल २७०० बी० सी० है।

१ दुर्गादास लाहिड़ी—शौनक-शाखा। सायण-भाष्य। । ८०)
२ डब्ल्यू० डी० ह्विटनी और सी० आर० लैनमैन—अंग्रेजी अनुवाद। १९०५ ई०। ४२)
३ एस० पी० पंडित—सायण-भाष्य। १८९० ई०। ४०)
४ डब्ल्यू० रथ—ट्यूबिंग (हालैंड) में प्रकाशित। ६०)
५ क्षेमकरणदास त्रिवेदी—हिन्दी अनुवाद और भाष्य। ७०॥)
६ आर० राथ और डब्ल्यू० डी० ह्विटनी—जर्मन। १८५६ ई०। २५)
७ ग्रिफिथ—अंग्रेजी अनुवाद। दो भाग। १८९५-९६ ई०। १२)
८ एम० ब्लूमफिल्ड और आर० गार्ब—पिप्पलाद-शाखा। चार भाग। ५४० फोटो-प्लेटोंमें। १९०१ ई०। (महाराजा काश्मीरकी लाइब्रेरीसे प्राप्त)। ३५०)। साधारण संस्करण। २५०)
९ एम० ब्लूमफिल्ड—पिप्पलाद-शाखा। अंग्रेजी अनुवाद। १९०१। २२)
१० डी० गास्ट्रा—गोपथ-ब्राह्मण। (नि० १५०० बी० सी०)। १९१९ ई०। २०)
११ राजेन्द्रलाल मित्र और हरचन्द्र विद्याभूषण—गोपथ-ब्राह्मण। १८७०-७२ ई०। २५)
१२ क्षेमकरणदास त्रिवेदी—गोपथ-ब्राह्मण। हिन्दी अनुवाद। ७।)
१३ जी० एम० वालिंग और आई० बी० मेगलिन—अथर्ववेद-परिशिष्ट। जर्मन। १९१० ई०। ४५)
१४ रामगोपाल शास्त्री—सम्पादित। अथर्ववेदीय-बृहत्-सर्वानुक्रमणिका। ४)
१५ डब्ल्यू० डी० ह्विटनी—अथर्ववेद-प्रातिशाख्य। जर्मन। १०)
१६ वी० पी० शास्त्री—अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य। ३)
१७ भगवद्दत्त—अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका। १॥)
१८ एम० ब्लूमफिल्ड—कौशिक सूत्र। १८९० ई०। ३८)
१९ डब्ल्यू० कैलेंड—वैतान-सूत्र। (नि० २००० बी० सी०)। जर्मन। १०)
२० मूलमात्र—वैखानस-गृह्य सूत्र। १॥=)
२१ मूलमात्र—वाराह-गृह्य-सूत्र। ॥=)
२२ जे० मिल—हायर्ड लेसन्स ऐण्ड लेक्चर्स ऑफ अथर्ववेद। ७)

वैदिक साहित्यके अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१ ए० बी० कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। १९२८ ई०। १८॥)
२ चिन्तामण विनायक वैद्य—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, वैदिक पीरियड। १९३० ई०। १०)
३ आर० डब्ल्यू० फ्रेजर—लिटररी हिस्ट्री आफ इण्डिया। १८९८ ई०। १०)
४ पी० पी० एस० शास्त्री—वैदिक-साहित्य-चरितम्। संस्कृत। मैकडानलके ग्रन्थका अनुवाद। १९२७ ई०। ३।=)
५ मैक्समूलर—हिस्ट्री आफ दि एन्शियण्ट संस्कृत लिटरेचर। १८५९ ई०। १०)
६ ए० वेबर—हिस्ट्री आफ दि इण्डियन लिटरेचर। जर्मन। १८८२ ई०। १०॥)
७ ए० मैकडानल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। १९०० ई०। ७॥)
८ एम० विण्टरनिट्ज—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। जर्मन। तीन भाग। १९०४ ई०। ३५)
९ भगवद्दत्त—वैदिक-वाङ्मयका इतिहास (ब्राह्मण और आरण्यक भाग)। हिन्दी। द्वितीय भाग। ४)
१० राथ और बोहट्लिङ्क—पीटर्सबर्ग-संस्कृत-जर्मन-महाकोष। सात भाग। पृष्ठ-संख्या १००००। १८५५-७५ ई०। जर्मन। १०००)
११ एच० ग्रासमान—ऋग्वैदिक कोष। जर्मन। १८७३-७५ ई०। ४०)
१२ ए० हिलेब्राण्ट—वैदिक हिवशनरी। तीन भाग। ६०)
१३ हंसराज—वैदिक कोष। प्रथम भाग। १९२६ ई०। १२)
१४ कार्मक्ड—वैदिक मिटर इन इट्स हिस्टारिकल डेवालप्मेण्ट। १९०५ ई०। १८)
१५ एम० ब्लूमफिल्ड—वैदिक कंकार्डेन्स। ११९ ग्रन्थोंके आधारपर यह "मन्त्र-महासूची" बनायी गयी है। ६०)
१६ मैकडानल और कीथ—वैदिक इण्डेक्स। ४०)
१७ ए० मैकडानल— वैदिक ग्रामर। अँग्रेजी। १९१० ई०। ६)
१८ ए० मैकडानल— वैदिक रीडर। १८९७ ई०। ५॥)
१९ डा० लक्ष्मणस्वरूप— द निघण्टु आर निरुक्त। मूल-ग्रन्थ कागज और ताल-पत्रोंपर मलयालम तथा देवनागरी लिपिमें था। २१)
२० आर० राथ— निरुक्त। १८४६ ई०। (वि० १००० बी० सी०) १७)
२१ चन्द्रमणि—निरुक्तपर "वेदार्थदीपक" नामक हिन्दी-भाष्य। ७)
२२ सत्यव्रत सामश्रमी—निरुक्तालोचन। ६)
२३ सत्यव्रत सामश्रमी—निरुक्त। चार भाग। १८८०-९१ ई०। १२)
२४ डब्ल्यू० कैलण्ड और वी० हेनरी – अग्नि-स्तोम। जर्मन। ४०)। साधारण संस्करण। २०)
२५ जॉ० पर्श—उपलेख-सूत्र। १०)
२६ आर० स यमन— पंचविध-सूत्र। जर्मन। ६)
२७ जे० रीनो— ऋग्-आदित्य। १९२७ ई०। ६)
२८ रैगोजिन—वैदिक इण्डिया। १८९५ ई०। ५॥=)
२९ लो० तिलक—दि आर्कटिक होम इन द वेदाज। ८॥)
३० लो० तिलक—ओरायन। अँगरेजी और हिन्दी। १८९३ ई०। ३), १)
३१ डा० ए० बनर्जी शास्त्री—असुर इण्डिया। १९२६ ई०। ५)
३२ ए० जे०—दि इन्साइक्लोपीडिया आफ इण्डो-आर्यन रिसर्च। १३)
३३ बी० जे० रेले—दि वैदिक गाड्स। अंग्रेजी। १९३१ ई०। ६॥)

३४ लूइस रेनो—बाइब्लोग्राफिया वेदिका । नौ भाग । फ्रेंच । १९३१ ई० । १२)
३५ एच० टी० कोलब्रूक—एसे आन द वेदाज । अंग्रेजी । आठ भाग । १८३७ ई० । ५०)
३६ पिशेल ऐण्ड गेल्डनर—वेदिशे स्टूडियन । तीन भाग । जर्मन । १८८९—१९०१ ई० । २७)
३७ ए० हिलेब्राण्ट—वेदिक माइथालाजी । जर्मन । तीन भाग । १८९१-१९०२ ई० । १८)
३८ एच० ओल्डेनबर्ग—वर्ल्ड व्यू आफ ब्राह्मन्स । जर्मन । २०)
३९ एम० ब्लूमफिल्ड—वेदिक वेरियाण्ट्स । १९३० ई० । ८)
४० एम० ब्लूमफिल्ड—रिलिजन आफ द वेद । जर्मन । १८९४ ई० । १५)
४१ जे० म्योर—ओरियण्टल संस्कृत टेक्स्ट । १८५८ ई० । २१)
४२ ए० बी० कीथ—रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ दि ब्राह्मन्स ऐण्ड दि उपनिषद्स । दो भाग । १९२५ ई० । २५)
४३ डब्ल्यू० हापकिन्स—रिलिजन्स आफ इण्डिया । १८९५ ई० । २५)
४४ ई० हार्वी—वेदिक ब्राह्मण पीरियड । जर्मन । १८९३ ई० । १०)
४५ पी० ई० डूमण्ट—का अश्वमेध । फ्रेंच । १९२७ ई० । १८)
४६ जी बुहर—दि सेक्रेड लाज आफ दि आर्यन्स । दो भाग । १२॥)
४७ एस० कोनो—द आर्यन गाड्स आफ द मितानी पीपुल । १९२१ ई० । ८)
४८ बी० क्यूलिकव्सकिन्—राजबोर वेदिज्सकागो मीफी ओ स्कोसे, प्रिमेसेम इमटोक सोमी । (रशियन भाषा) । १५)

प्रत्येक वेदकी पुस्तकोंका मूल्य इस प्रकार है—ऋग्वेद १८२७॥-), कृष्ण यजुर्वेद ७६२॥।), शुक्ल यजुर्वेद ४१८।=), सामवेद ५०७॥।), अथर्ववेद ७७१॥) । सबका कुल मूल्य ४३१८=) फुटकल ग्रन्थोंका कुल मूल्य १४७५॥) है । निम्न लिखित स्थानोंमें इन सब पुस्तकोंका मिलना सम्भव है—

1. The Oriental Book Agency,
   15, Shukrawar, Poona.
2. The Sanskrit Book Depot,
   Said Mitha Bazar, Lahore.
3 Govt. Central Book Depot,
   Calcutta.
4 Otto Harrassowitz,
   Leipzig, Germany.
5 B. H. Blackwell Ltd.
   50/5, Broad Street, Oxford, England.
6 W. Heffer & Sons Ltd.
   Cambridge, England.
7 Truhner & Coy,
   Oriental Book Sellers, London.

५—संसारके वर्त्तमान वेदज्ञ

हमने इस बातकी चेष्टा की कि, वेद-विद्याके जिज्ञासुओंके लिये संसार भरके उच्च कोटिके वेद-विज्ञाताओंके पते "वेदाङ्क"में छाप दें; परन्तु पूरी सफलता नहीं मिली । हमें प्रायः उन्हीं वेदज्ञोंके पते मिल सके, जो किसी भी भाषामें वेद-सम्बन्धी लेख लिखा करते हैं । ऐसे अनेक वेदज्ञोंके पते नहीं मिले, जो जनताके सामने नहीं आये हैं; जो "गुदड़ीके लाल" हैं । गृह-त्यागी महात्माओंमें भी अनेक सुयोग्य वेदज्ञ हैं । ऐसे महात्माओंके भी पते-ठिकाने नहीं मिल सके । फलतः जिन कुछ लेखक वेदज्ञोंके पते हमें मिल सके, उन्हींके पते यहाँ छापनेमें हम

समर्थ हुए। किन्तु बहुत सम्भव है, ऐसे कुछ सज्जनोंके भी नाम छूट गये हों। पते मिलनेपर हम छापनेकी चेष्टा करेंगे।

कौन वेदज्ञ हो सकता है, कौन नहीं, इस सम्बन्धमें भी पर्याप्त मत-द्वैध है। अधिकांश संस्कृतज्ञ विद्वानोंकी धारणा है कि, जैमिनीय मीमांसाका पूर्ण ज्ञान हुए बिना कोई वेदज्ञ नहीं हो सकता। इस दृष्टिसे जयपुरके विद्यावाचस्पति प० मधुसूदन ओझा अत्यन्त उच्च कोटिके वेदज्ञ हैं; क्योंकि आपका मीमांसाशास्त्रपर पूर्ण आधिपत्य है। आप ब्राह्मण-ग्रन्थों, वेदांगों और दर्शनोंके भी विद्वान् हैं और अहोरात्र वेदाध्ययनमें, वेदोंके रहस्योद्घाटनमें, लगे रहते हैं। इस श्रेणीके भारतमें अनेकानेक वेद-विज्ञाता हैं। इस मिथिला-प्रान्तमें भी ऐसे अनेक वेदज्ञ हैं। दाक्षिणात्य विद्वानोंमें भी ऐसे अनेक वेदज्ञ हैं, जिन्हें मीमांसाके साथ वेदोंके हजारों मन्त्र कण्ठस्थ हैं। पूनेके विद्यानिधि प० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, हिन्दू-विश्वविद्यालयके प० विद्याधर शास्त्री गौड़, मुजफ्फरपुर कालेजके वेदाचार्य प० सुरेश द्विवेदी आदि इसी श्रेणीके वेदज्ञ हैं। बस्तीके प्रज्ञाचक्षु प० धनराज शास्त्री भी इसी शैलीके वेद-ज्ञाता हैं। आपको वेदोंके असंख्य मन्त्र कण्ठस्थ हैं। इन पंक्तियोंके लेखकसे आपने एक बार कहा था कि, "यदि कोई लिखनेवाला हो, तो मैं चारों वेदोंके चार लाख मन्त्र लिखा सकता हूँ।" आपके मतसे वेदोंकी असंख्य संहिताएँ जनताको उपलब्ध नहीं हैं; और, स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि वैदिक संहिताओंके व्याख्या-रूप हैं। ऐसा खयाल तो हमारा भी है। इसी श्रेणीके विद्वानोंमें काशीके स्व० म० म० प० प्रभुदत्त शास्त्री और कलकत्तेके स्व० प० सत्यव्रत सामश्रमी भी थे। सामश्रमी विशेष स्वाधीनचेता, देशकालज्ञ और महान् लेखक थे। उन्होंने जो वैदिक साहित्यकी सेवा की, वह सदा सादर स्मरण की जायगी।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि, वेदकी भाषा इस समय अप्रचलित और अत्यन्त प्राचीन है। उसका रहस्य समझनेके लिये तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative Philology) जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये जो वैदिक भाषाके समान प्राचीन ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ नहीं जानता या जिन ग्रन्थोंमें इन भाषाओंके साथ वैदिक भाषाका तुलनात्मक विवेचन है, उन (अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन आदिके) ग्रन्थोंका परिशीलन नहीं करता, वह वेदोंका असली अर्थ समझनेका अधिकारी नहीं है। इस श्रेणीके विद्वानोंमें ए० बी० कीथ, ए० ए० मैकडानल, आर० जिमरमन, ए० सी० वुलनर, बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, एस० के० बेलवालकर ए० बनर्जी शास्त्री, कुन्हनराजा आदि हैं। इसी श्रेणीके वेदज्ञ स्व० रामकृष्ण भण्डारकर, स्वा० रमानाथ सरस्वती, स्व० के० एस० मुकर्जी, स्व० राजेन्द्रलाल मित्र आदि थे। आप लोगोंके मतसे केवल सामाजिक संस्कारके कारण सायण, भट्टभास्कर, महीधर आदिने, अनेक स्थानोंमें, अर्थोंका अनर्थ कर डाला है। आप लोगोंके मतसे सायण आदि वेदकी-सी कोई प्राचीन भाषा नहीं जानते थे; इसलिये वेदका अर्थ करनेके अधिकारी नहीं थे।

इन दोनों विचारोंका समन्वय करने और इनको पूर्णतः जाननेवाला भी एक दल है। इस दलमें आचार्य ध्रुव, प० गोपीनाथ कविराज, नाना पावगी, एस० वी० वेङ्कटेश्वर, अविनाशचन्द्र दास, प्रभुदत्त शास्त्री, सी० वी० वैद्य, कोकिलेश्वर भट्टाचार्य,

मन्मथनाथ मुखोपाध्याय, एकेन्द्रनाथ घोष आदि विद्वान् हैं। आप लोगोंको प्राच्य और प्रतीच्य, दोनों कलाओंका ज्ञान है और आप लोग समयानुसार दोनों विचारोंको अपनाते हैं। इसी दलमें लोकमान्य तिलक, एस० पी० पण्डित, एस० बी० दीक्षित, रमेशचन्द्र दत्त आदि थे। इसी श्रेणीमें म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री भी थे। आपने अगणित वैदिक ग्रन्थोंका उद्धार किया था। आपकी सेवामें रहकर इन पंक्तियोंके लेखकने आपके वेद-सम्बन्धी अन्वेषणोंका कुछ अध्ययन किया है।

एक चौथा सम्प्रदाय भी है। यह स्वामी दयानन्दका अनुयायी है। यह तीनों सम्प्रदायोंमेंसे किसीको भी सर्वांशतः नहीं मानता। इसके विचारसे वेद नित्य है. वेदमें इतिहासकी गन्ध भी नहीं। वेदका अर्थ न तो सायण जानते थे, न संस्कृतके सनातनी पण्डित ही जानते हैं और न लैटिन-ग्रीक जाननेवाले वेदार्थ करनेके अधिकारी ही हैं। जो हो, किन्तु आर्यसामाजिक वेदज्ञोंमें प० भगवद्दत्त, प० चमूपति विद्यालंकार आदि ऐसे विद्वान् हैं, जिनके विचारोंका उल्लेख सी० वी० वैद्य जैसे ऐतिहासिक भी करते हैं। भगवद्दत्तजीने अनेक वैदिक पुस्तकोंकी खोज की है। उनकी सी वेद-साहित्य-निष्ठा देशके कम विद्वानोंमें है। प० विश्वबन्धु शास्त्री, प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प० जयदेव शर्मा विद्यालंकार आदि भी यथेष्ट प्रसिद्ध हैं। आप लोगोंकी लिखी अनेक सुन्दर वैदिक पुस्तकें भी हैं। अथर्ववेदके टीकाकार प० क्षेमकरणदास त्रिवेदी और सामवेदके टीकाकार स्वामी तुलसीरामसे भी प्रत्येक आर्यसमाजी परिचित है।

इस तरह वेदज्ञोंकी कई श्रेणियाँ हैं और यह कहना हमारे लिये असम्भव है कि, सबसे बड़ा वेदज्ञ कौन है। कोई ए० बी० कीथको सबसे बड़ा वेदज्ञ मानता है, कोई मैकडानलको, कोई डा० रेलेको, कोई प० मधुसूदन ओझाको, कोई प० गोपीनाथ कविराजको, कोई डा० अविनाशचन्द्र दासको, कोई विधुशेखर भट्टाचार्यको, कोई क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्यायको, कोई एकेन्द्रनाथ घोषको और कोई रुद्रदेव शास्त्रीको। इस तरह "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना"की कहावत चरितार्थ हो रही है। हम अभी कुछ नहीं लिखना चाहते। हाँ, हमारी यह अभिलाषा अवश्य है कि, हमारे यहाँसे निकलनेवाली "ऋग्वेद-संहिता" × (हिन्दी-टीका-सहित) से सम्बद्ध जो "वेद-रहस्य" नामका ग्रन्थ लिखा जायगा, उसमें हम वेद-सम्बन्धी प्रत्येक विषय, पुस्तक, वेदज्ञ आदिके सम्बन्धमें पूरा प्रकाश डालनेकी पूर्ण चेष्टा करेंगे। इसके लिये हम प्रत्येक प्रकारकी सामग्री संगृहीत कर रहे हैं। आज हम कुछ देशी और विदेशी वेदाभ्यासियोंके पते देकर ही सन्तोष कर लेते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि, "वेदांक"में जिन वेदज्ञोंके पते आ चुके हैं, उनके पते यहाँ नहीं दिये गये।

१ श्रीयुत नारायण भवानराव पावगी,
९८२, सदाशिव पेठ, पूना सिटी।

२ प्रिन्सिपल बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, एम० ए०,
४२४, शनवार पेठ, पूना।

३ प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०,
यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

४ डा० वी० जे० रेले, C/o तारापुरवाला ऐण्ड सन्स, बम्बई

× सरल हिन्दी-टीकाके साथ "ऋग्वेदसंहिता"का प्रथम अष्टक छप गया है। मूल्य २ रु० है। कितने ही रंगीन चित्र भी हैं। अनेक महत्त्व-पूर्ण टिप्पणियोंसे संयुक्त है। "गंगा"-कार्यालयसे यह पुस्तक मिल सकती है।

५ श्रीयुत एस० वी० वेंकटेश्वर एम० ए०,
यूनिवर्सिटी, माइसोर।

६ डा० एस० के० बेलवालकर एम० ए०, पी-एच० डी०,
भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

७ डा० आई जे० एस० तारापुरवाला एम० ए०, डा० लिट्,
यूनिवर्सिटी, बम्बई।

८ डा० पी० के० आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०,
डी० लिट्, आई० ई० एस०, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

९ डा० एस० के० चटर्जी एम० ए०, डी० लिट्,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

१० डा० सी० कुन्हनराजा एम० ए०, डी० फिल,
यूनिवर्सिटी, मद्रास।

११ डा० आर० साम शास्त्री बी० ए०, पी-एच० डी०,
यूनिवर्सिटी, माइसोर।

१२ डा० वी० एस० सुखथंकर एम० ए०, पी-एच० डी०,
भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।

१३ डा० हीरानन्द शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्,
एपीग्राफिस्ट टु गवर्न्मेंट आफ इंडिया, नीलगिरि।

१४ म० म० प० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री एम० ए०, एल० टी०,
माइसोर।

१५ डा० सिद्धेश्वर वर्मा शास्त्री एम० ए०, डा० लिट्,
पी० आ० डब्ल्यू० कालेज, जम्मू।

१६ श्रीमाधवाचार्यजी महाराज,
महावीर आश्रम, चूरू, बीकानेर।

१७ श्रीयुत एम० गोविन्दराय, पो० मंजेश्वर, दक्षिण कनाड़ा।

१८ प्रोफेसर पी० वी० बापत एम० ए०, फर्गुसन कालेज, पूना।

१९ डा० एस० बी० घोषाल, एम० ए०, बी० एल०, काव्यतीर्थ,
सरस्वती, एम० डी० ओ०, पो० दिनहाटा, कूच बिहार।

२० डा० हरिसत्य भट्टाचार्य एम० ए०, बी० एल०,
कैलास बोस लेन, रामकृष्टोपुर, हबड़ा।

२१ डा० सुनीतिकुमार चटर्जी एम० ए०, पी-एच० डी०,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

२२ ब्रह्मचारी बालमुकुन्दजी एम० ए०, एल-एल० बी०,
ऐडवोकेट, कटरा, प्रयाग।

२३ डा० काशीप्रसाद जायसवाल एम० ए०, बैरिस्टर, पटना।

२४ डा० हेमचन्द्र जोशी बी० ए०, डी० लिट्०,
पो० बाक्स नं० २६६, कलकत्ता।

२५ डा० आर० डी० भाण्डारकर एम० ए०, पी-एच० डी०,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

२६ डा० वी० एस० सुखथानकर एम० ए०, पी-एच० डी०,
राजाराम कालेज, कोल्हापुर।

२७ डा० मन्मथनाथ मुखोपाध्याय,
एशियाटिक सोसाइटी, १, पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता।

२८ प० कांकिलेश्वर भट्टाचार्य, आशुतोष हाल,
यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

२९ डा० एकेन्द्रनाथ घोष एम० बी०,
६६, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता।

३० प्रोफेसर श्रीराम शर्मा एम० ए०, एल-एल० बी०,
१८५, मशकगंज, लखनऊ।

३१ डा० हरिश्चन्द्र शास्त्री एम० ए०, डी० फिल,
पटना कालेज, पटना।

३२ डा० लक्ष्मणस्वरूप एम० ए०, डी० फिल,
यूनिवर्सिटी, लाहौर।

३३ डा० एम० के० श्रीकृष्ण शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०,
यूनिवर्सिटी, मद्रास।

३४ प० सुरेश द्विवेदी वेदाचार्य,
प्रोफेसर, संस्कृत कालेज, मुजफ्फरपुर।

३५ म० म० प० अनन्तकृष्ण शास्त्री, यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।

३६ प० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ,
C/o आर्यसाहित्यमण्डल, अजमेर।

३७ श्रीयुत बुद्धदेव विद्यालङ्कार, गुरुदत्तभवन, लाहौर।

३८ श्रीयुत देवदत्त शास्त्री,
मुख्याधिष्ठाता, ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर।

३९ श्रीयुत विश्वनाथ वेदालङ्कार, गुरुकुल, कांगड़ी।

४० श्रीयुत धर्मदेव विद्यावाचस्पति,
आर्य-समाज, बसवनगुड़ी, बंगलोर।

४१ म० म० प० आर्यमुनि, मोगा, फिरोजपुर, पंजाब।

४२ श्रीयुत देवराज विद्यावाचस्पति, गुरुकुल, काँगड़ी।

४३ प० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, लूकरगंज, प्रयाग।

४४ श्रीयुत चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, पालीरत्न,
जालन्धर स्टील वर्क्स, पल्टन बाजार, देहरादून।

४५ श्रीयुत बृहस्पति वेदाचार्य, गुरुकुल, बृन्दावन।

४६ प० जयचन्द्र विद्यालङ्कार, देहरादून।

४७ प० [illegible] एम० ए०, डी० ए० वी० कालेज, [illegible]।

विदेश-स्थित वेदाभ्यासियोंके पते—

1. Rev. R. Zimmermann S. J.. Ph. D., Professor of Sanskrit. St. Xavier's College, Bombay.
2. Rev. Herrer, St. Xavier's College, Bombay.
3. Mr. A. C. Woolner, M. A. C. I. E, E. A. S. B., Vice-Chancellor, University, Lahore, Punjab
4. Prof. A B. Keith, University, Edinburg, England.
5. Prof. A. A. Macdonell, 20, Bardwell Road, Oxford, England.
6. Prof. E I. Rapson, M. A., University, Cambridge, England.
7. Prof. F E. Pargiter, 12, Charlbury Road, Oxford, England
8. Sir George A. Grierson, O. M, K. C. S. I., D Lit, Ph. D., Rathfarrham, Camberley, Surrey, England.
9. Prof. Dr. M. Winternitz M. A, Ph. D., II Opatovicka, 8, Prague, Czechoslovakia.
10. Prof. Dr O. Stein, VII Letna, 313, Socharska, Prague, Czechoslovakia
11. Prof. Dr. W. Caland, M. A., 78, Koninglaan, Utricht, Holland.
12. Prof. Dr. Sten Konow, Ph. D., Indische Mussum, Oslo, Norway.
13. Dr Louis Finot, Villa Santaram, Montee Gueyras Ste. Catherine, Toulon, Var, France
14. Prof. Chas. R. Lanman, 9, Farrar Street, Cambridge, Mass., U. S. A
15. Prof Dr. H Jacobi, Ph D., 59, Nieburhrstasse, Bonn, Germany.
16. Prof. J. Jolly Ph. D., University, Wurzburg, Germany.
17. Prof. Dr. Adolf Erman., 36, Peter-Lenne Street, Berlin-Dahlem, Germany.
18. Prof. J. Hertel, 110, Denkmrls-Allee, Leipzig, Germany.
19. Dr. Aertal., M. A., Ph. D., Munich, Germany.
20. Prof. J. Charpentuer., Ph. D., 2, Gotgatan, Upasala, Sweeden.
21. Prof. Formichi, Universita De Rome, Rome, Italy.
22. Mr. Jagdish Chandra Chatterjee, B. A., International School of Vedic and Allied Research, 1500, Times Buildings, Newyork.
23. Dr. Serge D' Oldenburg., Ph. D., Academy of Sciences, Leningrad,

६—कृतज्ञता-ज्ञापन

डेढ़ वर्षके करीब हुआ, बिहारके सुप्रसिद्ध बनैली-राज्य—मैथिलब्राह्मणराज्य—के अधिपति कुमार कृष्णानन्द सिंह बहादुरकी, एक लाख रुपयेकी, सहायतासे, "गंगा" और "वैदिक-पुस्तकमाला" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। उसी समयसे हमारी अभिलाषा थी कि, "गंगा" का एक "वेदांक" नामका विशेषांक निकालकर हिन्दूसंस्कृति और हिन्दूधर्मके मूल ग्रन्थ वेदोंकी कुछ साहित्यिक चर्चा की जाय। इसी संकल्पके अनुसार लगातार आठ महीनोंतक विकट परिश्रम करने और पुरस्कार, चित्र, कागज तथा लिखा-पढ़ीमें हजारों रुपये पानीकी तरह बहानेपर आज हम वेद-भक्तोंकी सेवामें "वेदांक" लेकर उप-स्थित हो रहे हैं। हम जानते हैं कि, हमारी अल्पज्ञता-के कारण "वेदांक" में अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं। लाचारी है। ऐसा होना स्वाभाविक था। अनेक लेख-कोंकी इच्छाके अनुसार उनके लेखोंकी भाषा ज्यों-की-त्यों रहने दी गयी है। जल्दीबाजीके कारण भी किसी-किसी लेखकी भाषा परिमार्जित नहीं की जा सकी है। प्रेसके भूतोंके कारण भी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं। इन सबके लिये हम पाठकोंसे क्षमा-याचना करते हैं।

कई विद्वानोंसे पुस्तकों और वेदज्ञोंकी अभिज्ञता भी हमें प्राप्त हुई है। इस दिशामें हमें सबसे अधिक सहायता डा० हरदत्त शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी० और "वीर"-सम्पादक बाबू कामताप्रसाद जैनसे मिली है। हम इन दोनों सज्जनोंके सदा कृतज्ञ रहेंगे। आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० पद्मसिंह शर्मा, त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन, बाबू बाबु-

देवशरण अग्रवाल एम० ए०, प० नरदेव शास्त्री वेद-तीर्थ और प० शंकरदेव विद्यालङ्कारसे भी हमें यथेष्ट साहाय्य प्राप्त हुआ है। इसके लिये हम आप लोगोंके अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

यों तो "लाइट लिट्रेचर" पर भी कुछ लिखनेके लिये अध्ययन करना आवश्यक होता है; परन्तु वैदिक साहित्यपर कुछ लिखनेके लिये तो विशिष्ट पुस्तकोंका परिशीलन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये हमें आशा थी कि, हमें "वेदांक" के लिये बहुत ही कम लेख मिलेंगे; और, "गंगा"की एक टिप्पनीमें हमने इस बातकी शिकायत भी की थी। परन्तु हमारी यह आशा निराशामें परिणत हुई और वेद-प्रेमी लेखकोंने ऐसी कृपा की कि, हमें सैकड़ों लेख प्राप्त हो गये। उनमेंसे बड़ी कठिनतासे लगभग आधे लेख हम "वेदांक"में छाप रहे हैं। "वेदांक" को तीन सौ पृष्ठोंसे अधिक बढ़ाना हमें अभीष्ट नहीं था और इतने पृष्ठोंमें इतने ही लेख आ सके। जिन लेखकोंसे, तकाजा करके हमने लेख मगाया था, "वेदांक" में उनके लेखोंके अप्रकाशनसे हमें दुःख है। उन सज्जनोंसे हम विनीत क्षमा-प्रार्थना करते हैं। अवश्य ही हम उनके लेखोंको "गंगा"के आगामी अंकोंमें छापनेकी चेष्टा करगे। अनेक सज्जनोंके तो ब्लाक भी बनवा लिये गये हैं। जिन सज्जनोंने विना माँगे ही लेख भेजनेकी दया दिखायी है, उनके भी हम कृतज्ञ हैं और उनके लेखोंको भी हम यथासम्भव और यथासमय "गंगा"में प्रकाशित कर देनेकी चेष्टा करेंगे। जिन सज्जनोंके लेख "वेदांक" में नहीं छप सके, उनके शुभ नाम ये हैं—प० नारायण भवानराव पावगी, प० वा० दा० तलवरकर, डा० एकेन्द्रनाथ घोष, प० चन्द्रमणि विद्यालंकार, बा० हरिसत्य भट्टाचार्य एम० ए०, ब्रह्मचारी बालमुकुन्दजी एम० ए०, प० जयचन्द्र विद्यालंकार, साहित्याचार्य प० वटुकनाथ शर्मा एम० ए०, प० नृसिंहदेव शास्त्री, वेदाचार्य प० सुरेश द्विवेदी, साहित्याचार्य प्रो० विश्वनाथप्रसाद एम० ए०, प० गणेशदत्त शर्मा गौड़, श्रीयुत रजनीकान्त शास्त्री बी० ए०, प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री, बा० कामताप्रसाद जैन, प० बुद्धदेव विद्यालंकार, प० अवध उपाध्याय, प्रो० कृपानाथ मिश्र एम० ए०, प० सदानन्द पाठक, वेदवाचस्पति प० प्रियव्रतजी, प० तड़ित्कान्त वेदालंकार, बा० विजय बहादुर सिंह बी० ए०, प्रो० धर्मदेव वेदवाचस्पति, पाण्डेय रामावतार शर्मा एम० ए०, वेदाचार्य प० विश्वनाथ शर्मा, बा० देवेन्द्रनाथ बी० ए०, आयुर्वेदमार्तण्ड प० शिवचन्द्र वैद्यरत्न, प० मधुमंगल मिश्र बी० ए०, साहित्यरत्न प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प० गांगेय नरोत्तम शास्त्री, प० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, प० हनुमानप्रसाद शर्मा वैद्य, साहित्याचार्य प० विद्येन्द्र विद्यासागर, प० शिवदास पाण्डेय, वेदाचार्य प० रामावतार शर्मा, साहित्यरत्न प० शिवरत्न शुक्ल, प० राधारमण शास्त्री, प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, डा० रामप्रसाद दास, प्रो० अक्षयवट मिश्र, प० गंगाविष्णु पाण्डेय, प० महादेवप्रसाद मिश्र बी० ए०, पञ्चतीर्थ प० हरिदत्त शास्त्री, प० श्यामसुन्दर शर्मा, कविराज ब्रह्मानन्द जी, स्नातिका श्रीमती विद्यावती देवी, साहित्य-चन्द्रिका श्रीमती विमला देवी, प० हनूमान् शर्मा, प० संकर्षण शर्मा व्यास, प० कृष्णलाल झा मीमांसा-तीर्थ, प० ईशदत्त शर्मा, प० विश्वनाथ शास्त्री व्याकरणतीर्थ, आदि।

७—"गंगा"के संरक्षक

गत वर्षकी तरह इस वर्ष भी सोनबरसा इस्टेट (भागलपुर) के धर्मप्राण और साहित्यसेवी अधिपति श्रीमान् राव बहादुर रुद्रप्रताप सिंहजी साहब, कलकत्तेके प्रसिद्ध विद्याप्रेमी और धर्म-सेवक मारवाड़ी बाबू बाबूलालजी राजगढ़िया तथा महरैल, झंझारपुर (दरभङ्गा) के सनातनधर्म-भूषण और आदर्श सदाचारी बाबू श्रीनाथ झाने "गंगा"के "संरक्षक" बननेकी कृपा की है। हम आप लोगोंको कोटिशः साधुवाद समर्पित करते हैं।

"पुरातत्त्वांक"की तैयारी

बड़ी शानबान और धूमधामसे निकलेगा

पृथिवीतलके बड़े-बड़े पुरातत्त्ववेत्ता लेख लिख रहे हैं। 'पुरातत्त्वांक' 'वेदांक'से भी बड़ा होगा। दर्जनों चित्र रहेंगे। भारतवर्षमें आजतक जितनी खोदाइयाँ हुई हैं, सबका अथसे इतितक विवरण रहेगा। खोदाई-सम्बन्धी जितने चित्र अबतक प्राप्त हुए हैं, सबको छापनेके लिये सरकारी अनुमति मिल गयी है। किसी भी भाषाकी पत्रिकाने आजतक ऐसा विशेषांक नहीं निकाला था। लेखकोंको लेख भेजनेकी शीघ्र ही कृपा करनी चाहिये।

'गंगा'की फाइल

"गंगांक"को छोड़कर "गंगा"की प्रथम वर्षकी कुछ बची हुई कापियाँ आधे मूल्यमें मिलेंगी। वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

महाप्रभु धर्मध्वज !
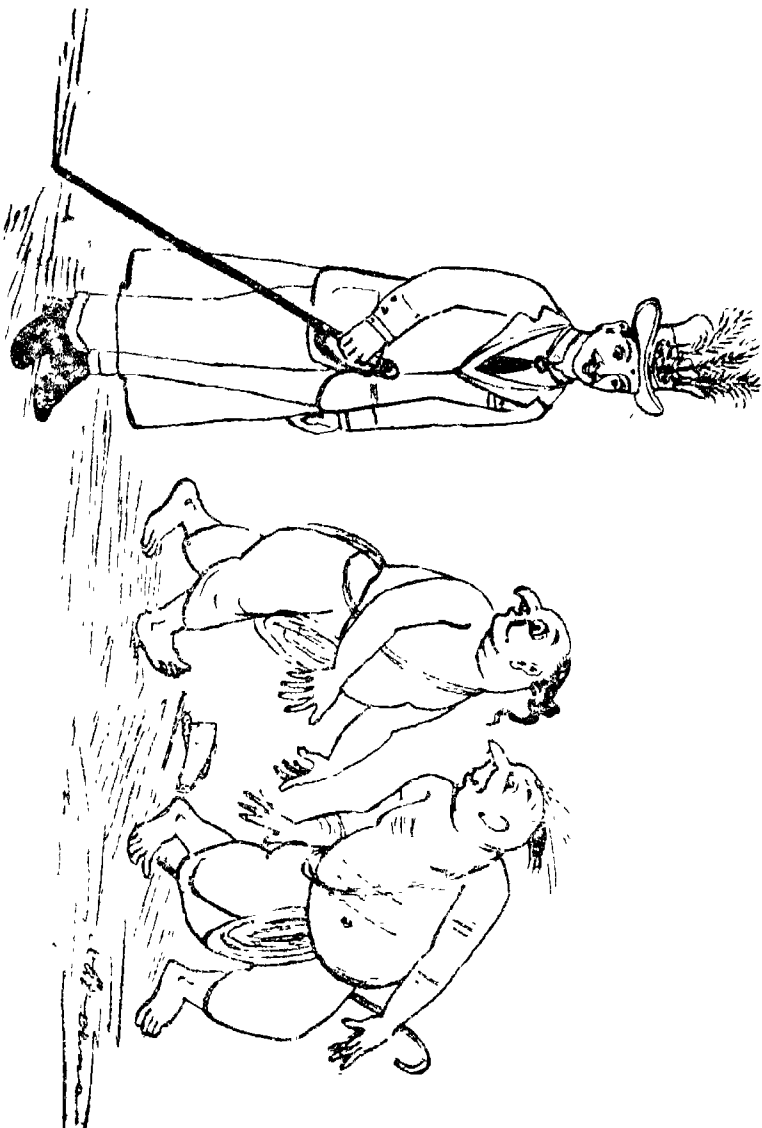
नहीं वेदमें है मिला, ऐसा जन्तु विचित्र। नक्कू झा भड़के बहुत, बिगड़ा भाव पवित्र ॥
लम्बोदर झा भी बहुत, चौंक उठे पहचान। दुम है दुरिया हैट की, कलँगी सींग समान ॥

सिगरेटानन्द शास्त्री
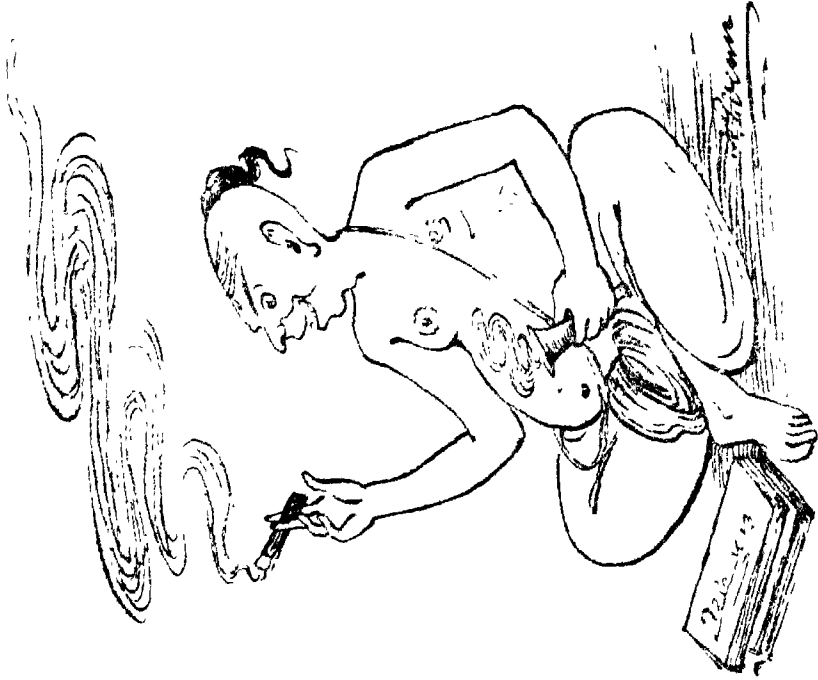
वेद-शास्त्रमें धूम्रपानको वर्जित बतलाते हैं आप।
अवसर पाकर घरमें पीते चिलम-चुरुट बैठे चुपचाप॥

चुटियानन्द महाराज

वेद-पंथके पथिक कहाते, बनते धर्म-सनातन-खम्भ।
वेश्यालयसे भागे जाते, मुकुट छिपाये, देखो दम्भ॥